पथदर्शक प्रकाशन

हमारा राजस्थान

आज के राजस्थान की ऐतिहासिक पीठिका

लेखक

पृथ्वीसिंह महता विद्यालङ्कार

प्रस्तावना-लेखक

पंडित जयचन्द्र विद्यालङ्कार

हिन्दी - भवन

जालंधर और इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] १९५० आठ रुपए

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

४६, टागोर टाउन,

इलाहाबाद २.

पृष्ठ १–२०८, २२५–३५२ शारदा-मुद्रण बनारस में

तथा शेष ग्रंथ सरला प्रेस बनारस में छपा।

आचार्य

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

की अमिट स्मृति में

जिन्होंने राजस्थान के इतिहास

को कहानियों के स्तर से

उठा कर विज्ञान के

स्तर पर पहुँचा

दिया ।

प्रस्तावना

आज के राजस्थान की यह ऐतिहासिक पीठिका जो श्री पृथ्वीसिंह महता ने प्रस्तुत की है, न केवल राजस्थान-इतिहास का स्पष्ट चित्र हमारे सामने खींच देती है प्रत्युत भारतीय इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण पहलू को भी प्रकाशित करती है। भारत के प्रत्येक भाषा-जनपद का इतिहास उसकी दृष्टि से अंकित किये बिना समूचे भारत का इतिहास भी अनेक अंशों में स्पष्ट नहीं हो पाता। इस दृष्टि को लेकर स्व० आचार्य गौरीशंकर ओझा ने आज से तिरसठ बरस पहले जो साधना आरंभ की थी उसका यह पुण्य-फल है कि आज हमें राजस्थानी इतिहास का यह विशद चित्र प्राप्त हो रहा है। जैसा कि लेखक ने अपनी वस्तुकथा में बताया है, यह दिग्दर्शन लिखने की प्रेरणा भी उन्हें आज से पन्द्रह बरस पहले ओझा जी से ही मिली थी।

ग्रन्थ के पहले अध्याय को पढ़ने से ही स्पष्ट दिखाई दे जाता है कि कैसे गहरे अन्वीक्षण अध्ययन और मनन द्वारा तथा साथ ही कैसी सच्ची भक्ति और निष्ठा से लेखक ने अपने जनपद के स्वरूप को देखा-समझा है। दूसरे तीसरे चौथे अध्यायों में आरम्भ से मुगल-युग तक का दिग्दर्शन है। जो लोग राजस्थान के इतिहास के टाड के खींचे हुए चित्र से और उसके तोता-मैनाओं के किस्सों से अभी तक अपना पीछा नहीं छुड़ा सके उन्हें चाहिए कि इतिहास के इस नये चित्र को अब अपने मन में अङ्कित करें, जो ओझाजी की साधना की बदौलत विज्ञान की कसौटी की परख से प्रकट हुआ है।

पाँचवें और छठे अध्याय के विषय मराठा युग और मराठा-ब्रिटिश युगसंधि हैं। यहाँ लेखक ने दूसरे आचार्यों की खोजों के आधार पर

इतिहास का दिग्दर्शन तो किया ही है, अपनी तरफ से भी नया प्रकाश डाला है। 'मराठा इतिहास' अर्थात् शाहजी के समय से बाजीराव २य के समय तक के महाराष्ट्र के दो शताब्दियों के इतिहास की महाराष्ट्र विद्वानों ने बड़ी गहराई और बारीकी से छानबीन की है। पर राजस्थान की जनता मराठा इतिहास की विविध घटनाओं को किस दृष्टि से देखती रही इसका ठीक-ठीक पता मेरे जानते पहली बार इस ग्रंथ से मिल रहा है। जसवन्तराव होलकर की लड़ाई का जो वर्णन यहाँ किया गया है वह न केवल आँखों के आगे उसका जीता-जागता चित्र खींच देता है प्रत्युत वह साहित्य का एक सुन्दर सन्दर्भ भी बन गया है। इस प्रकार का चित्र पृथ्वीसिंह महता जैसे व्यक्ति द्वारा ही खींचा जा सकता था जिसने राजस्थान भूमि का कोना-कोना छाना है और जिसने अपनी दृष्टि का दीर्घ साधना द्वारा राजस्थानी जनता के विचारों और भावनाओं के साथ पूरी तरह सात्म्य कर लिया है।

सातवें अध्याय—'अंगरेजी जमाना'—के पहले सात परिच्छेद भी पाँचवें-छठे अध्याय के नमूने पर ही हैं। उसके आठवें परिच्छेद से भारत और राजस्थान के नव जागरण की कहानी शुरू होती है, जो आठवें अध्याय के अन्त पर सन् १९५० तक आकर पूरी होती है। लेखक को यहाँ बहुत कुछ नई जमीन तोड़नी पड़ी है। उन्होंने नहीं सोचा था कि यह अंश ग्रंथ का मुख्य अंश बन जायगा और पहले के अंश इसकी अवतरणिका सी हो जायँगे; तो भी ऐसा हो गया है। इस अंश से पाठकों को न केवल बहुत सी नई पते की बातें मालूम होंगी प्रत्युत अपने जमाने की घटनाओं को सुलझी दृष्टि से देखना भी मिलेगा।

दयानन्द सरस्वती पर लिखने से पहले लेखक ने मुझसे परामर्श किया तो मैंने उनके सामने दो प्रश्न रक्खे। पहला यह कि १८५६-५९ में दयानन्द कहाँ थे और क्या कर रहे थे—उस समय भारत में जो महान् क्रान्तियुद्ध चल रहा था उसके प्रति दयानन्द का रुख क्या रहा

अथवा उसने दयानन्द के मन को किस प्रकार प्रभावित किया। जो व्यक्ति बचपन में ही एक मूर्त्ति पर मूसे की लीला देख गहरे विचार में पड़ गया था और उस विचार से प्रेरणा पाकर जो जन्म भर के लिए घरबार छोड़ निकल पड़ा था, उसके मन पर १८५७-५९ के महान् युद्ध की घटनाओं का कुछ प्रभाव न हुआ हो, यह संभव नहीं है, पर क्या प्रभाव हुआ यही प्रश्न था। दूसरा प्रश्न यह था कि महान् भारत राष्ट्र किस कारण मुट्ठी भर विदेशियों का गुलाम था और किस कारण उसका १८५७–५९ का महान् प्रयत्न और बलिदान भी विफल हुआ, इस प्रश्न पर क्या भारत के श्रेष्ठ मन का ध्यान १८५९ के बाद भी नहीं गया—दयानन्द उस समय भारत के श्रेष्ठ मन के प्रतिनिधि थे, उन्होंने इस विषय में क्या सोचा, क्या किया। ये दोनों प्रश्न मेरे सामने सन् १९३९ से स्पष्ट रूप में थे, पर मुझे स्वयं इनके उत्तरों की खोज के लिए फ़ुरसत नहीं मिली थी। इन प्रश्नों से दिशा पाकर पृथ्वीसिंह महता ने जो खोज की है और जो पहलेपहल इस ग्रंथ में प्रकाशित हो रही है, वह हमारे राष्ट्रीय इतिहास की अत्यन्त कीमती खोजों में से है। दयानन्द के महान् व्यक्तित्व की ठीक ठीक झलक हमें इन खोजों के बाद मिली है। अब हम यह निश्चय से कह सकते हैं कि १८५९ के बाद भारत का मन सर्वथा सुप्त नहीं रहा। पर यह एक नई खोज का आरम्भ मात्र है। इस शुभ आरम्भ ने हमपर यह कर्त्तव्यभार डाल दिया है कि दयानन्द और उनके शिष्यों—श्यामजी कृष्ण वर्मा, कृष्णसिंह बारहट, श्रद्धानन्द आदि—की कार्यधारा को पूरी तरह टटोल निकालें। आशा है हमारे देश के सच्चे राष्ट्रवादी, जिनकी आवाज आज सुनाई नहीं दे रही है, इस ओर ध्यान देंगे।

आगे बढ़ते हुए हमारे लेखक ने राजस्थान में क्रान्तिकारी दल के संघटन और कार्यधारा को जो टटोला है सो भी नई और महत्त्व की

वस्तु है। अर्जुनलाल सेठी का नाम-काम सुपरिचित रहा है, केसरीसिंह और प्रतापसिंह बारहट के चरित्रों का परिचय शचीन्द्रनाथ सान्याल के "बन्दी जीवन" से मिल चुका है, पर इन लोगों ने पहले विश्वयुद्ध के समय कितना बड़ा संघटन खड़ा कर लिया था इसका पहली बार खुलकर पता इस ग्रंथ से मिल रहा है। मेरा स्वयं स्व० शचीन्द्र सान्याल से सन् १९२३–२५ में घनिष्ठ संबन्ध रहा, अर्जुनलाल सेठी और केसरीसिंह बारहट से भी संपर्क रहा, पर शचीनदा को भी मेरे जानते राजस्थान के १९१५ वाले संघटन का पूरा-पूरा पता न था। शचीन १९१५-१६ में रासविहारी के दाहिने हाथ थे, पर जान पड़ता है, रासविहारी ने बाएँ हाथ से राजस्थान के जिस संघटन से संपर्क रक्खा हुआ था, अपने दाहिने हाथ को भी उसका ठीक-ठीक पता न दिया था! सच्चे क्रांतिकारी की कृति का पता उसकी मृत्यु के बाद मिलता है।

अपने समकालीन इतिहास का जो विश्लेषण लेखक ने किया है वह पाठकों के लिए विचारोत्तेजक होगा और हमारे राष्ट्र की आत्म-पर्यवेक्षण-प्रवृत्ति को जगायगा इसका मुझे विश्वास है। पिछले चार बरस में देश में जो घटनाएँ घटी हैं, वे अत्यन्त परस्पर-विसंवादी हैं; उनके विषय में शिक्षित वर्ग में भी बड़ा विभ्रम है। पृथ्वीसिंह महता ने उनकी व्याख्या मेरी सन् १९४२ में गुप्त रूप से प्रचारित एक पोथी तथा १९४६-४७ के व्याख्यानों के प्रकाश में की है। मुझे आशा है यह व्याख्या घटनाओं को स्पष्ट कर देगी। मैंने स्वयं 'आज की स्थिति' पर गत वर्ष लिखना शुरू किया था, पर उस कृति को अधूरा छोड़ मुझे इधर दूसरे कामों में लगना पड़ा है। इस बीच महता ने इस विषय पर लिख डाला है और शायद इन समकालीन घटनाओं पर इतिहास की दृष्टि से सबसे पहले लिखने का श्रेय पा लिया है।

समूचा ग्रन्थ राजस्थान और भारत की अनेक समस्याओं को समझने और सुलझाने में सहायक होगा।' उसकी सत्यनिष्ठा और उसकी अन्तर्दृष्टि की छूत राजस्थान और भारत के युवकों में फैले यह मेरी कामना है।

दुर्गाकुण्ड, बनारस
२७ अप्रैल १९५०

जयचन्द्र

वस्तुकथा

अपने देश और जनपद के इतिहास के प्रति उत्सुकता स्वभावत: मेरे मन में बचपन से ही थी। १९२६ में गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ते समय श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का एक भाषण सुनने के बाद वह उत्सुकता और अधिक तीव्र हो गयी और १६३३ में स्नातक होने के बाद मैं अपने अगले अध्ययन के लिए प्रयाग में श्रद्धेय जयचन्द्रजी के ही पास अन्तेवासिक रूप में चला गया। सौभाग्य से वे तब अपने ग्रन्थ "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" का अन्तिम संशोधन कर उसे छपवाने और अपने गुरु श्रद्धेय गौरीशंकर हीराचंद ओझा को उनकी ७०वीं जन्मगाँठ पर भेंट किये जाने वाले "भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ" के सम्पादन में लगे थे। मुझे उनके इन दोनों कार्यों में सहयोग देकर अनुभव प्राप्त करने का खूब सुयोग मिला। इसके बाद १६३५ से ३६ तक मैं आचार्य गौरीशंकर ओझा के पास अजमेर रह कर इतिहास-पुरातत्व का अभ्यास करता रहा। उस समय ओझाजी ने मुझे राजस्थान में तब तक खोजे गये समस्त ऐतिहासिक अभिलेखों की एक विवरणात्मक सूची तैयार करने तथा सम्पूर्ण राजस्थान के राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक इतिहास का संक्षिप्त समन्वयात्मक चित्र प्रस्तुत कर देने का कार्य सौंपा।

इनमें से पहला कार्य मैं आधा ही कर पाया था कि शुरू जून १९३६ में बम्बई से पं० जयचन्द्रजी का पत्र मिला कि कांग्रेस के तात्कालिक प्रधान बिहार के बाबू राजेन्द्रप्रसादजी बिहार का एक इतिहास लिखवा कर रामगढ़ में होने वाली कांग्रेस के अवसर पर प्रकाशित करवाना चाहते हैं। उसी महीने के अन्त में उनका तार आया कि उस कार्य को करने के लिए राजेन्द्रबाबू ने मुझे पटना बुलाने को तार भेजा है।

जयचन्द्रजी ने इस बीच भारतीय दृष्टि से समस्त अध्ययन के संघटन और भारतीय भाषाओं में उसके फलों के प्रकाशन के लिए एक राष्ट्रीय केन्द्रिक संस्था भारतीय-इतिहास-परिषद् का आयोजन किया था। उस संस्था का आर्थिक भार उठाना बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने स्वीकार किया था। भारतीय इतिहास-परिषद् में अनेक आजीवन कार्यकर्त्ता रखने की योजना थी, और उस रूप में मुझे भी उसमें लेने की इच्छा राजेन्द्रप्रसादजी ने आरम्भ में ही प्रकट की थी। उस स्थायी कार्य की भूमिका रूप में ही मुझे बिहार का इतिहास लिखने को उन्होंने बुलाया था। अतः जुलाई १९३९ में राजस्थान-अभिलेख-सूची का कार्य बीच में ही छोड़ मुझे बम्बई होते हुए पटना जाना पड़ा।

अगले नौ महीने दिन-रात बिहार का इतिहास तैयार करने और बिहार के ऐतिहासिक गौरव संबन्धी चित्र रामगढ़ कांग्रेस प्रदर्शनी के लिए बनवाने में लगा रहा। ध्यान रहे कि बिहार इतिहास के फुटकर अंगों पर चाहे जो खोज हो चुकी हो पर उसका सिलसिलेवार आद्योपांत इतिहास इससे पहले नहीं लिखा गया था। हमारे उस इतिहास के प्रकाशित होने पर अनेक राजस्थानी मित्र और लोकनेता राजस्थान का भी वैसा ही इतिहास प्रस्तुत करने का आग्रह करने लगे। पर नवम्बर १९३९ से भारतीय-इतिहास-परिषद् का कार्य आरम्भ हो चुका था। उसके आजीवन कर्मी के रूप में मैं उस कार्य में लग गया था। परिषद् का कार्य ऐसा रहा जिसमें १९४२-४३ तक हमें कभी दम लेना न मिला। राजस्थान-अभिलेख-सूची का कार्य यों अधूरा ही पड़ा रहा, और राजस्थान के इतिहास को हाथ लगाने का अवसर भी न आया।

अगस्त १९४२ में बाबू राजेन्द्रप्रसाद जेल चले गये और अप्रैल १९४३ में पं० जयचन्द्र विद्यालंकार भी पकड़ लिये गये। उनके पीछे भारतीय-इतिहास-परिषद् के दूसरे कर्मियों की सेवाओं को परिषद् की समिति जारी न रख सकी। वह तो उसके दफ्तर को भी बन्द कर देती

पर पं० जयचन्द्र जी की धर्मपत्नी श्रीमती सुमित्रादेवी शास्त्रिणी अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों की परवाह न कर उसका खर्चा जुटाती रहीं।

राजस्थान में भी एक प्रतिष्ठान ओझाजी के कार्य को जारी रखने और राष्ट्रीय अध्ययन-केन्द्र के रूप में स्थापित करने की चर्चा १९४१ से चल रही थी। उसका वृत्तान्त इस ग्रन्थ के सातवें अध्याय के अन्तिम परिच्छेद "बीसवीं सदी में राजस्थान की सांस्कृतिक चेष्टा" में दिया गया है। ओझाजी इस प्रस्तावित संस्था को अपने सब कागज-पत्र और पुस्तकें, जो कि राजस्थान इतिहास के लिए अमूल्य निधि हैं, सौंप जाने को उत्सुक थे। उनका यह भी प्रस्ताव था कि मुझे इतिहास-परिषद् की तरफ से राजस्थान में उनके पास वह कार्य करने को रख दिया जाय।

१९४३ से मैं उदयपुर में था, पर मेरा ध्यान तब मुख्यतः भारतीय-इतिहास-परिषद् को जिन्दा रखने के लिए श्रीमती सुमित्रादेवीजी की सहायता करने या प्रस्तावित ओझा-प्रतिष्ठान के लिए प्रयत्न करने में लगा रहा। सन् १९४५ में युद्ध का अन्त निकट दीखने लगा और दबी हुई राजनीतिक चर्चाएँ फिर जाग उठीं। राजस्थान में जनान्दोलन जोर पकड़ रहे थे। यहाँ की विभिन्न राजनीतिक और अर्थ-व्यवस्था संबन्धी समस्याओं पर, खास कर छोटे राजाओं जागीरदारों के प्रश्नों पर, इस समय मेरी अनेक सार्वजनिक नेताओं और कार्यकर्ताओं से बातचीत होती थी, जिनके सामने इतिहास की रोशनी में मैं उन प्रश्नों पर अपने विचार रखता था। इन मित्रों और लोकनेताओं का राजस्थान का एक समन्वयात्मक ऐतिहासिक दिग्दर्शन लिख देने का पुराना तकाज़ा तब और अधिक बढ़ गया।

शुरू १९४६ में श्री मोतीलाल मेनारिया अपनी "राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा" का दूसरा संस्करण कर रहे थे। उनका आग्रह था कि उसके भूमिका भाग के लिए राजस्थान की भूमि और इतिहास का एक संक्षिप्त परिचय मैं लिख दूँ। प्रस्तुत पुस्तक का प्राचीन

काल, मध्य काल और सांगा-प्रताप-दुर्गादास युग वाला अंश पहले मैंने उसी अभिप्राय से फरवरी १९४६ में लिखा।

बाबू राजेन्द्रप्रसादजी १९४५ में ही जेल से छूट आये थे। १९४६ के वसन्त में जयचन्द्रजी भी बाहर आ गये, तब आशा हुई कि भारतीय-इतिहास-परिषद् का कार्य फिर से आरम्भ होगा। वह तो अब तक न हुआ, पर १९४६ का सारा साल उसके लिए दौड़-धूप में यों ही निकल गया।

१९४७ में मैं अपने इस कार्य में फिर हाथ लगा सका। तब प्रस्तुत ग्रन्थ का पहला अध्याय लिखा तथा पहले लिखे अध्यायों को दोहराया। १९४८ की गर्मियों तक मैं अंगरेजी जमाने के ७ वें परिच्छेद तक लिख चुका था और केवल भारतीय पुनर्जागरण का वृत्तान्त लिखना बाकी था। तैयार अंश की पांडुलिपि छपाई का प्रबन्ध कराने को डाक से रजिस्टरी कराके कलकत्ता भेजी गयी। दुर्भाग्य से वह पार्सल बीच में ही गुम हो गया। समूची पांडुलिपि मुझे अपने नोटों से फिर तैयार करनी पड़ी। नवम्बर १९४८ तक वह तैयार हुई। उस समय तक मुझे अन्दाज न था कि १८५७ से १९४७ तक के वृत्तान्त को लिखने में मुझे इतना समय लग जायगा। उधर जयपुर कांग्रेस निकट आ रही थी, मुझे प्रलोभन था कि पोथी उस मौके पर निकल जाय। अतः बिना कुछ सोचे-समझे और बिना प्रकाशक का निश्चय किये पुस्तक छपने के लिए दे दी। दुर्भाग्य से जितनी जल्दी छपाने की मैं आशा करता था, उतने समय में वह छपी नहीं और व्यर्थ में जल्दी करने से छपाई की काफी गलतियाँ उसमें रह गयीं। भारतीय नवजागरण का इतिहास लिखने में मेरा १९४९ का सारा साल निकल गया और अप्रैल १९५० में जाकर यह पुस्तक पूरी हो पाई।

मुझे दुःख है कि पुस्तक की छपाई कागज़ आदि जैसे होने चाहिएँ थे वैसे नहीं हो सके, पर इसके लिए प्रकाशक की बजाय मैं ही जिम्मेवार हूँ। यदि मैं जल्दबाजी न करता तो इसकी यह दशा न होती।

इस पुस्तक के तैयार करने में मुझे अपने अनेक गुरुजनों और मित्रों का सहयोग और सहायता मिली है। पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार के अध्ययन और विचारों का तो यह व्याख्यान ही है। राजस्थान इतिहास संबन्धी जो भी गुत्थी उलझी, उसे सुलझाने में मैंने उनके परामर्शों से भरपूर लाभ उठाया है। उनकी पुस्तकें और नोटबुकें मेरे लिए सदा खुली रहतीं हैं। उन्हें या उनकी पत्नी श्रीमती सुमित्रादेवी शास्त्रिणी को सिर्फ धन्यवाद देकर मैं उऋण नहीं हो सकता। भारतीय कला के श्रेष्ठ विद्वान राय कृष्णदासजी से कला के इतिहास को स्पष्ट करने में मुझे अनेक कीमती परामर्श मिले हैं। पुस्तक की पांडुलिपि साफ करने में मुझे अपने अनुज श्री जयसिंह महता विद्यालंकार और मित्र श्री अमृतपाल वेदालंकार तथा श्री गुलाबचन्द्र चौधरी एम० ए० से बहुत मदद मिली। बनारस के स्याद्वाद विद्यालय के प्रबन्धकों और श्री पार्श्वनाथ जैनाश्रम के संचालकों विशेषतः प्रो० दलसुखभाई मलवाणिया और मुनि कृष्णचन्द्र-जी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे अपने आश्रमों में काफी समय तक ठहरने और अपने पुस्तकालय का यथेच्छ उपयोग करने की सुविधाएँ दीं।

प्रयाग,
८ अप्रैल १९५०

पृथ्वीसिंह महता

प्रकाशक का निवेदन

इस ग्रंथ को इस रूप में प्रस्तुत करते हुए मैं पाठकों से क्षमा माँगता हूँ।

सन् १९४२ की लड़ाई शुरू होने के शीघ्र बाद राखी के दिन लाहौर में हमारे घर से बड़ी बहन (श्रीमती पार्वतीदेवी) गिरफ्तार हुई और मुझे फ़रार होना पड़ा। पीछे, लाहौर में दोनों भाई गिरफ्तार हुए और सबसे बड़े भाई पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार भी बनारस से पकड़ कर पंजाब लाये गये और अटक जिले की कैम्बलपुर जेल में पहुँचाये गये। बहनजी और दो भाई तो १९४५ में छूट गये, पर भाईसाहब को तब छोड़ा गया जब १९४६ में चुनाव हो जाने पर पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी और कांग्रेस दल का सम्मिलित मंत्रिमंडल बनना निश्चित हो गया और पंजाब के राजनीतिक कैदियों की अन्तिम टोली जेलों से निकाली गई। मुझे भी अपना वारंट रद्द होने की सूचना तभी मिली।

भाईसाहब ने कैम्बलपुर जेल में रहते हुए विचार किया था कि इस बार बाहर आने पर अपने सब ग्रंथों का प्रकाशन एक स्थान से कराएँगे। हमने भी सोचा था कि उनके ग्रंथों का प्रकाशन अब हम स्वयं करें। १९२२ में जब उन्होंने पंजाब प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना की थी अथवा १९२५ में लाहौर में हिन्दीभवन की नींव डाली थी तब पंजाब में हिन्दी की पुकार नक्कारखाने में तूती की आवाज थी। इतिहास या विज्ञान की ऊँची कृतियों के प्रकाशन के लिए वह उपयुक्त क्षेत्र न था, इसलिए सन् १९२६ में जब उन्होंने इतिहास के उच्च साहित्य के निर्माण का काम हाथ में लिया तब वे पंजाब छोड़ गंगा-काँठे

में आ बैठे थे। पर अब दशा बदल चुकी थी और वे भी पंजाब वापिस आने की सोच रहे थे। फरवरी १९४७ में मैं उनसे उनके ग्रंथों के प्रकाशन के विषय में परामर्श करने को बनारस में मिला। उसके तुरत बाद पंजाब गया, पर वहाँ तो तब मारकाट और भगदड़ मच चली थी। तब भी हम जन्मभूमि को छोड़ने को तैयार न थे। महात्मा गांधी का आश्वासन था कि देश के टुकड़े उनके देह के टुकड़े हुए बिना न होंगे। हमें क्या मालूम था कि कांग्रेस के नेता अपने गंभीर आश्वासनों को ताक पर रख कर अंगरेजों और मुस्लिम लीगी गुंडों से समझौता कर लेंगे और हमें उन गुंडों के हाथ सौंप देंगे! अगस्त में देश का विभाजन हुआ, पर हम लोग सितम्बर तक लाहौर में बने रहे। १९ सितंबर दोपहर को भाई देवचन्द्र पर छुरे से वार किया गया और २१ सितंबर को अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गई। लाखों परिवारों के साथ हम भी मातृभूमि को अंतिम प्रणाम कर कान्दिशीक हो गये।

इधर आकर पैर टिकाने के लिए हर पग पर संघर्ष का सामना करना पड़ा। भाईसाहब भी जेल से निकल कर भारतीय-इतिहास-परिषद् की नाव को, जो कि मँझधार में अकेली छुट गई थी, किसी किनारे लगाने के संघर्ष में पड़ कर अपने ग्रंथों पर ध्यान न दे सके थे। पर इस बीच उनके साथी श्री पृथ्वीसिंह महता ने "हमारा राजस्थान" बहुत कुछ लिख डाला था और उनकी इच्छा थी कि कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन पर वह ग्रंथ प्रकाशित हो जाय। मैंने उसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व लेने में उस समय अपने को असमर्थ पाया। पृथ्वीसिंहजी ने किसी प्रकाशक से कच्ची-पक्की बात करके बनारस में पुस्तक छपने को दे दी। उस समय वहाँ बाज़ार में अच्छा कागज़ भी नहीं था, सो इतिहास का ग्रन्थ अखबारी कागज़ पर छपने दिया गया। सबसे अधिक दुःख इस बात का है कि जिस प्रेस ने ग्रंथ को छापने के लिए पहले लिया, उसके मालिकों ने अपनी जिम्मेवारी को कुछ नहीं समझा और

अपने नाम की प्रतिष्ठा का भी कुछ मूल्य नहीं लगाया। हठात् उस प्रेस में छपाई रोकनी पड़ी।

ग्रंथ अभी पूरा छप नहीं पाया था कि मैंने अपने को इस स्थिति में पाया कि भाईसाहब और उनके साथियों की इतिहास-ग्रंथमाला के प्रकाशन का भार उठा लूँ। इस ग्रंथ का प्रकाशन भी तब मैंने अपने जिम्मे ले लिया और इसका शेष अंश दूसरे प्रेस में छपने को दिया।

इन परिस्थितियों में इस पुस्तक की छपाई में जो त्रुटि रह गई है उसके लिए मैं पाठकों से फिर क्षमाप्रार्थना करता हूँ। ग्रन्थ का अगला संस्करण इसके विषय के सर्वथा अनुरूप होगा।

प्रयाग,
२–५–१९५०

इंद्रचंद्र नारंग

ग्रन्थ का खाका

पहला अध्याय

राजस्थान प्रान्त भाषा और भूमि की दृष्टि से

दूसरा अध्याय

प्राचीन राजस्थान

(लगभग ५४० ई० तक)

तीसरा अध्याय

मध्यकालीन राजस्थान

(५४०–१५०६ ई०)

चौथा अध्याय

अर्वाचीन राजस्थान (१)—सांगा-प्रताप-दुर्गादास-युग

(१५०९-१७२०)

पाँचवा अध्याय

अर्वाचीन राजस्थान (२)—मराठा युग

(१७२०–१७९४)

छठा अध्याय

अर्वाचीन राजस्थान (३)—मराठा ब्रिटिश युगसन्धि

(१७६५–१८१८ ई०)

सातवाँ अध्याय

अर्वाचीन राजस्थान (४)—अंगरेजी जमाना

(१८१९—१९४७ ई०)

हमारा राजस्थान

पहला अध्याय

राजस्थान प्रान्त भाषा और भूमि की दृष्टि से

§ १. प्रान्तनिर्माण का वैज्ञानिक आधार भाषा इतिहास और संस्कृति की एकता

राजस्थान से साधारणतः आजकल का राजपूताना प्रान्त समझा जाता है। किन्तु राजपूताना नाम अपेक्षाकृत नवीन और भ्रामक है और अंग्रेजों द्वारा इसपर आधिपत्य जमाने के समय अधिकांश में तथा-कथित राजपूत राजाओं द्वारा शासित होने के कारण गोंडवाना के नमूने पर रक्खा गया है।* राजपूताने की आधुनिक सीमाएँ भी इसी प्रकार अंग्रेजों द्वारा शासन की तात्कालिक सुविधा के अनुसार बनाई गईं मनमानी और अवैज्ञानिक हैं।

राष्ट्र, प्रान्त या जनपद की इकाइयों के निर्माण में भूमि भाषा रहन-सहन संस्कृति नस्ल और इतिहास की एकता की शर्त आवश्यक है। एक विशिष्ट भाषा या बोली बोलनेवाले जनसमुदाय का किसी देश या क्षेत्र में निरन्तर रूप से बसा होना उस समुदाय के पूर्वजों की एकता और युगों से चली आती रहन-सहन संस्कृति और इतिहास की एकता

* राजपूताने का इतिहास, भाग १, द्वि० संस्क० १९३७ ई०, पृ० १।

का द्योतक होता है। ऐसे समुदाय को परस्पर सम्मिलित होने, एक राजनीतिक इकाई के रूप में संघटित और परिवर्धित होने, पड़ोसी अन्य-भाषाभाषी अन्य सामुदायिक इकाइयों से अपनी विविक्तता अनुभव करने और इस प्रकार पीढ़ियों से प्राप्त अपनी आनुवंशिक विशिष्टता का पोषण करने का पूरा पूरा जन्मसिद्ध अधिकार है। लोकसत्ता स्वराज्य या जातीय राज्य (नैशनल स्टेट) का यह मूल मन्त्र है। इसके विपरीत विदेशी सत्ता साम्राज्यशाही सामन्तशाही या निरंकुश एकतन्त्र में जहाँ जनसाधारण की सुख-सुविधा इच्छा अभिलाषा या भावनाओं की परवाह नहीं रहती और कुछ थोड़े से व्यक्तियों वर्गों या एक व्यक्ति-विशेष की सुविधा इच्छा या मनमानी ही चलती है, वहाँ जातियों के इस मूल-भूत अधिकार की उपेक्षा होती है, और शासकवर्ग की अपनी या प्रदेशविशेष की भाषा संस्कृति और रहनसहन को अन्य लोगों पर थोपने तथा जनजीवन की जीवित जातीय इकाइयों की अवहेलना कर देश को उन थोड़े से व्यक्तियों या वर्गों के लाभ के लिए मनमाने ढंग पर बाँटने की प्रवृत्ति रहती है।

§ २. राजस्थान की परिक्रमा

राजस्थान इस दृष्टि से राजस्थानी भाषा का वह समूचा क्षेत्र है, जो उत्तर में सरस्वती या हाकड़ा नदी के सूखे थाले से दक्खिन तरफ सातपुड़ा पर्वत के ढालों और ताप्ती तक तथा पूरब में बेतवा के उपरले काँठे और पूरबी सिन्ध के उपरले प्रस्रवणक्षेत्र से पच्छिम तरफ सिन्ध नदी की पूरबी धारा नारा नदी तक फैला है। मालूम होना चाहिए कि मालवे की बोली मालवी भी भाषाविज्ञान के अनुसार राजस्थानी के अन्तर्गत है।

राजपूताने की वर्तमान सीमाओं के अतिरिक्त इसमें पच्छिम तरफ आधुनिक सिन्ध प्रान्त के थर पारकर प्रदेश का उमरकोट अंश, जहाँ रेगिस्तान का अन्त होता है, अर्थात् सिन्ध नदी की पूरबी धारा (नारा.

नदी) तक का प्रदेश सम्मिलित होता है, जो भाषा रहनसहन और आबादी की दृष्टि से राजस्थानी है। नारा के तट से रजास्थानी की सीमा खैरपुर रियासत की दक्खिनपूरबी सीमा के साथ साथ घूमती हुई उत्तर मुड़कर जैसलमेर राज्य में प्रविष्ट होती है। उक्त राज्य के शाहगढ़, घोटरू और तणोट के प्रदेश राजस्थानी-भाषी नहीं हैं। वहाँ जैसलमेर के लगभग बीस मील उत्तर तक सिन्धी भाषा घुस आई है। तणोट के उत्तर किशन-गढ़ को राजस्थान में रखते हुए हमारी सीमारेखा बहावलपुर रियासत में प्रविष्ट होती और इसलामगढ़, बीजणोट, रूकनपुर, खानगढ़ आदि बस्तियों को भीतर लेती हुई मोजगढ़ पर हाकड़ा के सूखे थाले से जा लगती है।

मोजगढ़ की बस्ती मुलतान से बहावलपुर और पूंगल होकर बीका-नेर आनेवाले पुराने रास्ते के प्रायः ठीक आधे पर है। वहां से हमारी सीमारेखा हाकड़ा के साथ साथ बीकानेर राज्य में घुसकर अनूपगढ़ और सूरतगढ़ होती हुई हिसार जिले में सिरसा तक जा पहुँची है। बीकानेर राज्य का भटनेर (हनुमानगढ़) प्रदेश पंजाबीभाषी है।

सिरसा (प्राचीन शैरीषक) महत्त्व का स्थान है। हाकड़ा नदी प्राचीन काल में सरस्वती और मार्कण्डेय की धाराओं के मिलने से बनी थी। उनका संगम सूरतगढ़ से कुछ ऊपर रामापुरा पर होता था। आजकल मार्कण्डेय सिरसा तक पहुँचकर ही मरुभूमि में लुप्त हो जाती है।

सिरसा के करीब बीस मील पूरब से हमारी सीमारेखा एकाएक दक्खिन घूम जाती और हिसार जिले के पच्छिमी अंचल (चायल-वाड़ा पट्टी) को भीतर लेती हुई प्रायः ८५ मील तक सीधे दक्खिन-पूरब जाकर लोहारू के १६ मील पूरब जा पहुँचती है। वहाँ से वह फिर एकाएक पूरब घूमती और दिल्ली के दक्खिनपच्छिम पालम को जा छूती है। पालम के पास से वह फिर दक्खिन घूमती और गुड़गाँवाँ जिले को बीचोंबीच काटती हुई भरतपुर रियासत की पच्छिमी सीमा

पर अखेगढ़ तक चली जाती है। लोहारू, झज्झर, रेवाड़ी और नारनौल प्रदेश, बल्लभगढ़ और पलवल तहसीलों को छोड़ समूचा गुड़गांवां जिला तथा भरतपुर राज्य का कामा और डीघ से पच्छिम का अंश, जो कि अलवर रिसायत के पूरब लगा है, राजस्थानी क्षेत्र में आता है। गुड़गांवां की वल्लभगढ और पलवल तहसीलें तथा भरतपुर राज्य का शेष अंश व्रजभाषी है।

अखेगढ़ से राजस्थानी की सीमारेखा पच्छिम घूम कर अलवर राज्य की दक्खिनी सीमा के साथ-साथ वाणगंगा के उत्तर के पहाड़ों की तलहटी में होती हुई अलवर के दक्खिन-पच्छिमी छोर तक आती और वहाँ से एकाएक फिर दक्खिन घूम बनास-मोरल-संगम तक प्रायः सीधी चली जाती है। बनास नदी इस संगम के आगे सीधे दक्खिनपूरब प्रायः चालीस मील जाकर चम्बल में मिली है। यहाँ व्रजभाषा ने अपना एक फाना बनास के पार राजस्थानी में घुसा दिया है जिसके कारण हमारी सीमा-रेखा टोंक रियासत के अलीगढ़ प्रदेश की पूरवी सीमा तक घूम कर बनास-चंबल-संगम पर लौटती है। वहाँ से वह प्रायः सीधे पूरब बढ़कर ग्वालियर राज्य के शिवपुर जिले को बीचों-बीच काटती उसकी पूरवी सीमा, अर्थात् ग्वालियर शहर के प्रायः पचास मील दक्खिनपच्छिम तक जा पहुँचती है। इस प्रकार भरतपुर राज्य का मुख्य भाग, समूचे धौलपुर और करौली राज्य, तथा जयपुर राज्य का टोडाभीम, बाँदीकुई, द्योसा, बामनावास, हिंडौन, गंगापुर वाला पूरवी प्रदेश एवं रणथंभोर सवाईमाधोपुर का प्रदेश भी व्रजभाषा के क्षेत्र में चला जाता है।

शिवपुर ज़िले के पूरवी छोर से हमारी सीमा लहरदार रेखा में दक्खिन-दक्खिन-पूरब ठीक नर्मदा नदी तक चली गई है। ईसागढ़ के पूरब चन्देरी के पहाड़ों की पच्छिमी तलेटी छूती वह बेतवा की उपरली धारा पार कर भेलसा रायसेन भोपाल को भीतर लेती, होशंगाबाद जिले के उत्तरपूरवी कोने के सामने नर्मदा से जा लगती है। वहाँ से नर्मदा के बहाव के साथ

साथ गंजाल-नर्मदा-संगम तक आकर नर्मदा को लाँघ, गंजाल के साथ-साथ ऊपर चढ़, वह महादेव पहाड़ियों के पच्छिमी अंश का घेरा करती हुई बेतूल और छिन्दवाड़ा के बीच ताप्ती के स्रोतों को जा छूती है।

सिरसा के पास सरस्वती कांठे से ताप्ती के स्रोतों तक यों राजस्थान की पूरवी परिक्रमा होती है। बीच-बीच के कुछ घुमावों को छोड़ यहाँ हमारी सीमारेखा की दिशा लगातार दक्खिन-दक्खिन-पूरब है। ताप्ती के स्रोतों से हमारी दक्खिनी परिक्रमा शुरू होती है। बुरहानपुर तक ताप्ती के साथ-साथ जाकर सातपुड़ा के चरणों के साथ बढ़ते हुए उसका मार्ग सारंगखेड़ा पर फिर ताप्ती से जा लगता है और कुकुरमन्दा तक उसके साथ जाकर उत्तर घूम जाता है। शाहदा, तलोदा, धरगाँव और काठी बस्तियों को अपने अन्दर लेती हुई हमारी सीमारेखा फिर नर्मदा पार करती और गुजरात के रेवाकांठे, पंचमहाल तथा महीकांठे को बांये रखते हुए अलीराजपुर, झाबुआ, बाँसवाड़ा, डूंगरपुर और मेवाड़ राज्यों की वर्तमान सीमाओं के साथ-साथ गुजराती की अर्धपरिक्रमा कर, आबू के नीचे पच्छिमी बनास नदी को लाँघती और सीधे पच्छिम बढ़ती हुई लूणी तक पहुँचती है। यों जोधपुर राज्य के सांचौर ज़िले के दक्खिन सटे हुए बनास काँठा एजेन्सी के धनेरा और थराड़ प्रदेश भी राजस्थानी क्षेत्र में आते हैं।

लूनी का मुहाना हमें कच्छ के रण में पहुँचा देता है, जिसके उस पार थर-पारकर का प्रदेश है। उसमें सिन्ध की पूरवी धारा नारा तक के समूचे उमरकोट प्रदेश में राजस्थानी बोली जाती है सो कहा जा चुका है। नारा के पूरब और पच्छिम भूमि का अन्तर भी स्पष्ट दिखाई देता है। पूरब तरफ अर्थात् राजस्थानी क्षेत्र में रेत के ऊँचे ऊँचे धोरे (रेतीले टिब्बे) चले गये हैं। पच्छिम तरफ समथर मिट्टी का मैदान है।

§३. एक जातीय भूमि के रूप में राजस्थान की पहचान

राजस्थानी की उक्त परिक्रमा में उसके पच्छिम में सिन्धी और उत्तर-

पच्छिम (बहावलपुर रियासत) में हिन्दकी भाषा है। सिन्धी का क्षेत्र प्राचीन-काल में सौवीर देश कहलाता था और हिन्दकी का सिन्धु देश। पच्छिमी पंजाब की भाषा के नाम के रूप में हिन्दकी शब्द की पहचान और उसकी यह व्याख्या श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की की हुई है* । अनूपगढ़ से सिरसा तक हमारी उत्तरी सीमा के साथ-साथ पंजाबी चली गई है। फिर सिरसा से पालम तक उत्तरपूरबी सीमा पर हरियाने की बांगरू बोली है। पालम से चंबल तक ब्रजभाषा और चंबल से तासी तक लगातार बुंदेली। बांगरू ब्रजभाषा और बुन्देली तीनों हिन्दी की ही बोलियाँ हैं। राजस्थानी की दक्खिनी सीमा लगातार मराठी से लगी है और दक्खिन-पच्छिमी गुजराती से।

यों सिन्धी, हिन्दकी, पंजाबी, बांगरू, ब्रजभाषा, बुन्देली, मराठी और और गुजराती से घिरे इस महाप्रदेश की भाषा एक ही राजस्थानी है, यह बात भारतीय भाषाओं के पर्यवेक्षक सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन ने पहले-पहल पहचानी थी। परन्तु इसे एक जातीय भूमि अर्थात् इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से भी एक इकाई के रूप में सर्वप्रथम पहचानने का श्रेय प्रोफेसर जयचन्द्र विद्यालंकार को है† ।

हिन्दी की विद्यमान बोलियों के क्षेत्र प्राचीन जनपदों के द्योतक हैं, इस सचाई को सबसे पहले श्री धीरेन्द्र वर्मा ने पहचाना और प्रकट किया था (१९२३) । वर्माजी हिन्दी (खड़ी बोली और ब्रजभाषा) के विकास को टटोलते समय अनायास ही इस परिणाम पर पहुँचे थे। किन्तु उन्होंने तब यह नहीं जाना कि इस सिद्धान्त के रूप में भारतीय इतिहास की कितनी बड़ी सचाई को उन्होंने खोज निकाला था। श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार ने

* भारतभूमि और उसके निवासी (१९३१), पृ०. २१९—२२१ ।

† वहीं, पृ० २१०, "इस प्रकार अब मेरी लगभग निश्चित धारणा है कि राजपूताना और मालवा मिलाकर एक राजस्थान प्रान्त गिनना चाहिए।"

'भारतभूमि और उसके निवासी' में भारतीय इतिहास के भौमिक और और जातिकृत आधारों को टटोलते हुए भारत के विभिन्न-भाषी क्षेत्रों का परिशीलन एवं पुराने जनपदों की भौमिक स्थिति और ऐतिहासिक विकास का मनन कर यह दर्शाया कि आधुनिक बोलियों के क्षेत्रों की प्राचीन जनपदों से एकरूपता का सिद्धान्त न केवल हिन्दी इलाके पर प्रत्युत सारे भारत पर—यहाँ तक कि अफगानिस्तान और पामीर पर भी—लागू होता है, और कि भारतीय राष्ट्र का समूचा इतिहास उसके इन भाषा-जनपदों के विकास और पारस्परिक संबंधों के समन्वय की प्रक्रिया का इतिहास है। उन्होंने भारत के प्रत्येक भाषाजनपद का संक्षिप्त ऐतिहासिक दिग्दर्शन उस ग्रन्थ में किया और उसी सिलसिले में राजस्थान को भी एक जातीय भूमि के रूप में पहचाना।

§.४ राजस्थानी की बोलियाँ

भारतीय भाषाओं के पर्यवेक्षक सर ज्यौर्ज ग्रियर्सन के अनुसार राजस्थानी की मुख्यतः चार बोलियाँ हैं—

(१) **मारवाड़ी** या पच्छिमी राजस्थानी, जो समूचे मारवाड़ (जोधपुर बीकानेर और जैसलमेर राज्य) की भाषा है। सिन्ध के थर-पारकर, बहावलपुर में मोजगढ़ तक के प्रदेश, सिरसा हिसार और भिवानी के दक्खिनी प्रदेशों, एवं जयपुर के उत्तरी अंश (शेखावाटी) और मेवाड़ की बोलियाँ भी मारवाड़ी की ही उपबोलियाँ हैं।

(२) उसके पूरब हिन्दी क्षेत्र से सटी **मेवाती**, जो वर्तमान अलवर राज्य और उससे लगते हुए रोहतक-गुड़गाँवा जिलों के अंशों में बोली जाती है और प्राचीन मत्स्यदेश की सूचक है*।

* अभी हाल में हमारी राष्ट्रीय सरकार ने अलवर भरतपुर करौली और धौलपुर को मिलाकर एक "मत्स्य प्रदेश" बना दिया है, वह ठीक नहीं है। भरतपुर, करौली, धौलपुर की व्रजभाषी जनता में उसके खिलाफ

(३) पूरबी राजस्थानी या **ढूँढाड़ी,** जो मेवाती के दक्खिन और ब्रजभाषा के पच्छिम और दक्खिन फैली है । इसकी मुख्य उपबोली जयपुरी जयपुर किशनगढ़ और अजमेर मेरवाड़ा के उत्तरपूरबी अंश तथा टोंक में चलती है । बूँदी कोटा झालावाड़ तथा शोपुर नरवर के राजस्थानी अंशों की बोली हाड़ौती भी ढूँढाड़ी की ही एक उपबोली है ।

(४) **मालवी,** जो सिन्ध बेतवा और चंबल के उपरले काँठों अर्थात् ईसागढ़ से धार तक तथा रायसेन भोपाल से मंदसौर नीमच तक के प्रदेशों की बोली है । धार के दक्खिन मध्य नर्मदा काँठे की बोली नीमाड़ी भी इसी की उपबोली है ।

§५. भीली "भाषा" की समस्या

ग्रियर्सन ने इनके अतिरिक्त दक्खिनपच्छिमी पहाड़ों में रहने वाली भील आदि जातियों की बोली को राजस्थानी से बिलकुल अलग एक स्वतंत्र भाषा माना है । ग्रियर्सन के अनुसार उसका क्षेत्र अजमेर के दक्खिन पहाड़ों में मेरवाड़े की सीमा से शुरू होकर मेवाड़ के समूचे पहाड़ी प्रदेश, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़ और रतलाम तक अर्थात् समूचे आडा वला* और उसके आगे मालवे के पहाड़ों, मध्य-नर्मदा काँठे

जो आज सामान्य असन्तोष दिखाई देता है, वह स्वाभाविक है । वस्तुतः ब्रजभाषी अंश मत्स्य का अंग न कभी पहले रहा, न अब स्थिर रूप से बना रह सकता है । जनता की मांग अपना फल अवश्य लायगी ।

* राजस्थानी में वल या वली का अर्थ है पहाड़ या पहाड़ी । आडा इस शृंखला का नाम है और कदाचित् पूरबी और पच्छिमी राजस्थान में इधर से उधर जाने में मुख्य बाधा होने से इसे यह नाम दिया गया है । रोमन में वर्णोच्चारणनिदर्शक मात्राओं के अभाव तथा 'र 'ड़' और 'ल' 'ल़' ध्वनियों में विवेक करने वाले चिह्नों के अभाव के कारण अंग्रेजी पढ़े-लिखे अज्ञानवश इसे 'अरवली' पढ़ते हैं, अतः आजकल "पढ़ेलिखों"

और सातपुड़ा तक फैला है। इस प्रकार राजस्थानी प्रान्त के बीच यह दूर तक पच्चर सा घुसकर उसे लगभग दो भागों में बाँट देता है। यदि ग्रियर्सन का उक्त मत ठीक हो तो राजस्थानी भाषा का एक प्रान्त बनने में यह सबसे बड़ी समस्या है। राजस्थानी की भौमिक अविच्छिन्नता इसके रहते नहीं हो सकती।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ "भारतभूमि और उसके निवासी" में इस समस्या पर भी आज से १७ वर्ष पूर्व विचार किया था। वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि भीली कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, उसका मुख्य अंश राजस्थानी में गिना जाना चाहिए। सन् १९३४ में लिखे और १९३७ में प्रकाशित श्री रामकृष्ण परमहंस शताब्दी स्मारक ग्रन्थ (कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया) के अपने अंग्रेज़ी लेख "रेजिनल ऐंड लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर आव इंडिया"—भारत की प्रादेशिक और भाषाकृत बनावट—में भी उन्होंने यही विचार प्रकट किया। सन् १९४२-४३ में उन्होंने भारतवर्ष के जनपदों की सीमाओं की समस्याओं के विषय में फिर बड़ी बारीकी से अध्ययन और विचार किया। लेखक सन् १९३३ में प्रो० जयचन्द्र का शिष्य बनकर रहा था। तब से उनके बराबर आगे बढ़ते अध्ययन मनन से उसने लगातार संपर्क रक्खा है। सन् १९४२-४३ के जनपदसीमा-समस्या-अध्ययन में वह भी उनके साथ सम्मिलित रहा। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार राजस्थानी-भीली समस्या का ठीक-ठीक समाधान कर चुके हैं। उनके अन्तिम अध्ययन के फल सन् १९४३ से ४६ तक उनके जेल में बन्द रहने और उसके बाद से अब तक अपने काम पर न लग सकने के कारण प्रकाशित नहीं हुए।

में भ्रमवश उसका यह अशुद्ध रूप ही प्रचलित हो गया है। परन्तु राजस्थानी साहित्य में इसका इसी रूप में उल्लेख आता है। देखिये, राजपूताने का इतिहास, १ म भाग, द्वि० संस्क० (१९२७), पृ० ४; मोतीलाल मेनारियाकृत "राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा", पृ० १।

गत चार वर्षों से लेखक ने अपने मित्र "राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा" के लेखक श्री मोतीलाल मेनारिया को भी इस समस्या के रूप से और श्री जयचन्द्र विद्यालंकार द्वारा किये गये इसके मुलभाव से परिचित कराया है और उसका विगतवार अध्ययन आरम्भ किया है। इस समस्या का और प्रान्त के स्वरूप और इतिहास की ऐसी ही अन्य अनेक समस्याओं का अन्तिम रूप से निपटारा करने एवं राजस्थानी की सीमाओं का ठीक-ठीक निर्धारण करने का काम काफी अध्ययन और प्रयत्न की अपेक्षा करता है जिसके लिए राजस्थान में एक राष्ट्रीय खोजसंस्था की तुरन्त आवश्यकता है। हम अपने अध्ययन के पूरे परिणाम वैसी किसी सुविधा की व्यवस्था होने तक अभी प्रकट करने में असमर्थ हैं। यहाँ मोटे तौर पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दरअसल ग्रियर्सन की यह भीली कोई पृथक् भाषा नहीं, न उसे ठीक-ठीक एक बोलीविशेष ही कहा जा सकता है। वास्तव में वह अपनी पड़ोसी राजस्थानी की विभिन्न बोलियों की उपबोलियों का समुच्चय मात्र है, जिसे न जाने क्यों ग्रियर्सन ने एक पृथक् भाषा का रूप देने का यत्न किया है। तो भी ग्रियर्सन की इस नयी भाषा के मुख्य स्थान डूँगरपुर बाँसवाड़ा प्रतापगढ़ आदि के प्रदेश का राजस्थानी नाम बागड़ है, अतः **बागड़ी** के रूप में हम इसे राजस्थानी की पाँचवी बोली मान सकते हैं।

§६. राजस्थानी भाषा का पड़ोसी भाषाओं से संबंध

राजस्थान की ये बोलियाँ मुख्यतः सिन्धी पंजाबी और हिन्दी (खड़ी बोली और ब्रजभाषा) के गुजराती में ढलते रूप हैं। मारवाड़ी पर सिन्धी हिन्दकी और पंजाबी का काफ़ी प्रभाव है। उसी तरह मेवाती पर खड़ी बोली का, पूरबी राजस्थानी या ढूंढाड़ी पर ब्रजभाषा का तथा मालवी पर ब्रज और बुन्देली का। दक्खिन-पच्छिमी राजस्थानी या बागड़ी (डूंगरपुर बांसवाड़ा की बोली) और दक्खिनी मारवाड़ी (सिरोही-सांचौर की बोली) गुजराती से विशेष प्रभावित हैं।

पूरबी राजस्थानी में कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जैसे सत्तावाचक वर्तमान क्रिया के लिए 'छै' का प्रयोग, जिनका संबंध, पासपड़ोस की राजस्थानी, खड़ी बोली, ब्रजभाषा या बुन्देली में न मिलकर, पहाड़ी—गढ़वाली कुमाऊँनी और गोरखाली—, मैथिली और गुजराती जैसी दूर की भाषाओं से है। वैसे उसपर ब्रजभाषा का काफ़ी प्रभाव है। जयपुरी की ही उपबोली हाड़ौती है। उसमें और बागड़ी में भी इसी प्रकार कुछ विशेषतायें ऐसी हैं जो पड़ोस की अन्य बोलियों में नहीं मिलतीं, जैसे हाड़ौती में कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं जिनका राजस्थानी या हिन्दी की अन्य किसी भाषा से सम्बन्ध नहीं मालूम होता। संभवतः वे प्राचीन काल और मध्य काल की सन्धि में पच्छिम भारत या मध्य एशिया से आकर बसी किन्हीं विदेशी जातियों द्वारा वहाँ लाये गये हैं। इसी प्रकार बागड़ी और 'भीली' प्रदेशों में आदि सकार को हकार में बदल देने तथा दकार चकार और जकार का उच्चारण सकार* से मिलता जुलता करने की अत्यधिक प्रवृत्ति की व्याख्या वहाँ शक प्रभाव की निदर्शक मानी गई है†।

---

* इस उच्चारण को व्यक्त करने के लिए 'च़' निशान उचित होगा।

† दे० डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के हिन्दी विद्यापीठ उदयपुर 'सूरजमल आसन' पर से दिये गये जनवरी १९४७ के भाषण (ये भाषण अभी तक अप्रकाशित हैं)। राजस्थान के इस भीली प्रदेश में मीणों की संख्या बहुत अधिक है, जिन्हें साधारणतः लोग भील ही समझ लेते हैं। मीणा, मेव, मेर, (मिहिर) आदि असल में शकों की जातियाँ थीं, जिनका भील आदि वनवासी जातियों से सम्मिश्रण होने से ही ये मीणे बने हैं। राजस्थान में ये मीणे 'काले' कहलाते हैं और उनके मुकाबले में ऊजले मीणे भी हैं, जिनका संबंध परस्पर नहीं होता। शकों का आधिपत्य राजस्थान के इस प्रदेश पर बहुत काल तक रहा यह बात बाँसवाड़ा रियासत के सरवाणियाँ नामक स्थान से मिले शक क्षत्रपों के सिक्कों के एक बड़े

इनके अतिरिक्त सांसी, कंजर, बनजारे, वालदी, ओड, ढाडी, गाडोल्ये लोहार्ये, गूजर आदि खानाबदोश और पशुपालक जातियों की बोलियाँ भारत भर में सर्वत्र राजस्थानी से सम्बद्ध हैं। कश्मीर हजारा स्वात आदि भारत के उत्तरपच्छिमी सीमा-प्रदेशों में जो गूजर बारह तेरह शताब्दियों से बसे हैं, वे आज भी एक राजस्थानी बोली ही बोलते हैं। रेलपथ बनने से पूर्व यातायात के साधन मुहय्या करना, सामान इधर से उधर ढोकर ले जाने के साधन पशु आदि पालना, गाडियें आदि रखना और दूर देहातों में दस्तकारी शिल्प आदि की आवश्यकताएँ पूरी करना इन जातियों का मुख्य धन्धा था। अपनी भौमिक स्थिति के कारण उत्तर भारत तथा सिन्ध कांठे से गुजरात के बन्दरगाहों और दक्खिन को जाने वाले प्रायः सभी मार्गों के इस प्रदेश में होकर जाने से यहाँ के निवासियों का भारत के व्यापार में सदा से प्रमुख स्थान रहा है, अतः व्यापारियों की तरह यातायात के साधन और मजदूरी मुहय्या करनेवाली इन जातियों का भी इस प्रदेश मूलक होना स्वाभाविक है।

§७. राजस्थान की भूमि

भौमिक दृष्टि से राजस्थानी बोलने वालों के इस समूचे भूभाग को कई भागों और उपभागों में बाँटा जा सकता है।

अ. मरु-जांगल

राजस्थान के बीचोंबीच आडा वला की शृंखलाएँ दिल्ली से सिरोही तक ईशान से नैऋत्य कोण में फैली हैं, जो इसे क्रमशः पच्छिमोत्तरी और दक्खिनपूरवी इन स्पष्ट दो भागों में विभक्त करती हैं। इनमें पच्छिमोत्तर (मारवाड़ बीकानेर और जैसलमेर) का प्रदेश, जो प्रायः समथर मैदान और मरुस्थल है एक समचतुष्कोण समचतुर्भुज

ढेर से स्पष्ट विदित है। मेवाड़ मेरवाड़ा और मेवात नाम भी यहाँ कभी उन तत्वों की प्रधानता के ही सूचक हैं।

(आयत) के आकार का है। उसकी एक भुजा आड़ा वाल की ऊँची दीवार है, जो पच्छिमी मरुस्थल की रेत को पूरब ओर फैलने से रोके हुए है। पच्छिमी राजस्थान के मरुस्थल का दक्खिनी अंश मरु या मारवाड़ है। उत्तरी अंश (बीकानेर) का पुराना नाम जांगल है।

इ. मेवात और ढूँढाड़

आड़ा वला की पहाड़ी दीवार उत्तर में अपेक्षाकृत कम ऊँची और छिन्न भिन्न दशा में है। दिल्ली से नारनौल और खेतड़ी तक तो यह बहुत कम ऊँची पहाड़ियों और मैदान में एकाएक उठे इधर-उधर छितरे अकेले टीलों के रूप में ही नजर आती है। परन्तु खेतड़ी से दक्खिन दाँता, रींगस और सामोद तक इसने एक ऊँची पर्वतमाला का रूप धारण कर लिया है जिसके कारण पूरब का अलवर राज्य या मेवात अत्यन्त दुर्गम पहाड़ी प्रदेश हो गया है।

रींगस से अजमेर तक यह शृंखला फिर टूटी फूटी है और इसकी चौड़ी घाटियों के रास्ते पच्छिमी मरुस्थल की रेत ने पूरब की तरफ घुस कर साँभर से बनास तक के प्रदेश को अपेक्षाकृत सजल रेगिस्तान की सी शकल दे दी है। अरब सागर से उठी दक्खिन-पच्छिमी हवाएँ जो गरमियों में कच्छ के रण तथा लूणी के पेटे की खार को उड़ाकर लाती हैं, पहाड़ों से टकराकर यहाँ के प्रदेश में नमक की काफी वर्षा कर देती हैं, जो वर्षा-जल में घुल कर साँभर के प्रसिद्ध आकर में इकट्ठा हो जाता है। जयपुर के पास आमेर की पहाड़ियों से धोंध (धुन्धु) नदी निकल कर बनास में मिलती है। उसके नाम से यह सारा प्रदेश ढूँढाड़ कहलाता है। इसी का दक्खिनी बढ़ाव हाड़ौती (बूँदी कोटा झालावाड़) है। मेवात और शेखा-वाटी के बीच ऊँचे पहाड़ों से निकलने वाली नदी बाणगंगा मेवात और ढूँढाड़ के बीच की सीमा रेखा है।

साँभर के दक्खिन पुष्कर अजमेर की पहाड़ियाँ फिर ऊँची उठी हैं। अजमेर के दक्खिन उनकी वह धार टूट कर फिर ब्यावर के दक्खिन से

लगातार ऊँची होती गई है, और मारवाड़ के मरुस्थल के सिरे पर एक ऊँची दुरारोह पहाड़ी दीवार सी खड़ी हैं। मारवाड़ सिन्ध तथा गुजरात काठियावाड़ की तरफ से आनेवाले सभी रास्ते अजमेर ब्यावर के बीच की इस चौड़ी घाटी से ही होकर गुजरते हैं। दक्खिन-पूरब मेवाड़ मालवा तथ ढूँढाड़ हाड़ौती से आनेवाले मार्गों का भी यही नाका है, जिसपर पुराने जमाने में अजमेर के गढ़ बीटली (तारागढ़) का पहरा था और अब नसीराबाद की छावनी का है। अजमेर मेरवाड़ा इस प्रकार राजस्थान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण नाका है, और राजस्थान के तीन मुख्य विभागों—मारवाड़, मेवाड़ और ढूँढाड़—के बीचोंबीच होने से उसका सामरिक और शासन की दृष्टि से बड़ा मूल्य है। इसी से वह एक अरसे से राजस्थान की कुंजी समझा जाता है।

३. मेवाड़ और वागड़

आडावला शृंखला ब्यावर से दक्खिन फिर ऊँची उठ कर दाँता पालनपुर तक एक धार में बिना किसी तोड़ के चली गई है। आबू साधारणतः उसकी सबसे ऊँची चोटी समझा जाता है, जिसके गुरु शिखर की ऊँचाई समुद्र-सतह से ५६५० फुट है। पर आबू वास्तव में आडावला की मुख्य शृंखला से अलग पच्छिमी रेगिस्तान के मैदान में धरती को फाड़कर एकाएक ऊँचा उठा शिखर है। आडावला की सबसे ऊँची मुख्य धार कुंभलगढ़ (३५६८ फुट) से लेकर गोगूँदा तक गई है, और गोगूँदा से १५ मील उत्तर जर्गा का पहाड़ (४३१५ फुट) उसकी सबसे ऊँची चोटी है। उसके दक्खिन यह धार फिर नीची होती हुई दाँता पालनपुर तक जाकर समाप्त हो गई है। उसके पच्छिम दक्खिनी मारवाड़ में अनेक ऊँचे नीचे रेतीले लाल पत्थर के पहाड़ी टीले आबू की भाँति जहाँ तहाँ रेगिस्तान के सम तल से अपना सिर उचकाये हैं। मारवाड़ के जालौर साँचौर भीनमाल सिवाणा मण्डोवर जोधपुर आदि अनेक दुर्ग इन्हीं टीलों पर बने हैं। अजमेर से आडावला और आबू की छाँह में होकर जाने

वाले गुजरात काठियावाड़ के मुख्य रास्तों तथा सिन्ध से मारवाड़ और पूरबी राजस्थान की तरफ आने वाले मार्गों के नाकों की देखभाल करने के कारण ये दुर्ग विशेष सामरिक महत्व के हैं।

आडावला शृंखला के ये पहाड़ पच्छिम में रेगिस्तान की तरफ़ तो मैदान से एकाएक ऊँचे उठे हैं, जहाँ उनके ऊँचे-ऊँचे ढांग अत्यन्त दुर्गम है। पर पूरब और दक्खिन तरफ उन्होंने अपनी अनेक कम ऊँची क्रमशः ढालू बाहें फैला रक्खी हैं जिन्होंने उस समूचे प्रदेश को उत्तर-पूरब ओर ढलते एक पठार का रूप दे दिया है। बनास और उसकी मुख्य धाराएँ इन्हीं बाहों के बीच की दूनों* से निकलकर बहती हैं। इसी प्रकार की एक पहाड़ी धार उदयपुर के सामने से पूरब को फट कर छोटी सादड़ी प्रतापगढ़ जावरा की ओर अर्धवृत्ताकार घूमती हुई दक्खिन ओर झुककर सैलाना तक पहुँच मालवे के पहाड़ों से जा लगी है। इस धार से उसकी एक और बाहीं नीमच के पास से फटकर उत्तर-पूरब बढ़ती और चंबल के प्रस्रवणक्षेत्र को बनास के प्रस्रवणक्षेत्र से अलग करती हुई आडा की रीढ़ के समानान्तर चली जाती है। इसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ पूरब की तरफ़ समानान्तर रूप में कंघे के दांतों की तरह मालवा और हाड़ौती के पठारों की ओर बढ़ी हुई हैं। मध्य और पूरबी राजस्थान में

* दून शब्द संस्कृत द्रोणी का अपभ्रंश है, जिसका सामान्य अर्थ होता है ऊँचे किनारों वाला चौड़ा जलपात्र (दोना, कठौती)। पहाड़ों के बीच में नदियों के साथ-साथ दूर तक भीतर गई धरती के लिए भी द्रोणी एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अपभ्रंश दून हिन्दीक्षेत्रों में देहरादून आदि के रूप में प्रयुक्त होता है। देखिये "भारतभूमि" पृ० ११०; "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" (१९३३), पृ० ७, तथा उत्कीर्णलेखांञ्जलिः, २ य संस्क० (१९९९ वि०), पृ० १६। "पर्वतान्तरे स्थिता कृष्यभूमिर्द्रोणीत्युच्यते।" वायु पुराण १३६; ३३; १९७. १. ३८१। (वहीं उद्धृत)।

एक दुहरी दुर्गपंक्ति इस पहाड़ी कंधे के कगारों पर बनी है। उसकी पच्छिमी पांत चित्तौड़, मांडलगढ़, जहाजपुर, बूंदी आदि के गढ़ों द्वारा सूचित है, एवं पूरबी पाँत रामपुरा, जाठ, खेड़ी रतनगढ़, भैंसरोडगगढ़, कोटा, इन्द्रगढ़, रणथम्भोर, उतगीर, बयाना आदि किलों से। व्रज और बुन्देलखंड से ढूँढाड़ और मालवा के रास्ते चम्बल और बनास कांठों में से होकर मेवाड़ और गुजरात जानेवाले सभी रास्तों पर यह चौकसी करती है।

आडा वला की मुख्य रीढ़ और उसके समानान्तर फैली इस बाँहीं के बीच आडा वला की गोद का बनास नदी का समूचा उपरला प्रस्रवणक्षेत्र तथा इस बाहीं के पच्छिम चंबल-तट का प्रदेश मेवाड़ है। इसे मुख्य रूप से बनास अपनी सहायक गंभीरी बेड़च कोठारी खारी आदि धाराओं से सींचती है। गोगूँदा और उदयपुर के दक्खिन आडा वला की मुख्य धार और सादड़ी वाली आधी गोल धार के रूप में वीरासन-मुद्रा में एक घुटना मोड़कर टिके उसके दोनों पावों की छाया में बसा मेवाड़ का सघन जंगलों से ढका प्रदेश—भोमट, छप्पन, कांठल (प्रतापगढ़), डूँगरपुर, बाँसवाड़ा—जिसे मही और उसकी सहायक सोम आदि नदियाँ सींचती हैं, बागड़ है। इसकी आबादी मुख्यत: भील मीणा आदि वन्य जातियों की है।

ऋ. मालवा

राजस्थान का दक्खिनी सीमान्त गुजरात के रेवाकाँठा प्रदेश के ऊपर से लेकर भोपाल राज्य तक पूरब से पच्छिम फैली दुहरी तिहरी पर्वत-शृंखलाओं से बना है। नर्मदा नदी ने इस पर्वतमेखला को दो मुख्य भागों में बाँट रक्खा है। उसके उत्तरी अंश का प्राचीन नाम पारियात्र तथा दक्खिनी अंश का ऋक्ष है। ऋक्ष का ही आधुनिक नाम सातपुड़ा है। राजस्थान की दक्खिनी सीमा, जैसा कि कहा जा चुका है, यह सातपुड़ा या इससे निकलने वाली नदी ताप्ती ही है। ताप्ती से उत्तर क्षेत्र की महादेव और सातपुड़ा शृंखलाएँ इस प्रकार राजस्थान की दक्खिनी और ताप्ती के दक्खिन की गवीलगढ़ और अजिण्ठा शृंखलाएँ महाराष्ट्र की

उत्तरी सीमान्त पहाड़ियाँ हैं। उन दोनों के बीच तापी पर बुरहानपुर का घाट और उसपर चौकसी रखने वाला सातपुड़ा के एक दक्खिन-पच्छिमी कगार पर स्थित असीरगढ़ का प्रसिद्ध दुर्ग दक्खिन से राजस्थान आने वाले मुख्य मार्ग की कुंजी है। पारियात्र और सातपुड़ा के बीच नर्मदा का बिचला कोंठा—नीमाड़—इस प्रकार राजस्थान और महाराष्ट्र के बीच का सीमान्त प्रदेश रहा है; जिस पर अधिकार रखने का प्रयत्न उत्तरी और दक्खिनी शक्तियों ने सदा से किया है। पर भाषा संस्कृति और निवासियों की दृष्टि से नीमाड़ आज भी राजस्थानी ही है।

नर्मदा के उत्तर वाली पर्वतश्रृंखला गुजरात के रेवाकाँठे के पूरब से भोपाल रायसेन तक फैली है। मही नदी के स्रोत इस पारियात्र श्रृंखला के उत्तर-पच्छिमी टीलों पर हैं। इसकी मुख्य धार से एक शाखा उज्जैन के पूरब वर्तमान इन्दौर और भोपाल राज्यों के बीच उत्तर तरफ फूट कर अपनी अनेक प्रशाखाओं से एक झाड़ की सी शकल बनाती है। पूरबी सिन्ध का पानी उस झाड़ की शाखा-प्रशाखाओं से रिस-रिस कर झरता है। पारियात्र की पूरब-पच्छिमी धार और इस उत्तर को बढ़ी हुई बाँहों के बीच अर्धचन्द्राकार दून का सुन्दर दन्तुरित और उपजाऊ मैदान, जिसे चंबल और उसकी सहायक कालीसिंध गंभीरा शिप्रा पार्वती आदि नदियाँ सींचती हैं, प्राचीन अवन्ति जनपद है, जो महाकवि कालिदास के शब्दों में—

हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्

भूलोक पर हर लाया गया स्वर्ग का एक चमकीला टुकड़ा है। अवन्ति की इन रसवाहिनियों के स्रोत पारियात्र की पूरब-पच्छिम-गामिनी मुख्य श्रृंखला में हैं। अवन्ति के दक्खिन की यह पर्वतश्रृंखला उत्तर ओर बढ़ाई अपनी अनेक बाँहियों से आडावळा की उसी प्रकार पूरब ओर दक्खिन बढ़ी बाँहियों का आलिंगन सा करती प्रतीत होती है। मुकुन्दरा-रतलाम-दोहद का घाटा, जो उत्तर और पूरब से मालवा होकर गुजरात जाने का मुख्य मार्ग है, इन दोनों के इस मिलाव का ही सूचक है।

हमने अवन्ति या मालवे का दक्खिनी ढासना बनाने वाली पर्वत-शृंखला को पारियात्र कहा है। इसका आधुनिक नाम कुछ हो तो हमें उसका पता नहीं। परन्तु जैसा कि श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थों "भारतभूमि" और "उत्कीर्णलेखाञ्जलि" में बताया है, हमारे प्राचीन पुरखा पारियात्र नाम का प्रयोग केवल शृंखला के लिए नहीं, प्रत्युत इसे और आडावळा को मिलाकर समूची पर्वतमाला के लिए करते थे। पौराणिक भुवनशास्त्रियों के अनुसार, वह समूचा पार्वत्य क्षेत्र, जिसमें पर्णाशा (बनास), चन्दना (संभवतः उदयपुर और चित्तौड़ के पास होकर बहने वाली नदी बेड़च), मही, परा (पार्वती), चर्मण्वती (चम्बल), शिप्रा, सिन्धु और वेत्रवती (बेतवा) के स्रोत हैं, पारियात्र था *। यदि वास्तव में देखा जाय तो बेतवा के उपरले प्रस्रवणक्षेत्र के रायसेनगढ़ से कुछ पूरब, जहाँ ठीक आज हमारी राजस्थानी भाषा की सीमा समाप्त होती है, हमारे पहाड़ों का यह सिलसिला भी खतम हो गया है। उसके आगे दशार्णा (धसान) और केन नदी के प्रस्रवणक्षेत्र विन्ध्य की जिस शृंखला में हैं, वह स्पष्ट रूप से एक दूसरी पर्वतमाला है। आडावळा और अवन्ति के दक्खिन की उक्त पर्वतमाला इस प्रकार एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं कि उन दोनों को मिलाकर एक ही पर्वतमाला मानना सर्वथा उचित है।

प्राचीन भारतवासियों का अपने देश का अन्वीक्षण बहुत गहराई और बारीकी से किया हुआ था। अतः यह बड़ी ही पते की बात है कि उन्होंने उस सारे पर्वत को जिसके चारों ओर कि आज राजस्थानी भाषा का क्षेत्र

---

* पर्णाशा चन्दना चैव सतीरा महती तथा।
परा चर्मण्वती चैव विदिशा वेत्रवत्यपि ॥
सिन्धुः शिप्रा ह्यवन्ती च पारियात्राश्रयाः स्मृताः।

वायुपुराण, ५४. ९७-९८; उत्कीर्णलेखाञ्जलिः, द्वि० संस्क० (१९९९ वि०), पृ० ५० पर उद्धृत; "भारतभूमि" पृ० ६३-६४।

है, एक ही नाम दिया था। पारियात्र मंडल भारतवर्ष का एक स्पष्ट भौमिक विभाग भी है और भाषा क्षेत्र भी।

अवन्ति के पूरब पारियात्र की उत्तर वाली बाँहों के पूरबी ढालों का पानी बेतवा के उपरले स्रोतों में जाता है। बेतवा का यह उपरला प्रस्रवण क्षेत्र, जिसमें भेलसा भोपाल रायसेन आदि की बस्तियाँ हैं और जिसे अब पूरबी मालवा कहा जाता है, प्राचीन आकर जनपद है। उसके और अवन्ति के दक्खिन, पारियात्र और सातपुड़ा के बीच का मध्यनर्मदा कांटा, जिसे आज नीमाड़ कहते हैं, प्राचीन अनूप देश है। आकर अनूप और अवन्ति तथा उसके उत्तरपच्छिम आडावला की परबी उपत्यका और चंबल के काँठे में बसा दशपुर (दासोर या मंदसोर) का प्रदेश मिलाकर आज कल का मालवा बनता है।

मालवे का मेवाड़-मारवाड़ से घना आर्थिक संबन्ध है। मारवाड़ में जब कभी दुर्भिक्ष पड़ता है और वहाँ घास चारे या पानी की कमी हो जाती है तो वहाँ की जनता गुजरात या अन्य किसी पड़ोसी प्रदेश की तरफ न जाकर स्वभावतः मालवा आना पसंद करती है। और सुभिक्ष के दिनों में भी मालवे में कृषि आदि के लिए अच्छे पशुओं की आमद मारवाड़ मेवाड़ से ही होती है। मालवे के उच्च मध्यम और कृषक सभी वर्गों में, अनेक ऐसी बिरादरियों की बिरादरियाँ हैं, जो मेवाड़-मारवाड़ से उठकर अभी हाल तक वहाँ जाकर बसती रहीं हैं; और जिनके सबन्ध रिश्ते-नाते बराबर मेवाड़ मारवाड़ हाड़ौती और ढूँढाड़ में होते हैं। किन्तु राजस्थान के क्षेत्रों से बाहर राजस्थानियों के संबन्ध, सिवाय उन लोगों से जो कभी जीविका की खोज में यहाँ से उठकर बाहर जा बसे थे, बहुत ही विरले होते हैं।

आडावला से दक्खिनपूरब का राजस्थान का यह समूचा भूभाग पच्छिमी मरुस्थल की अपेक्षा अधिक सजल उपजाऊ और उबड़ खाबड़ है। प्रकृति ने मानों उसे स्वाधीनता युद्धों के उपयुक्त रणक्षेत्र के रूप में ही सृजा हो।

§८. प्रान्त का ठीक नाम राजस्थान या पारियात्र-मंडल

भाषा की एकता और भूमि के सातत्य की दृष्टि से एक होने पर भी समूचे राजस्थानी क्षेत्र का कोई एक नाम हाल तक चालू न था। आगरा (कुरु-पंचाल-व्रज) और अवध के युक्तप्रान्त के नमूने पर कुछ लोगों ने इसे राजपूताना और मालवा कहना शुरू किया था। पर राजपूताना नाम, जैसा कि कहा जा चुका है, अपेक्षाकृत नवीन और भ्रामक है, और सिर्फ तथाकथित राजपूत ज्ञाति की प्रधानता का बोधक होने से अन्य वर्गों को मान्य नहीं। दूसरे, राजपूताना और मालवा कहने से समूचे प्रांत की एकता का बोध भी नहीं होता।

'राजपूताना और मालवा' के समान ही कुछ लोगों ने 'मरु मालव' नाम सुझाया है। पहली दृष्टि से शायद इसपर लोगों को एतराज भी न होगा। पर दूसरी आपत्ति इसके विषय में भी बनी रहती है।

ब्राह्मणों को छोड़ राजस्थान की प्रायः समस्त जात-बिरादरियाँ अपना उद्गम दूर या निकट के किसी काल में राजपूतों से मानती हैं। राजपूत शब्द से यदि इस समूचे प्रान्तवासियों का ग्रहण हो और वह किसी ज्ञाति या वर्ग का वाचक न माना जाय तो समूचे प्रान्त का नाम राजपूताना भी उतना बुरा न होगा। ज्ञातिविशेष, खास कर शासक वर्ग के नाम पर एक समूचे प्रदेश प्रान्त या देशविशेष के नामकरण की प्रथा भारत और विश्व के दूसरे प्रदेशों में भी पुरानी है। आज विश्व के एक सबसे अग्रणी राष्ट्र का नाम, उसकी अधिकांश जनता के स्लाव होने पर भी, किसी युग में उसके शासक एक जरमन कबीले के लोगों के नाम पर रूस है। भारत में बुंदेलखंड बघेलखंड रुहेलखंड आदि नाम भी इसी तरह के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हमारे पड़ोसी प्रान्त महाराष्ट्र में भी मराठों की अपनी एक अलग ज्ञाति होते हुए भी उस समूचे प्रान्त के निवासी महाराष्ट्र कहलाते हैं। पर राजपूत नाम आज क्षत्रियवाचक रूप में सारे

भारत में रूढ़ है। अतः इस प्रान्त के निवासियों के वाचक रूप में उसे नये अर्थ में प्रचलित करना उतना व्यवहार्य नहीं है।

प्रक्रमी मारवाड़ी व्यापारियों के आज भारत भर में फैले होने के कारण इस प्रान्त के बाहर, इसके किसी भी प्रदेश का रहने वाला और कोई बोली बोलने वाला मारवाड़ी नाम से ही जाना जाता है। अतः कुछ लोगों ने समूचे प्रान्त का नाम मारवाड़, बृहत्तर मारवाड़ या महामारवाड़ सुझाया है। किन्तु प्रान्त के भीतर यह नाम प्रदेश विशेष का द्योतक है और सदियों से पृथक राज्यों या राजनीतिक इकाइयों में विभक्त रहने के कारण प्रान्त के विभिन्न प्रदेशों की आत्मचेतना बहुत तीव्र है, अतः मारवाड़ से भिन्न प्रदेशों की साधारण जनता अपने ऊपर मारवाड़ी नाम का थोपा जाना पसन्द नहीं कर सकती।

यह सब देखते हुए हमने इस पुस्तक में इस समूचे भू भाग के लिए राजस्थान नाम का ही व्यवहार उचित समझा है। क्योंकि यह किसी ज्ञाति वर्ग या प्रदेश विशेष की महत्ता का सूचक न होकर, यहाँ की युगों से चली आती राजकीय दशा का द्योतक है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, हमारे प्रान्त के विभिन्न प्रदेशों की जनता, इतिहास के विभिन्न युगों में, अपने-अपने जनपद में स्वतंत्र रहने की बराबर पक्षपातिनी रही और उसने प्रांत के भीतर या बाहर की किसी स्वेच्छाचारी शक्ति या राज्य को कभी अपने ऊपर स्थापित न होने दिया; एवं बराबर अपनी स्वाधीनता का संघर्ष चलाती रही। यही कारण है कि हमारे प्रान्त में आज भी प्रायः प्रत्येक प्रदेश में छोटे-छोटे अनेक राज्यों का अस्तित्व चला आता है, जो जनता की उन प्राचीन जीवित इकाइयों के जीवाश्म होने से आज हमें अपनी प्रगति में बाधक होते नज़र आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि कर्नलटाड ने लिखा है, अंगरेज़ी राज्य के आरंभ काल में 'रायथान' शब्द इस प्रान्त के अधिकांश प्रदेश के लिए ठीक इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होता भी रहा है। उसी का संस्कृत रूप यह राजस्थान शब्द है।

किन्तु इससे भी अधिक उपयुक्त और प्राचीनतम नाम इस समूचे भूभाग के लिए शायद "पारियात्र मंडल" होगा। पारियात्र शब्द का प्रयोग प्राचीन वाङ्मय में, जैसा कि हम देख चुके हैं, उस समूचे पहाड़ी सिलसिले के लिए होता था, जिसमें बनास से बेतवा तक की नदियों का उद्गम होता है, और जो हमारे इस प्रान्त के मेरुदण्ड या अस्थिपंजर के समान पूरब से पच्छिम और उत्तर से दक्खिन समूचे प्रदेश में अपनी शाखा प्रशाखाओं के साथ फैला हुआ है और हमारे समूचे आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। अतः राजस्थानी भाषा का क्षेत्र ठीक पारियात्र मंडल है। भौमिक आर्थिक ऐतिहासिक सांस्कृतिक और जातीय दृष्टि से वह एक पूरी इकाई है।

दूसरा अध्याय

प्राचीन राजस्थान

(लगभग ५४० ई० तक)

§ १. राजस्थान भूमि की प्राचीनता

भूनिर्माण की दृष्टि से हमारी इस राजस्थानभूमि का मुख्य पहाड़ आडा वला भूपृष्ठ की उस आरंभिक सलवट का अवशेष है जिसके कारण हिमाचल की पूरब से पच्छिम सीधी रेखा में आती हुई धार को गंगा-जमना के स्रोतों से पच्छिम कशमीर तक उत्तर की ओर एक हंसुएं की तरह मुड़ जाना पड़ा है, और उसके नीचे का भारतीय मैदान आडा वला के दोनों बाजू क्रमशः दक्खिनपच्छिम और दक्खिनपूरब को ढालू दो भागों में बंट जाता है, तथा सिन्ध का पानी गंगाजल से अलग हो उससे बिलकुल उलटी दिशा में बह जाता है। इसी प्रकार राजस्थान का पच्छिमी मरुस्थल उस आरंभिक स्थलान्तरगत समुद्र की तली का स्मारक है, जो कभी हिमाचल और विन्ध्य मेखलाओं के उभारों के कारण उनके बीच बन गई गहरी चौड़ी खाईं में घुस आया था और जिसे हिमाचल, विन्ध्य और आडा वला से उतरने वाली आरंभिक असंख्य धाराओं ने इन पहाड़ों का धोवन ला ला कर पाटा तथा सिन्ध गंगा के उपजाऊ मैदान के रूप में परिणत कर दिया।*

---

* श्री जयचन्द्र विद्यालंकार और पृथ्वीसिंह मेहता कृत "बिहार—एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन," १९४०, पृ० ४।

राजस्थान के इस उथले समुद्र की याद हमारी पौराणिक अनुश्रुति में युगों तक बनी थी, और आज भी मरुस्थल की रेत तथा उनमें दबे समुद्री सीप शंखों आदि के जीवाश्म (fossils), खड्डी (जिप्सम या खटिका के गन्धित) की जमी हुई तहें और सांभर डीडवाणा पँच भद्रा छापर लूणकरण सर आदि नमक के आकर* उसकी याद दिलाते हैं। इस मरुस्थल की निचली तहें भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार आडा वला की धोवन से बनी रेतीले लाल पत्थर की चट्टानों की हैं।

आडा वला और मालवे के पहाड़ों के बीच पूरबी राजस्थान की भूमि की बनावट भी इसी तरह काफी विविध और समस्त रचना लिए है। संक्षेप से मालवा के दन्तुरित पठार चंबल और बनास कांठों के मैदानों की स्तररचना प्रायः आड़ी चपटी तहोंवाली शिलाओं से हुई है। उन्हें लावामूलक समझा जाता है और उनके ऊपर की काली मिट्टी उन्हीं के चूर से बनी होने के कारण बड़ी उपजाऊ है। आडा के निचले स्तर उरगा (gneis) शिस्ट क्वार्ट्ज़ आदि किस्मों की उन आरंभिक पातालीय (Plutonic) और अर्ध-पातालीय (Hypabisal) चट्टानों के बने हैं, जिनमें लोहा तांबा मेंगानीज सीसा चांदी रांगा आदि धातुओं, नीलम पन्ना पुखराज तामड़ा (garnete) आदि रत्नों उपरत्नों तथा अभ्रक स्फटिक मरकत (बेरियम) जैसे बहुमूल्य खनिजों की उपलब्धि बहुतायत से होती है।

§ २. सभ्यता के आरम्भिक अवशेष

आडा वला की उपत्यकाओं तथा दक्खिन पूरबी राजस्थान नर्मदा कांठे-और उतरी गुजरात अर्थात् मही और साबरमती की ऊपरी दूनों में आरम्भिक मानव के अनेक अवशेष पाए गए है। राजस्थान के उत्तर

---

* नमकीन झीलों को राजस्थान में आकर कहते है।

पच्छिम दक्खिनी पंजाब तथा निचले सिन्धकाठे में हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो आदि की खुदाई में लगभग ५-६ हजार वर्ष पूर्व की एक अत्यंत समृद्ध सभ्यता के अवशेष मिले हैं। उस सभ्यता में लोहे और घोड़े का प्रयोग ज्ञात न होने से विद्वानों ने उसे प्राक्-आर्य या प्राक्-वैदिक सभ्यता करार दिया है। उन खुदाइयों में उपलब्ध तामड़ा पन्ना आदि कई ऐसी वस्तुयें भी हैं जिनका रासायनिक विश्लेषण किया जाने पर विदित हुआ है कि वे आडा वला की वर्तमान अलवर किशनगढ मेवाड़ आदि राज्यों में पाई जानेवाली खानों से निकाले गये होंगे। उससे पता लगता है कि सिन्धु सभ्यता वालों का संपर्क उक्त प्रदेशों से किसी न किसी रूप में अवश्य रहा होगा। राजस्थान में प्राचीन मत्स्य जनपद की पुरानी राजधानी बैराट की खुदाई में प्रागैतिहासिक नव्याश्म युग के हथियार मिलने से विदित होता है कि वहां की मानव बस्ती भी बहुत पुरानी होगी। अतः आरम्भिक मनुष्यों और प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों की खोज यदि ठीक से की जाय, (जो कि अभी तक प्रायः नहीं की गई है,) तो राजस्थान के दूसरे अनेक स्थानों से भी उनके प्रचुर परिमाण में प्राप्त होने की पूरी आशा की जाती है।

§ ३. आर्यों के पूर्व की अनुश्रुति

राजस्थान के मूल निवासी, जैसा कि अनुमान किया जा सकता है, आडा वला के पहाड़ों में और पूरबी राजस्थान के जंगलों में अब भी बड़ी मात्रा में पाए जाने वाले भील सबर आदियों के पूर्वज रहे होंगे। परन्तु उनकी अपनी भाषा रहनसहन आदि पर आर्य प्रभाव पड़ जाने और उनका पूर्णतः आर्यीकरण हो जाने के कारण, उनका आरम्भिक रहन सहन और जीवन किस तरह का था इसे जानने के अब कोई प्रामाणिक साधन उपलब्ध नहीं है। तो भी हमारी पौराणिक अनुश्रुति में, जो मुख्यतः आर्यों के भारत में अपने उपनिवेश बसाने का परम्परागत ब्योरा

है, इस प्रकार के अनेक निर्देश हैं कि जिनसे उनके पूर्व की यहां की स्थिति पर कुछ धुन्धला सा प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार राजस्थान के क्षेत्र में आर्यों के सम्पर्क में आनेवाली दो तरह की जातियों का पता मिलता है, उनमें से एक तो नरभक्षक असभ्य और जंगली थी जिसे वहां राक्षस कहा गया है और दूसरी दैत्य या दानव जो सभ्यता, रहन सहन और शारीरिक बल में बहुत बढ़ी चढ़ी बताई जाती है। इस प्रकार के दैत्यों की बस्ती पुष्करारण्य (आज कल के पुष्कर के चौगिर्द के प्रदेश) के पास बताई जाती है जहां मधु और कैटभ नामक दो दैत्य राजों का संहार विष्णु कमलनाभ द्वारा किया जाने, तथा मधु के पुत्र धुन्धु के अयोध्या के राजा कुवलयाश्व द्वारा मारे जाने और उज्जालक नामक उथले समुद्र के तट पर मरुस्थल में उस नाम से धुन्धुमार (ढूंढाड) नामक मानवों की एक बस्ती कुवलयाश्व के एक वंशज निकुम्भ द्वारा बसाई जाने की कथा पुराणों में है। ढूँढाड़ और उसके आस पास के प्रदेश में निकुंभ क्षत्रियों का अधिकार १३वीं सदी तक रहने तथा अलवर आदि राजस्थान के अनेक गढ़ इन्हीं द्वारा बनवाए जाने की अनुश्रुति है।*

धुन्धुमार मत्स्य (उत्तरी जयपुर तथा अलवर राज्य) के पच्छिम, दक्खिनपच्छिमी राजस्थान में साल्व या शाल्व नामक एक ऐसी जाति का उल्लेख भी अनुश्रुति में है; जो अपने अत्यधिक शारीरिक बल तथा रणकौशल के लिए प्रसिद्ध थी। अनुश्रुति में शाल्वों का सम्बन्ध किसी आर्य जन (कबीले) से नहीं बताया गया और अनेक स्थानों पर उन्हें दैत्य

---

* कनिंघम कृत भारत की आर्कियालाजिकल सर्वे की रिपोर्ट जि० १ पृ. २० ; ओझा, राजपूताने का इतिहास, जिल्द १ द्वितीय सं०, पृ० २७१।

दानव आदि भी कहा गया है; इससे उनका किसी आर्येतर सभ्य जाति के होना अनुमान होता है। शाल्वों के सम्बन्ध मद्र कुरु आदि शुद्ध आर्यों से होने तथा आर्य राज्यों में उनसे बराबर का बर्ताव होने का भी पता हमें मिलता है। इसी प्रकार की एक दूसरी आर्येतर जाति दक्खिनपूरबी राजस्थान में नागों की थी; जिसके सम्बन्ध आर्यों से प्रायः मैत्रीपूर्ण होने की भी अनुश्रुति है।

§ ४. आर्य बस्तियों का उदय

किन्तु भारत के अन्य अनेक प्रान्तों की तरह राजस्थान के जनपदों का भी वास्तविक और क्रमबद्ध विकास इस प्रदेश में आर्य बस्तियों के बसने के साथ आरम्भ होता है, जिसका वर्णन, जैसा कि कहा जा चुका है, हम अपनी पौराणिक ख्यातों (अनुश्रुति) से पाते हैं। उसके अनुसार भारत में अपनी पहली बस्तियां बसाने वाले आर्यों की मुख्यतः दो शाखाएँ थीं—मानव (सूर्य वंश) और ऐल (चन्द्र वंश)। इनमें पहले मानवों को हम (ढूँढाड़) में, तथा नर्मदा तट और गुजरात काठियावाड़ के प्रदेशों में शार्यात और आनर्तों के रूप में अपनी बस्तियां बसाता पाते हैं। उसके बाद ऐलों की एक शाखा यादवों को अपनी अनन्त शाखा प्रशाखाओं के साथ जमना के दक्खिन चंबला और केन नदियों की दूनों तक के प्रदेश में फैलता एवं उनकी एक शाखा हैहयों को, पूर्वी सिन्ध और चंबल की उपरली दूनों, मध्य मर्मदा कांठे तथा गुजरात काठियावाड़ तक, और वहां से विदर्भ (बराड़) और महाराष्ट्र तक फैलता और पूरबी राजस्थान में अवन्ति, विदिशा, दशपुर, माहिष्मति आदि छोटे छोटे अनेक जनपदों की स्थापना करता, देखते हैं। गुजरात और काठियावाड़ के शार्यात और आनर्त उनमें जज्ब हो जाते हैं।

यादवों की दूसरी शाखाएँ धीरे धीरे चंबल पार कर उत्तर पूरबी

राजस्थान और जमना के दक्खिनपच्छिमी तट के प्रदेश में और गंगा जमना दोआब के पूर्वी अंशों में भी फैल जाती है। राजस्थान के उत्तर पूरबी सीमान्त पर इसी प्रकार ऐलों की एक दूसरी शाखा कौरवों की बस्तियां बसी थीं। उनकी एक शाखा, मत्स्यों ने दिल्ली के दक्खिन-पच्छिम, आधुनिक अहीरवाटी, मेवात, और शेखावाटी प्रदेशों, अर्थात् रेवाड़ी नारनौल अलवर और जयपुर राज्य के उत्तरी अंश में अपनी बस्तियां बसाईं।

मत्स्यों के पच्छिम राजस्थान के मरुस्थल के उत्तरी छोर, आधुनिक बीकानेर राज्य तथा नागौर प्रदेश का प्राचीन नाम भूमि की भौतिक अवस्थाओं की सूचक भौमिक परिभाषा के रूप में जांगल था, उसकी राजधानी उत्तर वैदिककाल में जैन सूत्रों की अनुश्रुति के अनुसार अहि-छत्रा (संभवतः आधुनिक नागौर) थी। उसी तरह मारवाड़ के लिए मरुकान्तार और ढूँढाड़ के लिए मरुधन्व का प्रयोग मिलता है, सो कहा जा चुका है।

दक्खिनी मारवाड़ अर्थात् भीनमाल सांचोर सिरोही तथा साबरमती (प्राचीन श्वभ्रमती) के समूचे उपरले कांठे के प्रदेश का पुराना नाम श्वभ्र मिलता है। शाल्वों की राजधानी मृत्तिकावती को पर्णाशा (बनास) नदी के तट पर कहीं बताया जाता है। बनास नाम की दो नदियां राजस्थान में हैं, पूर्वी बनास और पच्छिमी बनास और दोनों के स्रोत आबू के पास पड़ोस में ही हैं; अतः कुछ विद्वानों ने आबू के चौगिर्द के प्रदेश को ही साल्व देश माना है। साल्वों का उल्लेख यों अवन्ति मत्स्य और पंजाब के मद्रों के पड़ोस में भी होता है। इससे समूचे दक्खिनीपच्छिमी राजस्थान में उनका होना पाया जाता है। महाभारत में कृष्ण के द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ को जाते हुए रास्ते में साल्व देश का संहार करना लिखा है। वहां साल्व देश का जो वर्णन दिया गया है उससे साल्व देश का पर्वत बहुल होना प्रकट है। इससे भी अनुमान होता है कि साल्व लोग

मेवाड़ के पहाड़ी प्रदेश में कहीं रहे होंगे।

पच्छिमी मालवे का प्राचीन नाम 'अवन्ति' और पूरबी मालवे अर्थात् भोपाल–रायसेन का नाम 'आकर' था; यह देख चुके हैं। 'आकर' के दक्खिन नर्मदा कछार का प्राचीन नाम अनूप है, सो कहा जा चुका है। अवन्ति के उत्तर पूरब दशपुर की बस्ती भी प्राचीन थी। अवन्ति और दशपुर के उत्तर आधुनिक मेवाड़ का प्राचीन नाम हमें ज्ञात नहीं; संभवतः वह समूचा शाल्वों में सम्मिलित हो। उसके उत्तर अजमेर पुष्कर का प्रदेश पुष्करारण्य कहाता था यह भी कहा जा चुका है।

अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी, 'आकर' की विदिशा, अनूप की माहिष्मति तथा दशपुर (मन्दसौर) भारत की प्राचीनतम प्रसिद्ध नगरियों में से थीं।

§ ५. जनसत्ता का प्रथम पलना

भारतीय आर्य मानवों तथा ऐलों के पौरव कुरु आदि जन (कबीले) अनुश्रुति के अनुसार शुरू से प्रायः एकतन्त्री थे। परन्तु यादवों में हम आरम्भ से संघ तन्त्र की प्रवृत्ति देखते हैं। हैहय-तालजंघों एवं उनकी एक शाखा के वीतहव्यों या वीतिहोत्रों द्वारा भारत में सबसे पहला जनसत्तात्मक राज्य स्थापित करने की अनुश्रुति है; और महाभारत युद्ध से पहले जमना से पच्छिमदक्खिन गुजरात काठियावाड़ और नर्मदा पर्यन्त समस्त पूरवी और दक्खिनी राजस्थान में यादवों के शौरसेन अन्धक वृष्णि सात्वत आदि छोटे छोटे संघ राज्यों का अस्तित्व मिलता है, जो मगध के जरासन्धी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने नेता वासुदेव कृष्ण के नेतृत्व में संघर्ष करते, एव अपनी संघतन्त्री स्वाधीनता की रक्षा के लिए मथुरा से उठाकर अपना केन्द्र काठियावाड़ में समुद्र तट पर द्वारिका में ले जाते, पड़ोसी हस्तिनापुर के कौरव और पाञ्चाल राज्यों की राज-नीति में दखल देते और इस प्रकार आर्यावर्त के राज्यों में शक्ति समुत्तु-

ल्न का जतन कर अपनी स्वतंत्रता और संघपरकता की रक्षा तत्परता से करते पाये जाते हैं।

भारत युद्ध में यादव संघ के विभिन्न नेताओं की सहानुभूति परस्पर विरुद्ध पक्षों के साथ रहने से, युद्ध के बाद उनके पारस्परिक मनमुटाव और अन्तःकलह तथा प्राकृतिक उत्पातों के कारण उनके संयुक्त संघ के पतन और विनाश की करुण कथा भारतीय अनुश्रुति के विद्यार्थियों से सुपरिचित है।

§ ६. महाजनपद अवन्ति

भारत युद्ध और यादवों के संघ के पतन के बाद पच्छिमी भारत अर्थात् राजस्थान और गुजरात की राजनीतिक अवस्था और इतिहास पर अनुश्रुति से बहुत कम प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर भारत के विभिन्न प्रदेशों में उस समय की प्रचलित शासन प्रणालियों का उल्लेख करते हुए राजस्थान और गुजरात के प्रदेशों में 'अराजक-राज्य' 'वैराज्य' स्वराज्य और संघराज्यों का उल्लेख हुआ है। इससे प्रकट है कि भारत युद्ध के बाद भी राजस्थान में किसी न किसी तरह के पञ्चायती राज्यों का अस्तित्व चला आता था।

आर्यों के विभिन्न 'जन' या कबीले उस समय तक बस चुके थे और उनमें जन की अपेक्षा जनपद (Territorial State) की भक्ति का विकास हो चुका था। इनमें से कुछ जनपद बड़े और शक्तिशाली थे और पासपड़ोस के अनेक छोटे जनपदों के उनमें स्वेच्छा से मिल जाने या विजय द्वारा मिला लिए जाने के कारण वे महाजनपद कहलाने लगे थे। भगवान् बुद्ध के कुछ पूर्व इस तरह के सोलह प्रसिद्ध महाजनपदों का उल्लेख हमें पाली साहित्य में मिलता है। उसमें राजस्थान के क्षेत्र में मत्स्य और अवन्ति की गिनती थी।

अवन्ति के वीतिहोत्रों का संघराज्य समाप्त होकर वहां उनके एक

राजवंश की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। भगवान बुद्ध के समय अवन्ति, अपने राजा प्रद्योत या चण्ड प्रद्योत के नेतृत्व में, भारत की साम्राज्यकामी चार महाशक्तियों में से एक था। ऐसा मालूम होता है कि समूचा पूरबी राजस्थान, शूरसेन, (व्रज, जिसकी राजधानी मथुरा नगरी थी) और मत्स्य भी तब किसी न किसी रूप में अवन्ति के प्रभाव में थे। पच्छिम में, शाल्व श्वभ्र आदि के विषय में कोई अनुश्रुति उपलब्ध नहीं है। पर संभवतः वे भी अवन्ति के प्रभाव क्षेत्र में ही थे। पूरब में विदिशा (भेलसा) और दशार्ण (धसान नदी का कांठा—उत्तर पूरबी बुन्देलखण्ड) तो निश्चय से अवन्ति के अधीन थे। उसके उत्तर वत्सराज उदयन को प्रद्योत ने अपनी बेटी वासवदत्ता विवाह कर वश में कर लिया था। वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी, जिसे अब इलाहाबाद के पच्छिम जमना के उत्तरी तट पर स्थित कोसम गांव और उसके चारों तरफ दूर दूर के तक फैले खंडहर सूचित करते हैं। इस प्रकार अवन्तिराज्य को तब हम समूचे राजस्थान या पच्छिमी भारत का प्रतिनिधि राज्य कह सकते हैं।

लेकिन उसके बाद मगध के नन्दों के मुकाबिले में अवन्ति का पराभव हुआ और मौर्यों ने राजस्थान का आधिपत्य संभवतः नन्दों से वरासत में ही पाया।

§ ७. शिवि मालव यौधेय

राजस्थान के उत्तरपच्छिमी सीमान्तों अर्थात् दक्खिनी पंजाब और सिंध में ऐलों की आनव शाखा के औशीनर शिवि मालव क्षुद्रक यौधेय आदि कबीले अत्यन्त प्राचीन काल से रहते थे। पाणिनि के गणपाठ, कौटिलीय अर्थशास्त्र और सिकंदर के आक्रमण के समय उसके साथी यूनानी लेखकों के यात्रा विवरणों से उनके संघ राज्यों का हमें पता मिलता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भारत में उस समय

विद्यमान संघ राज्यों को उनके आन्तरिक संघटन के अनुसार दो वर्गों में विभक्त किया है। एक वर्ग के संघों को वह 'राजशब्दोपजीविनः' कहता,—अर्थात् जिनमें शासकों का एक अलग वर्ग था और शासक वर्ग के सभी मुखिया लोग 'राजा' कहलाते और संघ परिषद् में वही लोग शामिल होते थे; इनकी तुलना हम उसी युग की यूनानी ऑलीगार्कियों (कुलीन तन्त्रों) से कर सकते हैं—और दूसरे वर्ग को वह "वार्ताशस्त्रोपजीविनः" कहता है। इनमें शासकों या सैनिक योद्धाओं का कोई पृथक् वर्ग न था। समूची जनता साधारणतः वार्ता (कृषि वाणिज्य-व्यवसाय शिल्प) से अपना गुजर करती और अवसर आने पर शस्त्र धारण कर अपने राष्ट्र की स्वाधीनता की रक्षा के लिए जूझ मरने को तत्पर रहती थी। पाणिनि ने इन्हें ही, 'आयुध जीविनः' अर्थात् शस्त्र चलाना ही जिनका व्यवसाय था, ऐसे संघ लिखा है। और दोनों ही राजस्थान पंजाब के इन संघराज्यों की गिनती इस दूसरे वर्ग में करते हैं।

मालवों और क्षुद्रकों ने मिलकर उस जगद्विजयी सेनानी सिकन्दर का पंजाब से सिन्ध की तरफ जाते हुए डटकर मुकाबला किया था, जिसमें सिकन्दर घायल हो गया था और अन्त में उनसे सम्मानपूर्वक सन्धि कर के ही अपनी सेना सहित उनके प्रदेश से निकल सका था। शिवियों ने भी मालवों की तरह संधि कर उसकी सेना को अपने राज्य से चुपचाप निकल जाने दिया था। यूनानी लेखकों को भी उनकी वीरता और स्वातंत्र्य प्रेम की धाक माननी पड़ी थी।

यौधेयों का प्रदेश मालवों और क्षुद्रकों के दक्खिन और पच्छिम सतलज के दोनों तटों पर आधुनिक बहावलपुर राज्य से लेकर बीकानेर राज्य के उत्तरी प्रदेशों तथा हिसार कर्नाल रोहतक तक के प्रायः समूचे उत्तरी, दक्खिनी और पच्छिमी राजस्थान में फैला था। पाणिनि के गणपाठ के अनुसार यौधेयों के समूह के संघों में त्रिगर्त (होशियारपुर-कांगड़ा) तक के प्रदेशों की गिनती होती थी। सिकन्दर की सेना की

सीधी टक्कर उनसे कभी न हुई थी पर यूनानियों ने उनकी वीरता राज्य-प्रबन्ध और उनके शासन तंत्र की दृढ़ता की ख्याति व्यासघाट पर सुनी थी। उन्हें जब मालूम हुआ कि भारत की उस वीरतम जाति से लड़ना अभी बाकी है और उसके पूरब प्राची (मगध) की विशाल साम्राज्य सेना उनका मुकाबला करने को बढ़ी आरही है, तो उनके हौसले पस्त हो गए और बावजूद सिकन्दर के प्रोत्साहनों और बढ़ावों के उन्होंने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था। यूनानी लेखकों ने इस वीर जाति का नामोल्लेख नहीं किया। पर तात्कालिक अन्य साहित्यिक निर्देशों तथा उस प्रदेश से बड़ी मात्रा में पाए गए उत्तरकालीन सिक्कों आदि से हम जानते हैं कि यह जाति यौधेयों की थी। यूनानी लेखकों के अनुसार उनकी संघ परिषद् में ५ हजार सदस्य होते और सेना में रथी अश्वारोही पदाति और गजबल की बहुत बड़ी संख्या थी।

§ ८. राजस्थान मौर्य साम्राज्य में

सिकन्दर के बाद इन संघराज्यों ने चाणक्य-चन्द्रगुप्त की नायकता में, यूनानी शासन का जुआ शीघ्र ही उतार फेंका और मौर्य साम्राज्य की अधीनता मानकर विदेशी आक्रमण के खतरे से अपने को सुरक्षित किया। मौर्यों ने उन्हें अपना संरक्षण देकर अन्दरूनी मामलों में संघों की स्वाधीनता को अक्षुण्ण रक्खा। कौटिल्य के अनुसार उस समय की भारतीय साम्राज्यनीति में इन संघों की मित्रता और समय पर उनकी नागरिक सेना की सहायता का आश्वासन पाना किसी एक बड़े राजा की मित्रता या उसकी भृतिपालित सेना की सहायता के भरोसे से कहीं अधिक मूल्यवान् था।

राजस्थान के, यौधेय देश के पूर्व, मत्स्य देश की राजधानी विराट नगर (आधुनिक शेखावाटी के पूरबी छोर पर रामगढ़ के पहाड़ों में स्थित वैराट के खण्डहरों) में सम्राट अशोक का एक स्तम्भ-लेख मिला

है। वहां अशोक के समय के बनवाये गये एक बौद्ध विहार के अवशेष भी हैं। तथा नगर के उत्तर तरफ भीमजी की डूंगरी के नीचे एक गी चट्टान को काटकर हाथी की सी दी गई शकल पर खुदवाये गये उसके १४ मुख्य शिलालेखों का होना भी सिद्ध होता है; जिनके अक्षर अब प्रायः मिट गये हैं। इससे सूचित होता है कि मत्स्य देश तब सीधा मौर्य विजित (साम्राज्य या खालसा, में था। मत्स्यों के दक्खिन तथा दक्खिनपूरब, कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार, राजन्य अर्जुनायन कुकुर आदि अनेक वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ पूरबी राजस्थान में कायम थे और समूचा दक्खिन पूरबी राजस्थान अवन्ति विदिशा आदि नन्दों के समय से मगध साम्राज्य के अंग थे।

अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी मौर्यों के पच्छिमी मंडल की राजधानी थी। और विदिशा में भी मौर्य राजा या राजकुमार रहते थे। अशोक की माता को विदिशा के एक धनी सेट की कन्या कहा गया है, और भेलसा के निकट साँची का प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप, जो प्राचीनतम भारतीय वस्तु और मूर्ति तक्षण कला की अवशिष्ट सुन्दरतम वीथि (Art galary) है, की नींव उसीकी रक्खी मानी जाती है। अशोक के पुत्र और सिंहल में बौद्ध धर्म का संदेश लेकर जाने वाले प्रसिद्ध राजभिक्षु महेन्द्र और भिक्षुणी कुमारी संघमित्रा का जन्म भी विदिशा में ही हुआ कहा गया है।

अशोक के पोते सम्राट संप्रति का राजस्थान अवन्ति से विशेष संपर्क होने की अनुश्रुति अभी तक जीवित चली आती है। संप्रति जैना था और अशोक ने जो कार्य बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए किया संप्रति द्वारा वही जैन धर्म के लिए किया जाने की प्रसिद्धि है। जैन धर्म की प्रतिष्ठा राजस्थान में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती प्रतीत होती है। उस धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण के ८०

वर्ष बाद ही राजस्थान में मध्यमिका नगरी* में एक जैन केन्द्र होने की सूचना हमें अजमेर के पास बडली गांव से मिले वीर निर्वाण संवत् ८० के एक शिलालेख से मिलती है।

§ ६. यवन आक्रमण और सेनापति पुष्यमित्र

संप्रति के बाद मौर्यों की शक्ति क्षीण पड़ने लगी। तभी भारत के उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर स्थित बाख्त्रि (बलख) में यवनों (यूनानियों) ने एक नए राज्य की स्थापना की। मौर्य साम्राज्य की कमजोरी का लाभ उठा उसके नवयुवक राजा दिमित (देमित्रियस्) ने एक बड़ी सेना ले भारत पर आक्रमण किया। यवनसेना साम्राज्यधानी पाटलिपुत्र (पटना) तक जा पहुँची। राजस्थान में यवनों ने मध्यमिका तक आ घेरा, इसकी गूंज हमें पतंजलि मुनि के महाभाष्य में सुनाई देती है। भारतीय साम्राज्य की इस विपत्ति से रक्षा करने का श्रेय एक राजस्थानी (विदिशा के रहने वाले) वीर पुष्यमित्र को मिला। जनता

---

* मध्यमिका नगर के खण्डहर मेवाड़ में चित्तौड़ से ८ मील उत्तर बेड़च नदी के किनारे नगरी नामक ग्राम और उसके आसपास दूर तक फैले हैं। चित्तौड़ के किले का परकोटा बहुत कुछ वहीं के पत्थरों से बना है और आसपास के अनेक गांवों में मकानों आदि के लिए वहा से पत्थर ले जाया गया है। नगर के निर्माताओं ने उसे नदी की बाढ़ से बचाने के लिए, एक खास प्रबन्ध यह किया था कि खतरे के बिन्दु के ऊपर से एक नहर नगर के दक्खिन से काटकर नगर के पूरब ओर घुमा आगे फिर नदी में मिला दी था। नदी की बाढ़ से नगर रक्षा की यह विधि पच्छिमी एशिया के सुमेर बाबुल आदि प्राचीन नगरों के निर्माताओं द्वारा बरती जाती थी। प्राचीन भारत में भी उसके प्रचलित होने का यह पहला और एक मात्र उदाहरण अब तक उपलब्ध हुआ है।

साम्राज्य तथा सेना में वह बहुत प्रिय हो उठा। इस राष्ट्रीय विपत्ति से राहत पाने के बाद अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ की अकर्मण्यता से खीम कर साम्राज्यसेना ने, पुष्यमित्र के नेतृत्व में विद्रोह किया। मौर्य राजा मारा गया और साम्राज्य की बागडोर पुष्यमित्र के हाथों में आ गई। पर पुष्यमित्र अपने को राजा न कहला अन्तिम समय तक सेनापति कहलाना ही पसन्द करता रहा। यह बात कालिदास के एक नाटक मालविकाग्निमित्रम् और पुष्यमित्र के बाद उसके लड़के अग्निमित्र द्वारा अपने सेनापति पिता पुष्यमित्र के "सेनापतेः पितुः पुष्यमित्रस्य" नाम के निकाले सिक्कों या तमगों पर से विदित होती है।

पुराणों में पुष्यमित्र का दो बार अश्वमेध यज्ञ करना लिखा है। उस का अश्वमेध करना कालिदास के उपर्युक्त नाटक से भी ज्ञात होता है, और एक अश्वमेध की उसकी प्रशस्ति भी उपलब्ध हो चुकी है। विदिशा के पास गोनर्द का रहने वाला प्रसिद्ध वैयाकरण और पाणिनी की अष्टाध्यायी पर महाभाष्याकार मुनि पतंजलि उसका पुरोहित था।

§ १०. शुंग साम्राज्य

कालिदास के उक्त नाटक के अनुसार पुष्यमित्र के समय उसका लड़का अग्निमित्र विदिशा-अवन्ति का शासक (राजा) था। अन्य सूत्रों से विदित होता है कि पुष्यमित्र का सारा समय राष्ट्र को यवन आक्रमण से मुक्त करने में ही बीता। राजस्थान का उत्तर पूरवी प्रदेश, ज्ञात होता है, तब यवनों और मगध साम्राज्य के बीच जोर अजमाने का अखाड़ा बना हुआ था। दिमित के बाद मिनान्द्र (पाली वाङ्मय के राजा मिलिन्द) के समय यवन फिर प्रबल हो उठे। मिनान्द्र के सिक्के राजस्थान में मध्यामिका (चित्तौड़ के पास के गांव नगरी) से पाए गए हैं। ईसा की पहली शताब्दी में एक रूमी लेखक ने रोम और भारत के बीच होने वाले समुद्री व्यापार एवं यातायात की प्रक्रिया

का दिग्दर्शन कराने के लिए 'एरुथ् (अरुण या लाल) सागर की परिक्रमा, नाम का एक ग्रन्थ लिखा जिसमें अरब सागर, जिसे तब वे लोग एरुथ् (अरुण) सागर पुकारते थे, पर स्थित इस समय के बन्दरगाहों, उनमें होने वाले व्यापार व्यवसाय और सामुद्रिक चेष्टाओं का वर्णन दिया गया है। उसमें लिखा है कि भृगुकच्छ (वर्तमान भड़ोंच) बन्दरगाह पर मेनान्द्र के सिक्कों का तब तक भी बहुतायत से चलन था।

कुछ भी हो कम से कम राजस्थान से तो शुङ्गों ने (पुष्यमित्र वाले वंश को पुराणों में इसी नाम से स्मरण किया गया है) यवनों को खदेड़ ही दिया प्रतीत होता है। क्योंकि नगरी के पास घोसूण्डी गांव की एक बावड़ी में लगे उस युग की लिपि में खुदे एक लेख से, जिसकी दूसरी एक प्रति नगरी में 'हाथी बाड़ा' नाम से प्रसिद्ध आयताकार एकसा तराशे हुए बड़े बड़े शिलाखण्डों से, बिना किसी तरह के चूने आदि के चुने गए, एक चौरस आहाते के एक पत्थर पर भी खुदी है, मालूम होता है कि किसी अश्वमेधयाजी सर्वातात राजा ने, संकर्षण और वासुदेव के पूजास्थान के निमित्त वह शिला प्राकार बनवाया था। राजा का नाम इन दोनों लेखों में मिट गया है। पर वह अश्वमेधयाजी राजा कोइ शुङ्ग होना चाहिए ऐसा अनुमान किया गया है। क्योंकि अनुश्रुति में सामान्यतः यह कहा गया है कि पुष्यमित्र के बाद गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त से पहले किसी बड़े राजा ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया। यों इसके दो एक अपवाद भी हैं, पर यवनों ने किया हो इसकी सभावना बहुत कम है। वैसे अनेक यवन राजा तब तक भारतीय धर्म और रीति नीति अपना चुके थे, जैसा कि उसके कुछ ही समय बाद के तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिखित द्वारा शुङ्ग राजा भागभद्र के पास भेजे गए एक यूनानी दूत हेलिओदोर द्वारा, जो वासुदेव का परम् उपासक था, बनवाए गरुड़स्तम्भ की प्रशस्ति से मालूम होता है। यह गरुड़स्तम्भ भेलसा के पास, ऊपर की गरुड़ मूर्ति के बिना, अब भी खड़ा है और वहां खामबाबा के नाम

से प्रसिद्ध है।

§ ११. गणराज्यों का प्रवास

भगवान बुद्ध के समय अवन्ति भारत की साम्राज्यकामी चार महाशक्तियों में से एक था, सो कहा जा चुका है। पर नन्दों और मौर्यों के अधीन लगातार चार सौ वर्ष तक मगध साम्राज्य में रहने के बाद जब वह साम्राज्य शिथिल पड़ने लगा और साम्राज्य के दूसरे दूरवर्ती अंग उससे अलग छिटकने और स्वतन्त्र होने लगे, तब भी मौर्यों के इस पच्छिमी मंडल में स्वाधीनता की कोई स्पष्ट प्रवृत्ति इस युग में प्रकट न हो सकी। फलतः राजस्थान अब उत्तर, पूरब और दक्खिन की नई उठी प्रादेशिक शक्तियों के बीच बल परीक्षा का मैदान बन गया।

अपनी पूरी शक्ति लगाने पर भी शुङ्ग लोग उत्तरापथ (पंजाब-सीमाप्रान्त) को अपने अधिकार में न रख सके; और समूचे पच्छिम-उत्तरी पंजाब में यवनों के छोटे छोटे राज्य प्रतिष्ठित हो गए। दक्खिनी पंजाब और राजस्थान के स्वतन्त्रता प्रेमी संघ राज्यों ने (जिन्हें संघ शब्द के बौद्धों और जैनों के भिक्षु संघों के लिए रूढ़ हो जाने के कारण, अब गणराज्य कहा जाने लगा था) जब भारतीय साम्राज्यों को इस प्रकार अपनी रक्षा में असमर्थ पाया तो उनमें प्रवास की प्रक्रिया आरम्भ हो गई। भारतीय संघों या गण राज्यों में, जब कभी पड़ोस के किसी निरंकुश एकसत्ताधारी साम्राज्य या विदेशी आक्रमण के कारण उनको अपनी जनसत्तात्मक स्वाधीनता की रक्षा करना दुष्कर प्रतीत होता, इस प्रकार प्रवास करने की प्रथा पुरानी थी। महाभारत युद्ध से पहले अन्धक-वृष्णि संघ का अपने नेता कृष्ण की नायकता में व्रज से द्वारिका प्रवास का उल्लेख पहले हो चुका है।

पंजाब के इन स्वाधीनता प्रेमी गणों ने भी अपने दक्खिनपूरब राजस्थान के मरुस्थलों, दुर्गम वन्यपर्वतों और गिरिदुर्गों में हट कर अपनी स्वाधीनता की लड़ाई जारी रखने का निश्चय किया प्रतीत होता है।

ईसाकी दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में मालव गणों को, जिसका कि मूल अभिजन (यत्र पूर्वैं रुषितंसोऽभिजनः—जहां पूर्वज रहते थे वह अभिजन होता है) सिकन्दर के समय मुल्तान कोटकमालिया प्रदेश था, तथा उनके पड़ोसी शिबियों को, जो तब शोर कोटसिबिस्तान प्रदेशों में रहते थे, अब हम पूरबी और मध्य राजस्थान में बसा पाते हैं। "मज्झमिकाय सिबिजनपदस" मध्यमिका के सिबि जनपद के सिक्के चित्तौड़ के पास उपर्युक्त नगरी गांव के खण्डहरों से तथा मालवों के सिक्के उससे उत्तर जयपुर राज्य के उणियारा ठिकाने में नगर या कर्कोटनगर के खण्डहरों से एक बड़ी संख्या में पाए जाते हैं, जिनपर उसी युग के अक्षरों में लेख अंकित हैं। इसी प्रकार राजस्थान के उत्तर पूरब यौधेय, राजन्य, आर्जुनायन, कुकुर आदि गणों के इस युग के सिक्के बहुतायत से मिलते हैं।

§ १२. शकों की चढ़ाई

भारत में मौर्यों के साथ साथ मध्य एशिया में यवनों का सितारा भी मन्द पड़ चुका था। वहां शक लोगों ने उनके राज्य का अन्त कर दिया। शकों की एक शाखा वहां से ईरान सीस्तान मकरान और सिन्ध के रास्ते बढ़ती बढ़ती काठियावाड़ गुजरात होकर अवन्ति तक आ पहुँची और दूसरी शाखा ने सिन्धु के साथ साथ उत्तर तरफ बढ़ पंजाब और सीमाप्रान्त के यवन राज्यों का अन्त करते हुए राजस्थान की उत्तरी परिक्रमा कर उसके पूरब मथुरा तक अपना अधिकार आ जमाया। राजस्थान और दक्खिनी पंजाब के स्वतन्त्रता प्रेमी गणराज्य इस प्रकार चारों तरफ से घिर गये और मध्यदेश* के साम्राज्य से उनके संबन्ध

---

* थानेसर से प्रयाग या राजमहल तक तथा हिमालय और विन्ध्य मेखला के बीच समूचे जमना गंगा के उपरले और मध्य के कांठे को प्राचीन काल में मध्यदेश कहा जाता था।

प्रायः टूट गये। मालवों से अवन्ति के शकों का गहरा मुकाबला हुआ। पर शकों की बड़ी शक्ति के सामने उन्हें बराबर पीछे हटना पड़ता रहा। मालवों के पड़ोस में, संभवतः आधुनिक मेवाड़ या मेरवाड़ा प्रदेश में उत्तमभाद्र नामक क्षत्रियों का कोई राज्य शकों का तरफदार था। मालव-उत्तमभाद्रों के एक संघर्ष में उत्तमभाद्रों की मदद के लिए अवन्ति के शक महाक्षत्रप नहपान के सेनापति उषवदात का पुष्कर तक आना और वहां तीन हजार गायें और एक गांव दान करने का उल्लेख हम नासिक की एक पहाड़ी गुफा "पाण्डुलेण" में खुदे उषवदात के ही एक शिलालेख से जानते हैं।

§ १३. मालवगण की स्थापना

अवन्ति लाट और पच्छिमी खानदेश पर अधिकार कर लेने के बाद शकराज्य महाराष्ट्र के सातवाहन राज्य का पड़ोसी हो गया था। शक-सातवाहनों की उठापटक का लंबा संघर्ष तब आरम्भ हुआ। सातवाहन राजा गौतमीपुत्र श्री सातकर्णी ने अन्ततः शक महाक्षत्रप नहपान को युद्ध में मार कर अवन्ति के इस शकराज्य को जड़ से उखाड़ डाला। तभी राजस्थान के मालव आदि गणों के प्रयत्न से अवन्ति शौरसेन और पंजाब तक के शकों का उन्मूलन हो गया (५७ ई० पू०)। मालवों ने इस अवसर को अपने गण की पुनः स्थिति (स्थापना, convention) का स्मारक माना और एक संवत् का प्रवर्तन किया, जो बाद में (छटी सदी ई० के बाद) विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ और अब तक भारत का राष्ट्रीय संवत् बना हुआ है।

इसके बाद राजस्थान पंजाब के प्रायः सभी गणराज्यों ने सतवाहनों की संरक्षा स्वीकार कर ली हो ऐसा अनुमान होता है। (४१ ई० पू०)। शकों के बाद अफगानिस्तान, पंजाब और सिन्ध में उनके ही भाई बन्द पल्हव और ऋषिक-तुखार क्रमशः प्रविष्ट हुए। सातवाहनों को, जो तब

तक मगध को भी ले चुके थे और समस्त भारत के एकछत्र सम्राट थे। पंजाब और राजस्थान के गणों की रक्षा के लिए दोनों से लोहा लेना पड़ा। लगभग आधी शताब्दी के भीषण संघर्ष के बाद मालव (विक्रम) संवत् १३५ के करीब सातवाहन सम्राट श्री कुन्तल सातकर्णी ने मुल्तान के पास करूड़ के रणक्षेत्र में ऋषिकों को एक करारी हार दी; जिसकी स्मृति में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध शालिवाहन संवत् का प्रचलन हुआ। पर सातवाहनों की यह विजय चिरस्थायिनी न हुई। ऋषिक-कुशन वंशी राजा कनिष्क के मुकाबले में उन्हें उत्तर भारत से हट जाना पड़ा। सिन्ध और पंजाब से मगध, अवन्ति और गुजरात काठियावाड़ पर्यन्त कुशन सत्ता लगभग सारे उत्तर भारत में फैल गई। सातवाहनों को तब नर्मदा के भी दक्खिन तापी तक हट जाना पड़ा। वहां उन्होंने सातपुड़ा के उत्तरी घाटों पर कुशनों के विरुद्ध अपनी नाकेबन्दी कर ली।

§ १४ शक ऋषिक साम्राज्य

कनिष्क के बाद हुविष्क और वासुदेव के समय तक कुशन साम्राज्य अपने पूरे यौवन पर था। उनका राज्य मध्य एशिया में कास्पियन सागर के दक्खिनपूर्वी तट से लेकर मगध और गुजरात तक फैला था। पर उस सारे समय में राजस्थान के यौधेय मालव आदि गण कुशनों के विरुद्ध अपना स्वातन्त्र्य संग्राम जारी रक्खे रहे। अवन्ति गुजरात में कनिष्क के पुत्र हुविष्क के समय शक झामोतिक का पुत्र चष्टन ऋषिकों का महाक्षत्रप (सूबेदार) नियुक्त हुआ। गुजरात के बन्दरगाहों के लिए सातवाहनों और क्षत्रपों के बीच उठापटक का लम्बा संघर्ष चलता रहा। सातवाहनों ने चष्टन के उत्तराधिकारी को परास्त कर दिया। पर महाक्षत्रपों और क्षत्रपों की जड़ इस बीच अवन्ति और गुजरात में काफी जम गई प्रतीत होती है। चष्टन के पौत्र रुद्रदामा ने सातवाहनों को करारी हार दी। रुद्रदामा एक प्रबल सेनानी और सुशासक रहा प्रतीत होता है। राजस्थान के

पूरबी दक्खिनी और पच्छिमी भाग, अवन्ति, बागड़, मारवाड़ का भी अधिकांश उसने जीत लिया था। उत्तरी राजस्थान के यौधेयों को भी उससे हार खानी पड़ी थी ऐसा उसने अपनी गिरनार की चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा बनवाई सुदर्शन झील की मरम्मत कराने की प्रशस्ति में बड़े अभिमान से लिखा है।

§ १५. ऋषिक-तुखार-शकोच्छेता यौधेय

उपरि लिखित लेख में रुद्रदामा ने लिखा है कि यौधेय लोग भारत के सब क्षत्रियों में अदम्य प्रसिद्ध थे। इससे प्रकट है कि यौधेयों की शक्ति उस युग में बड़ी प्रबल थी, और उन्होंने उस सारे समय में कुशनों की साम्राज्यशक्ति से जो जमकर मुकाबला किया, उससे सारे भारत में उनकी अदम्यता और वीरता की ख्याति फैलाई गई थी। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता और ऐतिहासिक स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल का कहना था कि यौधेयों का यह गणराज्य प्राचीन जगत की एक अद्भुत वस्तु थी। संयुक्तराज्य अमेरिका से पूर्व विश्व ने उतना बड़ा और सुव्यवस्थित लोकतन्त्र कभी न देखा होगा। उत्तर भारत में कुशन सत्ता का अन्त करने का श्रेय अब मुख्यतः इन यौधेयों को ही दिया जाता है। उत्तर में, पच्छिम बहावलपुर राज्य के उत्तरी छोर से पूरब जि० होशियारपुर सहारनपुर और देहरादून के घाटों तक तथा दक्खिन में भरतपुर बीकानेर तक यौधेयों के उस युग के सिक्के और उनके सांचे, मुहरें, अभिलेख आदि हजारों की संख्या में पाए जाते हैं। इससे प्रकट है कि उन्होंने अपने सहयोगी पूरबी पंजाब के कुणिन्द गण के, जिसके सिक्के उसी युग के यौधेयों के उत्तरपच्छिम सतलज-व्यास दोआब में मिलते हैं, और आर्जुनायनों के, जिनका प्रदेश वर्तमान भरतपुर एवं उसके दक्खिन-पच्छिम जयपुर राज्य में था, साथ मिलकर २०० ई० पू० के करीब कभी कुशन राज्य के विरुद्ध पंजाब में विद्रोह खड़ा किया और राजस्थान

के गणों, मालव आदि, तथा उनके ठीक पूरब पूरबीराजस्थान और उसके उत्तर पद्मावती तथा मथुरा के नागों के सहयोग से राजस्थान पंजाब और जमना गंगा दोआब से शक-ऋषिक-तुखार सत्ता को उखाड़ फेंका था। इस विजय की खुशी में यौधेयों में एक नए किसम की मुद्रा का प्रचलन किया जिस पर 'यौधेय गण की जय' या "जयमन्त्रधर (विजय का रहस्य जानने वाले) यौधेयों की" ऐसा अभिलेख तथा भारतीय युद्ध के देवता और यौधेयों के मुख्य आराध्य देव षण्मुख कार्तिकेय की, भाला लिए, वीरमुद्रा में खड़ी मूर्ति अंकित रहती है।

यौधेयों की एक पूर्ण टकसाल कुछ दिन पहले रोहतक के पास खुदाई करने पर मिली थी। जिसमें यौधेयों की शाखा रोहीतकों के 'बहुधान्यक' देश का उल्लेख हुआ है। महाभारत उद्योग पर्व में नकुल के पश्चिम दिग्विजय में बहुधान्यक देश के मत्तमयूरक रोहीतकों का उल्लेख आया है। मोर यौधेयों के आराध्य देवता कार्तिकेय का वाहन माना जाता है और आज भी समूचे राजस्थान में वह बहुत बड़े परिमाण में उपलब्ध होता तथा पवित्र और अवध्य माना जाता है।

इसी प्रकार मेवाड़ के सहाड़ा जिले के एक गाँव नान्दसा में एक पुराने तालाब के बीचोबीच खड़े पत्थर के एक खंभे पर खुदे मालव (वि०) सं० १८५ (२२५ ई०) के एक अभिलेख में उक्त वर्ष की चैत्र पौर्णमासी के दिन इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों के समान प्रसिद्ध मालव वंश में उत्पन्न और मनु की तरह गुणों से युक्त मनुष्यत्व के सम्पूर्ण भाव को अनुभव करने वाले, जय से नाचने वाले (जयनर्तन) प्रभागवर्धन के पौत्र और जयशोम के पुत्र सोगियों* के नेता (सोगिनेतुः)

---

* राजस्थानी महाजनों—सरावगियों का एक गोत्र सोगाणी प्रसिद्ध है। पाणिनि के अनुसार सोगी से अपत्यार्थ में फिञ प्रत्यय होने पर

पोरपां श्री सोम द्वारा—अपने बापदादों की धुरी का समुद्धार करने के कारणजिसका यश द्यावापृथवों के अन्तराल में छा गया था, जिसने सत्र (यज्ञ) भूमि में अपने कर्म (पितृपैतामही धुरी के समुद्धरण) की संपदा के कारण प्राप्त ऋद्धियों को अपनी सिद्धियों के समान, सब

"सौग्यायणिः" रूप बनता है; सोगाणी उर्गी का रूपान्तर होगा।

राजस्थान के अग्रवाल महेसरी सरावगी ओसवाल पोरवाल आदि महाजन सब अपना उद्भव क्षत्रियों से मानते हैं और अपने विभिन्न गोतों को राजपूतों के किसी न किसी गोत्र से निकला कहते हैं।

वास्तविकता यह है कि राजस्थान-पंजाब के गणों में, जिन्हें कौटिल्य ने 'वार्ताशस्त्रोपजीवी' कहा है, ब्राह्मणों की वर्ण व्यवस्था का, जो मुख्यतः एकतन्त्री जनपदों में ही विकसित हुई, जहां की प्रजा विवर्ण अर्थात् असमान जात थी और भिन्न जातता के आधार पर भिन्न वर्णता और भिन्न वर्गता का विकास सुगम था वैसा विकसित रूप कभी न था। सर्वसाधारण अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार कृषि वाणिज्य शिल्प व्यापार द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते और राष्ट्र के शासन और युद्ध की आवश्यकताओं का भी निर्वहण करते थे। गणतन्त्रों की समाप्ति के बाद जनता की राजनीतिक चेतना नष्ट हुई, तब शासक वर्ग और सामान्य विशः (जनसमाज), जो मुख्यतः व्यापार व्यवसाय कृषि करता था, में भेद स्पष्ट हुआ और ईसा की ९ वीं०-१० वीं० सदी तक यहां ब्राह्मणों क्षत्रियों और वैश्यों या महाजनों का रूप विकसित हो सका। राजपूतों का एक जाति के रूप में वर्तमान विकास तो और भी पीछे का—१५वीं १६वीं सदी ईसवी के करीब का है। इसके अतिरिक्त यहां की जाट गूजर डांगी धाकड़ कुणबी आदि अनेक जातियां आज भी ऐसी हैं कि जिनका स्थान ब्राह्मणों की वर्ण व्यवस्था में अभीतक अनिश्चित है।

† नान्दसा के आसपास मेवाड़ में पुर मांडल का प्रदेश प्रसिद्ध है,

कामनाओं के समूह की धारा को माया की तरह विस्तार कर, उसका वसु (धन या घृत) की धारा की तरह ब्राह्मणों, अग्नि और वैश्वानर (सर्वसाधारण) में हवन किया था—मालवगण के उस प्रदेश में एक षष्ठिसत्र का, चन्द्र के प्रथम दर्शन के सामान अवतरण करा, (नान्दसा के) उस महातड़ाग में, वहां के वृक्ष यज्ञयूप और चैत्य, उस (श्री सोम) द्वारा दक्षिणा में दी गई एक लाख गायों के सींगों की रगड़ से संकुल हो जाने से, जो पुष्कर को भी पीछे रखता था, वह यज्ञयूप खड़ा करने का उल्लेख हुआ है। उसके पास ही महासेनापति श्री सोमभट्टि सोगी का खण्डित यूपलेख भी प्राप्त हुआ है, जो अब उदयपुर के विक्टोरिया हाल संग्रहालय में पड़ा है।

इस लेख में श्री सोम के दादा प्रभाग्रवर्धन के 'जय मे नर्तन करने वाला' इस विरुद से तथा श्री सोम के पिता पितामहों की धुरी का उद्धार करने आदि की बातों से प्रकट है कि मालवगण ने कोई बहुत बड़ी सफलता इन्हीं दिनों पाई थी और उसमें सोगियों के नेता श्री सोम का एक बड़ा भाग था जिससे मालवगण के उस समूचे प्रदेश में एक नए युग का अवतार हुआ और उसे मनाने के लिए ही सोम ने यह

जिसका मध्यकालीन नाम प्राग्वाट था। राजस्थानी महाजनों की पोरवाड़ बनियों की शाखा इसी स्थान से निकली मानी जाती है। पोरप शब्द संभवतः यहां इस प्रदेश पुर के शासक के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

नान्दसा-पुरमाण्डल का प्रदेश इस प्रकार पुरातत्व की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। वहां कभी एक अत्यधिक समृद्धिशाली बस्ती होने की परम्परा आजतक जनसाधारण में चली आती है। दुर्भाग्य से उसकी छानबीन आजतक नहीं की गई और न वहां के पुरातत्व की सामग्री पूरी तरह पर्यवेक्षा अभी तक हो पाई है।

एकषष्ठिरात्र यज्ञ रचाया। मालवों को यह सफलता संभवतः यौधेयों के साथ मिलकर ऋषिक तुखारों के विरुद्ध विद्रोह में सफल होने के रूप में ही मिली होगी। क्योंकि उसी समय अवन्ति गुजरात के महा-क्षत्रपों के सिक्कों में एकाएक बहुत मिलावट हो जाती है। और उनकी परम्परा में भी विच्छेद दिखाई पड़ता है; जिससे उनपर आई किसी बड़ी विपत्ति की सूचना मिलती है। नान्दसा की तरह उसी युग का एक दूसरा यूपलेख कोटा राज्य के बड़वा गांव में २३९ ई० का किसी मौखरि

महासेनापति का तथा एक तीसरा खण्ड यूपलेख नगरी गाँव से भी मिला है, जिसके संवत् और नाम वाले अंश टूट गये हैं। ये भी संभवतः इन मालवों के ही हों।

§१६. अवन्ति का क्षत्रप राज्य

परन्तु अवन्ति का क्षत्रप राज्य, ऋषिक साम्राज्य के पतन के बाद भी बहुत अरसे तक स्वतन्त्र रूप से चलता रहा। उसके शासन में अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी, पूरब और पच्छिम के ज्ञान संस्कृति और कला के समन्वय से उत्पन्न एक नवीन भारतीय संस्कृति, विद्या और कला का पलना बन गई। भारतीय ज्योतिष में उज्जयिनी को आधुनिक बृटिश साम्राज्य के ग्रीनिच का स्थान संभवतः इन क्षत्रपों के आश्रय में ही मिला।

§ १७. गुप्त साम्राज्य और राजस्थान

कुशानों के पतन के बाद अयोध्या प्रयाग और पाटलिपुत्र में गुप्तों का आविर्भाव हुआ। समुद्रगुप्त ने लगभग समस्त आर्यावर्त और दक्खिन के भारतीय राजाओं को परास्त कर एक प्रबल भारतीय साम्राज्य की नींव डाली। यौधेय मालव आर्जुनायन आदि गणराज्यों को भी उसकी अधीनता माननी पड़ी।

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है। पिछले काल में यवनों आदि द्वारा जो नई विचार धाराएं रहन-सहन की नयी परिपाटियां तथा कला धर्म दर्शन आदि के नए आदर्श भारत में लाए गए थे, भारतीय विचारों, परम्पराओं और परिपाटियों से, गुप्तों के शासन काल में, उनका समन्वय होकर, एक राष्ट्रव्यापी नवीन भारतीय संस्कृति का उदय और प्रसार हुआ। साहित्य संगीत कला चित्रण मूर्तिलक्षण और भवननिर्माण की भावप्रवण और कल्पशालिनी भारतीय और वस्तु वादिनी पाश्चात्य यावनी (यूनानी) शैलियों में समन्वय स्थापित किया गया; और यूनानी ज्ञान विज्ञान को आत्मसात कर उसे नई चेतनाप्रदान की गई। सारे देश में एक अपूर्व और अद्भुत भारतीय चेतना और आत्मगौरव का भाव जागृत हो उठा। उस युग के भारतवासी संसार की अन्य समस्त जातियों के अगुआ थे और उन्हें अपनी इस श्रेष्ठता की सच्ची अनुभूति होती होगी। राजस्थानी महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में गुप्त युग के भारतीय आदर्शों का हम मूर्त दर्शन कर सकते हैं। जातीय गरिमा से अभिभूत होकर ही उस युग के किसी कवि ने गाया था कि—

गायन्ति देवाः किल गीतिकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे,
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

अर्थात् देवता लोग भी यह गीत गाते हैं कि वे लोग धन्य हैं और देवताओं से भी अधिक (उनकी महिमा) है, जो स्वर्ग और अपवर्ग (मुक्ति) दोनों की प्राप्ति का कारणभूत इस भारत भूमि में जन्म लेते हैं।

§१८. सामन्त शासन का उदय

परन्तु भारतीय जाति के पतन के बीज भी इसी युग में पड़ने लगे। विशेषतः राजस्थान में, जो इतिहास के आरम्भ काल से अपनी लोक-सत्तात्मक राज्य संस्थाओं और यहां के लोगों की उद्दाम स्वाधीनता

भावनाओं के लिए प्रसिद्ध था, गुप्त शासन के दुष्प्रभाव स्पष्टतः प्रकट होने लगे। सम्राटों के विरुद्गान और उनके व्यक्तिगत महत्व का अत्यधिक बखान होने के फलस्वरूप भारतीय प्रजा अपनी राजनीतिक चेतना धीरे धीरे भूलने लगी। सम्राट राजा या स्वामी के प्रति भक्ति का पाठ इस युग और इसके बाद के युगों के कवियों और साहित्यकारों द्वारा जनता को बहुत अधिक पढ़ाया गया। गुप्त राजा अपने को परम भागवत कहलाना पसन्द करते थे। वे विष्णु के परमभक्त थे; और भक्त-भगवान में सारूप्य की भावना में राजा के दैवी अंश के अन्तर्निहित विचार का परोक्ष रूप से पोषण होता था। राजा और सामन्त अपने नाम से विष्णु और शिव के जो मन्दिर बनवाते, उनमें अपने नाम के आगे ईश्वर शब्द जोड़ कर उस देवता का नामकरण करने की प्रवृत्ति भी छद्म रूप में इसी भावना की द्योतक थी। गण राज्यों का अस्तित्व इसके बाद सदा के लिए लुप्त हो गया। इसमें गुप्तों द्वारा उनकी सीधी विजय या गणसत्तात्मक भावना के दमन की अपेक्षा उनका अपने व्यक्तित्व को बहुत बढ़ाचढ़ा के जनता के सम्मुख उसे एक दिव्य आदर्श रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा और उनके सामन्तों तथा अन्य लोक नेताओं में उनका अनुकरण करने प्रवृत्ति अधिक उत्तरदायी थी। उनकी देखा-देखी गण मुख्यों में भी यह भावना बद्धमूल हो उठी और उनमें भी अपने व्यक्तित्व के महत्व को गण के सर्वसामान्य के मुकाबले में अधिक बढ़ाने की महत्वाकांक्षा जगी।

मालव भूमि में, जहां दो सौ वर्ष पहले ऋषिकों और क्षत्रपों को उखाड़ देने में प्रमुख भाग लेने वाले सैनिक नेता और शासक अपने को जनता का नेता अनुभव करते थे, वहां अब नरेन्द्रों क्षितीशों महासामन्तों मंडलेश्वरों और महाराजाओं का बोलबाला हो गया। मालवभूमि और उसके पड़ोस में दशपुर (मन्दसौर) से चन्द्रावती (गंगधार, झालरा-पाटन) तक गुप्तों के सामान्त रूप में एक राजवंश के शिलालेख पाए

जाते हैं, जिनके नाम के अन्त में वर्मा लगा होता है। उस वंश का ठीक नाम आदि अभी तक पता नहीं चला। अन्य लोगों और गणतन्त्रों ने भी उसका अनुकरण किया होगा। इस प्रकार जनता या उसके नेताओं का शासन यहाँ से हट, सामन्त पद्धति की स्थापना हुई, जो अगले युगों में जनता की राजनीतिक चेतना की मन्दता के साथ अधिकाधिक नरंकुश, एकसत्तापरक और वंशानुगत होती गई तथा सर्वसाधारण के भाग की मात्रा, राजकाज में, घटने लगी।

समुद्रगुप्त के बाद उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और पौत्र कुमार गुप्त के समय तक गुप्तसाम्राज्य ऐश्वर्य की चरम सीमा पर जा पहुँचा था। चन्द्रगुप्त ने ३९३ ई० में अवन्ति के क्षत्रपराज्य का भी अन्त कर दिया। तबसे गुप्तों का उपरिक या गोप्ता (सूबेदार) उज्जयिनी में रहने लगा। उसके पुत्र कुमार गुप्त के समय कुमार का पुत्र घटोत्कच इस प्रकार अवन्ति में रहता था। परन्तु कुमार गुप्त के अन्तिम दिनों में भारत पर हूण आक्रमण हुआ तभी राजस्थान की जनता ने भी पुष्यमित्रों के नेतृत्व में संघटित हो गुप्तों की दासता का जुआ उतार फेंकने का अन्तिम जतन किया हो ऐसा प्रतीत होता है, जिससे गुप्तों की राजलक्ष्मी विचलित हो उठी। पर नवयुवक सम्राट स्कन्दगुप्त ने बड़े धैर्य से काम लिया। पुष्यमित्र गण का विद्रोह अन्ततः असफल हुआ और हूणों को करारी हार खाकर देश से निकल जाना पड़ा। स्कन्द गुप्त ने राजस्थान गुजरात काठियावाड़ तथा अन्य सीमान्तों पर भी नए सिरे से अपने गोप्ता नियत कर साम्राज्य की रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया।

पर स्कन्द के बाद गुप्तों की कमजोरी अन्तः कलह तथा हूणों के आक्रमण के कारण साम्राज्य जर्जर हो गया। हूणों के राजा तोरमाण ने साम्राज्य का पच्छिमी अंश जीत लिया और ५१० ई० तक राजस्थान के पूर्वी सीमान्त पर स्थित एरण तक का प्रदेश हूणों के अधिकार में

चला गया। सम्राट भानु गुप्त ने छिन्न भिन्न होते साम्राज्य की दशा सुधारने का जतन किया। पर उसे सफलता न मिल सकी।

§ १६. जनेन्द्र यशोधर्मा

गुप्त लोग जब इस तरह हूणों के सामने हार कर भाग रहे थे तभी राजस्थान में एक नए जननेता का प्रादुर्भाव हुआ। हूणों के अत्याचारों से त्रस्त राजस्थान की जनता ने दशपुर (मन्दसौर) के यशोधर्मा विष्णुवर्धन के नेतृत्व में विद्रोह किया। यशोधर्मा के दो लेख मन्दसौर तथा उसके दो मील दूर सोनणी नामक ग्राम से मिले हैं। इससे मालूम होता है कि यह एक प्रतापी राजा था; उसने ब्रह्मपुत्र से पूर्वीघाट (महेन्द्र गिरि) तथा हिमालय पर्वत से पच्छिमी समुद्र (अरब सागर) तक के प्रदेश में स्थित उन सब देशों को, जिन्हें सारी वसुधा को अपने प्रताप से आक्रान्त हुआ देखने वाले गुप्त राजा भी न भोग सके तथा राजाओं के मुकुट पर अधिष्ठित होने वाली हूण अधिपतियों की आज्ञा भी जहां प्रवेश न पा सकी थी, अपना वशवर्ती बना लिया था और राजा मिहिरकुल (हूणाधिपति) को भी, जिसने स्थाणु (शिव) के अतिरिक्त किसी के सामने अपना सिर न झुकाया था, अपने चरणों में झुकने के लिए विवश कर दिया था। यशोधर्मा को इनमें से एक लेख में जनेन्द्र कहा गया है। वह किसी राज वंश का व्यक्ति नहीं था, प्रत्युत एक जनता का नेता था, जिसने ओलिकर के निशान वाले अपने वंश को स्वयं ही उन्नत किया था एवं प्राची तथा उदीची (उत्तर पंजाब सीमा-प्रान्त) के बहुत से राजाओं को परास्त कर अन्य नकली सम्राट नाम धारी राजाओं (पूरब के कमजोर गुप्त वंशी सम्राटों) के मुकाबले में सम्राट शब्द को तब सच्चे अर्थों में चरितार्थ किया था।

तीसरा अध्याय

मध्यकालीन राजस्थान

(५४०–१५०६ ई०)

§१. गुर्जरत्रा

यशोधर्मा अपने पीछे कोई राजवंश या संघटित साम्राज्य न छोड़ जा सका और गुप्त साम्राज्य भी हूणों का धक्का खाने के बाद दुबारा न सँभल सका। यशोधर्मा के बाद कन्नौज के मौखरि और थानेसर के बैस, जिन्होंने संभवतः जनेन्द्र यशोधर्मा के सेनापतियों के रूप में हूण युद्धों में प्रसिद्धि पाई थी, साम्राज्य निर्माण में मगध के पिछले गुप्त राजाओं के प्रतिद्वन्द्वी हो उठे।

राजस्थान में तब अवन्ति और मालव (दक्खिनी जयपुर, कोटा-बूंदी मेवाड़, आदि राज्यों का प्रदेश) पर पिछले गुप्तों का अधिकार फिर से हो गया हो ऐसा प्रतीत होता है। शेष राजस्थान की स्थिति इस युग में अस्पष्ट है। मालव यौधेय राजन्य आर्जुनायन आदि संघों या गण राज्यों का अब कोई पता नहीं। उनकी जगह समूचा पच्छिमी राजस्थान इस युग में गुर्जरत्रा कहलाने लगता है, जो यहाँ गुर्जर नाम की एक नई ज्ञाति की प्रधानता और विस्तार का सूचक है। गुर्जरत्रा में मालूम नहीं तब आधुनिक गुजरात का भी कोई अंश था या नहीं, पर साधारणतः इस युग में उससे पच्छिमी राजस्थान अभिप्रेत होता था।

§२. मौखरि और बैस—सम्राट हर्षवर्धन

पहले कह आए हैं कि हूण आक्रमण की चोटों के बाद गुप्त साम्राज्य फिर सँभल न सका था, कन्नौज के मौखरि उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे।

यह मौखरि-गुप्त संघर्ष बहुत समय तक चलता रहा, जिसमें मौखरियों की शक्ति गुप्तों से भारी पड़ती गई और कन्नौज, करीब एक हजार वर्ष से चली आती साम्राज्यधानी पाटलिपुत्र (पटना) के मुकाबले में, उत्तर भारतीय साम्राज्य का केन्द्र बनता गया।

स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के बैसों ने पहले तो मालवा-अवन्ति के गुप्तों और फिर कन्नौज के मौखरियों से अपने सम्पर्क कायम किये। बैस राजा आदित्य-वर्धन और मालवा के गुप्त महाराज महासेन गुप्त की बहन महासेनगुप्ता के पुत्र प्रभाकरवर्धन ने कश्मीर-तुखारिस्तान से हूणों को खदेड़, गान्धार सिन्धु गुर्जर और लाट के राजाओं को शीघ्र ही अपने बस में कर लिया और मालवराज को भी उसके सम्मुख झुकना पड़ा। मौखरि राजा ग्रह-वर्मा से उसकी लड़की राज्यश्री का विवाह हुआ था। पर ग्रहवर्मा शीघ्र ही गुप्तों से संघर्ष में मारा गया। मालव देश के राजा देवगुप्त और मगध-गौड़ के राजा शशांक की सम्मिलित सेनाओं ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। प्रभाकरवर्धन की तभी मृत्यु हुई थी और उसका बड़ा लड़का राज्यवर्धन, जो तभी तुखारिस्तान कश्मीर के हूणों के विरुद्ध चढ़ाई से लौटा था, अपनी बहन की मदद के लिए बढ़ा। पर गौड़-मगध के शशांक द्वारा धोके से मारा गया।

तब स्थाण्वीश्वर की गद्दी पर प्रभाकर का छोटा बेटा हर्षवर्धन बैठा। उसने मालव देश के गुप्तों और मगध-गौड़ के शशांक को शिकस्त पर शिकस्त दी और अपनी बहन राज्यश्री के अभिभावक रूप में समूचे उत्तर भारत का एक दृढ़ साम्राज्य के रूप में संघटन किया। गान्धार सिन्धु (मुल्तान सिन्ध सागर द्वाब का हिन्दकी भाषी प्रदेश) गुर्जर आदि पर उसके पिता प्रभाकर के समय से ही बैस आधिपत्य चला आता था। मालव और अवन्ति उसने शीघ्र ही जीत लिए और काठियावाड़ में वलभी के राजा को भी, जो गुप्तों का सामन्त था और अब स्वतन्त्र हो गया था, परास्त कर अपनी बेटी ब्याह उसने अपने बस में कर लिया। लाट (सूरत

भरुच) भी जीत लिया गया। इस प्रकार प्रायः समूचा राजस्थान हर्ष के अधिकार में था।

प्रसिद्ध चीनी यात्री श्यु-आन्-चुङ् (युवाङच्वाङ. या हिएन् चाङ) के यात्रा विवरण से भारत के अन्य जनपदों की तरह राजस्थान की अन्तरंग स्थिति पर भी थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार गुर्जर या गुर्जरत्रा देश की राजधानी भिन्नमाल थी और वहाँ का राजा क्षत्रिय जाति का था। इससे प्रकट है कि गुर्जरत्रा में गुर्जरों का आधिपत्य तब समाप्त हो चुका था। अभिलेखों तथा अन्य सूत्रों के आधार पर मालूम हुआ है कि भिन्नमाल का क्षत्रिय शासक चापोत्कट या चावड़ा वंश का राजा वर्मलात या व्याघ्रमुख होना चाहिए, जो संभवतः प्रभाकरवर्धन या सम्राट् हर्षवर्धन द्वारा गुर्जरों के दमन के बाद बैसों के सामन्त रूप में वहाँ स्थापित हुआ होगा। श्यु-आन्-चुङ् ने गुर्जर देश की लम्बाई ३०० मील और परिधि ८३३ मील के लगभग बताई है। उत्तरकालिक अभिलेखों के आधार पर मारवाड़ का डीडवाणा तक का प्रदेश उस समय गुर्जरत्रा मंडल में समाता था। महाकवि माघ और प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त इन चावड़ों के ही आश्रित और भीनमाल के रहने वाले थे। भीनमाल तब अत्यन्त समृद्ध और विद्या संस्कृति का एक केन्द्र प्रसिद्ध था। इसी प्रकार यहाँ का दूसरा प्रसिद्ध राज्य उस समय मत्स्यदेश था, जिसकी राजधानी विराट नगर थी। तीसरा मालव देश, जहाँ के निवासी श्यु-आन्-चुङ् के कथनानुसार भारत में मगध के पश्चात् सबसे अधिक सभ्य और विद्या संस्कृति के अत्यन्त प्रेमी थे। श्युआन् अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी का उल्लेख मालवों से अलग करता है।

हर्ष के बाद उत्तर भारत में उसका कोई उत्तराधिकारी न होने से कोई शक्तिशाली राजा न रहा, जो कन्नौज के साम्राज्य का प्रबन्ध भली भाँति करता; अतः साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो अनेक स्वाधीन प्रादेशिक राज्य उठ खड़े हुए, जिनमें एक मगध में, हर्ष के सहकारी और मित्र माधव गुप्त

यह मै

शा तथा दूसरा उसके जामाता वलभी के राजा का मुख्य थे। माधव गुप्त और उसके लड़के आदित्यसेन ने मगध के इस नये उठे राज्य के रूप में गुप्तसाम्राज्य को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया और मगध से मालव देश पर्यन्त समूचे प्रदेश को एकछत्र के नीचे ला दिया। दक्खिनी राजस्थान—अवन्ति, वलभी वालों के अधिकार में चला गया। इसके अतिरिक्त मध्य राजस्थान में चितौड़ के मौर्य, मेवाड़ के पहाड़ों के गुहिलपुत्र, भीनमाल के चावड़ा आदि अनेक स्वतन्त्र या अर्ध स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व हम यहाँ पाते हैं, जो संभवतः यहाँ के पुराने गणमुख्यों के वंशानुगत हो जाने और गुप्तकाल में गणसत्तात्मक परम्पराओं के अस्त हो जाने के फलस्वरूप अस्तित्व में आए होंगे।

§३. नये जननायक

तभी अरब देश में इस्लाम का उदय हुआ और नयी जागृति से प्रेरणा पाकर अरबों ने पच्छिमी एशिया में अपने साम्राज्य की स्थापना की। भारत पर भी अरबों के आक्रमण आरंभ हो गए। उनका सबसे जोरदार हमला मकरान के रास्ते सिन्ध (प्राचीन सौवीर देश) पर हुआ (७११–१२ ई०)। सिन्ध का राजा श्रीहर्षराज और उसका बेटा साहसी उससे पहले ही अरबों से मकरान की रक्षा करते हुए मारे जा चुके थे। वहाँ तब उनके ब्राह्मण मन्त्री चच का बेटा दाहिर राज करता था। राजा दाहिर मारा गया और राजवंश की अनेक स्त्रियों ने जौहर कर अपने सम्मान की रक्षा की। रानी बड़ी बहादुरी से अरबों का मुकाबला करती हुई युद्धक्षेत्र में मारी गई (७१२ ई०)।

सिन्ध के इतिहास चचनामे में सिन्ध के इन राजाओं का सम्बन्ध चितौड़ के मौर्य राजाओं से कहा गया है और लिखा है कि अरबों से पराजित होने के बाद राजवंश के अनेक व्यक्ति चितौड़ भाग गए। चितौड़ की ख्याति के अनुसार वह दुर्ग चित्रांग नामक किसी मोरी (मौर्य) राज

का बनवाया हुआ है। उसकी याद किले के दक्खिनी छोर पर चित्रांग नामक स्वच्छ पानी का सुन्दर जलाशय है, जिसकी पाल पर खुदी सुन्दर मूर्तियाँ उसका छठी-सातवीं सदी में बनना प्रकट करती हैं। किले से कुछ दूर पूठोली गाँव में मानसरोवर नाम का एक सुन्दर तालाब है, जो राजा मान मोरी का स्मारक है। मान का एक अभिलेख ७१३ ई० का वहाँ से मिल चुका है, जिसमें उसके तीन पूर्वजों भोज, भीम और महेश्वर का भी उल्लेख है। सिन्ध के अरब विजय के समय चितौड़ का मौर्य राजा यह मान ही होना चाहिए। मौर्यों का चावड़ों आदि से क्या सम्बन्ध था सो कह नहीं सकते। चितौड़ की ख्याति के अनुसार चितौड़ पर हुए एक अरब आक्रमण में इसी मान मोरी ने राज्य की रक्षा करने में कमजोरी दिखाई, जिस पर उसके सरदार नागदा के गुहिलपुत्र बापा (कालभोज) ने ७२८ ई० के करीब चित्तौड़ का दुर्ग उससे छीन लिया था।

दाहिर के बेटों ने कासिम के बाद संभवतः चितौड़ के इन मौर्यों की मदद से शीघ्र ही अरबों को सिन्ध के एक बड़े भाग से निकाल दिया। इसी से ७२४ ई० में खलीफा हाशिम ने अपने एक सेनापति जुनैद को एक बड़ी सेना के साथ सिन्ध पर पुनः अधिकार करने भेजा। दाहिर का पुत्र जयसिंह अरबों का मुकाबला करता हुआ सिन्ध नदी के नावों के युद्ध में पकड़ा और मारा गया। सिन्ध पर अधिकार करने के बाद जुनैद नें राजस्थान और गुजरात के कच्छ, चावड़ा (भिन्नमाल), मौर्य (चितौड़), अवन्ति (उज्जैन) और गुर्जर (लाट भरुच-सूरत का गुर्जर राज्य) राज्यों को रौंदते हुए नवसारी तक के प्रदेश को उजाड़ा (७२६–३६ ई०)। पर दक्खिन में वातापी (बदामी) के सोलंकी शासकों के एक सामन्त पुलकेशी अवनिजनाश्रय के द्वारा, जो ७३१ में नवसारी का जागीरदार बनाया गया था, अरबों की इस बाढ़ की रोकथाम की गई।

इस प्रकार सिन्ध पर अरबों का अधिकार हो जाने पर राजस्थान के राज्यों का अरबों से सीधा संसर्ग पड़ने लगा। पर राजस्थान के छोटे

छोटे राज्य उस बाढ़ को रोकने में असमर्थ साबित हुए। तब राजस्थानी जनता को अपने नए नेता तलाश करने पड़े। मेवाड़ में कालभोज या बापा रावल और गुर्जरत्रा में प्रतिहार नागभट इन्हीं राज्यक्रांतियों के फलस्वरूप सामने आये। नागभट ने ७२६–३६ ई० के अरब आक्रमण के बाद कभी चावड़ों से गुर्जरदेश का राज्य छीन लिया और ७५७ ई० में लाट देश तक उसका अधिकार छा गया। वलभी राज्य का अन्त ७६७ के करीब एक दूसरे अरब आक्रमण के फलस्वरूप हुआ। नागभट ने इसके बाद सुराष्ट्र और कच्छ तक के प्रदेशों पर अपना अधिकार कर अरब आक्रमण के विरुद्ध एक दृढ़ मोर्चाबन्दी कर दी। नागभट का पोता वत्सराज उससे भी प्रतापी निकला।

§४. प्रतिहार साम्राज्य

भारतीय साम्राज्य की राजधानी कन्नौज की अवस्था हर्ष के बाद काफी डाँवाडोल हो गई थी। कुछ समय तक वह संभवतः मगध के गुप्तों के अधीन रहा। बाद में वहाँ हम सम्राट यशोवर्मा को राज करता पाते हैं (७२०–७४० ई०)। यशोवर्मा ने मगध और गौड (बंगाल) को भी अधीन किया। पर काश्मीर के राजा ललितादित्य से उसे भी नीचा देखना पड़ा। इसके बाद साम्राज्य की बागडोर हर्ष के ममेरे भाई सेनापति भंडी के वंशधरों के हाथ आ गई। किन्तु भंडी-कुल की आपसी कलह ने गौड-मगध के नवोत्थित पाल राज्य को साम्राज्य के मामलों में दखल देने का अवसर दिया। धर्मपाल ने कन्नौज सम्राट् इन्द्रायुध के विरुद्ध चक्रायुध का पक्ष लेकर उसे कन्नौज की गद्दी पर ला बिठाया। वत्सराज प्रतिहार से यह न सहा गया। अरबों से मुकाबला करने को उत्तर भारत में एक दृढ़ साम्राज्य की आवश्यकता प्रतिहारों को अधिक अनुभव होती होगी। वत्सराज ने इन्द्रायुध का पक्ष ले चक्रायुध और पाल राजा धर्मपाल को कन्नौज से मार भगाया। पर तभी दक्खिन के नवोत्थित राष्ट्रकूट राज्य की तरफ से उत्तर भारत की

राजनीति में दखल देना प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रकूट राजा ध्रुव धारावर्ष के सामने वत्सराज को पीछे हटना पड़ा और पाल राजा और उसके कठपुतली चक्रायुध को भी अपना सिर नवाना पड़ा। वत्सराज अपने रेगिस्तान के दुर्गों में वापस आ रहा। इस प्रकार उत्तर भारत के साम्राज्य पर नियन्त्रण पाने के लिए पाल प्रतिहार राष्ट्रकूटों का यह तिकोना संघर्ष आरम्भ हुआ (लगभग ७८५ ई०) जो आगे आधी शताब्दी तक चलता रहा। अन्त में प्रतिहार राजा भोज ने भंडी वंश को उखाड़ कर कन्नौज के सिंहासन पर अधिकार कर समूचे साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली।

राजस्थान में मालव-अवन्ति-अर्बुदाचल के परमार, मेवाड़ के गुहिलपुत्र, शाकंभरी के चौहान, मत्स्य-राजोरगढ़ (अलवर राज्य) के गुर्जर प्रतिहार, गुजरात के सोलंकी तथा दिल्ली के तँवर आदि अनेक राजवंशों का उदय प्रतिहारों के सामन्त रूप में ही हुआ। भोज और उसके बेटे महेन्द्रपाल (८३६–९०७ ई०) के समय प्रतिहार साम्राज्य पूरे यौवन पर था। कश्मीर मुल्तान की सीमा से राजशाही (उत्तरी बंगाल) तथा हिमालय से नर्मदा तक उनका अधिकार अक्षुण्ण रूप से माना जाता था। दक्खिन में राष्ट्रकूटों का साम्राज्य था। प्रतिहार एक तरफ राष्ट्रकूटों के प्रतिद्वन्द्वी थे तो दूसरी तरफ अरबों से उनका संघर्ष बराबर चलता था। अतः उनके विरुद्ध अरब और राष्ट्रकूटों की मित्रता बराबर बनी रहती।

अरब लाख प्रयत्न करने पर भी मुल्तान से आगे न बढ़ सके। सिन्ध में भी उनका अधिकार स्थायी रहा हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। कम से कम पच्छिमी सिन्ध में तो वहाँ के जाड़ेचा सम्मा सूमरा आदि क्षत्रियों ने उनका अधिकार कभी जमने न दिया। उन्हें प्रतिहारों की मदद अवश्य रही होगी। पच्छिमी मारवाड़ (आधुनिक जयसलमेर) का नाम तब वल्ल मंडल मिलता है, वहाँ भट्टियों (भाटियों) का राजवंश प्रतिष्ठित था; भीनमाल के प्रतिहारों के सामन्त, मेड़ता मंडोवर के ब्राह्मण हरिश्चन्द्र वंशी प्रतिहार राजाओं ने, उनसे त्रवणी, संभवतः जोधपुर राज्य का फलोदी

प्रदेश, छीन लिया था और उन्हें अधीनता स्वीकार करने को विवश किया था। ये भट्टी या भाटी लोग जो अपनी अनुश्रुति के अनुसार उत्तर-पच्छिम सिन्धु-सौवीर से, अरबों-बलोचों के दबाव के कारण, राजस्थान की तरफ हट रहे थे, इस प्रकार प्रतिहारों के सामन्त हो जयसलमेर बहावलपुर प्रदेश में बस गए; वहाँ उनकी राजधानी तब 'देरावर' (वर्तमान बहावल-पुर राज्य में) था।

§५. तुर्क आक्रमण

परन्तु दसवीं सदी के आरम्भ में महेन्द्रपाल के बेटे महीपाल के समय राष्ट्रकूट राजा इन्द्र नित्यवर्ष की (६१६ ई०) उत्तर भारत की चढ़ाई में कन्नौज के लूटे जाने के बाद प्रतिहार राज्य की घटती कला आरम्भ हो गई और अवन्ति के परमार, अणहिलवाड़ा के सोलंकी, शाकंभरी के चौहान और मत्स्य के गुर्जर प्रतिहार आदि सामन्त स्वतन्त्र हो गए। सिन्ध के अरबों बलोचों आदि के खिलाफ प्रतिहारों का मोर्चा भी तब कमजोर पड़ गया और वहाँ की काठी, जाड़ेचा, चूडासमा आदि जातियों को तभी उनके मुकाबले में थककर सौराष्ट्र कच्छ आदि की तरफ प्रवास कर जाना पड़ा।। प्राचीन सौराष्ट्र का नाम तब से काठियावाड़ पड़ गया। राजस्थान के नवोत्थित राज्यों में अवन्ति का परमार राज्य, राजा श्रीहर्ष, मुंज, सिन्धु-राज और भोज के राज्य में ११ वीं सदी के उत्तरार्ध तक बहुत प्रबल था।

अरबों का राज्य इस बीच अफगानिस्तान के पश्चिम हेरात से बढ़ता हुआ मध्य एशिया में जा पहुँचा था और वहाँ के बौद्ध तुर्क, जो पुराने हूणों की ही एक शाखा थे, अब इस्लाम में प्रविष्ट होने लगे थे। अरब सारी कोशिशें करके भी अफगानिस्तान के पठानों को जीत मुसलमान बनाने में समर्थ न हुए थे। वहां तब तक कनिष्क के वंशज शाहियों का राज्य था। बुखारा के तुर्कों ने उनके बहुत से इलाके छीन लिये, पर काबुल नदी की दून शाहियों के अधिकार में तब भी बनी थी। शाही

अपनी राजधानी अटक (सिन्ध) के किनारे ले आये थे। दसवीं सदी के उत्तरार्ध में 'अलप् तगीन' नामक तुर्क ने, जो बुखारा के अमीरों का हाजिब (द्वारपाल या प्रतिहार) था, गजनी में एक जागीर की नींव डाली। अलप्तगीन के बाद उसके बेटे की मृत्यु हो जाने पर उसके तुर्क गुलाम सुबुक्तगीन ने काबुल दून में लमगान लेकर शाहियों को अफगानिस्तान से खदेड़ दिया। शाहियों ने तब पीछे हट तुर्कों का मुकाबला पंजाब से आरम्भ किया। प्रतिहार राज्य का ह्रास तब आरम्भ हो चुका था। पंजाब की रक्षा में भी वह अब कोई योग न दे सका।

सुबुक्तगीन के लड़के महमूद गजनवी ने हिन्दुस्तान पर १६ वार चढ़ाइयां कीं और शाहियों से पंजाब का राज्य छीन कन्नौज और गुजरात तक के तात्कालिक सभी राज्यों को झकझोर दिया। प्रतिहार राजा राज्यपाल को भी महमूद से दबना पड़ा। साम्राज्य की प्रतिष्ठा इससे धूल में मिल गई। इसपर रुष्ट होकर चेदि (बुन्देलखण्ड) के चन्देलों और गोपाद्रि (गवालियार) के कच्छपघात (कछवाहे) सामन्तों ने कन्नौज पर आक्रमण किया और राजा राज्यपाल प्रतिहार को मार डाला; पर महमूद ने उन्हें भी इसका दण्ड दिया। इस प्रकार पंजाब और सिन्ध तुर्कों के आधिपत्य में चले गये और स्वयं कन्नौज का साम्राज्य भी तुर्कों का करद बन गया। तात्कालिक अभिलेखों में तुरुष्क दण्ड नाम से एक कर प्रजा से पृथक रूप से वसूल किया जाने का उल्लेख हुआ है, जो साम्राज्य की तरफ से तुरकों को चुकाए जाने वाले उस कर की रकम को एकत्र करने के लिए लगाया गया प्रतीत होता है।

महमूद की एक चढ़ाई अन्त में, १०२५ ई० में, काठियावाड़ में सोमनाथ पर हुई; जिसमें वह मुलतान से नाडौल होता हुआ रेगिस्तान के रास्ते अणहिलपाटन होकर काठियावाड़ गया। नाडौल तब शाकम्भरी के चौहानों की एक शाखा के अधिकार में था, जो आरम्भ से गुजरात के सोलंकियों के सामन्त थे। महमूद ने नाडौल लूटा, लौटते समय अवन्ति का राजा

भोज और शाकंभरी के चौहान आदि राजस्थान के अनेक राजा इधर उसका रास्ता काटने को तय्यार थे, इस डर से महमूद को सोमनाथ से कच्छ और सिन्ध होकर गजनी लौटना पड़ा। सिन्ध के जाटों ने उसे काफी तंग किया और उसका बहुत सा भार हलका कर दिया।

§६. परमार चौहान और सोलंकी

अवन्ति, राजा भोज के राजत्व में, इसके बाद लगभग चौथाई शताब्दी तक और शान्ति समृद्धि का अनुभव करता रहा। राजा भोज और चेदि (बुन्देल खण्ड) के कलचुरि राजा कर्ण ने महमूद के बाद तुर्कों की शक्ति की, आगे बढ़ने से, रोक थाम का काफी जतन किया। राजा कर्ण के नेतृत्व में दिल्ली के संभवतः तंवर सामन्त सरदारों ने हरियाना पूरवी पंजाब नगरकोट (कांगड़ा) तक के प्रदेश तुर्कों से वापिस ले उत्तरी राजस्थान के रास्ते सिन्ध तक धावे कर वहाँ से उनके बहुत से थाने उठा दिये (१०४४ ई०)। अवन्ति के अतिरिक्त दशपुर (मन्दसौर) और मेवाड़ का अधिकांश भी परमारों के अधीन था और बागड़ (डूंगरपुर-बांसवाड़ा) पर उनकी एक दूसरी शाखा सामन्त रूप में राज करती थी। तथा समूचे पच्छिमी राजस्थान और दक्खिन पूरबी सिन्ध में छोटे-छोटे अनेक परमार सामन्तों (ठकुरातों) का अस्तित्व हम उस युग में तथा बाद में १४वीं १५वीं सदी तक पाते हैं। उत्तरी राजस्थान में शाकम्भरी का चौहान राज्य भी महमूद के बाद बहुत अधिक प्रमुखता में आया और ११वीं सदी के उत्तरार्ध में अणहिलपाटन का चौलुक्य (सोलंकी) राज्य भी फिर से सम्भल बैठा। वहां के राजा भीम सोलंकी ने कलचुरी राजा कर्ण के सहयोग से अवन्ति पर चढ़ाई की और भोज की राजधानी धारा नगरी को घेर लिया। तभी राजा भोज का देहान्त हो गया। अवन्ति गुजरात का यह संघर्ष आगे पांच छै पीढियों तक चलता रहा। अवन्ति के ये परमार राजा विद्या और संस्कृति के बहुत बड़े प्रश्रयदाता थे। खास कर राजा

भोज और उसके छोटे भाई राजा उदयादित्य का नाम इस रूप में बड़ा प्रसिद्ध है। उदयादित्य का बनवाया हुआ उदयेश्वर का मन्दिर, जो पूर्वी मालवा में उदयपुर के पास खड़ा है, भारतीय वास्तु और शिल्प के सुन्दरतम नमूनों में से एक है।

भीम सोलंकी के बाद उसके उत्तराधिकारी सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के समय गुजरात का सोलंकी राज्य बहुत प्रबल हो उठा, जयसिंह ने लगातार १२ वर्ष युद्ध कर समूचे अवन्ति राज्य पर कब्जा कर लिया। अवन्ति के अतिरिक्त दशपुर चित्तौड़ तथा उसके पूरब मेवाड़ का समूचा पहाड़ा प्रदेश, जो राजा मुंज के समय से अवन्ति के आधिपत्य में चला आता था, इस प्रकार गुजरातियों के आधिपत्य में चला गया। मेवाड़ के पहाड़ों अर्थात् नागदा (एकलिंगजी) और अघाटपुर (उदयपुर से डेढ़ मील उत्तर पूरब बेड़च के पूर्वी तट पर स्थित आहाड़ गाँव और उसके चारों तरफ दूर तक फैले खंडहर जिसके द्योतक हैं) में गुहिलपुत्रों का राजवंश छठी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध मे स्थापित चला आता था। उसमें प्रतिहार राजा नागभट (१ म) का समकालिक राजा कालभोज या 'बापारावल' प्रसिद्ध है, जिसने चित्तौड़ पर होनेवाले किसी अरब आक्रमण के समय वहाँ की रक्षा में प्रमुख भाग लिया और उसके बाद ७२७ ई० में वहाँ के मौर्य राजा से वह दुर्ग छीन लिया था ऐसी ख्याति है। परन्तु ७४४ ई० में चितौड़ पर कुक्कुटेश्वर नाम के किसी राजा का होना पाया जाता है और उसके बाद दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से समूचा दक्खिनी पूरबी मेवाड़ परमारों के अधीन चला आता था सो कह चुके हैं। अवन्ति के विजय के बाद मेवाड़ के गुहिलपुत्र अब गुजरात वालों के सामन्त हो गए और उनके दक्खिन बागड़ (डूँगरपुर-बाँसवाड़ा) के परमार राज्य का भी शीघ्र ही अन्त हो, वहाँ गुजरातियों के सामन्तरूप में मेवाड़ के गुहिलपुत्रों की एक शाखा प्रतिष्ठित हुई। मेवाड़ के पच्छिम आबू का परमार राज्य तथा जालौर-नाडौल के चौहान आरम्भ से ही गुजरात

के सोलंकियों के अधीन उनके सामन्त थे, सो कहा जा चुका है। कुमार पाल के समय भाटी जज्जल या जैसल, जिसने ११५५ ई० में जयसलमेर नगर की स्थापना की थी, भी ११६१ में जीता और चालुक्यों का सामन्त बना लिया गया। उसके उत्तर जयसलमेर के पड़ोस से पूरब काली सिंध और दक्खिन पूरब माँडलगढ़ तक का समूचा उत्तरी और मध्य राजस्थान धीरे-धीरे कर शाकंभरी-सपादलक्ष* के चौहान राज्य में समा गया। इन चौहानों का पंजाब के गजनवी तुर्कों से बराबर संघर्ष चलता रहा।

§७. विग्रहराज और पृथ्वीराज चौहान

कन्नौज साम्राज्य की बागडोर महमूद के ५० वर्ष बाद गाहड़वालों के हाथ में आ गई। राजा चन्द्र और उसके बेटे गोविन्द के समय गाहड़वालों ने मेरठ से लेकर मुँगेर तक का सारा इलाका ले, गंगा काँठे के समृद्ध प्रदेशों को तुर्कों के हमलों से सुरक्षित करने का जतन किया। तभी शाकंभरी के चौहानों ने राजस्थान से उत्तर दक्खिनी और पच्छिमी पंजाब और हरियान की तरफ अपनी सीमा बढ़ाना आरम्भ किया। चौहान राजा विग्रह राज चतुर्थ ने, जो प्रसिद्ध चौहान पृथ्वीराज का ताऊ (पिता का बड़ा भाई) था और उससे दो पीढ़ी पहले अजमेर-शाकम्भरी की गद्दी पर बैठा था, तुर्कों की एक बाढ़ को, जो वर्तमान शेखावाटी प्रदेश के बबेरा (बबेरक) तक चढ़ आए थे, रोका और आगे बढ़ते हुए तुर्कों से हांसी (आसिका) और सरहिन्द छीन अपने प्रदेश में मिला लिए। तंवरों से उसने दिल्ली का प्रदेश ले अपनी सीमा मेरठ के पच्छिम और सतलज के पूरब हरियाने के रास्ते उत्तर में हिमालय तक पहुँचा दी। दिल्ली के पास फीरोजशाह के कोटले में खड़ी अशोक की लाट पर उसका एक लेख

---

* नागौर-साँभर के इलाके का यह नाम इस युग में पाते हैं और माँडलगढ़ हाड़ौती का प्रदेश भी चौहान राज्य में हो जाने से, बाद के युगों में एक अरसे तक इस नाम से पुकारा जाता रहा है।

खुदा है। यह लाट फीरोजशाह तुगलक अम्बाला जिले में साधोरा के १८ मील दक्खिन तोपरा गाँव से दिल्ली उठवा लाया था। उस लेख में लिखा है कि 'विग्रहराज ने मानों तीर्थयात्रा का प्रसंग हो ऐसे विन्ध्य से हिमाद्रि पर्यन्त विजय कर म्लेच्छों (तुर्कों) के विच्छेद (विनाश) आदि द्वारा आर्यावर्त को फिर से यथार्थ नाम वाला बना दिया है। चाहमान तिलक शाकम्भरी की भूमि का स्वामी, विजयी विग्रहराज अब अपनी सन्तान (परम्परा) में होने वालों को कहता है कि हमने तो हिमालय से विन्ध्य के अन्तराल की भूमि को अपना करदाता बना लिया है बाकी (पंजाब आदि जिनपर तब भी तुर्क आधिपत्य बना था) को लेने में आपलोगों का मन उद्योगशून्य न होने पावे (११६३ ई०)। पर दुर्भाग्य से उसके भतीजे पृथ्वीराज ने अपने उस महान पूर्वज की उस सीख पर ध्यान न दिया और उधर जब, शाहबुद्दीन मुहम्मदगोरी ने, महमूद के उत्तराधिकारियों से गजनी का अधिकार छीन मुलतान गुजरात और पंजाब की तरफ अपने कदम बढ़ाने आरम्भ कर दिये थे, पृथ्वीराज अपने पूरबी पड़ोसी और स्वजातीय जभौती (बुन्देलखंड) के चन्देलों से उलझ अपनी शक्ति बरबाद करता रहा।

मुहम्मद गोरी ने गजनवियों से पहले सिन्ध ले सीधे गुजरात की तरफ बढ़ना चाहा। वहाँ राजा कुमारपाल सोलंकी का देहान्त हो चुका था और उसके नाबालिग बेटे मूलराज द्वितीय की संरक्षिका रूप में उसकी माता शासन सूत्र सँभाले थी। आबू के समीप कायद्रां गाँव में गुजरातियों ने आबू के परमार राजा धरणीवराह के नेतृत्व में तुर्कों को बुरी तरह हराया और फौज का बड़ा अंश कैद कर लिया। गुजरातियों ने उन कैदियों को हिन्दू बनाकर अपनी जातों में मिला लिया (११७८ ई०)। इस प्रकार गुजरात की तरफ अपनी दाल न गलती देख मुहम्मदगोरी ने कमजोर गजनवी शासकों से पंजाब छीन दिल्ली प्रदेश की तरफ मुँह फेरा। शाकम्भरी का चौहान राजा पृथ्वीराज अपने सीमान्त की इन बड़ी बड़ी घट-

नाओं के प्रति अब तक बेहोश पड़ा था। पर सरहिन्द से आगे बढ़ने पर पानीपत के पास तरावड़ी के मैदान में उसने इन पच्छिमी आक्रान्ताओं की बाढ़ को रोक लिया। मुहम्मद को बुरी तरह हारना पड़ा और उसकी सेना तीन तेरह हो गई। वह स्वयं भी घायल हुआ। पृथ्वीराज ने तरावड़ी से आगे बढ़ १३ मास के घेरे के बाद तबरहिन्द (सरहिन्द) का किला तुर्कों से छीन लिया। पर महमूद इतने से हताश होने वाला न था। एक वर्ष लाहौर में ठहर कर उसने युद्ध की पूरी तय्यारी की और अगले वर्ष उसी तरावड़ी के मैदान में पृथ्वीराज को परास्त कर कैद कर लिया और मार डाला (११६२ ई०)।

तरावड़ी से मुहम्मद सीधा अजमेर की ओर बढ़ा और पृथ्वीराज के बेटे गोविन्दराज को अजमेर की गद्दी पर अपने सामन्त रूप में बिठा, तथा अपने एक तुर्क गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक को एक बड़ी सेना के साथ दिल्ली प्रदेश पर कब्जा करने को छोड़ वह गजनी लौट गया।

§८. दिल्ली की पहली सल्तनत और राजस्थान

पर पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने अजमेर गोविन्द से छीन लिया और अपने सेनापति चतरराज को एक बड़ी सेना दे कुतुबुद्दीन का मुकाबला करने देहली की ओर भेजा। कुतुबुद्दीन चतरराज को ठेलता हुआ अजमेर तक आया। हरिराज को तब अजमेर खाली करना पड़ा।

उत्तर राजस्थान के चौहानों के पतन के बाद कन्नौज के भारतीय साम्राज्य के प्रदेश एकबार फिर तुर्क आक्रमण के लिये खुल गए। मुहम्मद गोरी ने दो साल बाद कन्नौज साम्राज्य पर भी चढ़ाई की। सम्राट गोविन्दचन्द्र का बेटा सम्राट जयचन्द्र इटावे के पास चंदावर के मैदान में तुर्कों के साथ लड़ता हुआ मारा गया (११६४)। तुर्कसत्ता अगले ४–५ सालों में समूचे गंगा जमना दोआब (प्राचीन कुरु और पञ्चाल देशों) में, बनारस तथा गंगा के दक्खिन दक्खिन काशी और मगध तक जा पहुँची।

सम्राट् जयचन्द्र के पुत्र सम्राट् हरिश्चन्द्र ने तब राजधानी कन्नौज की रक्षा का भार, जो अब सीमान्त का एक दुर्ग था, अपने बदायूँ के राठौड़ सामन्तों पर छोड़ गंगा के उत्तर अवध में हट कर अपनी स्वाधीनता की लड़ाई जारी रक्खी।

राजस्थान में दिल्ली-अजमेर नागौर तुर्कों के अधिकार में आ गए थे। तुर्कों ने उसके आगे बढ़ने के अनेक जतन किए, पर सफलता न मिल सकी। रणथंभोर तथा नाडौल-जालौर के चौहान तथा मेवाड़ के गुहिल-पुत्र, जो पहले गुजरात के सोलंकियों के सामन्त थे लेकिन अब स्वतन्त्र हो गए थे, उन्हें मालवा-गुजरात की तरफ बढ़ने से बराबर रोकते रहे। उत्तर-पच्छिमी सीमान्त पर इसी तरह जयसलमेर-पूंगल का भाटी राज-मुलतान और सिन्ध की तरफ से उनके हमलों को रोके रहा। १२३४ में मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह ने दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश को, जो रणथंभोर ले उज्जैन को लूट नागदा (एकलिंगजी) के रास्ते गुजरात (अणहिल-पाटण) पर चढ़ाई करने जा रहा था, करारी हार दी। मेवाड़ का नाम तब से इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। दो बर्ष बाद इल्तुतमिश की मृत्यु हुई और चौहान राजा वाग्भट ने रणथम्भोर तुर्कों से वापिस ले लिया।

इल्तुतमिश के बाद १२३७ में बल्वन को भी इसी तरह मेवाड़ के महा-रावल समरसिंह से हार खानी पड़ी।

दिल्ली से गुजरात काठियावाड़ के बन्दरगाहों को जाने का सबसे छोटा मार्ग वह है जो दिल्ली से रेवाड़ी नारनौल रींगस अथवा रेवाड़ी से अलवर राजगढ़ बसवा जयपुर होकर, अर्थात दिल्ली के दक्खिन मेवात के अत्यन्त दुर्गम पहाड़ी प्रदेश के एक या दूसरी तरफ से होकर अजमेर और वहाँ से आडावला की ऊँची और दुर्गम पहाड़ी धार के नीचे नीचे पच्छिमी मरुस्थल की सीमा पर से गुजरता हुआ आबू की छांह में से जाता है। दूसरा रास्ता जमुना के पच्छिम मथुरा या आगरा से चंबल के बाँये किनारे बयाना, उतगीर; रणथंभोर, इन्दरगढ़ होता हुआ चंबल पार कर कोटा तक आया है,

जहाँ उसकी दो शाखाएँ हो गई हैं। एक तो कोटा मुकुन्दरा से पारियात्र और आटा वला के बीच रतलाम दोहद होते हुए गुजरात के रेवा कांटा मैदान में जा उतरा है और दूसरा इन्दरगढ़ या बून्दी से दक्खिन चंबल को बिना पार किये माडलगढ़ होकर बनास के साथ साथ नर्मदा (एकलिंग) और उदयपुर होता हुआ मेवाड़ के भोमट प्रदेश में मही और साबरमती के बीच पनढाल का काम करने वाली पहाड़ों की धार के साथ ऋषभदेव होकर गुजरात के मही कांठे में उतरता है।

सल्तनत युग के आरम्भ से दिल्ली के दक्खिनपच्छिम प्राचीन मत्स्य देश वहाँ मेवों की बस्ती होने से मेवात कहलाने लगा था। मेव लोग पुराने शकों के वंशज थे। समूचे पूरबी राजस्थान में मेव मीणों आदि की बस्तियों, तथा अनेक स्थानों पर उनके अधिकार की बात इस युग में हम बराबर सुनते हैं। मेव लोग तब भी बड़े लड़ाके और दुर्दमनीय थे। और दिल्ली की तुर्क सल्तनत को मेवआतंक उस युग में बराबर सताता रहा। गयासुद्दीन बल्बन (१२६६–१२८६) के बाद तक मेव समस्या उन्हें परेशान किए रही। अतः दिल्ली अजमेर के रास्ते राजस्थान से होकर गुजरात पर कोई बड़ा सैनिक आक्रमण करना तब तुर्कों के लिए प्रायः दुष्कर था। इसके लिए उन्हें प्रायः मेवात का चक्कर काट कर मथुरा या आगरे से चंबल के साथ साथ आनेवाले दूसरे रास्ते को ही अपनाना होता था इसमें रणथंभोर और मेवाड़ के राज्य उनके प्रधान बाधक थे। ग्वालियर और रणथंभोर लेने के अनेक प्रयत्न किए जाते रहे पर कोई स्थायी सफलता न हुई। अतः अवन्ति और गुजरात के राज्यों के क्षीणवीर्य रहने पर भी उन पर तुर्क अधिकार न हो सका।

§९. तुर्क विजय और पुराने राज्यों का सफाया

१२९१ में जलालुद्दीन खिलजी ने रणथम्भोर पर फिर आक्रमण किया। इसे तो वह न ले सका पर अवन्ति (जिसे अब मालवा कहा

जाने लगा था के परमार राज्य को छिन्न-भिन्न करने में वह सफल हुआ। इसी बीच उसके भतीजे अलाउद्दीन खिलजी को भिलसा (प्राचीन विदिशा, पूरबी मालवा) पर अधिकार करने में भी सफलता मिली। गद्दी पर बैठने के बाद अलाउद्दीन ने एक बार फिर अवन्ति से मेवाड़ होकर गुजरात के अणहिलपाटन पर सीधा जाने का जतन किया। पर चित्तौड़, जो जैत्रसिंह के समय गुहिल पुत्रों की पुरानी राजधानी नागदा के इल्तुतमिश द्वारा उजाड़ी जाने के बाद से अब मेवाड़ की राजधानी था, के रावल समरसिंह से उसे हारना पड़ा। तब उसने अपने भाई को एक बड़ी सेना दे मेवाड़ की दक्खिनी परिक्रमा कर रतलाम दोहद से गुजरात की प्रमुख नगरी आसावल (अहमदाबाद) होकर पाटन पर धावा बुलवा वहाँ के चालुक्य राज का अन्त कर दिया (१२९७–९८)।

राजस्थान के बचे हुए राज्य इस प्रकार अब तीन तरफ से घिर गये। १३०१ ई० में रणथम्भोर लिया गया और १३०२ में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ को जा घेरा (फरवरी १३०३ ई०)। रावल समरसिंह का तब देहान्त हो चुका था और रावल रत्नसिंह वहां की गद्दी पर था। छै मास के घेरे और भारी विनाश के बाद चित्तौड़ पर तुर्क अधिकार हो गया (१६ अगस्त १३०३ ई०)। रत्नसिंह की सुन्दरी रानी पद्मावती या पद्मिनी और अन्य सैकड़ों वीरांगनाओं ने जौहर कर अपने सम्मान की रक्षा की। उसके बाद १३०५ -११ तक मारवाड़ के जालौर, नाडौल, सिवाणा, भीनमाल, सांचौर आदि के चौहान सोनिगरे आदि राज्य भी, जो चालुक्यों के पुराने सामन्त थे, जीते गए और जयसलमेर पर हमला कर तुर्कों ने उसे भी उजाड़ दिया। फलतः राजस्थान के प्रायः सभी पुराने राज्यों का, जिनका उदय प्रतिहारों के सामन्त रूप में हुआ था, अब अन्त हो गया; और तुर्क आधिपत्य निर्द्वन्द्व भाव से सर्वत्र छा गया।

§१०. मेवाड़ का स्वाधीनता युद्ध

चित्तौड़ में अलाउद्दीन अपने बेटे खिज्रखां को छोड़ गया था। मेवाड़

में गहलोतों के मुख्यवंश का अन्त रावल रत्नसिंह के साथ ही साथ हो चुका था। पर मेवाड़ वालों ने गहलोतों की एक छोटी शाखा के राणकों के नेतृत्व में, जो सीसोदा गांव के जागीरदार होने से सीसोदिया कहलाते थे, मेवाड़ के दक्खिनपच्छिमी पहाड़ों में छिपकर अपनी स्वाधीनता की चेष्टाएँ जारी रक्खीं। उधर जालौर के सोनिग्रा चौहान कान्हड़देव का छोटा भाई और उत्तराधिकारी राव मालदेव भी दक्खिनी मारवाड़ के पहाड़ों में उपद्रव मचाये था। इसीसे दिल्ली से गुजरात जानेवाला व्यापारिक मार्ग सदा खतरे में रहता। इस समस्या को सुलझाने और एक तीर से दो शिकार मारने की नीति से मालदेव को तुर्कों की तरफ से चित्तौड़ का अधिकारी बना दिया गया।

१३२५ ई० तक का समय दिल्ली की तुर्क सल्तनत के लिए उत्कर्ष का था। राजधानी की अनेक क्रान्तियों और वंश परिवर्तनों के बावजूद उसकी धाक सारे भारत पर बनी थी। पर १३२५ में गयासुद्दीन तुगलक की मृत्यु और मुहम्मद तुगलक के गद्दी पर बैठते ही मेवाड़ वालों ने महाराणा हम्मीर के नेतृत्व में सोनिग्रों से चितौड़ ले तुर्क सल्तनत के उस आतंक को चुनौती दी। इसके बाद मुहम्मद तुग़लक के अहमकपन और दुःस्साहसपूर्ण अदूरदर्शी कार्यों के कारण साम्राज्य भर में अव्यवस्था और विद्रोह फैल गया।

हमीर क्षेत्रसिंह (खेता) और लक्षसिंह (लाखा) के समय साम्राज्य विघटन की उस प्रक्रिया का मेवाड़ ने लाभ उठाया। मुहम्मद तुगलक के उत्तराधिकारी फीरोज तुग़लक के बाद दिल्ली के तुर्कों की ताकत नाम मात्र को रह गई और समरकन्द के तुर्क सुलतान तैमूरलंग (लंगड़े) के भारत अभियान (१३९८) के बाद उसकी रही सही प्रतिष्ठा भी धूल में मिल गई; और मेवाड़ के दोनों बाजुओं पर मालवा और गुजरात में, तब दो भारतीय मुस्लिम राजवंशों की स्थापना हुई। मालवे के सुल्तान पठान थे और गुजरात के थानेसर के पास रहने वाले टाँक (तक्षक) क्षत्रिय; जो फीरोज तुगलक के समय ही मुसलमान बने थे। वे दोनों

पहले दिल्ली सल्तनत के प्रान्तीय शासक थे जो अब स्वतन्त्र हो गए।

पच्छिमी राजस्थान में सिरोही जालोर आदि पर गुजरात वालों का अधिकार था और उत्तर में नागौर प्रदेश पर भी उन्हीं का सूबेदार रहता था। उसके उत्तर में शेखावाटी झूँझणू तक दिल्ली के अधीन हिसार के हाकिम नवाबों के अधीन थे और उत्तरपूरब में मेव मीणे आदि अपने छोटे छोटे ठिकानों में प्रायः अर्ध स्वतन्त्र अवस्था में बने थे तथा राजगढ़ (दक्खिनी अलवर राज्य) का बड़गूजरों (गुर्जर प्रतिहारों) का ठिकाना चला आता था। ग्वालियर नरवर के कच्छपघातों से अपना प्रदेश निकल जाने के बाद चौदहवीं सदी के मध्य में वे लोग इन मेवों के प्रदेश में राजगढ़-द्यौसा के बड़गूजरों के पास आ रहे थे और धीरे धीरे उन सरदारों को जीत करके अपना अधिकार वहां फैला रहे थे।

इसी प्रकार पच्छिमी राजस्थान के उत्तरी अंश जांगल देश में प्राचीन यौधेयों के छोटे छोटे पंचायती राज्य किसी न किसी रूप में अबतक चले जाते थे। उनके दक्खिनपच्छिम भाटियों ने जयसलमेर राज्य को पुनः संगठित करना शुरू कर दिया था और इनके थाने पूंगल और मोजगढ़ के प्रदेशों तक फैले थे।

मध्य मारवाड़ में मण्डोवर का ब्राह्मण प्रतिहार वंश, जो नौवीं सदी में भीनमाल कन्नौज के प्रतिहारों के सामन्त रूप में उठा था, किसी न किसी रूप में बचा था। इन प्रतिहारों का नागौर के तुर्क-मुस्लिम थाने से बराबर सघर्ष चलता रहता था।

शेष दक्खिनी मारवाड़ और सिन्ध के थर पारकर प्रदेशों तक गुजरात के सोलंकियों और शाकम्भरी के चौहानों के तथा उनके मुख्य सामन्त आबू के परमारों, नाडौल-जालौर के सोनिग्रा चौहानों आदि के पतन के बाद, उनके वशज चौहान (सोनिग्रे वालेचे देवड़े) परमार (सोढे, साँखले) राष्ट्रकूट (राठौड़) आदि वंशों के राजपुत्र अपने छोटे छोटे कोटलों और गढों में प्रायः स्वतन्त्र जीवन बिताते थे कोई संगठित राजतन्त्र न था।

§ ११. हिन्दुआ सुल्तान

मेवाड़ का नवोत्थित राज्य, इस प्रकार उस समय चारों ओर की मुस्लिम रियासतों और अर्धस्वतन्त्र निरंकुश ठिकानाशाहियों के बीच एकमात्र स्थानीय व्यवस्थित राज्य था, जो राजस्थानियों को चारों ओर की अव्यवस्था, अराजकता और विदेशी एवं विधर्मी सत्ताओं के उत्पीड़न के बीच आशा और विश्रब्धि का संदेश देता और हिन्दुओं को, विदेशी आक्रमक तुर्कों और उनके सहयोगी देसी मुस्लिम राज्यों के विरुद्ध संगठित मोर्चा लेने का अह्वान सा करता प्रतीत होता था। फलतः राजस्थान-गुजरात के अनेक अधिकारभ्रष्ट पुराने राजवंशी और महत्वाकांक्षी लोग मेवाड़ के झंडे के तले एकत्र होने लगे। इससे मेवाड़ की सामरिक शक्ति दिनों दिन बढ़ती गई और उस समय इस तरफ उसके एकमात्र व्यवस्थित राज्य होने से व्यापारी वर्ग की सुरक्षा के कारण आर्थिक दृष्टि से भी उसकी स्थिति मजबूत होती गई, जो महाराणा लाखा के समय जावर में चांदी की खान निकल आने से और भी चमक उठी।

दक्खिन-पच्छिम मारवाड़ के वर्तमान मल्लाणी परगने में राठोड़ों का एक वंश सेतकुमार के पुत्र सीहा के वंशधरों का उस युग में था जिन्हें कन्नौज के अन्तिम सम्राट् जयच्चंद्र का वंशधर कहा जाता है। पर सम्राट जयच्चन्द्र, जैसा कि हम कह चुके हैं, राठोड़ नहीं गहड़वाल था, जो राठौड़ों से बिलकुल अलग एक पुराना राजवंश है, अतः स्वर्गीय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने उनका, गहड़वालों के सामन्त बदायूं के राठौड़ों का वंशधर होना, माना है। पर वह भी अनुमान मात्र है। क्योंकि अबतक कोई प्रमाण नहीं मिला कि सेतकुमार या उसके वंशज गंगा कांठे से राजस्थान में आए हों। इसके विपरीत राव सीहा का स्मारक पत्थर पाली के पच्छिमोत्तर १४ मील पर मिला है। मारवाड़ के उस गोड़वाड़ प्रदेश में हस्तिकुंडी के राठौड़ों का एक वंश ११ वीं

सदी में पहले से था जिसे संभवतः नाडौल के चौहानों की किसी शाखा ने समाप्त किया होगा। सेतकुमार और सीहा उन्हीं के वंशधर हो सकते हैं। उनके वंशधरों ने १४ वीं सदी के प्राथमार्ध में कभी जाकर मल्लाणी में, खेड़ के गुहिलों से वह स्थान ले अपना ठिकाना बांधा, जो धीरे धीरे वहां प्रबल होता गया।

चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में उसी वंश के एक सरदार राव चूंडा ने मण्डोवर का किला जो पहले ईंदा खांप के प्रतिहारों का था और उनसे नागौर के तुर्कों ने ले लिया था, ईंदों की मदद से ले लिया। नागौर वालों से रक्षा पाने के लिए चूंडा ने अपने बड़े लड़के रणमल को मेवाड़ भेजा और महाराणा लाखा से अपनी लड़की हंसा का सम्बन्ध कर दिया।

हंसा और महाराणा लाखा का पुत्र महाराणा मोकल बड़ा प्रतापी हुआ। उसने मारवाड़ में नागौर पर चढ़ाई की और मंडोवर का दुर्ग रणमल को सौंप दिया; तथा दक्खिनी मारवाड़ में गुजरात वालों के जालौर के थाने को कंपा दिया। नागौर के शासक फीरोज तथा उसके स्वामी अहमदशाह गुजराती की सेनाओं को उसके सामने भाग जाना पड़ा। इसके बाद अजमेर और सांभर के इलाकों पर दखल कर उसने दिल्ली सल्तनत को भी कंपा दिया तथा पुष्कर के महावराह के मन्दिर में सुवर्ण तुला दान किया।

नागौर और जालौर की अपनी पराजयों का बदला चुकाने के लिए गुजरातियों ने १४३३ ई. के करीब वागड़ की तरफ से एक बड़ी सेना लेकर मेवाड़ पर आक्रमण किया। इसके मुकाबले पर जाते समय रास्ते में ही अपने पिता के एक दासीपुत्र भाई के षड्यन्त्र के कारण थोड़ी उमर में ही महाराणा मोकल का देहान्त हो गया। पर उसका पुत्र कुम्भा इससे भी प्रतापी और प्रतिभाशाली राजा निकला। अपने पिता के खूनियों से बदला चुकाने के बाद उसने मेवाड़ के दक्खिन सिरोही आबू और ईडर तक के प्रदेशों पर कब्जा कर गुजरातियों के खिलाफ अडावला के दक्खिनी घाटों की मोरचाबन्दी पक्की कर दी। मालवे की

स्वतन्त्र पठान सल्तनत के प्रथम संस्थापक हुशंगशाह गोरी (१४१५–१४३२ ई.) का पुत्र गजनी खां मुहम्मद लगभग कुम्भा के साथ ही साथ मांडू की गद्दी पर बैठा था। १४३६ में उसे मार महमूद शाह खिलजी मांडू का सुल्तान बन बैठा। अपने पिता को मारने के षड्यन्त्र के कुछ अपराधियों के महमूद के पास शरण लेने के अपराध में कुम्भा ने उसपर आक्रमण किया और सारंगपुर के पास मालवियों की सेना को ध्वस्त कर मांडू को जा घेरा; तथा वह दुर्ग पठानों से ले महमूद को कैद कर चित्तौड़ ले आया, जहां छै मास तक कैद में रहने के बाद संभवतः गागरौन और सारंगपुर तक का मालवे का समूचा इलाका मेवाड़ को देने के बाद वह छूट कर मांडू जा सका।

मेवाड़ के उत्तरपूरब मांडलगढ़ बंबावदा बगू भैसरोड़गढ़ आदि के प्रदेश में नाडौल के चौहान हरराज या 'हाड़ा' के वंशधरों का अधिकार महाराणा हमीर के सामन्तों के रूप में चला आता था। हमीर के समय देवीसिंह हाड़ा बगू का ठिकानेदार था और उसने महाराणा की आज्ञा से वहां से उत्तर ढूंढाड़ में बढ़ कर बूंदी का प्रदेश वहां के मीणा सरदारों से छीन लिया था। हमीर के बाद बूँदी के हाड़ों ने मेवाड़ से स्वतन्त्र होने के अनेक जतन किये पर महाराणा खेता, लाखा, मोकल और कुम्भा के आगे उनकी न चली। मालवे वालों से होने वाले युद्धों के कारण मेवाड़ को अपने उस पूरवी प्रदेश की दृढ़ नाके बन्दी करनी आवश्यक थी। अतः महाराणा ने मांडलगढ़ आदि का सारा पूरवी प्रदेश बूंदी से छीन लिया।

बूंदी से उत्तर रणथंभोर और टोडा भीम तक का प्रदेश भी दिल्ली से उसी सिलसिले में लिया गया। उत्तर में उसने दिल्ली सल्तनत से अजमेर नरैना चाटसू आंबेर और खाटू के प्रदेश दखल कर वर्तमान शेखावाटी में खण्डेला तक धावे किए और डीडवाणा के नमक के आकरों से कर वसूल किया। दिल्ली के सैयदों और गुजरात वालों को तब मेवाड़ की सत्ता माननी पड़ी और उन्होंने महाराणा को छत्र भेंट कर हिन्दुआ सुल्तान का विरुद प्रदान किया (१४३७ ई०); जो तब से

मेवाड़ के महाराणाओं का विरुद चला आता है। अपनी इन पराजयों का प्रतिकार करने को मालवा गुजरात के सुल्तानों ने तैयारी कर १५४३-६० तक मेवाड़ पर अकेले अकेले और सम्मिलित रूप से चढ़ाइयां कीं, पर उन्हें सफलता न मिली।

मारवाड़ में राठौड़ राव रणमल के पुत्र जोधा को महाराणा ने गुजरात के मुस्लिम केन्द्र नागौर जालौर आदि के मुकाबले में सामन्त रूप में खड़ा किया था (१४५३ ई०)। नागौर का मुस्लिम केन्द्र पच्छिमी राजस्थान में राजनीतिक खुराफात का अड्डा बना हुआ था। कुम्भा ने (१४५६–५८ तक) उस पर तीन आक्रमण किए और अन्त में १४५८ में गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन की विडम्बना करते हुए राजस्थान में "शकों (मुस्लिमों, तुर्कों) के महावृक्ष को उस जड़ को, वहां का गढ़ ढहा, खाई को पाट और बड़ी मस्जिद समेत सारे नागौर शहर को जलाकर खाक और गोचर भूमि में परिवर्तित करके, जांगल देश से उखाड़ फेंका। मूल के नष्ट हो जाने पर दूर तक उसकी शाखाओं और पत्तों की तरह फैले अन्य मुस्लिम केन्द्र मानों अपने आप ही मुरझा गए और नष्ट हो गए। तभी महाराणा की सहमति से राव जोधा ने मंडोवर के समीप ही वर्तमान् जोधपुर की नींव डाली (१४५९ ई०) और जोधा के एक बेटे राव बीकाने उसके बाद (१४६५ई०) अपने लिए एक नए राज्य 'बीकानेर' की स्थापना की (१४६५–७२ ई०)।

उस प्रदेश में जोहियों (प्राचीन यौधेयों) का पंचायती राज्य किसी न किसी रूप में तब तक चला आता था, सो कहा चुका है। परन्तु उसमें जनपदभक्ति की भावना का धीरे धीरे लोप होकर वह अब एक तरह की निरंकुश कुलीनशाही (आलिगार्की) बन गया था। अतः जोहियों की साधारण जनता या प्रजा जाट आदि उनकी विरोधिनी हो रही थी। इसके अतिरिक्त जयसलमेर पूगल के भाटियों से भी जोहियों के संघर्ष चल रहे थे। राव बीका ने जाटों की नेतृ कर्णी (चारणी) की, जिसमें तब वहां कुछ अलौकिक शक्ति समझी जाती थी, सहायता से जाटों को अपने साथ मिला, जोहियों को परास्त कर और भाटियों का

उधर बढ़ना रोक धीरे धीरे वह सारा प्रदेश दखल कर लिया।

इसी प्रकार ढूंढाड़ में ग्वालियर-नरवर के कच्छपघात (कछवाहे) सामन्त दिल्ली के सुल्तान फीरोज शाह तुगलक के समय, उसके सामन्त रूप में तवरों द्वारा वह प्रदेश दखल कर लिया जाने (१३७५ ई०) पर चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में, वर्तमान अलवर राज्य के दक्खिन माचेड़ी, राजोरगढ़ थोसा के बडगूजरों के पास आ रहे थे। और बडगूजरों तथा आसपास के मीणा सरदारों से उनके इलाके छीन वहां धीरे धीरे अधिष्ठित हो रहे, यह कह चुके हैं। धोसा माचेड़ी के बड़गूजर दिल्ली के सुल्तान बहलोल लोदी के सामन्तों के रूप में १४६८ ई० तक मौजूद थे। महाराणा कुम्भा द्वारा १४३७-६० ई० तक समूचा ढूंढाड़ जीत लिया जाने के बाद कछवाहे अब वहां आम्बेर में मेवाड़ के सामन्त रूप में प्रतिष्ठित हुए। उसके उत्तर और बीकानेर के पूर्वोत्तर, वर्तमान शेखावटी से हिसार सिरसा तक का प्रदेश तब दिल्ली सल्तनत के अधीन, हिसार के किलेदार के नीचे था। वहां बहलोल लोदी द्वारा दद्रवे के चौहानों के एक वंशधर बालक को धर्म परिवर्तन के बाद कायम खां नाम से हिसार का हाकिम बनाया गया। उसके वंशधरों ने, झूंझणू वाटी (वर्तमान शेखवाटी) के प्रदेश में फतहपुर नाम से एक बस्ती बसा, वहां एक नई जागीर की स्थापना इसी युग में की। समूचा मेवात अहीरवात इस प्रकार तब देहली सल्तनत के अधीन था। दिल्ली के अधीन इन मुस्लिम रियासतों का मेवाड़ के इन सामन्तों और सहयोगियों से बराबर संघर्ष चलता रहा।

दक्खिन में उसी प्रकार आडा वला के दक्खिनी ढालों-मही के उपरले कांठे में स्थित बागड़ (डूंगरपुर) का गहलोत राज्य जो १३वीं सदी में गुजरात के चालुक्यों के सामन्त रूप में उठा और उनके पतन के बाद स्वतन्त्र हो गया था, भी अब मेवाड़ का सामन्त बन गया। आबू सिरोही तथा ईडर पर आधिपत्य स्थापित कर मेवाड़ वालों ने गुजराती मुसलमानों के विरुद्ध आडा वला के सभी नाकों की उधर पक्की मोरचा बन्दी कर दी। परन्तु आबू के पच्छिम दक्खिनी मारवाड़ में

जालौर का मुस्लिम थाना बना रहा। इस प्रकार महाराणा कुम्भा के नेतृत्व में मेवाड़ का यह नवोत्थित राज्य उत्तर भारत की प्रमुख शक्तियों में से एक बन गया।

राणा कुम्भा न केवल अपने पड़ोसी राज्यों से सन्धि विग्रह में ही चौकन्ना था, बल्कि उसने अपने समय के नए उठे राज्यों और उनके शासकों से अपने सम्बन्ध बनाने में भी, तत्परता दिखाई। कश्मीर के प्रगतिशील और उदार मुस्लिम राजा जैनलआबदीन से उसके सम्बन्ध अच्छे थे और उसने तथा उसके जामाता, काठियावाड़ में जूनागढ के यादव राजा मंडलीक ने जैनलआबदीन के राज्यारोहण पर उपहार लेकर अपने दूत भेजे थे। यह बात हमें समकालिक कश्मीरी कवि जोनराज कृत द्वितीय राजतरंगिणी से विदित होती है। इसी प्रकार दक्खिन में कर्णाटक के विजय नगर राज्य से भी उसका सम्पर्क कायम मालूम होता है। क्योंकि महाराणा स्वयं मराठी और कन्नड का अच्छा विद्वान था, और उसके रचे संगीतरत्नाकर की उपलब्ध एक मात्र प्रति, जो अब बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में है, कनाडी टीका के साथ ही उपलब्ध हुई है; और उसमें कनाडी टीकाकार ने महाराणा के सब विरुदों को अपने आश्रय दाता विजय नगर के राजा पर भी घटाने का प्रयत्न किया है।

§ १२. राजपूतों का उदय

महाराणा कुंभा केवल एक बड़ा विजेता और सुशासक ही नहीं अपितु एक बड़ा निर्माता, विद्याप्रेमी और सुसंस्कृत विद्वान भी था। मालवे के सुल्तानों पर पाई विजय का स्मारक रूप, चितौड़ में उसका बनवाया कीर्तिस्तम्भ, जो हिन्दू मूर्तिशास्त्र का पत्थर में तराशा गया विश्वकोष समझा जाता है, भवननिर्माण और मूर्तितक्षण कला का एक अनूठा नमूना है। इसी प्रकार उसके बनवाये कुंभलगढ़ और उसके पास कुंभस्वामी आदि के मन्दिर तथा उसी युग का बना राणपुर का जैनमन्दिर भी उस युग के राजस्थानी वास्तु (भवन निर्माण कला) के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। साहित्य नाटक संगीत ज्योतिष और वास्तु पर महाराणा कुंभा के रचे या अपनी देख रेख में लिखवाये अनेकों ग्रन्थ

उपलब्ध होते हैं; जिनमें उस युग के इतिहास की सामग्री भी बहुत प्रचुर मात्रा में है जिसका अध्ययन समग्र भाव से करने का अभी तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। महाराणा कुंभा संस्कृत, मराठी, कनाड़ी, मेवाड़ी आदि अनेक भाषाओं का ज्ञाता था और उन सब में रचना का भी उसे शौक था। उसे इतिहास का भी शौक था और उसने पिछले युग में तुर्क आक्रमणों के कारण नष्टभ्रष्ट विस्मृत और विलुप्तप्राय मेवाड़ के पुराने गुहिलपुत्र राजाओं की वंशावली को अभिलेखों, दानपत्रों और प्रशस्तियों आदि की खोज अध्ययन द्वारा शुद्ध कराने का जतन भी किया था, यह बात हमें उसके कुंभस्वामी के मन्दिर की प्रशस्ति तथा एकलिंग माहात्म्य आदि से प्रकट होती है। इस रूप में उसे पुरातत्व संशोधन की वर्तमान आलोचनात्मक और तुलनात्मक वैज्ञानिक पद्धति का राजस्थान में यूरपी विद्वानों से भी बहुत पहले और प्रथम प्रवर्तक कहना चाहिए।

ऐसा मालूम होता है कि महाराणा ने नष्टप्राय प्राचीन या मध्यकालीन, सब तरह की हिन्दू परम्पराओं और सामाजिक संस्थाओं के आदर्शों को पुनरुज्जीवित करने का जतन किया हो। तुर्कों के विरुद्ध प्रथम सफल विद्रोह करने और उत्तर भारत में, सर्वप्रथम, उनसे स्वतन्त्र, एक प्रबल और अग्रसर हिन्दू राज्य की स्थापना करने के कारण मेवाड़ राज्य, और भारत के हिन्दुओं का नेता बना हुआ था। अतः दक्खिन के विजय नगर राज्य की तरह यहाँ भी हिन्दू-संस्कृति, विद्या, कला और समाजादर्शों को पुनरुद्धावित करने का प्रयत्न हुआ हो, यह स्वाभाविक है। इस सिलसिले में हिंदू समाज व्यवस्था के आदर्श-वर्णव्यवस्था की पुनः स्थापना के विचार के समय क्षत्रिय वर्ण के पुनः संगठन के आन्दोलन का विचार भी काम कर रहा होगा। तेरहवीं सदी के अन्त में तुर्क विजय के कारण गुजरात राजस्थान के सब पुराने राजा या सामन्त वर्ग अधिकारच्युत हो चुके थे। उनके वंशधर, कुलाभिमान के कारण अपने को तब राजपुत्र कहकर परिचय देते रहे होंगे। मेवाड़ के झण्डे तले एकत्र होने वाले ऐसे अनेक राजपुत्रों या राजवंशियों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। स्वभावतः ही उनमें समान कुलशील वालों से ही विवाह सम्बन्ध आदि

करने की प्रवृत्ति रही होगी; और उनकी वास्तविकता की पहचान की आवश्यकता अनुभव होती रही होगी। इस प्रकार राजस्थान के क्षेत्र में उस समय तक ज्ञात प्राचीन राजवंशों की गिनती की गई और राजपूतों के छत्तीस कुलों की संख्या अन्तिम रूप से प्रसिद्ध हुई। राजपूतों की विशिष्ट जाति का विचार हम पहले पहल इसके बाद ही पाते हैं।

राणा कुम्भा को अन्तिम अवस्था में (१४६० ई० के बाद) उन्माद रोग हो गया था। उसी दशा में उसके बड़े लड़के उदयसिंह द्वारा राज्य लोभ से १४६८ में उसका खून हो गया। उदयसिंह ने मेवाड़ की जनता और सरदारों के कोप से बचने के लिए पड़ोस के सामन्त राज्यों तथा शत्रुओं को, गुजरात-मालवा और दिल्ली की मुस्लिम सल्तनतों को, मेवाड़ के अनेक इलाके देकर उनकी सहायता से अपना पक्ष मजबूत करना चाहा। इस गड़बड़ी में मेवाड़ की शक्ति को काफी धक्का लगा और मारवाड़ के जोधपुर बीकानेर तथा अजमेर ढूंढाड़ आदि के प्रदेशों पर मेवाड़ का नियन्त्रण कुछ शिथिल पड़ गया। पर पितृघाती और राष्ट्रद्रोही उदयसिंह मेवाड़ की गद्दी को अधिक दिन कलंकित न कर पाया। सरदारों और जनता ने विद्रोह कर महाराणा के दूसरे पुत्र रायमल को, जो अपनी ननिहाल ईडर में रहने लगा था, मेवाड़ की गद्दी पर ला बिठाया। (१४७३ ई०)।

रायमल का सारा समय इस अन्तःकलह के धक्के से बिखरी मेवाड़ की शक्ति का संगठन करने, मेवाड़ के अतरंग शासन तन्त्र के ढांचे, राजपूतों की सामन्त प्रणाली, को एक रूप देने, तथा चारों तरफ से मेवाड़ के झंडे तले एकत्र होने वाले झाला सोलंकी परमार डोडिये आदि वंशों के राजपुत्र सरदारों को, जो तुर्क आक्रमण आदि के कारण अधिकार भ्रष्ट हो, इधर उधर भटकने के बाद, मेवाड़ के नेतृत्व में तुर्कों से संगठित मोर्चा लेने या जीविका की खोज में, वहां एकत्र हो रहे थे, जमाने आदि में ही बीता। तो भी उसने अपने शासन के अन्तिम दिनों तक उत्तर में अजमेर आंबेर टोड़ा और दक्खिन में सादड़ी मन्दसौर आदि मेवाड़ के अनेक गये हुए इलाकों पर वापिस कब्जा कर लिया

और डूँगरपुर ईडर, सिरोही आदि के राजाओं को फिर से अपना वशवर्ती बनाया।

मारवाड़ के राव जोधा ने अपनी लड़की शृङ्गारदेवी का विवाह उससे कर के मेवाड़ से अपना मेल बनाये रक्खा, बीकानेर का संस्थापक राव बीका उसका साला था ही और सिरोही का राव भी महाराणा की कन्या से विवाह हो जाने के कारण मेवाड़ के प्रभाव में रहा। इस प्रकार राजस्थान के प्रायः सभी राजपूत राज्य मेवाड़ को तब अपना अगुआ और मुखिया मानते रहे। एवं मालवा का खलजी और गुजरात की टाक आदि मुस्लिम सल्तनतें उससे दबी रहीं, मेवाड़ में दखल देने या उससे छेड़ छाड़ करने की वे प्रायः हिम्मत न कर सकीं।

परिशिष्ट १.

राजपूत जाति की उत्पत्ति

कर्नल जेम्स टाड ने अंग्रेजी राज कायम होने के समय राजपूतों को एक जात के रूप में संगठित पाया और उन्हें अपने (अंग्रेजों) के शत्रु मराठों मुगलों आदि से तोड़ कर अलग करने तथा अपने समान उन्हें भी भारत की जनता से भिन्न एक विदेशों से आई बाहरी विजेता शासकों की विशिष्ट जाति के रूप मे बता, उनकी कुलीनता के मिथ्याभिमान को बढ़ाने की नीयत से, राजस्थान के जन सामान्य से ही निकले यहां के इस पुराने शासक वर्ग को जनता से अलग रूप में चित्रित करने का जतन किया। तब से अंग्रेज विद्वानों और उनके अन्धानुयायी कतिपय भारतीयों ने, उनके विदेशीपन—यवन शक या हूण मूलकता, की कल्पना गढ़ ली और हर्ष के बाद उठने वाली सब भारतीय राजवंशों को राजपूत बना दिया। चन्द बरदाई के पृथ्वीराज रासो को जो कि १६ वीं-१७ वीं सदी की कृति है, इन विद्वानों ने १२ वीं सदी का मान कर, उसमें वर्णित आबू में वसिष्ठ के यज्ञ कुण्ड से निकले अग्निकुल वंशी क्षत्रियों की कथा के आधार पर राजस्थान के चावड़ा, परमार, राठौड़ सोलंकी आदि राजवंशों को, उन्होंने विदेशी मूलक करार दिया।

परन्तु श्री पं० गौ० ही० ओझा ने अपने राजपूताने का इतिहास नामक पुस्तक में इसका विस्तार से खंडन किया है और दिखाया है कि राजपूत शब्द एक जाति वाचक रूप में साहित्य या अभिलेखों आदि में १६ वीं सदी से पहले कभी प्रयुक्त नहीं हुआ; और कि तथाकथित ये राजपूत वंश किसी विशेष जाति के नहीं हैं, न उनमें से अधिकांश वंशों का उद्भव यवन शक या हूण मूलक है। अग्निकुल की कथा भी अर्वाचीन है और पृथ्वीराज रासो तथा भाटों की अन्य ख्यातें प्रायः १६ वीं सदी के बाद की रचनाएं हैं, जो सर्वथा मन गढ़न्त और अप्रमाणिक हैं (रा० इ. जि. १ पृ. ४१–९२)।

पुरानी समसामयिक अरबी या फारसी तवारीखों में भी राजपूत शब्द का प्रयोग १६ वीं सदी से पहले कहीं नहीं मिलता और कश्मीर के संस्कृत काव्येतिहास, कल्हण कवि कृत राजतरङ्गिणी में, जो १२ वीं सदी की रचना है, इस शब्द का इस अर्थ में कहीं प्रयोग नहीं है। उसके परिशिष्ट अकबर युग तक लिखे जाते रहे थे, जिनमें से अन्तिम प्राज्यभट्ट कृत परिशिष्ट में राजपूत शब्द जातिवाचक रूप में पहले पहल १६वीं सदी में अकबर द्वारा कश्मीर विजय के प्रसंग में बीकानेर के राजा रायसिंह और उसके सैनिकों के लिए प्रयुक्त हुआ है।* इससे स्पष्ट है कि इससे

*यह और महाराणा कुंभा तथा उसके जमाई काठियावाड़ में जूनागढ़ के नवाबों के पूर्वज, राजा मंडलीक द्वारा कश्मीर के उदार मुस्लिम सुल्तान जैन-उल-आबदीन को राज्यारोहण के समय, उपहार भेजा जाना, इन दोनों महत्वपूर्ण सूचनाओं के लिए, लेखक अपने परम मित्र और सहयोगी श्री अमृतपाल जी वेदालंकार का कृतज्ञ है। भारतीय इतिहास परिषद् द्वारा आयोजित और सर जदुनाथ सरकार द्वारा संपादित होने वाले भारतीय राष्ट्र के इतिहास की १२ वीं जिल्द "अकबर का जमाना" के कश्मीर वाले अध्याय की, जो कलकत्ता यूनीवर्सिटी के एक अध्यापक द्वारा लिखा गया था और जो—जैसा कि इस युग के अधिकांश इतिहास लेखकों ने किया है—सिर्फ फारसी तवारीखों की

पूर्व के युगों में राजपूत नाम की किसी जाति का उल्लेख करना और हर्ष के बाद उठे प्रतिहार राष्ट्रकूट आदि वंशों को राजपूत कहना भ्रम-मूलक है। अतः इस आधार पर की गई भारतीय इतिहास की सारी व्याख्यायें गलत हैं।

रासो और अन्य भाटों की वंशावलियों में राजपूतों के छत्तीस कुलों की जो सूचियां दी गई हैं, उनमें बारहवीं सदी के भारत के साम्राज्य वंशी कन्नौज के गाहड्वालों का कहीं नाम भी नहीं है। अतः स्पष्ट है कि ये वंशावलियां और सूचियां उस युग की हैं, जब राजस्थान में लोग गाहड्वालों के अस्तित्व की बात भी भूल गए थे और मारवाड़ का नवो-स्थित राठौड़ वंश, इतिहास के ज्ञान के अभाव में, अपने को सम्राट् जयचन्द्र का वंशज कहने और इस कारण जयचन्द्र आदि कन्नौज के अन्तिम सम्राटों को राठौड़ समझा जाने लगा था।

राजपूतों के उद्भव तथा गाहड्वालों के राठौड़ प्रसिद्ध होने आदि की कपोल कल्पनाओं का भंडाफोड़ विस्तार से हम फिर किसी दूसरे अवसर पर करेंगे। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि राजस्थान के राजपूत, महाजन, जाट, माली, ब्राह्मण पुष्करणे गूजर अहीर आदि सब एक ही जाति के हैं, जिसे हम यहां राजस्थानी जाति नाम देते हैं। यवन शक हूण आदि विदेशी तत्व उनमें मिल जुल भले ही गये हों पर कि, ये या इनमें से कोई समूचे जड़मूल से ही उन विदेशी आक्रान्ताओं के वंशज हैं; कि राजपूत शासकों की कोई विशिष्ट जाति है, जो जाटों महा-जनों आदि से भिन्न रूप की हो, यह सर्वथा भ्रम मूलक वाद है जो केवल प्रचार के लिए गढ़ा गया है।

वृत्ति (Paraphrasing) मात्र था, राजतरंगिणियों की इस सम सामयिक स्वतंत्र सामग्री से तुलना करते समय उन्होंने लेखक का ध्यान इन दोनों बातों की तरफ खींचा था; और ये दोनों सूचनाएँ आज लेखक द्वारा यहां पहले पहल इस रूप में प्रकाशित की जा रही है।

चौथा अध्याय

अर्वाचीन राजस्थान--(१) सांगा-प्रताप-दुर्गादास-युग

(१५०६--१७२० ई०)

§ १. सांगा का नेतृत्व

१५०६ में महाराणा रायमल का देहांत हुआ और उसका पुत्र संग्रामसिंह या राणा सांगा मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा। मालवे में तभी गयासशाह का देहान्त हुआ और महमूदशाह खिलजी २य (१५११) राजा हुआ तथा गुजरात में महमूद शाह बेगड़ा का पुत्र मुजफ्फरशाह २य गद्दी बैठा। मेवाड़ की राजनीति में राणा सांगा के गद्दी पर बैठते ही, एक नवीन स्फूर्ति और प्रखरता प्रकट होने लगी। मारवाड़, बीकानेर, आंबेर आदि राजपूत राज्यों से अपने संबन्ध दृढ करने के बाद उसने दिल्ली के लोदियों से बयाना धौलपुर और ग्वालियर के प्रदेश छीन लिए, और आगरे के पास पीलियाखाल तक अपनी राज्य सीमा पहुंचादी। फिर मालवा की राजनीति में दखल दे दिल्ली, गुजरात और मालवा की सम्मिलित शक्तियों को परास्त कर उसने समूचा उत्तरी मालवा और चंदेरी दखल कर लिया।

पूरब में मेवाड़ के राजपूत राज्य की सीमा तब बांधोगढ़ और भोपाल-रायसेन तक जा पहुँची। राणा सांगाने इसके बाद गुजरात पर भी चढ़ाइयां की, और ईडर-अहमदनगर-बड़गांव तक का प्रदेश गुजरातियों से छीन लिया। लेकिन दक्खिनी मारवाड़ में जालौर का प्रदेश गुजराती सल्तनत के अधिकार में बना रहा। जोधपुर के राव गांगा ने उस पर भी चढ़ाई की, पर सफलता न मिली। मारवाड़ में राव जोधा के बाद (१४८८ ई०) सांतल (१४९२ ई०) और सूजा (१५१५ ई०)

के समय जोधपुर राज्य उत्तरोत्तर उन्नति करता रहा था और मेवाड़ से उसका सहयोग बराबर बना था। सांगा ने राव गांगा से उस संबन्ध को और दृढ़ किया और गुजारात दिल्ली तथा मालवा की सल्तनतों के साथ संघर्ष में उसे अपना सहयोगी बनाये रक्खा। मारवाड़ से उत्तर बीकानेर राज्य भी तरक्की पर था और राव बीका ने १४८८ में बीकानेर की स्थापना कर अपनी राज्यसीमा उत्तर में सिरसा-हिसार तक पहुँचा दी थी। अपने पूरब कायमखानों तथा हिसार-रेवाड़ी के नवाबों से उसका संघर्ष बराबर चल रहा था। बीका की फौजों ने उधर रेवाड़ी तक अपने हमले किये थे। मेवाड़ राज्य के संवन्ध इन दोनों राज्यों से अच्छे बने रहे; मेवाड़ के महाराणा को वे अपना मुखिया और नेता मानते। पच्छिमी राजस्थान को तुर्क-मुस्लिम शासन से मुक्त कराने में उस युग में उन्हों ने बहुत बड़ा हिस्सा लिया।

महाराणा सांगाने, राव बीका (१५०० ई०) के बाद-राव लूणकरण को अपनी बहन विवाह कर (१५१४ ई०) उस राज्य से अपना संबन्ध और पक्का किया। राव लूणकरण ने इसके बाद जयसलमेर पर हमला कर उसे भी राजपूतों के संघ में शामिल कर लिया। उसने उत्तर चायल-वाड़ा (सिरसा प्रदेश) तथा पूरब फतहपुर नागौर नारनौल रेवाड़ी आदि दिल्ली सल्तनत के प्रदेशों पर भी हमले करने शुरू किये और उसी सिल-सिले में १५२६ ई० में रेवाड़ी पर आक्रमण करते हुए युद्ध में उसका देहांत हुआ।

तब सांगा का भतीजा जैतसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा। राजस्थान के उत्तर पंजाब की परस्थिति इस समय बड़ी अस्तव्यस्त थी और उत्तर-पच्छिम से मुगलों (बाबर) के रूप में तुर्कों के नये हमले का आतंक वहाँ छा गया था। राणा ने जैतसिंह को मदद दे कर सिरसा पर उसका अधिकार पक्का करा, राजस्थान की नाकेबंदी उधर भी दृढ़ करली। अविधेय जोहियों का राज्य तब वहां अन्तिम रूप से समाप्त हो गया और

उनके सरदार तिहनपाल * नाथामल † आदि भाग कर लाहौर के मुस्लिम शासकों की शरण में चले गये। जोहियों ने इसके बाद इसलाम ग्रहण करलिया।

आंबेर में महाराणा सांगा का समकालिक राजा पृथ्वीराज कछवाहा मेवाड़ का सामन्त था और बूंदी डूंगरपुर प्रतापगढ़ और ईडर के प्रदेश तो पूर्णतः मेवाड़ के आधिपत्य में थे ही। मेवाड़ राज्य में इस प्रकार तब, दक्खिनी मालवे (प्राचीन आनूप देश या आधुनिक नीमाड़) को छोड़ समूचा राजस्थान समा गया था और उसके बाहर के भी कई प्रदेशों पर उसका अधिकार था। पच्छिमी भारत की तो वह तब एकमात्र प्रमुख्य शक्ति था ही अब वह उत्तर भारत की भी मुख्य शक्ति के रूप में सामने आया। मांडू की सल्तनत अब नाम को बची थी और गुजरात को तब मेवाड़ से बराबर दबना पड़ रहा था। पूरब में जौनपुर की शर्की सल्तनत का तब अंत हो चुका था और दिल्ली के लोदी सुल्तानों की भी दुरदशा थी। महाराणा चाहता तो उस पर हमला कर आसानी से भारत का सम्राट् बनने का अवसर उसके सामने था। परन्तु इसके लिए जिस ऊँचे आत्म-विश्वास और हिम्मत की आवश्यकता थी वह शायद गत पाँच सौ वर्षों से लगातार तुर्कों के विरुद्ध सिर्फ रक्षापरक युद्ध ही करते रहने से, उस युग के राजपूतों में शेष न रह सकी थी। अतः सांगा ने स्वयं दिल्ली की ओर प्रयाण न कर काबुल में तैमूर के वंशधर बाबर को, जो मध्य एशिया में फरगाना-समरकन्द (प्राचीन सुग्ध देश) का अपना खानदानी राज्य खोकर वहाँ बैठा, हिन्दुस्तान के समृद्ध परन्तु राजकीय दृष्टि से असंघटित प्रदेशों की तरफ अपनी ललचाई निगाहें डाल रहा था, कुछ अन्य लोगों की तरह ही भारत आक्रमण का निमन्त्रण भेजा और कहलाया कि दिल्ली सल्तनत पर दोनों एक साथ हमला करें, और कि बाबर पंजाब-दिल्ली

---

* पाउलेट कृत गज़ेटियर आफ राजपूताना पृ०, १३।

† मुंसी सोहनलाल की ख्यात पृ०, १०६।

तक का कब्जा ले तथा राणा आगरा और ठेठ हिन्दुस्तान प्रदेश अपने राज्य में मिला ले।

दुरभिमानी सुल्तान इब्राहीम लोदी के दुर्व्यवहार से उसके अनेक पठान सरदार नाराज थे और उनमें से भी दो बाबर के पास मदद लेने पहुँचे थे। बाबर के चढ़ाई करने पर इब्राहीम लोदी ने पानीपत पर उसका मुकाबला किया (१५२६ ई०)। तोपों बन्दूकों के नये हथियारों और नये सामरिक कौशल के सामने पठानों की बहादुरी काम न दे सकी। इब्राहीम मारा गया और दिल्ली पर बाबर का दखल हो गया।

६२. सोलहवीं सदी का असफल यशोधर्मा

भारत में तुर्कों का शासन, तुगलकों के अन्त (१४१४ ई०) के बाद प्रायः सर्वत्र समाप्त हो गया था। उसके बाद जो प्रादेशिक राज्य उठे उनके नेता प्रायः सब जगह भारतीय–हिन्दु या हिन्दी मुसलमान–थे। ध्यान रहे कि पठान लोग भी वैदिक काल से भारत के सीमान्त पर रहते आये हैं, इसलिए उन्हें भी हमें विदेशियों में नहीं प्रत्युत भारतियों में ही गिनना चाहिये। पठानों के एक बड़े अंश ने पिछली दो-तीन शताब्दियों से अरब तुर्क आदि विदेशियों का मुकाबला जारी रक्खा था। बाबर के दिल्ली विजय से उत्पन्न इस नये तुर्क आतंक को देख वे कुछ समय के लिए अपने आपसी झगड़े भूल, उन नये विदेशियों का मुकाबला करने की भावना से प्रेरित हो तैय्यारी करने लगे। पूरब के पठानों ने अपना पूरबी दल बनाकर पटना के लोहानियों के नेतृत्व में एक स्वतंत्र राज्य खड़ा किया और कन्नौज तक दखल कर लिया। वे वहां नवागन्तुक तुर्कों का सामना करने को सन्नद्ध होकर बैठ गये। पच्छिम में हसनखां मेवाती के नेतृत्व में उनका दूसरा दल बना। इसने इब्राहीम के भाई महमूद लोदी को दिल्ली का सुल्तान घोषित कर बाबर से लोहा लेने की तैय्यारी की।

बाबर के दोआब लेने पर हसनखां और महमूद लोदी वाला पच्छिमी दल, जिसका आधार राज्यस्थान में मेवात का प्रदेश ही था, राणा सांगा से जा मिला। उत्तर भारत के अधिनायकत्व के लिए तब राणा सांगा और बाबर एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो उठे। उम्र में सांगा बाबर से एक साल बड़ा था। आगरे से आगे जमना के दक्खिन कदम बढ़ाते ही बाबर की राणा से सीधी ठन गई। दिल्ली सल्तनत का वह प्रदेश सांगा ने कुछ ही बरस पहले लोदियों से छीना था। पर राणा वहां के शासन में कोई रद्दोबदल न कर सका था। किलेदार सब पुराने थे; वे राणा की उच्चतर सैनिक शक्ति के कारण ही उसकी अधीनता मानने को विवश थे। बाबर ने उन्हें आसानी से खरीद लिया और दोआब में उत्तर की ओर, राजस्थान से दूर, उन्हें बड़ी बड़ी जागीरें दे, उस इलाके में सर्वत्र अपने आदमी किलेदार के रूप में नियत किये। इस प्रकार बयाना धौलपुर ग्वालियर आदि के प्रदेश बिना लड़े ही आसानी से तुर्कों के हाथ लग गये।

महाराणा ने तेजी से आगे बढ़ बयाना वापस ले लिया। तब बाबर महाराणा के मुकाबले को आगरे से बढ़कर सीकरी आया। उसकी हरावल का खानवे के पास राणा के राजपूतों से पहला मुकाबला हुआ। राजपूतों के अद्भुत रणशौर्य को देख तुर्क सेना में त्रास फैल गया और बाबर का दिल भी दहल उठा। उसने शराब छोड़ने का प्रण कर अपनी और सेना की धार्मिक भावना को उत्तेजित किया और महाराणा को संधि वार्ता में फंसा युद्ध की तैयारी के लिए एक मास का अवसर ले लिया। खन्दकें खुदवा सेना के सम्मुख बीचोंबीच सात सौ यूरपी तोपों को चमड़े के रस्सों में कसवा दिया गया और प्रत्येक दो तोपों के बीच बड़ी बड़ी चमड़े की ढालों की ओट में बन्दूकची तैनात किये गये। उनके दोनों बाजू घुड़सवार फौजें दुश्मन के केन्द्र के तोपों द्वारा ध्वस्त होते ही बाजुओं पर हमला करने को तैय्यार रक्खी गयीं।

इस सब तैयारी के बाद १७ मार्च १५२७ को खानवा के तंग मैदान में भारत के राजमुकुट की भाग्यनिर्णायक लड़ाई आरम्भ हुई। महाराणा सांगा की सेना में लड़ने के लिये समस्त राजस्थान की सेनाओं के अतिरिक्त ठेठ हिन्दुस्तान और बुन्देलखंड तक के राजपूत स्वयं-सेवक सैनिक इकट्ठे हुए थे और हसनखां मेवाती तथा मुहम्मद लोदी के साथी पठान भी अपने सामान्य शत्रु विदेशी तुर्कों से देश की रक्षा करने को एकत्र थे।

दल के दल राजपूत सैनिक मुगलों की आग बरसाने वाली तोपों की उस दीवार पर टूटने और उसे छितरा देने का व्यर्थ जतन करने लगे। महाराणा स्वयं हाथी पर चढ़ रणसंचालन कर रहा था। एक तीर माथे पर लगने से उसे मूर्छा आगई तो राजपूतों ने उसे पालकी में डाल रणक्षेत्र से हटाने की व्यवस्था की और सादड़ी के झाला सरदार अजा के सिर पर छत्र लगा कर उसके नेतृत्व में युद्ध करने लगे।

इस प्रकार राजस्थानियों की जब पूरी सेना युद्ध में लग गई तो मुगलों की सुरक्षित (रिजर्वड) सेना ने दोनों बाजुओं से बढ कर शत्रु की चंदावल पर हमला कर उन्हें चकित कर दिया। लड़ाई की यह चाल तुर्कों ने मध्य-एशिया के मंगोलों से सीखी थी और बाबर को इसी से मात खा कर समरकन्द का मुकुट खोना पड़ा था। यहां उसी के प्रयोग द्वारा उसे हिन्दुस्तान का तख्त नसीब हुआ। झाला अजा हसनखां मेवाती तथा महाराणा के बड़े लड़के भोजराज के श्वसुर और मीराबाई के पिता रतसिंह राठौड़ आदि सरदार और अनेकों राजपूत शूरमा युद्ध में काम आये (१५ मार्च १५२७ ई०)।

सांगा को बसवा (बांदीकुई के पास) आ कर होश आया। युद्ध का परिणाम सुन वह रणक्षेत्र से अपने को हटालाने वालों पर बहुत झुंझलाया और बाबर को बिना परास्त किये चित्तौड़ वापस लौटने से उसने इन्कार कर दिया।

सांगा की इस तैयारी के कारण खानवा की उस जीत के बावजूद बाबर को मेवाड़ पर सीधे आक्रमण की हिम्मत न हुई। उसने पहले राजस्थान के पूरवी बाजू मालवे को लेने और इस प्रकार मेवाड़ राज्य का संबन्ध ठेठ हिन्दुस्तान और पूरब से काट देने का निश्चय किया। चंदेरी का मेदनीराय उस तरफ मानों महाराणा सांगा का दायां हाथ था। जनवरी १५२८ में बाबर चंदेरी लेने बढ़ा। महाराणा भी फिर जमना पर ही उसका रास्ता छेंकने के लिए काल्पी तक गया। पर राजपूत सरदार, जो अधिकांश में किसी ऊंची प्रेरणा के कारण नहीं बल्कि अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं—अच्छी जागीर, उच्चपद, सम्मान आदि पाने की लालसा जैसे तुच्छ विचारों से, महाराणाके झंडे तले एकत्र हुए थे, अब भीतर ही भीतर युद्ध की कठिनाइयों से कतरा रहे थे। उन्हें जब महाराणा को युद्ध से विरत करने का और कोई उपाय न दीखा, तो कालपी के आगे इरिच के मुकाम पर, विष प्रयोग द्वारा अपने उस महान नेता के प्राण हरण कर, उन्होने अपनी पाप अभिसंधियां पूर्ण कीं।

बाबर ने चंदेरी ले लिया और मेदनीराय के वीरों ने मेवाड़ से मदद न मिलने की दशा में अकेले ही जूझ कर आत्म बलिदान किया (२९ जनवरी १५२८ ई)। ३० जनवरी १५२८ को महाराणा सांगा का देहांत कालपी में हुआ। बाबर इसके बाद चंदेरी के दक्खिन महाराणा के दूसरे प्रबल सहयोगी रायसेन के पंवार सरदार सलहदी से भेलसा रायसेन सारंग-पुर आदि पूरबी मालवा के किले ले लेना चाहता था। पर तभी पूरबी अफगान दल द्वारा अवध से मुगल सेना खदेड़ देने और कन्नौज ले लेने के समाचार मिले। अतः उसे कन्नौज की तरफ लौट जाना पड़ा।

खानवा की पराजय और महाराणा सांगा के इस प्रकार एकाएक स्वर्गवास होने से, मेवाड़ के गौरव को बड़ा धक्का लगा और उसके साम्राज्य के अनेक अंगों में अलग होने की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी। सांगा का बड़ा बेटा और प्रसिद्ध हिन्दी भक्त कवित्री मीरा बाई का पति

भोजराज महाराणा के जीवन काल में ही मर गया था, अतः मेवाड़ की गद्दी पर उसका दूसरा लड़का रत्नसिंह बैठा। मालवे में मांडू के सुलतान महमूद खिलजी २य ने अपने छिने हुए इलाके मेवाड़ से वापस लेने चाहे। पर महाराणा रत्नसिंह के सामने उसकी एक न चली। गुजरात के सुल्तान वंश का एक लड़का बहादुर सांगा के समय अपने भाइयों के डर से चित्तौड़ में शरणागत रहा था। सांगा की माता ने उसे अपने छोटे बेटे की तरह माना था। वह अब (१५२६ ई० से) गुजरात का सुल्तान था। रत्नसिंह ने उस से मिल मालवे के बचे हुऐ अंश को भी जीत कर आपस में बांट लिया (१५३० ई०)।

उधर इसी समय बाबर का देहांत हुआ और उसका लड़का हुमायूँ दिल्ली के तख्त पर बैठा (१५३०ई०)। उसके बाद ही बूंदी के देशद्रोही हाड़ा सरदार को, जो सांगा की दूसरी रानी हाड़ी कर्मवती का भाई और उसके पुत्रों विक्रमादित्य और उदयसिंह का तरफदार था और अपने भानजे विक्रमादित्य को सिंहासन दिलाने के लिए मेवाड़ के शत्रु मुगलों—बाबर—से, रणथभोर का प्रदेश उन्हें देने आदि की सांठगांठ कर रहा था, दंड के लिए शिकार के मिस बुलाकर महाराणा रत्नसिंह ने मरवाना चाहा और उसके साथ द्वन्द्व युद्ध करते हुए स्वयं भी मारा गया (३० जन० १५३२ ई०)। दूसरे साल जोधपुर में उसके मामा और राणा सांगा के दूसरे एक सहयोगी और साले राव गांगा का भी उसके अपने पुत्र मालदेव के हाथों खून कर दिया गया (९ मई १५३२)।

बहादुर शाह को तब बढ़ने का मौका मिला। विक्रमादित्य के छिछोरे स्वभाव से अप्रसन्न होकर सांगा के साथी मेदनीराय आदि मालवा-मेवाड़ के अनेक सरदार, जो संभवतः विदेशी, मुगल आक्रन्ताओं के विरुद्ध इधर एक दृढ़ मोर्चाबंदी कर लेना चाहते थे, बहादुरशाह से जा मिले। बहादुर ने मेवाड़ के सरदार सलहदी को अपने वश में कर पूरवी मालवे के रायसेन आदि दुर्गों पर अधिकार करने के बाद

विक्रमादित्य को चित्तौड़ की लड़ाई में हरा, समूचा मालवा और उत्तर में रणथंभोर तथा अजमेर तक के प्रदेश मेवाड़ वालों से छीन लिए। अगले वर्ष चित्तौड़ पर चढ़ाई कर उसने उसे भी लूटा (१५३५ ई०)। पर बादशाह हुमायूँ के सामने,जो तभी मालवा लेता हुआ उज्जैन से मंदसौर होकर उसके पीछे पीछे मेवाड़ की ओर बढ़ा आ रहा था, उसे भागना पड़ा और बाद में पुर्तगालियों से झगड़ा हो जाने के कारण वह उनके हाथ धोखे से मारा गया।

गुजरात और मालवा इस प्रकार बिना लड़े ही मुगलों के हाथ आये। मुगलों ने इस बीच उत्तरपूरबी राजस्थान में अलवर मेवात आंबेर सांभर और नागौर तक दखल कर लिया था। बाबर के दूसरे बेटे मिर्जा हिन्दाल ने, जिसे बाबर का देहान्त होने पर पंजाब-काबुल-कश्मीर का राज्य मिला था, पंजाब से दक्खिन बढ सिरसा भटनेर आदि ले, बीकानेर पर भी हमला किया। पर वहां राणा सांगा के भानजे और सहयोगी राव जैतसी से हार कर उसे लौट जाना पड़ा।

§ ३. मालदेव, शेरशाह सूर और राणा उदयसिंह

उधर जोधपुर में राव मालदेव ने मेवाड़ मालवा और गुजरात आदि की इन बड़ी बड़ी घटनाओं के समय अवकाश पाकर, अपनी शक्ति काफी संघटित कर ली। तभी बिहार में सहसराम का जागीरदार एक पठान सरदार फरीद शेरखां एक बड़ी सेना एकत्र कर हुमायूं को हिन्दुस्तान से खदेडने में सफल हुआ, और शेरशाह सूर के नाम से हिन्दुस्तान का बादशाह बन बैठा।

मेवाड़ की गद्दी पर तब विक्रमादित्य का छोटा भाई राणा उदयसिंह था। अंतः कलह नाबालगी आदि के कारण मेवाड़ की शक्ति अब बहुत कमजोर पड़ चुकी थी। राजपूतों का असली नेतृत्व तब मारवाड़ का राव मालदेव करता था। उसने, जब बहादुरशाह और हुमायूं मालवा-गुजरात के आधिपत्य के लिए झगड़ रहे थे,मेड़ता अजमेर (१५३५ ई०) और

मुगलों से नागौर (१० जन० १५३६) ले लिये; और १५३८ ई० में सिवाणा और जालौर लेकर मारवाड़ राज्य की दक्खिनी सीमा-मारवाड़ी भाषी प्रदेश के उस छोर तक पहुँचाने का भी जतन किया। पर वर्तमान पालनपुर के संस्थापक पठान सरदारों के आगे उधर उसे बिशेष सफलता न मिली। फिर जब शेरखां मुगलों को दिल्ली और पंजाब से भी खदेड़ शेरशाह के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा (२४ जनवरी १५४२ ई०) तो उसने नागोर से उत्तर तेजी से बीकानेर की तरफ बढ़ बीकानेर भटनेर और सिरसा तक का प्रदेश दखल कर राजस्थान के पच्छिमी और उत्तरी सीमान्तों की भी नाकेबन्दी दृढ करली।

बीकानेर का राव जैतसिंह युद्ध में मारा गया। उसका लड़का आसकरण तब मालदेव के विरुद्ध मदद लेने शेरशाह के पास पहुँचा।

मालदेव ने पूरब में मुगलों से अजमेर सांभर और ढूँढाड़ छीन मेवाड़ के उत्तर बनास का समूचा निचला कांठा ले अपनी सीमाएँ चंबल तक पहुचा दी थीं। अब उसने शेरशाह के आगे आगे भागते बादशाह हुमायूं को, जो तब भक्खर (सिंध) में था, अपने साथ मिल शेर शाह पर मालवे से उत्तर गवालियर पर चोट करने को आमंत्रित किया। पर हुमायूं ने पहले तो उसपर ध्यान न दिया, बाद में जब दिया तब तक शेरशाह चौकन्ना हो चुका था। उसने गवालियर ले मालवे तथा सिंध में चौतरफ मालदेव की रोक थाम का बन्दोबस्त कर और स्वयं भी एक बड़ी सेना के साथ राजस्थान में डीडवाणे तक घुस आकर मालदेव को विवश कर दिया। हुमायूं भक्खर से बहावलपुर के रास्ते पूंगल बीकानेर होकर मारवाड़ में फलोदी तक घुस आया था। पर मालदेव को अपनी सेना भेज उसे दक्खिन में उमरकोट थर पारकर की तरफ से राजस्थान की सीमा से बाहर खदेड़ देना पड़ा।

इसी दौड़धूप के दरम्यान २३ अक्तूबर सन् १५४२ ई० को ऊमरकोट में उसके एक लड़का पैदा हुआ जो आगे जलालुद्दीन अकबर के नाम से हिन्दुस्तान का बादशाह हुआ।

पूरवी मालवे में सांगाके सरदार सलहदी का पुत्र और राणा रत्नसिंह का विश्वासपात्र रायसेन का परमार सरदार पूरणमल बहादुरशाह और मुगलों के पतन के बाद फिर प्रबल हो उठा था। शेरशाह को डर हुआ कि कहीं सांगा और मेदनीराय की तरह मालदेव और पूरणमल मिलकर राजस्थान में उसकी प्रतिद्वन्द्विता में एक जबरदस्त शक्ति के रूप में न खड़े हो जांय। अतः उसने गवालियर से दक्खिन हट, सात महीने के कठिन घेरे के बाद रायसेन ले, समूचे मालवे पर पहले दखल कर लिया। तब वह दिल्ली से मरुभूमि के रास्ते मालदेव के विरुद्ध बढ़ा। बीकानेर का राव कल्याणमल सिरसा से आकर उससे मिल गया। मेड़ता का राव वीरमदेव भी, जो सांगा के बड़े बेटे भोजराज की पत्नि प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीरा का ताऊ (बड़ा बाप) और अन्तिम दिनों में उसका अभिभावक भी था और मालदेव ने जिसे खदेड़ कर मेड़ता और अजमेर दखल किये थे, शेरशाह के साथ सेना में था। मालदेव भी सेना के साथ जोधपुर से चलकर उसके विरुद्ध अजमेर तक आया।

करीब एक मास तक अजमेर से दक्खिन समेल और गर्री के मोर्चों पर शेरशाह और मालदेव की सेनाएं एक दूसरे के आमने सामने पड़ी रहीं। पर शेरशाह की उन भारतविजयिनी सेनाओं को मालदेव पर हमला करने की हिम्मत न पड़ी। शेरशाह ने तब छल से मालदेव के मन में अपने सरदारों के प्रति अविश्वास पैदा कर, लड़ाई जीतनी चाही। मालदेव धोखे में आ गया, पर सरदारों ने अकेले ही समेल के मोर्चे पर शेरशाह को युद्ध का वह मजा चखाया कि उसके मुख से अनायास ही निकल पड़ा कि "मुट्ठी भर बाजरी के पीछे मैं हिन्दुस्तान का राज इस मरुभूमि में खोने चला आया था।"

समेल की जीत के फलस्वरूप आबू जोधपुर अजमेर जहाजपुर आदि पर शेरशाह का अधिकार हो गया और मालदेव को दक्खिन-पच्छिम मारवाड़ के किलों की शरण लेनी पड़ी। शेरशाह ने वीरम को

जोधपुर का राज दिया और राव कल्याणमल ने बीकानेर का राज उस की सहातता से वापस पाया। चित्तौड़ के राणा उदयसिंह ने भी शेरशाह की अधीनता मानली। इस प्रकार समूचा राजस्थान शेरशाह के अधिकार में चला गया।

राजपूत राजा फिर आपस में मिल, कोई संघटित मोर्चा यहां न बना सकें, इसके लिए, शेरशाह ने अजमेर का सामरिक महत्व पहचान उसपर अपना सीधा अधिकार बनाए रखना स्थिर किया। भारत की केन्द्रिय या साम्राज्यशक्ति द्वारा इस नाके पर अधिकार रखने की नीति तब से आज तक बराबर चली आती है।

सामरिक और मुल्की इन्तजाम की दृष्टि से उपयुक्त और महत्व के केन्द्रों को पहचानने की शक्ति शेरशाह में अद्भुत थी। अजमेर की तरह पटना (प्राचीन पाटलिपुत्र) रोहतास (रोहित वस्तु) और प्राचीन इन्द्रप्रस्थ के स्थान पर शेरगढ़ (दिल्ली का पांडवों के किले के नाम से प्रसिद्ध, पुराना किला) आदि प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दू स्थानों का महत्व इस दृष्टि से पहचानने और वहां नयी किलेबन्दी कर उन स्थानों के उद्धार का श्रेय उसे है। देश की शासन व्यवस्था में भी इसी प्रकार उसने यहां की चली आती पुरानी हिन्दू परंपराओं पर तुर्क विजय के फलस्वरूप ला दी गई जागीरदारी-मन्सबदारी प्रथा का अन्त कर तथा पुरानी प्रणाली में अनेक आवश्यक सुधार कर, उसे फिर से चलाने का जतन किया और हिन्दू शासन की मध्यकालिक पुरानी इकाई परगना (प्रतिजागरणक) को फिर से शासन की इकाई बना, लगान की आदायगी और स्थानीय शान्ति व्यवस्था आदि में ग्राम पंचायतों की सामूहिक जिम्मेवारी स्थापित कर, जमीन की पैमाइश करा, लगान की वसूली का किसान से सीधा बन्दोबस्त कर तथा उसके लिए उन्हें सब तरह की संभव सुविधाएं देकर जन साधारण और सरकार के बीच के जाति धर्म नस्ल आदि के आधारों पर कायम बिचवा जागीर-

दार-जमींदार वर्ग के विशेषाधिकारों को भरसक समाप्त करने का जतन उसने किया। राज्य को धर्म मजहब के प्रभाव में रखने के मध्य कालिक आदर्श को छोड़, उसने सारे मुल्क में एक कानून पर स्थित दृढ और आधुनक जातीय या राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने का भी उद्योग किया।

इसके लिए उसकी मुख्य सहायिका थी सर्वसाधारण कृषकों में से खड़ी की गई उसकी वह पदाति सेना, जिसके सामने मध्ययुगीन सामन्तशाही आधारों पर संघटित घुड़सवार फौजें सब नाकामयाब साबित हुईं और एक साधारण जागीरदार का वह बेटा, मुगलों-तुर्कों की उस प्रबल बाढ़ को, जिसे रोकने में लोदी लोहानी और मेवाड़ के राणा सांगा जैसे प्रबल राज्य के शासक तथा उसके शूर सामन्त राजपूत सरदार भी असफल हुए थे, थाम देने और वापस ठेलते हुए एक बार भारत की सीमा से बाहर निकाल देने में सफल हुआ। उसने भारत में पठानों आदि के, कबीलों और फिरकोंवार संघटित, उद्धत घुड़सवारों को इस प्रकार अपने वश में करने का जतन किया तथा सलहदी मालदेव जैसे पुराने और अहंकारी सामन्तों और जागीरदार घरानों की शक्ति को, उनके कोटले ढाकर उसने तोड़ दिया। इस प्रकार एक विशुद्ध बलवती राष्ट्रीय सेना और उससे रक्षित राष्ट्रीय राज्य की नींव डालने में वह इतने थोड़े अरसे में सफल हुआ।

शेरशाह का वह उत्थान भारतीय इतिहास के कुछ बड़े बड़े रोमान्सों में से एक और कदाचित सबसे अधिक चमत्कार पूर्ण है। वह कुल तीन वर्ष हिन्दुस्तान की गद्दी पर रहा, जिसमें इतनी बड़ी सैनिक कारवाहियों-विजयों के बीच भी, सेना, न्याय, शासन, बन्दोबस्त, चुङ्गी, मुद्रा, यातायात, धार्मिक पक्षपात, या जातिभेद मिटाना आदि राष्ट्र निर्माण के प्रायः उन सभी मुख्य विषयों पर, एक नवीन और आधुनिक शासन की दृष्टि से, आवश्यक नीतियों का वह इस

प्रकार सफलता पूर्वक सूत्रपात कर सका कि तब से आज तक उसके बाद आने वाली देसी या विदेशी कोई भी साम्राज्यसरकार उसकी बनाई लीक छोड़ सफलता पूर्वक बहुत इधर उधर नहीं जा सकी।

शेरशाह स्वयं एक पक्का मुसलमान था, तो भी उसने शासन और राजनीति में मजहबी कट्टरपन या पक्षपात को कभी स्थान न दिया और शासन तथा व्यवहार में जाति भेद और ऊंच नीच की भावना को उसने सदा अनुत्साहित कर समूची जनता को एक बनाने का जतन किया। इस दिशा में उसके बाद बादशाह अकबर को जो सफलता और श्रेय मिला वह बहुत कुछ उसी के पदचिन्हों पर चलने का परिणाम था।

जमीन की पैमाइश, बन्दोबस्त नयी अर्थनीति एवं मुल्की शासन-व्यवस्था आदि जमाने में उसका मुख्य सहकारी एक राजस्थानी–मेवात खत्री-राजा टोडरमल था, जो कहते हैं उसे पहले पहल १५४१ में लाहौर में मिला था।

किन्तु राजस्थान के क्षेत्र में शेरशाह जागीरदारी या सामन्तशाही को हटाकर कोई नया प्रबन्ध या बन्दोबस्त आदि न कर सका। इसका कारण एक तो इसके लिए उसे समय ही न मिला। दूसरे, यदि समय मिलता भी तो यह काम करना यहां तब उसके लिए भी उतना सुकर न होता; क्योंकि गत दो तीन सौ वर्षों से तुर्कों के मुकाबले में, लगभग उन्हीं के नमूने पर, यहां राजपूतों की सामन्तपद्धति का नये रूप में जो संघटन राणा हम्मीर से सांगा तक के समय खड़ा होता रहा था, वह काफी सशक्त और उद्भावित अवस्था में था। मालदेव जैसे प्रबल राजा को मारवाड़ में जो असफलता हुई, उसका एक कारण यह भी था कि उसने भी शेरशाह की तरह अपने सामन्तों को दबाने या नष्ट करने का जतन किया था। और स्वयं शेरशाह को मालदेव के विरुद्ध समेल में जो सफलता मिली उस में असंतुष्ट या विद्रोही सामन्त उसके अच्छे हथियार बने थे; विजय के बाद शेरशाह को भी उन्हें संतुष्ट करना पड़ा था। यही कारण था कि

बादशाह अकबर को भी शेरशाह के बाद राजपूतों के इस सामन्तवाद से समझौता करना पड़ा, जैसाकि अभी हम आगे देखेंगे।

मालदेव को परास्त करने के बाद शेरशाह ने साम्राज्य के अन्य दूरस्थ भागों की तरह अजमेर और जोधपुर को भी राजधानी से जोड़ने के लिए सड़क बनवाई थी। राजस्थान के बाद ही बुन्देलखंड को जीतने के जतन में कालंजर के घेरे में, हुक्कों (पलीता बंधे तोप के गोलों) के ढेर में,एक हुक्के के किले की दीवार से टकरा कर जा पड़ने से लगी आग में झुलस जाने के कारण २२ मई १५४५ ई० को शेरशाह का असमय में ही देहान्त हो गया। भारतीय इतिहास में शेरशाह जैसे संघटनकर्ता और सफल सेनानी, कुशल व्यवस्थापक और उदार तथा दूरदर्शी राष्ट्रनिर्माता राजनेता विरले हुए हैं।

मालदेव ने शेरशाह के मरते ही वीरम से जोधपुर वापस लेलिया और अगले बारह बरसों में जैसलमेर से मेड़ता तक समस्त उत्तरी मारवाड़ पर धीरे धीरे अपना कब्जा वापस किया। दक्खिन में पठानों से जालौर लेने का भी उसने फिर प्रयत्न किया पर सफल न हो सका।

§ ४ राजा हेमचन्द्र विक्रमादित्य

शेरशाह के वंशजों से हुमायूं ने दिल्ली वापस ले लिया। राजस्थान का उत्तर पूरबी प्रदेश—शेखावाटी मेवात—प्राचीन यौधेय देश का एक भाग था। प्राचीन अनेक गणतंत्री जनपदों और नगर गणों की राजधानियों के खंडहर उस प्रदेश में फैले हैं। कौटिल्य ने, जैसा कि ऊपर देख चुके हैं,इन गणों को वार्ताशस्त्रोपजीवी कहा है अर्थात् वहाँ के निवासी उस समय से वार्ता अर्थात् कृषि वाणिज्य व्यापार में और समय आने पर शस्त्र व्यापार में भी कुशल चले आते थे। गणतंत्रों के पतन और सामन्ततंत्र के उदय के साथ उन गणों के मुखिया घरानों की गिनती तो राजन्यों-राजपूतों ठाकुरों या कुलीन ब्राह्मणों में होने लगी और सर्वसाधारण गृहपति व्यापारी या महाजन वर्ग में तथा कृषक जनता, जाटों गूजरों

मालियों आदि के रूप में पलट गई। राजस्थान की अग्रवाल (अग्रोह ग्राम विनिर्गत, अग्रोहा गांव से निकले) खंडेलवाल (खंडिला ग्राम विनिर्गत, खंडेला गांव से निकले) रस्तोगी या रोहतगी (रोहीतक, अर्थात रोहतक से निकले) धूसर धाकड़ (धर्कट) आदि अनेक व्यापारिक जातियं का मूल अभिजन इस प्रकार इसी प्रदेश में या उसके चौगिर्द पाय जाता है।

व्यापारियों के अतिरिक्त अनेक ऊंचे दर्जे के राजव्यवहारिव (मत्सद्दी) और राजनेताओं (statsmen) को भी जन्म देने का श्रेय उस भूमि को है। महाराणा प्रताप के प्रसिद्ध स्वनामधन्य मंत्री भामाशाह और ताराचंद के पिता कावड़िया ओसकाल महता भारमल महाराणा सांगा के बुलाने पर रणथम्भोर के किलेदार के रूप में इसी प्रदेश (अलवर शहर) से उठकर चित्तौड़ गया था। शेरशाह के सहकारी और अकबर के प्रसिद्ध मुसाहब, वर्तमान जमीन की पैमाइश और बन्दोबस्त की प्रणाली के प्रवर्तक, राजा टोडरमल की जन्मभूमि भी अलवर के पच्छिम वैराट के आसपास ही कहीं बताई जाती है।

इसी प्रकारका मेवात का रहने वाला एक महापुरुष उस युग में 'हेमू' नाम का एक धूसर * बनियां था, जो पूरब की सूर सेना में मोदी का काम करता था और अपने शौर्य चातुर्य से बढ़ता बढ़ता शेरशाह के वंशधर अदाली सूर के मुख्य सलाहकार और सेनापति पद पर पहुँचा था। हुमायूं की मृत्यु (१५५५ ई०) के बाद अदाली ने एक बड़ी सेना के साथ उसे मुगलों को दिल्ली से निकाल देने के लिए भेजा। हेमू ने मुगल सेना को दिल्ली से खदेड़ कर राजा हेमचन्द्र विक्रमादित्य के नाम से अपना अभिषेक कराया और तब एक बड़ी

* धूसर लोग अब अपने को भार्गव कहते हैं और परशुराम के वंशधर ब्राह्मण बताते हैं, पर मध्यकालीन अभिलेखों में उन्हें वणिक ही कहा गया है।

सेना के साथ पंजाब को भी मुगलों से साफ करने के विचार से बढ़ा। पर दुर्भाग्य से वह कोई उच्च राजवंशी क्षत्रिय न था, अतः उस युग के हिन्दुओं ने और गैर मुस्लिम होने से मुसलमानों ने भी उसका पूरा साथ न दिया।

मुगलों और हेमचन्द्र की सेना का मुकाबला एक बार फिर उसी पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में हुआ। मुगलों के पाँव रणक्षेत्र से उखड़ने ही वाले थे कि राजा हेमचन्द्र के, जो एक हाथी पर चढ़ा सेना का संचालन कर रहा था, अचानक एक तीर लगा और वह घायल हो गया। सेना भाग खड़ी हुई, हेमचन्द्र विक्रमादित्य मुगलों का कैदी होकर मारा गया, और दिल्ली के तख्त पर हुमायूं के बेटे जलालुद्दीन अकबर का अधिकार हो गया।

§५. अकबर की साम्राज्य स्थापना

मुगलों ने इस बीच काफी सबक सीख लिया था। वे अनुभव कर चुके थे कि एक विदेशी की तरह रह कर वे इस देश में राज्य नहीं कर सकते। अतः उन्होंने अब के आते ही अपने रिश्ते-नाते यहां के निवासियों से बनाने आरंभ किये, तथा इस देश के रहने वाले मुसलमानों और हिन्दुओं दोनों से अपने संबन्ध मैत्रीपूर्ण बनाने की नीति अपनायी।

मेवाड़ ने इस बीच अपना पुराना गौरव फिर से पाने का जतन किया था। राणा उदयसिंह ने अजमेर और रणथंभोर ले कर आंबेर और आबू को भी फिर से अपनी सत्ता मानने को विवश किया। इसके अतिरिक्त चित्तोड़ पर होने वाले बार बार के हमलों से बचने के लिए उसने वहां से पच्छिम पहाड़ों में हट कर मेवाड़ की प्राचीन राजधानी आघाटपुर। (आहड़) के खंडहरों के पास नयी राजधानी उदयपुर की नींव डाली (१५५६ ई०)। मेवाड़ के पूरब तरफ मालवा में हुमायूँ द्वारा सूरों के पराभव के बाद नियुक्त वहां के हाकिम शुजाअतखां का बेटा बाजबहादुर स्वतंत्र सुलतान बन बैठा था और उत्तर

तरफ मेवात अजमेर में हसनखां मेवाती की तरह शेरशाह का सेनापति पठान हाजीखां वैसा ही प्रबल और मुगलों के विरुद्ध क्रियाशील था। परन्तु पच्छिमी राजस्थान में उत्तर का बीकानेर राज्य मालदेव के विरुद्ध शुरू से पहले शेरशाह से और अब मुगलों से सहयोग कर रहा था; और वहां के राव कल्याणमल के दूत इस काम के लिए दिल्ली बैठे थे। शेष मारवाड़ में मालदेव अब भी वैसा ही प्रबल था।

राजस्थान का अधिकांश इस प्रकार अब भी मेवाड़ का वशवर्ती था और मालवा-मेवात के पठान भी मुगलों के विरुद्ध उसी को अपना मुखिया मानते। ऐसी दशा में यदि राजपूत चाहते तो सांगा की तरह एक वार फिर तुर्कों (मुगलों) की जड़ इस देश से हिला देते; उनके संघटन को तोड़े और मेवाड की प्रमुखता का अन्त किये विना मुगल साम्राज्य का भारत में जमना तब प्राय असंभव था। अतः होश संभालते ही (१५६० ई०) अकबर ने राजस्थान की राजनीति में दखल देना आरंभ किया। सब से पहले उसने आगरे के दक्खिन बढ़ मालवा पच्छिमी बुन्देलखंड के बाजबहादुर को परास्त कर दिल्ली सल्तनत के उस पुराने सूबे पर अपना-अधिकार जमाया। बाजबहादुर तब भागकर मेवाड़ की शरण में आ रहा। मारवाड़ में तभी राव मालदेव का देहान्त हुआ (७ नवंबर १५६२)। सरदारों ने उसकी अन्तिम इच्छा के अनुसार उसके छोटे लड़के चन्द्रसेन को गद्दी दी। इसपर उसके लड़के रामसिंह उदयसिंह आदि रूठकर अकबर से जा मिले। अकबर ने मालवा लेने के बाद मेवात आंबेर और मारवाड़ जीतने के लिये प्रयाण किया। रास्ते में आंबेर का भारमल कछवाहा, जो अभी तक मेवाड़ का सामन्त था, सब से पहले विश्वासघात कर अकबर से जा मिला। अकबर ने उसकी बेटी से विवाह कर तथा भारमल के बेटों भगवानदास मानसिंह आदि को अपनी सेना में ऊँचे पद दे अन्य राजपूत सरदारों को उनका अनुसरण करने का प्रलोभन दिया।

मेड़ता ले अकबर ने समूचा उत्तरी मारवाड़ दखल कर लिया। चन्द्रसेन

ने तब दक्खिनी मारवाड़ की तरफ हट अपनी स्वाधीन चेष्टाएँ जारी रक्खीं। अकबर ने मालदेव के अन्य पुत्रों को मारवाड़ में जागीरें आदि दे मारवाड़ के राठौड़ों में एक तरह का गृहयुद्ध सा आरंभ करा दिया। तभी बीकानेर का राठौड़ राज्य भी मुगलों की शरण में आ गया। अकबर ने इन सब रावळों* (राजकुलों) से विवाह संबन्ध स्थापित कर उनके रावों कुंवरों आदि को अपने यहां ऊँचे ऊँचे मनसब दे सहज में ही उन्हें दिल्ली साम्राज्य का खैरख्वाह बना लिया।

मालवा और मारवाड़ लिए जाने तथा आम्बेर आदि के सामन्तों के विश्वासघात कर अकबर से जा मिलने के कारण मेवाड़ राज्य के कई पहलू टूट गये और उसकी शक्ति काफी शीर्ण हो गई। परन्तु उसकी नाभि अभी तक सुरक्षित थी। उसे तोड़े तथा उसकी प्रतिष्ठा और गौरव को मिटाये विना मुगल साम्राज्य राजस्थानियों और उत्तर भारत के हिन्दुओं और शायद भारतीय मुस्लिमों की दृष्टि में भी पूरी तरह स्थापित न समझा जाता। क्योंकि जैसा कि हम देख चुके हैं, राणा कुंभा और सांगा की विजयों के फलस्वरूप मेवाड़ उस समय उत्तर भारत में हिन्दुओं और शायद भारतीय मुस्लिमों की भी भक्ति का लक्ष्य बन चुका था +। यहां के महाराणाओं का विरुद हिन्दुआ सुलतान या हिन्दुआ सूरज तब समकालिक मुस्लिम रियासतों ने भी स्वीकार किया था और वे भी मेवाड़ को आदर की दृष्टि से देखते थे। खासकर पानीपत के बाद तो

---

* ध्यान रहे कि जयपुर जोधपुर आदि के स्वामियों का पद मेवाड़ के ठिकानेदारों का साही था और मेवाड़ से स्वतन्त्र होने पर भी उन्हें पूरे राजा (Sovereign king) के अधिकार कभी प्राप्त न थे, अतः उनके लिये हम यहां 'रावळा' शब्द का प्रयोग इस विशेष अर्थ में ही कर रहे हैं, जो उस युग में वस्तुतः ही उनके लिए प्रयुक्त होता था। राजा महाराजा आदि खिताब इन्हें बाद में मुगलों द्वारा ही दिए गए।

+ शेरशाह सूर के समय प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी

राणा तुर्क आक्रमण का मुकाबला करने वाले उस युग के सभी भारतियों का नेता माना जा चुका था। अतः १५६७-६८ ई० में बड़ी तैयारी के साथ अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की।

निश्चित पराजय देखकर भी मेवाड़ियों ने बड़ी वीरता पूर्वक तुर्कों को इस चुनौती का उत्तर दिया। राणा उदयसिंह राज का खजाना, आवश्यक कागजात और सामग्री ले मेवाड़ के पहाड़ों की तरफ हट गया। चित्तौड़ पर राजपूतों और मेवाड़ की सर्व साधारण जनता दोनों ने, आस पास के किसान देहातियों आदि ने भी राणा सांगा के बड़े पुत्र भोजराज की बहू भक्त कवयित्री मीरा के भाई मेड़ता के राव वीरमदेव के पुत्र जयमल की, जो अकबर द्वारा मेड़ता छीन लेने (१५६२ ई०) के बाद अब मेवाड़ की शरण में आकर रह रहा था, और फत्ता सीसोदिया (आमेठ के सरदारों का पूर्वज) की, अध्यक्षता में अपने रक्त की अन्तिम बूँद तक का बलिदान कर विश्व के स्वाधीनता युद्धों के इतिहास में नया पन्ना लिख डाला, जो युगों तक राजस्थानवासियों को अपनी धरती की स्वाधीनता के लिए मरने का पाठ पढ़ाता रहेगा।

चित्तौड़ के बाद रणथंभोर भी लिया गया। वहाँ का किलेदार बूंदी का हाड़ा सरदार राव सुर्जन बड़ी जागीर का प्रलोभन पाकर मुगलों से मिल गया। राजस्थान में कहानी प्रसिद्ध है कि अकबर ने चित्तौड़ की रक्षा में अपने रक्त की अन्तिम बूंद तक देकर लड़ने वाले जयमल और

ने, मुसलमान होते हुए भी अपने काव्य पद्मावत में मेवाड़ के अन्तिम रावल रतनसिंह को अपना नायक और दिल्ली के सब से बड़े तुर्क सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को अपना खलनायक बनाकर इस बात की सूचना दी थी कि मेवाड़ के, तुर्कों के विरुद्ध, किये हुए सफल संघर्षों ने यहाँ के राजवंश के प्रति भारतीय मात्र के हृदय में, बिना हिन्दू और मुसलमान के भेद के, कितनी आदर और प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त कर लिया था।

फत्ता की तो हाथी पर चढ़ी मूर्तियां बनवाईं और सुर्जन की गधे पर चढ़ी मूर्ति बनवाकर आगरे में अपने महलों के सामने दरवाजे पर लगवाई।

समूचे मध्य और दक्खिनी राजस्थान पर भी इस प्रकार मुगलों का आधिपत्य हो गया। अकबर ने भी शेरशाह की तरह राजस्थान में मुगल-शासन की सीधी स्थापना न की। मारवाड़ और मेवाड़ के अनुभवों ने उसे बता दिया था कि वैसा करने में उसे अपार जनधन की हानि उठानी पड़ेगी। इसके विपरीत भारमल भगवानदास मानसिंह रायसिंह (बीकानेर का राजा) आदि पुराने सरदारों को विवाह बन्धन द्वारा राजवंश से संबद्ध कर, उच्च पद दे तथा जनसाधारण को उनके परंपरागत राजवंशों के ही नीचे रख उनकी राष्ट्रीय आत्मचेतना को ठेस पहुँच कर जाग्रत करने का खतरा उठाये बिना, राजस्थान वासियों के शौर्य और यहाँ के राजव्यवहारिकों (मुतसद्दीवर्ग) की चातुरी को भाड़े पर ले, काबुल से कामरूप (आसाम) उड़ीसा गुजरात और दक्खिन तक मुगल साम्राज्य के विस्तार की सुविधाओं का पूर्वानुभव उसे हो चुका था। इस नीति में अकबर आश्चर्यजनक रूप से सफल रहा।

§६. महाराणा प्रताप

१५७६ तक काबुल से कटक और काठियावाड़ से कूच विहार तक समूचा उत्तर भारत इस प्रकार मुगलों की छत्रछाया में आ चुका था। पर राजस्थान में मेवाड़ ने तुर्कों के इस दावे को तब भी स्वीकार न किया। राणा उदयसिंह और उसका बेटा महाराणा प्रताप मेवाड़ के पहाड़ों से मुगलों के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता की लड़ाई जारी रक्खे थे। दिल्ली से गुजरात जाने वाले दोनों मुख्य मार्ग मेवाड़ के आजू बाजू से होकर गुजरते हैं। राणा प्रताप ने (१५७२ ई०) मेवाड़ के पहाड़ों (गोगूदा-कुंभलगढ़ प्रदेश) से छाप मारकर उन्हें मुगलों के लिए असुरक्षित कर दिया। इस प्रकार मालवा गुजरात और दक्खिन पश्चिमी राजस्थान

अर्थात् दक्खिनी मारवाड़ और बागड़ में मुगलों की स्थिति खतरे में पड़ी गई। १५७६ ई० में अकबर ने मानसिंह के साथ एक बड़ी सेना प्रताप का दमन करने को कुंभलगढ़ प्रदेश में भेजी। महाराणा से हल्दी घाटे के नाके पर मानसिंह की सेना का मुकाबला हुआ। परिणाम संदिग्ध रहा। हकीम सूर नाम का एक पठान सरदार भी, जो शेरशाह का वंश-धर था और देश की रक्षा के लिए विदेशी (मुसलमान) मुगलों के मुका-बले मेवाड़ के 'हिन्दुआ सुलतान' की अधीनता में लड़कर प्राण देना अधिक गौरवास्पद समझता था, इस युद्ध में मेवाड़ की तरफ से लड़ा और काम आया।

अकबर लाख प्रयत्न करने पर भी महाराणा को जीते जी अपने वश में न कर सका। मेवाड़ियों ने अपना सारा देश, जहाँ मुगलों का कब्जा था या उन्हें रसद पानी मिल सकता था, उजाड़ डाला और अधिकांश जनता अपनी आजादी की लड़ाई के लिए अपने नेताओं के साथ पहाड़ों का आश्रय ग्रहण कर छापा मार युद्धों से शत्रु को परेशान करती रही। महाराणा ने आगे २५ वर्ष तक इस प्रकार छापा मार युद्ध कर मेवाड़ का बड़ा अंश मुगलों से वापस ले लिया। महारणा प्रताप के बाद महाराणा अमरसिंह के समय भी मेवाड़ का यह स्वाधीना युद्ध जारी रहा।

अकबर के बाद (१६०५ ई०) जहाँगीर ने फौज पर फौज भेज मेवाड़ को झुकाने के प्रयत्नों में कोई कसर न रक्खी। अन्त में १६१४ में लगातार चालीस वर्ष के युद्ध और बरबादी के पश्चात् मेवाड़वासियों ने थककर मुगलों का सिक्का माना। राणा अमरसिंह ने शाही दरबार में उपस्थित होने को बाध्य न किया जाने और अपने बदले युवराज को मुगल दरबार में भेज सकने की रियायत पाने की शर्त पर हथियार डालना मंजूर किया और मुगलों से दूसरे राजपूत राजाओं की तरह

बेटी व्यवहार करना भी मंजूर न किया * । जहाँगीर ने भी अधीनता मानने के चिह्न रूप में सिर्फ एक हजार सवार मुगल फौज में भेजने और चित्तौड़ की किले बन्दी न करने देने की शर्त पर मेवाड़ियों के आत्मगौरव को सान्त्वना देते हुए शान्ति कर ली ।

§७. राजस्थान मुगल साम्राज्य में

इसके बाद लगभग पैंसठ वर्ष (१६१४—७६ ई०) राजस्थान का राजनीतिक इतिहास यहाँ के राजाओं सरदारों और भृतिभागी सैनिकों के रूप में सर्वसाधारण जनता और राजपूतों का साम्राज्य के विभिन्न भागों में लड़ने और मुगल साम्राज्य की श्रीवृद्धि में यहाँ के वीरों के बलिदानों का इतिहास है । यहाँ के राजाओं और राजपूतों ने मुगल सेनाओं में सेवा कर अच्छी ख्याति प्राप्त की और मुगलों के सामन्त या मन्सबदार रूप में अपनी वृत्ति के एवज उनमें से अनेक ने राजस्थान तथा साम्राज्य के अन्य भागों में मुगलों से जागीरें आदि पाईं । आंबेर, (जयपुर) कृष्णगढ़, शाहपुरा, बूंदी, कोटा, सिरोही, ईडर, डूङ्गरपुर, बाँसबाड़ा, प्रतापगढ़, सीतामऊ, रतलाम आदि मध्य और दक्खिनी राजस्थान की वर्तमान अनेक छोटी बड़ी रियासतें, राजस्थान में, इस प्रकार मुगलों द्वारा मेवाड़ आदि पुराने राज्यों के चौगिर्द उनके पुराने सामन्तों आदि को उनसे स्वतंत्र, साम्राज्य की सेवाओं के बदले में जागीरें देने और इस प्रकार पुराने राज्यों की शक्ति को कमजोर बना देने की नीति के फल स्वरूप ही पहले पहल अस्तित्व में आईं ।

---

* ध्यान रहे कि मेवाड़ वालों का इसमें मुगलों से मुसलमान होने के नाते नहीं बल्कि एक विदेशी आक्रान्ता होने के नाते ही परहेज का इतना आग्रह था । विदेशियों के विजेता और सर्वशक्तिमान होने पर भी मेवाड़ वाले उनके महत्व या उच्चता को कम से कम अपने समाज में मानने को तैय्यार न थे ।

मुगलों के सामन्त रूप में आंबेर के राजा भारमल भगवानदास मानसिंह जयसिंह (मिर्जा राजा) सवाई जयसिंह, जोधपुर के महाराजा उदयसिंह सूरसिंह गजसिंह यशवन्तसिंह, बीकानेर के रायसिंह दलपति सिंह सूरसिंह कर्णसिंह अनूपसिंह तथा कृष्णगढ़ राज्य के संस्थापक कृष्णसिंह आदि राजपूत सरदारों के नाम भारत भर में प्रसिद्ध हैं।

राजस्थान के व्यापारी वर्ग को भी इन राजपूत फौजों के साथ भारत के विभिन्न प्रान्तों, बंगाल बिहार उड़ीसा बरार खानदेश और महाराष्ट्र तक में फैलने और उस युग में तथा पीछे भी भारत के आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक जीवन में विशेष भाग अदा कर, सर्वत्र अपने लिए समाज में एक खास स्थान प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिला। विशेषतः बंगाल गुजरात खानदेश तथा दक्खिन-महाराष्ट्र में जयपुर जोधपुर बीकानेर आदि राजाओं की सूबेदारियों के समय राजस्थानी व्यापारी और राज कर्मचारी (मुत्सद्दी) वर्गों को अपना व्यापार और कारबार इन प्रान्तों में जमाने की बड़ी सुविधा रही। यही कारण है कि आज भी वहां के समस्त आर्थिक और सामाजिक जीवन में मारवाड़ियों का महत्व पूर्ण स्थान बना है।

§ ८. राजसिंह और दुर्गादास

अकबर जहाँगीर और शाहजहाँ के समय तक मुगलों और राजपूतों में काफी मेल रहा। परन्तु औरङ्गजेब के मुगल सिंहासन पर पर बैठते ही उनका यह परस्पर का सौख्य टूटने लगा। इसमें औरंगजेब की धर्मान्धता और मुस्लिम पक्षपात की नीति के अतिरिक्त देशव्यापी हिन्दू पुनरुत्थान या यों कहें कि विदेशी तुर्क शासन और उनके द्वारा इसलाम के नाम पर लाई गई विदेशी अरबी ईरानी संस्कृति के प्राधान्य के विरुद्ध, देसी भारतीय रीति नीति-परंपरा मानने वालों तथा

सामान्य देश निवासियों के विद्रोह की भावना भी * एक मुख्य कारण थी।

दक्खिन में तब मेवाड़ के राजवंश की ही एक शाखा—भोंसलों में शिवाजी भोंसले का उदय हुआ था। अपने गुरू रामदास और माता जीजाबाई की शिक्षा के फलस्वरूप शिवाजी में हिन्दूपतपातशाही + कायम करने की महत्वाकांक्षा जगी थी। शिवाजी के छापा मार युद्धों के कारण दक्खिन में मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। शिवाजी के दिल्ली में मुगलों की कैद से निकल भागने (अगस्त १६६६) के साथ साथ भारत के इतिहास में एक नये युग का आरंभ हुआ। आंवेर के मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह का भी उसमें हाथ था। मुगल शस्त्रों की आजेयता की धाक शिवाजी ने तोड़ दी। औरंगजेब की धर्मान्धता और हिन्दू (बल्कि कहना चाहिए अपने मुस्लिम संप्रदाय के अतिरिक्त सभी संप्रदायों, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान—क्यों कि शिया दाऊदी बोहरों आदि मुस्लिम संप्रदायों के दमन में भी वह उतना ही दृढ़ आग्रही था) विरोधी रवैयों ने इस में आग में घी का सा काम किया। राजा जयसिंह और रामसिंह तो मन ही मन उससे खीझे थे ही, जोधपुर के राजा यशवन्तसिंह से भी

---

* क्योंकि औरंगजेब के शासन के खिलाफ उठे विद्रोहियों में सिर्फ हिन्दु ही नहीं बल्कि तमाम भारतीय–मुसल्मान, पठान बोहरे आदि भी–सम्मिलित थे, और आगे भी, जैसा कि हम देखेंगे, मुगलों तुर्कों के विरुद्ध भारतीय मुसलमानों का सहयोग विद्रोही मराठों आदि के साथ बराबर बना रहा। अतः इसे सिर्फ हिन्दु पुनरुत्थान नहीं बल्कि भारतीय पुनरुत्थान यही नाम दिया जाना चाहिए।

+ शिवाजी का हिन्दूपत पातशाही का आदर्श भी किसी प्रकार मुस्लिम संप्रदाय विरोधी नहीं कहा जा सकता।

औरंगजेब की पुरानी दुश्मनी थी; क्यों कि शाहजहां के बाद मुगलों के भ्रातृ-युद्ध में वह उसका प्रधान विरोधी रह चुका था। यशवन्तसिंह के मरते ही * (१६७८ ई० में) औरंगजेब ने मारवाड़ जप्त कर, हिन्दुओं पर जजिया कर फिर से लगा कर और हिन्दू मंदिरों को गिरवाने तथा उनकी मरम्मत वापिस न करने आदि की आज्ञाएँ निकाल कर, राजस्थान वासियों को अपने विरुद्ध खड़ा कर लिया।

मारवाड़ियों की राजनीतिक चेतना अभी नष्ट न हुई थी। राठौर वीर दुर्गादास के नेतृत्व में वे अपनी धरती के लिए लड़ने मरने को तैयार हो गये। मेवाड़ ने भी, जो राणा अमरसिंह के जमाने में अधीनता स्वीकार कराने वाली संधि के अपमान का अनुभव कर रहा था, इस अवसर पर मालदेव के समय से चली आती मेवाड़-मारवाड़ की प्रतिद्वन्द्विता और मनमुटावों को भुलाकर,मारवाड़ियों का उनके इस स्वाधीनता युद्ध में साथ दिया। मारवाड़ और मेवाड़ की सम्मिलित शक्ति ने इस प्रकार महाराणा राजसिंह के नेतृत्व में औरंगजेब के मारवाड़ को ज़ब्त करने के अधिकार को चुनौती दी।

२२ अक्तूबर १६८० ई० को विषप्रयोग द्वारा महाराणा राजसिंह का अचानक देहांत हो गया। राजपूतों ने उसके बाद राणा जयसिंह के नेतृत्व में युद्ध जारी रक्खा। उन्होंने औरंगजेब के बड़े शाहज़ादे अकबर को अपनी तरफ मिला हिन्दुस्तान का तख्त उलट देने की तैयारी की (१ जनवरी १६८१)। पर ऐय्याश तबियत अकबर ने गद्दी नशीनी की खुशियां मनाने में पंदरह दिन व्यर्थ खो दिये। राजपूतों और अकबर की इस सुस्ती का फायदा उठा चतुर औरंगजेब ने एक बड़ी सेना अजमेर में एकत्र करली और राजपूतों में अकबर के प्रति अविश्वास पैदा

---

* यशवन्तसिंह सीमाप्रांत के अफगानों को, जो मराठों की ही तरह इस समय मुगल-तुर्क शासन के विरुद्ध एक राष्ट्रीय विद्रोह किये हुए थे, दबाने के प्रयत्न में मारा गया था।

कर वह उनकी उस योजना को विफल करने में सफल हुआ। राजसिंह के सुखासीनवृत्ति पुत्र राणा जयसिंह ने तब मारवाड़ियों का साथ छोड़ मुगलों से संधि करली। अकबर को दुर्गादास तब मेवाड़ के भोमट प्रदेश बागड़ अलिराजपुर आदि के रास्ते पहाड़ों पहाड़ों दक्खिन में छत्रपति शिवाजी के पुत्र शंभाजी के पास छोड़ आया।

औरंगजेब ने मेवाड़ से सुलह कर और मारवाड़ का इन्तजाम कर अपनी सारी शक्ति के साथ शंभाजी का दमन करने और बहमनी रियासतों को जीतने के विचार से दक्खिन की ओर प्रयाण किया (८ सितम्बर १६८१)। वहां वह मराठों को दबाने और दक्खिन पर पूरी तरह कब्जा पाने के लिए लगातार पच्चीस बरस तक युद्ध करता रहा। पर उसे सफलता न मिली और पूरे साम्राज्य में अव्यवस्था, उपद्रव और विद्रोह आरंभ हो गये। साम्राज्य का खजाना खाली हो गया। इसी अवस्था में औरंगजेब का देहांत हुआ (१७०७ ई०)। उसके अन्तिम समय मराठा छापा मार नर्मदा पार कर राजस्थान और गुजरात तक धावे करने लगे थे।

मारवाड़ वालों ने इस बीच अपना स्वाधीनता युद्ध बन्द न किया था। जयसलमेर के भाटी, मेवात के सतनामी और व्रज के विद्रोही कृषक (जाट) भी उनके शामिल हो गये थे; और "मारवाड़ में सूर्यास्त के बाद मुगल राज केवल थानों में रह जाता, मैदान में अजित (यशवन्त सिंह के पुत्र) का राज होता था।" दुर्गादास ने दक्षिण से लौट १६६० ई० तक मुगलों के सब थाने मारवाड़ से उठा दिये। अजमेर के मुगल शासक से उसने राह चुंगी की चौथ वसूली और औरंगजेब का देहान्त होते ही यशवन्तसिंह के पुत्र अजितसिंह ने जोधपुर मुगलों से वापस ले लिया। उसके बाद मारवाड़ियों ने बीकानेर भी दखल करना चाहा। पर एक लोहार के अनुपम साहस के कारण अजित को वहां से विफल लौटना पड़ा।

§ ६. राजपूतों को पुनः संघटित करने की कच्ची कोशिश

औरंगजेब के बाद उसके लड़कों में राज के लिए संघर्ष आरंभ हुआ तो राजस्थान के राज्य दो दलों में बँट गये। मेवाड़ बूंदी किशनगढ़ ने उसके बड़े लड़के मुअज्जम का और आंबेर कोटा आदि ने आजम का पक्ष लिया। अजित तटस्थ रहा। मुअज्जम जीता और बहादुरशाह के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा। आंबेर मारवाड़ ने उसका पक्ष न लिया था, अतः वह उनका विरोधी हो गया। आंबेर को उसने खालसे कर लिया और मारवाड़ में भी फिर से सर्वत्र अपना पहरा चौकी बिठा अजित को नाम मात्र का राजा बना रहने दिया। इसके बाद ही बहादुर शाह अपने सबसे छोटे भाई कामबख्श को दबाने के लिए दक्खिन चला गया। आंबेर मारवाड़ के अधिकारच्युत राजा तब मेवाड़ में राणा जयसिंह के पुत्र अमरसिंह २य के पास उदयसागर पर एकत्र हुए, और उन तीनों ने मिल मुगलों का आधिपत्य राजस्थान से उठा देने का निश्चय किया। राणा अमर ने अपनी लड़की की सगाई आंबेर के राजा जयसिंह (सवाई) से कर दी।

मेवाड़ के राणा, अमरसिंह १म के समय से मुगलों के सामने हथियार डाल चुके थे, तो भी वे शाही दरबार में न जाने तथा मुगलों से दूसरे राजपूत कुलों की तरह विवाह-संबंध न करने जैसी छोटी बातों को लेकर तिनके की ओट में अपनी पराधीनता की लज्जा छिपाये और अपने वंश को बहुत ऊंचा माने हुए थे। राणा अमरसिंह २य ने इस मौके पर दोनों राजाओं से उनकी विपन्नावस्था का लाभ उठा, यह शर्त मनवाली कि उदयपुर के राजवंश की बेटी यदि किसी से विवाहे तो वह सदा पटरानी ही बन कर रहेगी और उससे हुआ लड़का, चाहे वह छोटा ही क्यों न हो, राजा बनेगा। इस प्रकार राजस्थान में तुच्छ अंतःकलह का वह बीज बोया गया, जिसने आगे चलकर यहां के सारे राजनीतिक जीवन को विषाक्त कर दिया और बाहरी शक्तियों को राजस्थानी राज्यों के मामलों में दखल देने का अवसर दे यहां के जन-धन

की अपार हानि कराई। अस्तु। मेवाड़ मारवाड़ और आंबेर के राजाओं की इस मुलाकात के बाद मारवाड़ आंबेर और सांभर से मुगल राज्य शीघ्र ही उठ गया। बहादुरशाह को तब राजपूतों से मेल करना पड़ा। उसके मरते ही (१७१२ ई०) अजित ने अजमेर भी ले लिया। पर बाद में उसे वह खाली कर मुगल दरबार की अधीनता माननी पड़ी।

बहादुर के बाद मुगलों की शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। दो सैयद बन्धुओं ने दिल्ली दरबार में "मुगलों" (विदेशी = ईरानी तूरानी मुसलमानों) के विरुद्ध एक हिन्दी दल बना और मारवाड़ के राजा अजितसिंह, कोटा के भीमसिंह और मराठों को अपने पक्ष में करके दिल्ली दरबार को अपना वशवर्ती बना लिया। अजित अजमेर का सूबेदार बना और मालवे की सूबेदारी दिल्ली दरबार के दूसरे दल (विदेशियों—"मुगलों") के नेता वर्तमान निजाम राज के संस्थापक गाजिउद्दीन फीरोज जंग २य को मिली। समूचे दक्खिन पर वास्तविक (de facto) रूप में मराठों का आधिपत्य माना गया और उसके चिन्ह रूप उन्हें वहां से चौथ (आधिपत्य सूचक मालगुजारी का चौथा हिस्सा) और सरदेश मुखी (सरदेशमुख अर्थात् देश के प्रधान मुखिया वतनदार या इलाके दार के अधिकार का सूचक मालगुजारी का दसवां भाग) वसूल करने का अधिकार दिया गया (१७१७—१६ ई०)।

१७२० में सैय्यदों ने मुहम्मदशाह को दिल्ली की गद्दी पर बैठाया। फीरोजजंग तब साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर मालवे से बड़ी सेना खड़ी कर दक्खिन की तरफ भागा। सैय्यदों ने भोपाल राज्य के संस्थापक दोस्त-मुहम्मद रुहेले को, जिसे बहादुरशाह के समय एक जागीर पूर्वी मालवा में भोपाल के आसपास मिली थी, फीरोजजंग के दमन को भेजा। उसी प्रयत्न में उस साल बादशाह और विदेशी दल के षड्यंत्र से सैयादों का अन्त हुआ। तभी दक्खिन में उनका सहयोगी बालाजी विश्वनाथ भी चल बसा और मराठा छत्रपति ने उसके लड़के युवक बाजीराव को पेशवाई दी। उधर फीरोजजंग को निजाम-उल—मुल्क का खिताब और

दिल्ली बादशाहत की वज़ारत सौंपी गई (१७२१ ई०)। राजस्थान के पूरबी सीमान्तों पर बुन्देलखंड में छत्रसाल तथा व्रज में वर्तमान भरतपुर राज के संस्थापकों के पूर्वजों के नेतृत्व में विद्रोह उठे थे। उन्हें दबाने के लिए मुहम्मदखां बंगश (पठान) और आंमेर के राजा सवाई जयसिंह मुगल दर्बार की तरफ से क्रमशः नियुक्त हुए। बंगश ने बुन्देलों को काल्पी मैदान से और जयसिंह ने जाट नेताओं को व्रज से निकाल दिया। व्रज वालों ने तब भागकर अजितसिंह की शरणली। जयसिंह और बंगश दोनों तब मारवाड़ पर आये। अजित को भी तब अजमेर खाली कर अधीनता माननी पड़ी (१७२३ ई०)। अगले साल राजा जयसिंह और अन्य लोगों के बहकावे में आ उसके लड़के अभय सिंह ने राज्य लोभ में फंस मुगल सम्राट को खुश करने की नियत से अपने छोटे भाई बख्तसिंह द्वारा अजितसिंह का खून करा दिया।

महाराष्ट्र में बालाजी विश्वनाथ के बाद मराठा दर्बार में यह बहस छिड़ी कि उन्हें पहले समूचा दक्खिन जीत वहां अपना एक संघटित राज्य कायम कर तब मुगल साम्राज्य पर चढ़ाई कर उसे जीतना चाहिए या साम्राज्य की जड़ पर सीधी चोट करनी चाहिए। बाजीराव पेशवा दूसरे पक्ष का प्रधान पोषक था। छत्रपति शाहू ने भी बाजीराव का समर्थन किया। फलतः मराठों ने मुगलों की शक्ति जांचने के लिए १७२३ ई० से अपने उत्तर गुजरात और दक्खिनी राजस्थान (मालवे) पर धावे करने आरम्भ किये। तभी राजस्थान के उत्तर पंजाब में सिक्खों के जत्थों की कार्रवाइयां भी आरंभ हो गईं।

निजाम ने मराठों की रोक के लिए मालवा और गुजरात दोनों में अपने भाइयों को सूबेदार नियुक्त किया। पर साम्राज्य में चारों ओर फैली अराजकता विद्रोह और अव्यवस्था को संभालने में वह असमर्थ रहा, अतः १७२४ में उसने वजारत से छुट्टी ले चुपचाप दक्खिन का रास्ता पकड़ा। वहाँ बाजीराव और छत्रसाल से मिल, उसने दक्खिन के मुगल शासक को हरा, निजाम राज्य की नींव डाली।

पांचवां अध्याय

अर्वाचीन राजस्थान-(२) मराठायुग

(१७२०-१७४६)

§ १. मालवा हाड़ोती में मराठों का प्रवेश

बादशाह मुहम्मदशाह ने निजाम और मराठों की रोक थाम के लिए मालवे में अपने एक विश्वस्त अनुचर दयाराम नागर के लड़के गिरधरबहादुर को तथा गुजरात में सरबुलंदखां को नियुक्त किया। दक्खिन पूरवी राजस्थान (मालवे) का मुगल शासन बारबार की तबदीलियों और सैनिक कारवाइयों के परिणामस्वरूप काफी शिथिल हो गया था। वहां के छोटे छोटे जागीरदार सरदार तथा स्थानीय शासक स्वच्छन्द और उच्छृंखल होते जा रहे थे। इससे वहां की आम रियाया परेशान और त्रस्त थी और पास पड़ौस की अपेक्षा कृत बड़ी और सबल रियासतों का आसरा खोजने लगी थी।

मेवाड़ में महाराणा अमरसिंह २य (१७१० तक) और संग्रामसिंह २य (१७३२ ई० तक) के समय, वहां की आन्तरिक शासन व्यवस्था को पुनः संघटित किया गया और पिछले मुगल मराठों आदि की नकल पर सरदारों को जागीरी इलाके स्थायी रूप में बांट उनकी पद प्रतिष्ठा की श्रेणियां नियत की गईं। राजस्थान के राज्यों में पायी जाने वाली ठिकानाशाही जागीरी प्रथा का सूत्रपात इस प्रकार इसी युग में हुआ *। इस से आकृष्ट हो पास पड़ोस के मुगल जागीर के गांव और

* राणा अमरसिंह २य से पूर्व मेवाड़ में सरदारों के निवास स्थान के अतिरिक्त जागीरी इलाके स्थिर नहीं थे, न उनकी पद प्रतिष्ठा का कोई स्थिर श्रेणी विभाग था। जागीर के गांव और इलाके महाराणा समय समय पर और आवश्यकतानुसार बदलते रहते थे और मान प्रतिष्ठा के पद भी बहुत कुछ व्यक्ति की योग्ता और सेवाओं

इलाकों के अनेक छोटे मोटे राजपूत सरदार भोमिये गिरासिये आदि जिन्हें मेवाड़ से उसकी शक्ति को कमजोर बनाने के लिए अलग कर, मुगलों ने सीधे अपने शासन में ले लिया था, अब फिर से मेवाड़ में मिलने लगे। मेवाड़ के पूरब रामपुरा, भानपुरा, और दक्खिन पूरब मंदसार तक के प्रदेश,मुगल-पठान-तुर्क सैनिकों की धांधली और लूटपाट से बचने के लिए, इस प्रकार मेवाड़ में फिर से सम्मिलत हो गये। मेवाड़ ने मुगल दरबार में अपने प्रभाव का उपयोग कर राजा जयसिंह की मदद से अपने दक्खिन-पच्छिम गुजरात के महीकांठे का ईडर प्रदेश भी अपने में मिला लिया (१७२७ ई०)।

मालवे में गिरधर बहादुर ने मराठों के हमलों से रक्षा पाने के लिए, सेना जुटाने और उसका खर्च चलाने को, वहां के साहूकारों जागीरदारों जमीदारों और साधारण कृपक जनता पर कर बढ़ाया और अन्य प्रकार

के अनुसार निश्चित होते थे; वंशानुगत रूप से स्थिर नहीं थे। इससे जागीरदार शक्ति शाली न हो पाते और राज्य के अनुरक्त सेवक बने रहते थे।

जब तक राज्यकेन्द्र सशक्त था यह स्थिति बनी रही। मुगलों की अधीनता के आरंभिक दिनों में भी साम्राज्य की धाक के कारण यह स्थिति बिगड़ने न पाई। पर मुगल साम्राज्य की शीर्णता के साथ जागीरदारों और साहसिक व्यक्तियों की शक्ति बढ़ने लगी। राजा लोग साम्राज्य के जमाने में स्वयं कुछ आरंभ करने के अभ्यासी न रहे थे। अतः साम्राज्य की शक्ति का सहारा छूटते ही उनका अपने जागीरदारों को वश में रखना दुष्कर हो उठा और तब व्यक्तियों को वंशानुगत रियायतें और प्रलोभन दे कर अपने साथ मिलाने की नीति, जैसे साम्राज्य में चली, वैसे ही इन राज्यों में भी चलने लगी। जैसा कि हम अभी आगे देखेंगे, यह उनकी कमजोरी का हेतु थी और उनके अधः पतन विनाश और अन्त में हमारी समूची जाति की पराधीनता का कारण हुई।

से दबाव डाला, तो जनता ने विद्रोह कर आंबेर के राजा सवाई जयसिंह से सहायता की पुकार की। जयसिंह तभी मुगल साम्राज्य की क्षीयमाण दशा का लाभ उठा, अपने वंश की अन्य छोटी शाखाओं—शेखावतों नारूकों आदि—की मदद से समूचे ढूंढाड़ तथा उसके उत्तर नागरचाल-झूंझणूवाटी (आधुनिक शेखावाटी) और मेवात प्रदेशों में, वहां के कायमखानों, मेवों, मोणों आदि के ठिकानों का धीरे धीरे अन्त कर, अपने राज्य का विस्तार करने में लगा था; और दक्खिन में ढूंढाड़ी भाषी हाडौती को भी अपना वशवर्ती बनाने के उपाय कर रहा था। उसके परे मुगल साम्राज्य के धनधान्यपूर्ण सूबे मालवे पर भी जयसिंह की ललचाई निगाहें लगी थीं।

मालवे की जनता के पुकार करने पर जयसिंह ने उन्हें दक्खिन से बाजीराव को बुलाने की सलाह दी। मेवाड़ में राणा संग्रामसिंह द्वितीय ने तभी मराठा दरबार को अपने सगोत्रों का राज जान उस से सम्बन्ध स्थापित करने को एक दूतमंडल सितारा भेजा।*

मालवे की जनता ने इन्दौर के चौधरी नंदलाल मंडलोई के नेतृत्व में, जिसके सुपुर्द मुग़ल साम्राज्य की तरफ से नर्मदा घाटों की चौकसी

---

*इस दूतमंडल में पीपल्या का स्वामी बाघसिंह शक्तावत प्रमुख था। छत्रपति शाहू को अपने विरोधियों को समझाने शान्त करने और मराठा मण्डल के आन्तरिक मामलों को सुलझाने में उससे बड़ी मदद मिली। शाहू ने १७२६ में अपने मालवा क्षेत्र में कार्य करने वाले अधिकारियों के नाम इस संबन्ध में एक फरमान निकाला कि "ये बड़े सत्पुरूष और मेरे कुल के हैं।···मेरा बड़ा उपकार किया है। इन्हीं (मेवाड़ के राजवंश जों) के प्रताप से भारत में हिंदू राज अब तक स्थिर है।···कोई···इनकी मर्यादा तोड़ने की दुष्टता न करे।"

का कार्य था, संघटित हो मुगलों की पतनोन्मुख निरंकुश सत्ता का प्रतिरोध करने के लिए कृषकों की एक स्वयंसेवक सेना खड़ी कर, बाजीराव को मालवा आने का निमन्त्रण दिया। बुदेलखण्ड के छत्रसाल ने भी तभी बाजीराव को मुगलों के खिलाफ सहायता करने को बुलाया। बाजीराव का छोटा भाई चिमाजी अप्पा और सेनापति उदाजी पंवार एक बड़ी सेना लेकर खानदेश के रास्ते मालवा में घुसे और बाजीराव स्वयं बराड़ के रास्ते बुंदेलखंड में। गिरधर बहादुर और उसका भाई दया बहादुर मांडू और अमझरा के पास की दो लड़ाइयों में घिर कर मारे गये (नवंबर दिसंबर १७२८ ई०)। गुजरात में सर बुलंद खां ने भी मराठों को चौथ देना स्वीकार किया (१७२९ ई०)। इसपर बादशाह ने मालवे की सूबेदारी गिरधर के पुत्र भवानीराम नागर से ले मुहम्मद खां को और गुजरात की सरबुलन्द खां के बजाय जोधपुर के राजा अभयसिंह को सौंप दी। किन्तु चार बरस बाद बंगशा को भी मराठों से घिरकर हार माननी पड़ी (१७३२)। तब सवाई जयसिंह ने मालवे की सूबेदारी पाई, पर वह भी मराठों को रोक न सका।

इसी समय बुंदेलखंड में छत्रसाल का देहान्त हुआ (१७३१)। उसकी वसीयत के अनुसार राजस्थान के पूरवदक्खिनी बुंदेलखंड के सागर और दमोह के प्रदेश व्यक्तिगत जागीर रूप में बाजीराव को मिले। मुगल साम्राज्य की घटती कला का लाभ उठाकर मारवाड़ का राजा अभयसिंह और आंबेर का जयसिंह क्रमशः गुजरात और मालवे के सूबे-पर अपने दांत गड़ाये थे।

पर मराठों के उस क्षेत्र में आजाने से अब उधर दोनों की साधें सफल न हुईं। अभयसिंह ने गुजरात के मराठा सेनापति और वर्तमान राज्य के संस्थापक पिलाजी गायकवाड़ को, जो सेनापति दाभाड़े की तरफ से वहां नियत था, धोखे से मरवा अपने मार्ग का कांटा साफ करना चाहा (१७३२)। पर गुजरात की प्रजा उसके मारवाड़ी अमलों

की दिन रात की लूटखसोट और धांधली से पहले ही त्रस्त थी। वहां की कोली भील आदि जंगली जातियों ने मराठों के पक्ष में विद्रोह खड़ा कर दिया। पिलाजी के बेटे दमाजी गायकवाड़ ने बड़ौदा और गुजरात का एक बड़ा अंश मारवाड़ियों से छीन लिया। उधर अभयसिंह ने अपने उत्तर बीकानेर और पूरब अजमेर की तरफ़ भी अपना राज बढ़ाने का जतन किया। बीकानेर में तो उसकी दाल न गली पर अजमेर के बड़े अंश पर उसका प्रभुत्व जम गया। अजमेर के भिणाय, सावर, मसूदा आदि के राठौड़ ठिकाने उसकी इन सफलताओं के फलस्वरूप मारवाड़ के आधिपत्य में चले गये।

आंबेर के महाराजा जयसिंह ने इस बीच महाराणा की खुशामद कर अपने छोटे लड़के और महाराणा के भानजे माधवसिंह के नाम पर मेवाड़ के रामपुरा भानपुरा की जागीर पा ली थी। बूंदी के राव बुधसिंह को भगा और अपने एक नुमाइन्दे दलेलसिंह हाड़ा को उसकी गद्दी पर बिठा कर तथा उससे अपनी एक लड़की ब्याह कर वह हाडौती को भी अपने बस में करने का जतन कर रहा था। मराठों द्वारा बंगश को हरवा उसने मालवे की सूबेदारी भी बादशाह से अपने नाम लिखा ली थी। पर पेशवा के सेनापतियों के गुजरात की मुहिम से लौटकर फिर राजस्थान आने पर उसे मालवे के २८ परगने और ६ लाख रुपये दंड रूप में उन्हें देने पड़े। मालवे पर इस प्रकार व्यवहारतः मराठा आधिपत्य स्थापित हो गया।

मराठा दरबार में हुए आपसी फैसले के अनुसार मालवा खास तौर पर पेशवा का व्यक्तिगत क्षेत्र माना गया और वहां की आमदनी में से एक बड़ा अंश उसे लेने का अधिकार मिला। उसके व्यक्तिगत अनुचर और सेनापतियों के रूप में मालवे के राणोजी शिन्दे, मल्हार होलकर और उदाजी पंवार* मालवे में भेजे गये। इन तीनों वंशों के पूर्वज

* बाजीराव ने शुरू में उदाजी पंवार को ही मालवे की जागीर दी

१४ वीं १५ वीं सदी में राजस्थान से ही उठ कर महाराष्ट्र में बसे थे और इनके सम्बन्ध राजस्थान से किसी न किसी रूप में चले आते थे।†

थी। पर बाद में संभवतः कार्य की गुरुता को देख मल्हार होलकर और राणोजी शिन्दे को भी उसने इधर भेजा और यहां की आमदनी में तीनों का भाग बराबर नियत किया। उदाजी इसपर रुष्ट हो कर गुजरात के मराठा जागीरदार सेनापति दाभाड़े के दल में, जो कि बाजीराव का विरोधी था, मिलने का जतन करने लगा। अतः इसके बाद इधर शिन्दे और होलकर को ही प्रमुखता मिलती गई, पंवारों पर पेशवा का उतना विश्वास न रहा।

† शिन्दे पुराने नागवंशी क्षत्रिय थे, जिनका अधिकार गवालियर नरवर आदि के प्रदेश पर चिरकाल तक रहा था। पंवारों का संबन्ध धार और मालवा से प्रसिद्ध ही है। होलकर धानक (गड़रिये) हैं। उनकी परम्परा है कि उनके पूर्वज पहले ब्रज में रहते थे। १२ वीं १३ वीं सदी में वे लोग चित्तौड़ के आसपास के प्रदेश में आकर बसे। किन्तु चित्तौड़ पर तुर्क अधिकार होने के बाद वे और दक्खिन राजस्थान की सीमा पर खान देश में बागलाना और पूर्णा नदी के कांठे (औरंगाबाद जिले) में जा बसे। मल्हार होलकर के पूर्वज मराठा युग में पूर्णा के काँठे से उठ कर पूना के पास होल नामक गांव में बसे थे, इसी से होलकर कहलाये।

* अपने पिता के देहान्त के बाद मल्हार (राजस्थान के सीमान्त पर) तलौदा में अपने मामा के पास रहता था। उसने अपनी लड़की से मल्हार की शादी कर दी थी। उसके ममेरे भाई नारायण को मेवाड़ के महाराणा की तरफ से मंदसौर के पास एक जागीर मिली थी। उसमें से आधी नारायण ने अपनी बहन को दे दी, जहां उसने अपने पति के नाम से मल्हार गढ़ का दुर्ग बनाया, बाकी आधी नारायण के वंशधरों के अधिकार में रही—जिसमें नारायण गढ़ का दुर्ग बना है।

इसी कारण बाजीराव ने उन्हें मालवे के लिए चुन कर भेजा।

बूंदी के राव बुधसिंह ने राज्यच्युत होने पर पहले मेवाड़ वालों से मदद मांगी, पर राजा जयसिंह के लिहाज़ के कारण राणा ने जब उसका साथ न दिया तो उसकी स्त्री ने दलेलसिंह के बड़े भाई और बुधसिंह के तरफदार सरदार प्रतापसिंह हाड़ा को मल्हार होलकर से सहायता लेने भेजा। तब मराठों को राजपूत राज्यों के आपसी मामलों में भी दखल देने का मौका मिला। मल्हार, राणोजी शिन्दे और प्रतापसिंह हाड़ा के इस प्रकार बुधसिंह का पक्ष लेने पर राजा जयसिंह को, हाड़ौती में भी अपने राज्य-विस्तार की सब योजनाओं पर पानी फिरता नजर आने लगा। उसने महाराणा जगतसिंह २य की, जो तभी गद्दी पर बैठा था, अध्यक्षता में मेवाड़ के हुरड़ा नामक स्थान पर समस्त राजपूत राजाओं का एक सम्मेलन बुला मुगलों और मराठों दोनों को राजस्थान से खदेड़ देने की संगठित चेष्टा की एक योजना बनाई (जुलाई १७३४ ई०)। पर राजपूत राज्यों के पीछे इस समय कोई ऊंची राजनीतिक आदर्श की प्रेरणा या जनहित की भावना काम न कर रही थी। अधिकांश राजपूत राजा संकुचित वंशाभिमान में चूर और व्यक्तिगत शानशौकत या विलासिता के शिकार थे। उन्हें एकत्र कर कोई कार्य करा लेना एक दुराशा मात्र थी।

उधर दिल्ली दरबार में भी राजस्थान से मराठों को निकाल बाहर करने के मशविरे हो रहे थे। नवम्बर १८३४ में मुगल सेनापति खान-ए-दौरान और वज़ीर कमरुद्दीन एक बड़ी सेना समेत मेवात आम्बेर के रास्ते मालवे की ओर बढ़े। जोधपुर का राजा अभयसिंह, आंबेर का जयसिंह, कोटा का राव दुर्जन साल आदि भी उसके साथ रास्ते में मिल गये। मराठों ने मालवे से उत्तर बढ़ हाड़ौती के दक्खिन मुकन्दरा घाटे को पार करते ही रामपुर के नाके पर मुगलों-राजपूतों की उस सम्मिलित फौज का मुकाबला किया। मुगलों और मराठों का प्रश्न आने पर जय-

सिंहकी भीतरी सहानुभूति मराठों की तरफ थी। उसके इशारे पर मराठे मुगल फौज पर घेरा डाल चारों तरफ के इलाके में प्रविष्ट हो खुली लूट-मार करने लगे। राजा जयसिंह ने तब बीच में पड़ मालवे की चौथ का २२ लाख रुपया मुगलों की तरफ से मराठों को दिलाने का वादा कर शांति-संधि करा दी। पर बादशाह ने जोधपुर के राजा अभयसिंह की शिकायत पर, उसके बहकावें में आ, यह समझौता न माना। मराठों ने गुजरात के रास्ते प्रविष्ट हो जालौर आदि मारवाड़ के अनेक प्रदेशों में लूट मार की। पर अभयसिंह के सेना ले कर दिल्ली से रवाना होने की सूचना पाकर वे गुजरात वापस लौट गये।

जयसिंह ने तब बाजीराव को उत्तर भारत पर बड़ी चढ़ाई का आमंत्रण भेजा। मुगलों ने जयसिंह से आगरा और मालवे की सूबेदारी छीन, दक्खिन पर एक विशाल आक्रमण की योजना बनाई थी, पर मराठा हरावलें बाजीराव के छोटे भाई चिमाजी अप्पा की अधीनता में बुंदेलखंड मालवा गुजरात और राजपूताने के रास्तों से उत्तर भारत में मुगल साम्राज्य पर एकाएक टूट पड़ीं। बाजीराव स्वयं भी पीछे से मालवा बागड़ से मेवाड़ के रास्ते उत्तर की तरफ बढ़ा। महाराणा जगतसिंह ने अपनी सीमा पर आगे बढ़ कर उसका स्वागत किया और अपने साथ उदयपुर लिवा लाया। बाजीराव ने शिवाजी के वंश की मूल गद्दी के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया और महाराणा से बनेड़ा जागीर रूप में मांगा। पीछोला के सरोवर में जगनिवास महलों का निर्माण तभी पूरा हुआ था, महाराणा उसे वहां ले जाना चाहता था, पर बाजीराव को इसमें कुछ धोखे का संदेह हो जाने से वह बिगड़ा। तब महाराणा ने १॥ लाख रुपया वार्षिक कर १० वर्ष तक मराठा राज्य को देना स्वीकार किया।

राजा जयसिंह अपने राज्य की सीमा से आगे बढ़कर किशनगढ़ पर बाजीराव से मिला और मालवा मुगलों से उसे दिला देने का पूरा

आश्वासन दे तथा अभी मौका नहीं है यह कह उसे उसने उस रास्ते जाने से रोका। बाजीराव भी दिल्ली से उस आश्वासन की पुष्टि होने पर दक्खिन वापस लौट गया।

बादशाह ने मराठों की सभी शर्तें मान ली थीं, जिनके अनुसार पुरानी दी हुई जागीरों और मुख्य मुख्य किलों को छोड़ मालवे का समूचा प्रदेश बाजीराव को सौंप दिया जाता। पर बाजीराव ने बाद में अपनी शर्तें बहुत बढ़ा दीं, जिन्हें पूरा मानने को बादशाह तैयार न हुआ। बाजीराव एक बड़ी सेना के साथ पूना से चालीस मील प्रति दिन की चाल से चलता हुआ अपने मुकाबले को आती बड़ी बड़ी मुगल फौजों को चक्कर दे, एकाएक दिल्ली आ पहुँचा (९-४-१७३७)। उसका इरादा दिल्ली को लूटने और मराठा शक्ति का कुछ वास्तविक परिचय बादशाह को देने या उसकी गद्दी को सर्वथा उखाड़ कर खत्म कर देने का था। पर वहां मुगल दरबार की भीतरी दशा का कुछ परिचय पाने के बाद उसने लिखा कि "मैंने अपना इरादा बदल दिया।" सम्राट् और देसी या हिन्दी दल मराठों से सहयोग करना चाहता था, पर मुगलई या विदेशी मुस्लिम दल उसके रास्ते में मुख्य बाधक था। अतः उसने अब साम्राज्य की डोर विदेशियों के हाथों से छीन अपने आदमियों के हाथों रखने तथा उसकी मान प्रतिष्ठा का उपयोग अपने पक्ष में कर अधिक से अधिक लाभ उठाने की नीति अपनाने का निश्चय किया। राजा जयसिंह और मेवाड़ के महाराणा के प्रभाव और प्रतिष्ठा का भी उपयोग उसने इस कार्य के लिए बराबर करना स्थिर किया। दिल्ली की फ़ौजें संभलकर जब राजधानी की ओर वापस लौटने लगीं तो बाजीराव सन्धि की बातचीत जारी रखते हुए, वहां से रेवाड़ी नारनौल कोटपूतली होता हुआ, मोहनपुरा के रास्ते अजमेर की तरफ हट गया। राजा जयसिंह ने, जो बादशाह के बुलाने पर अलवर हो कर दिल्ली की तरफ जा रहा था, अपना प्रदेश लुटने से बचाने को उसे घास-दाने

की सब सुविधाएं दे दीं और बादशाह से मालवे की नायब सूबेदारी दिलाने का भी आश्वासन दिया। अजमेर से बाजीराव ढूंढाढ़ के रास्ते गवालियर होकर अन्तर्वेद (पच्छिमी युक्तप्रान्त) की तरफ बढ़ा। मुगल दल ने तब निजाम को दक्खिन से बुलवा भेजा। महाराष्ट्र में तब कोंकण तट पर मराठों की पुर्तगालियों से लड़ाई छिड़ गई थी, अतः बाजीराव को दक्खिन लौट जाना पड़ा।

निज़ाम ने दिल्ली पहुँच कर जयसिंह से आगरे और मालवे की सूबेदारी छीन अपने भाई-बेटों को वहां शासक नियत कर दिया। अभयसिंह से गुजरात भी छीन लिया गया। इसके बाद एक बड़ी सेना के साथ वह बाजीराव को फिर उत्तर भारत में बढ़ आने से रोकने के लिए मालवे की तरफ बढ़ा। राजपूतों में अब सिर्फ कोटा का राव दुर्जनसाल मुगलों के साथ था। भोपाल के पास दुराहासराय पर बाजीराव ने निजाम को पूरी तरह घेर लिया और कोटा पर धावा मार मराठों ने उसे पूरी तरह लूटा। निजाम को हार माननी पड़ी और न सिर्फ मालवा बल्कि नर्मदा से चंबल तक समूचे प्रदेश (पच्छिमी बुन्देलखंड और ब्रज के अनेक अंशों समेत) पर मराठा आधिपत्य मनवा देने और ५० लाख की खंडनी (ransom) दिलाने का वादा करने पर मराठों ने उसे छोड़ दिया (जनवरी १७३८)।

§२. नादिरशाह की चढ़ाई, मराठों का चम्बल तक प्रभुत्व

भारत के उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर इस बीच एक नया प्रबल शत्रु उठ रहा था। राजस्थान के प्रांगण में चल रहे मुगल-मराठा संघर्ष के कारण सीमान्त की रक्षक सेनाएं प्रायः सब इस मोर्चे पर खिंच आई थीं। अतः इस मौके का लाभ उठा ईरान का महान सैनिक नेता नादिर शाह कन्दहार, काबुल और पंजाब जीत राजधानी दिल्ली पर आ टूटा (फरवरी १७३८ ई.)। राजपूत राजा निजाम के बरताव से रूठे हुए

थे और दर्बार का हिन्दी दल भी नाराज़ था। निजाम को नीचा दिखाने के लिए उसने तो नादिर का साथ भी दिया। बादशाह ने इस राष्ट्रीय विपत्ति के समय बाजीराव को सहायता के लिए बुलाया। वह आने को तैयार था; पर मराठा फौजें तब कोंकण में पुर्तगालियों से उलझी थीं। नादिरशाह को भी डर था कि कहीं मराठे मुहम्मदशाह की मदद पर आ न जांय, अतः उसने पत्र लिख कर मराठा छत्रपति की खुशामद की और उसे पसन्न करने का जतन किया।

दिल्ली लूटने के बाद नादिर ने राजस्थान की तरफ बढ़ने का विचार प्रकट किया। राजपूत राजाओं में इससे त्रास फैल गया और जयसिंह आदि ने अपने परिवार सुरक्षा के लिए महाराणा के पास उदयपुर भेज दिये। बाजीराब ने चंबल से नर्मदा तक के सब घाटों की रक्षा का भार अपने पर लिया और पुर्तगाली युद्ध को जैसे तैसे समाप्त कर मराठा सेनाओं को मालवा बुलवा भेजा। नादिरशाह संभवतः इन तैयारियों के समाचार पा अधिक दिन भारत में ठहरना बुद्धिमानी न समझ, मराठा सेनाओं के उत्तर प्रयाण के ९ दिन पहले (४ मई १७३९ ई. को) ही करीब ६५ करोड़ की नकदी रत्न-आभूषण आदि की लूट ले, दिल्ली से ईरान की तरफ रवाना हो गया। राजस्थान के उत्तरी अंश मेवात एवं हरियाने के कृषक, जाटों गूजरों अहीरों आदि, ने तथा पंजाब में सिक्खों ने रास्ते में उसका यह बोझ कुछ हलका किया। संभवतः उन्हें ही दबाने को नादिर ने बाद में बलोच अफगान आदि सैनिकों की टुकड़ियां इधर भेजीं, जिन्होंने अगले युग में लुटेरों और भाड़ैत सैनिकों के रूप में राजस्थान के इतिहास में काफी महत्वपूर्ण भाग लिया। राजस्थान के उत्तर पंजाब और पच्छिम सिन्ध में इसके बाद ईरानी राज्य कायम हो गया और दिल्ली दरबार की रही सही प्रतिष्ठा भी धूल में मिल गई।

अगले बरस राजस्थान के दक्खिनी अंचल में हंडिया और खरगाँव की अपनी जागीरों का प्रबन्ध देखते हुए, नर्मदा तट पर बीमार पड़ जाने

से बाजीराव का देहान्त हुआ (२५ अप्रैल १७४०)। उसकी उमर तब कुल ४३ वर्ष की ही थी। उसका भाई चिमाजी भी उसका शीघ्र ही अनुगामी हुआ। राजा शाहू ने तब मराठा मंडल की पेशवाई बाजीराव के लड़के बालाजीराव को सौंपी। दुराहरासराय की संधि को पुष्ट कराने के लिए उसी वर्ष बालाजीराव एक बड़ी सेना ले गवालियर तक बढ़ा। राजा जयसिंह मुगलों की तरफ से उसे धौलपुर जाकर मिला (१५ मई १८४१) और मालवा स्थायी रूप से मराठों को सौंप दिया गया।

मालवे में जम जाने से मराठों को राजस्थान और मुगल साम्राज्य के उत्तरी सूबों की रोजमर्रा की राजनीति में दखल देने को अच्छा आधार मिल गया।

§ ३ सवाई जयसिंह

१७४३ में आंबेर के राजा जयसिंह का देहान्त हुआ। वह एक सुशासक चतुर राजव्यवहारी (diplomat) और दूरदर्शी राजनेता था; जिसमें ऊँची कल्पना और व्यवहार बुद्धि दोनों प्रचुर मात्रा में विद्यमान थीं; आंबेर का ठिकाना उसकी अवसर दर्शिता और राजनीतिक सूझबूझ के फल स्वरूप बढ़कर प्रायः समूचे ढूंढाड़ प्रदेश का राज्य बन गया था। ढूंढाड़ के उत्तर नागरचाल और झुझणूंवाटी (फतहपुर) की कायमखानी रियासत समाप्त हो वर्तमान शेखावाटी के रूप में वह समूचा प्रदेश, उसके पूरब और उत्तर समूचा मेवात तथा दक्खिनपूरब जमना और चंबल पर्यन्त ब्रज के कई अंश भी धीरे धीरे उसके वश में आ गये थे।

मुगल सम्राज्य की घटती कला के समय अपना स्वतंत्र राज कायम करने का मौका ताकने वाले निजाम आदि अन्य सेनापतियों, मुगल अधिकारियों, या मन्सबदारों की तरह वह भी अपना राज बढ़ाने में और उसे दृढ़ करने में तत्पर था; पर जोधपुर के राजा अभयसिंह आदि

की तरह वह सिर्फ एक सिद्धान्तहीन साहसिक न था। मराठों के 'हिन्दू पतपातशाही' वाले आदर्श के प्रति उसकी सहानुभूति थी। लड़खड़ाते हुए मुगल साम्राज्य को एक दम ढाने के बजाय, जहां तक हो सके उस केन्द्र को अपने प्रभाव में बनाये रख कर उसके प्रभुत्व की प्रतिष्ठा का अपने लाभ के लिए उपभोग करने और इस प्रकार हिन्दू-पतपातशाही के आदर्श को एक नये रूप में—मुगल साम्राज्य को ही भारतीयों के एक केन्द्रिक साम्राज्य या राष्ट्रीय राज्य में—बदल देने की नीति, बाजीराव ने बहुत कुछ उसकी सलाह पर चलकर ही स्वीकार की की थी। उदयपुर के महाराणा के प्रति भी चौदहवीं सदी से चले आते हुए राजपूतों के मुखिया और 'हिन्दुआ सुल्तान' के रूप में हिन्दुओं के के एकमात्र नेता और हिन्दु राज्य का प्रतीक होने से, जयसिंह की आदर भावना थी। राणा की अध्यक्षता में उसने राजस्थान की समस्त बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र कर, यहां के मामलों में बाहरी शक्तियों द्वारा समय समय पर किये जाने वाले हस्तक्षेप को और उसके फलस्वरूप होने वाली यहां के जन धन की अपार हानि को, रोकने के भी उसने अनेकों जतन किये थे; पर वे, इस युग के राजपूत राजाओं की, अपनी जनता के प्रति कर्तव्य भावना की अपेक्षा, अपने वंशों कुलों की प्रतिष्ठा या व्यक्तिगत सुख सुविधाओं को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति के कारण, सफल न हो सके।

जयसिंह संस्कृत हिन्दी मराठी तुर्की फारसी अरबी आदि अनेक भाषाओं का ज्ञाता और गणित ज्योतिष कर्मान्तकी* (एंजिनियरिंग) आदि में भी व्युत्पन्न था। गणित और ज्योतिष में उसने अपने समय तक हुई यूरप और एशियाई देशों की नई से नई खोजों का समावेश

---

* इंजिनियर के अर्थ में कर्मान्तक नवकर्मान्तक शब्द का प्रयोग राजस्थान के मध्यकालिक अभिलेखों में बहुत बार आया है।

और समन्वय कर भारतीय ग्रह नक्षत्रों की संशोधित सरणियां बनवाई थीं। इसके लिए उसे जब मालूम हुआ कि युरप में ज्योतिष की नयी खोजें हुई हैं तो उसने जरमनी से बड़ा खर्चकर ज्योतिषी पादरियों को अपने यहां बुला उनकी तालिकाओं की भी जांच कराई थी। जयपुर दिल्ली उज्जैन और बनारस में उसकी बनवाई वेधशालाएँ (जन्तर मंतर या मानमंदिर) उसकी विद्वत्ता ज्ञान पिपासा के मूर्त्त चिन्ह हैं और आंबेर के पास नई राजधानी के रूप में बसाया गया जयपुर जैसा सुयोजित और सुन्दरतम नगर कर्मान्तकी में उसकी गति, रुचि और कीर्ति का योग्य स्मारक है।

§ ४. मराठों राजपूतों में बिगाड़ होना

जयसिंह के बाद आम्बेर जयपुर की गद्दी पर उसका बड़ा बेटा ईश्वरीसिंह बैठा, पर महाराणा जगतसिंह ने अमरसिंह द्वितीय के समय वाली संधि के अनुसार अपने भानजे माधवसिंह को राजगद्दी दिलानी चाही। मराठे शुरू में ईश्वरीसिंह के पक्ष में थे; पर महाराणा के धन का लालच दिलाने पर, कोटे का राव दुर्जनसाल बूंदी के पदच्युत राव बुधसिंह का बेटा उम्मेदसिंह तथा मालवा में पेशवा का मुख्य कारिन्दा मल्हार होलकर, माधवसिंह का पक्ष लेने लगे। ईश्वरसिंह ने पेशवा को अपने पिता और स्व० बाजीराव के बीच के संबन्धों की याद दिलाई। पर मल्हार के बहकावे और राणा के धन के प्रलोभन में फंस, पेशवा अपने दूसरे सरदारों (शिन्दे आदि) के विरोध के बावजूद, माधवसिंह के पक्ष में हो गया और उसने ईश्वरीसिंह का कोई लिहाज न किया।

बाजीराव ने उत्तर भारत की राजनीति में, आरंभ से, राजपूतों के सहयोग से काम लिया था। बालाजीराव को इस समय उसकी और भी अधिक जरूरत थी। पर राजा शाहू के इसी समय (१७४३ में) अचानक एक लंबे अरसे के लिए बीमार पड़ जाने और १७४९ में उसके

देहान्त तथा बाद में छत्रपतित्व के लिए उठे उत्तराधिकार संबन्धी अनेक झगड़ों और दक्खिन के मामलों में ही फंसा रहने के कारण वह इधर की घटनाओं पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान न दे सका। फलतः उत्तर भारत का कारबार प्रायः उसके कारिंदों होलकर शिन्दे आदि की ही मारफत चलाया जाता रहा। वे लोग मराठा राजनीति के सूत्रों को दूर दृष्टि से जोड़ने की बजाय प्रायः अपने क्षणिक और व्यक्तिगत लाभालाभ को ही अधिक महत्व देते।

ईश्वरीसिंह ने आत्महत्या कर ली। मराठा सहायता से माधवसिंह जयपुर की और बुधसिंह का बेटा उम्मेदसिंह बूंदी की गद्दी पर बैठे। पर मराठे उनसे भी बनाकर न रख सके। माधवसिंह से अपनी सहायता की एवज में टोंक तथा मेवाड़ का रामपुरा भानपुरा प्रदेश, जो माधवसिंह को राज न मिलने तक जागीर के रूप में महाराणा की तरफ से दिया गया था, अब मल्हारराव ने ले लिये। राणोजी शिन्दे ने इस पर आकर जयपुर वालों से कुल राज्य का एक चौथाई भाग अपने लिए मांगा। तब माधवसिंह की भी मराठों से बिगड़ गई और समूचे जयपुर राज में उनके खिलाफ विद्रोह उठ खड़ा हुआ; जो मुश्किल से दबाया जा सका (१७४८)। कोटा बूंदी और मेवाड़ से भी उनके संबन्ध शीघ्र ही बिगड़ गये और मराठों की मित्रता की साख राजस्थान भर से उठ गई।

§ ५. अब्दाली और दाऊदपोत्रों का उदय, मराठों का सारे राजस्थान पर आधिपत्य

तभी ईरान में नादिरशाह का कतल हो गया (९-६-१७४७)। उसका प्रधान सेनापति अहमदशाह अब्दाली जो कि स्वयं पठान था अब कन्दहार आकर पठानों का शाह बना। उसने नादिर का अनुसरण कर दिल्ली साम्राज्य की कमजोरी से लाभ उठाना तय किया।

मुगलों (तुर्क-ईरानियों) और पठानों का अस्थिवैर शेरशाह के जमाने से चला आता था। अहमदशाह अब्दाली के उत्थान से भारत में बसे हुए पठान सचेष्ट हो उठे और यहां फिर से पठान राज्य कायम होने के सपने देखने लगे।

पंचाल देश में पठानों के उदय के साथ ही सिन्ध डेराजात (डेरा गाजीखां, डेरा इस्माइलखां) और जोहियाबार (प्राचीन यौधेय देश के उत्तर पच्छिमी बड़े अंश) में बलोचों का प्राबल्य हो उठा। उन्होंने राजस्थान के थर पारकर प्रदेश पर, जो सोढों (परमार राजपूतों की एक खांप) के अधिकार में था, अपना आधिपत्य स्थापित किया तथा जयसलमेर और बीकानेर के उत्तर भाटियों से देरावर आदि की बस्तियां छीन कर बहावलपुर में दाऊदपोत्रा राज की स्थापना की। हाकड़ा के दक्खिन मोजगढ़ वल्लर (सारदारगढ़) आदि की बस्तियों वाले राजस्थानी प्रदेश के लिए उनकी भाटियों जोहियों और बीकानेर वालों से छीनाझपटी चलने लगी। थर पारकर के लिए जोधपुर वालों से भी उनकी खटपट चलने लगी। जयसलमेर के पच्छिम तणोट (तणुकोट) आदि प्रदेशों में सिन्धी भाषी लोगों का प्राधान्य भी तभी से हुआ।

देहली और जमना-गंगा दोआब (प्राचीन कुरुदेश) के पूरब नजीबाबाद से बरेली और बदायूँ तक प्राचीन उत्तर पंचाल देश है। वहां सतरहवीं सदी के अन्त से अनेक पठान साहसिक लोग आ आकर बसने शुरू हुए थे, जो अफगान देश के पहाड़ी इलाके (रोह*) के रहने वाले होने से रुहेले कहलाते थे। उनके नाम से उत्तरपंचाल का नाम अब रुहेलखंड पड़ गया था।

कुरु और पंचाल में रुहेलों ने वहां के पुराने हिन्दू जागीरदारों

---

* पश्तो भाषा में रोह का अर्थ होता है पहाड़।

से छीन छान कर अपनी अनेक बड़ी जागीरें बनाली थीं। उनके दक्खिन निचले जमना गंगा दोआब अर्थात् एटा इटावा फरुखाबाद और कानपुर जिलों का प्रदेश प्राचीन दक्खिन पंचाल है। अफगानों की बस्तियां वहां भी बड़ी मात्रा में बसी थीं। उनके पच्छिम, कुरु और राजस्थान के बीच, अलीगढ़ से पलवल और कामा तक तथा मैनपुरी से करौली और सबलगढ़ तक, जमना और चंबल के खादर के दोनों ओर का प्रदेश प्राचीन शूरसेन या व्रज है, जहां किसानों के रूप में मुख्यतः जाटों की बस्ती है। कुरु-पंचाल में भी जाट कृषक ही मुख्य हैं। सतरहवीं सदी के आरंभ से व्रज के इन कृषकों में भी एक तरह की राजनीतिक सचेष्टता जागी हुइ थी। पर राजा जयसिंह और दक्खिन पंचाल के नवागन्तुक अफगानों के सामने उन्हें दबना पड़ा था।

जयसिंह के बाद व्रजवासी अपने बूढ़े नेता बदनसिंह और उसके दत्तक पुत्र सूरजमल (जाटा) के नेतृत्व में फिर उठ खड़े हुए। सिनसिनी थूण आदि की अपनी पुरानी गढ़ियों की जगह उन्होंने डीग कुंभेर भरतपुर जैसे अनेक दृढ़ दुर्ग बना लिये। राजस्थान में अलवर और रेवाड़ी तक उनकी कार्यवाहियाँ चलने लगीं।

सन् १७४८ के शुरू में अब्दाली लाहौर छीनकर दिल्ली की तरफ बढ़ा। मुहम्मदशाह ने अपने बेटे शाहजादा अहमद और अवध के सूबेदार के भतीजे सफ्दरजंग को मुकाबले के लिए भेजा। सरहिन्द पर उन्होंने अब्दाली को हराकर (११-३-१७४८) लौटा दिया। इसके एक मास बाद मुहम्मदशाह चल बसा और अहमदशाह गद्दी पर बैठा। उसने अब्दाली और रुहेलों की रोकथाम के लिए सफ्दरजंग को, जो कि ईरानी था, अपना वज़ीर बनाया।

सफ्दर ने रुहेलों के विरुद्ध मराठों और व्रजवालों से मदद माँगी। मराठा फौजें उसके बुलाने पर जयपुर से सीधी दक्खिन पांचाल की ओर बढ़ीं। उन्होंने व्रजवासियों की मदद से दक्खिन पंचाल शीघ्र ही

पठानों से साफ कर दिया और उन्हें खदेड़ते हुए उत्तर पंचाल और कुमाऊँ की तराई तक ले गये (मार्च १७५२)। ब्रजमंडल और दक्खिन पंचाल भी इस प्रकार मराठा आधिपत्य में आ गये। अब्दाली ने तभी पंजाब पर फिर चढ़ाई की। बादशाह और बज़ीर ने मराठों को आगरा और अजमेर, अर्थात् ब्रजमंडल और राजस्थान की सूबेदारी बाकायदा सौंप दी। उसके उत्तर हिसार संभल मुरादाबाद और बदायूँ में भी, अर्थात् राजधानी के चौगिर्द हरियाना कुरु और उत्तर पंचाल की जागीरें भी उन्हें दीं। पंजाब के चार मुहालों की मालगुजारी और समूचे सिन्ध पंजाब से चौथ वसूली का अधिकार भी उन्हें दिया और समूचे साम्राज्य में आन्तरिक और बाहरी शत्रुओं को दबा कर व्यवस्था कायम रखने का कार्य उन्हें सौंप अब्दाली के विरुद्ध उनसे मदद मांगी।

इधर राजस्थान में मारवाड़ के राजा अभयसिंह का देहान्त हो गया था (१७४९ ई०)। सरदारों ने उसके अयोग्य और मूर्ख लड़के रामसिंह को हटा अभयसिंह के भाई, नागौर के जागीरदार- बख्तसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बिठाया। रामसिंह तब मराठों से मदद पाने कुमाऊँ की तराई में पहुँचा। पर मराठा फौजें पेशवा के बुलाने पर अब दक्खिन लौट रही थीं, अतः उनके लिए न तो बादशाह और बज़ीर को अब्दाली के विरुद्ध पंजाब में मदद भेजना संभव था, न मारवाड़ में रामसिंह को।

बख्तसिंह ने रामसिंह की मदद के लिए आई छुटपुट मराठा टुकड़ियों को मारवाड़ से शीघ्र ही मार भगाया और अजमेर पर भी दखल कर लिया। वह अब जयपुर के महाराजा माधवसिंह से मिलकर मराठों को समूचे राजस्थान से बाहर निकाल देने की योजनायें बनाने लगा। इसके लिए उसने मेवाड़ की राजनीति में भी दखल दिया। वहां राणा जगत सिंह के बाद (१८५१ ई०) उसके क्रूर उद्धत स्वेच्छाचारी विलासी और कमजोर लड़के प्रतापसिंह द्वितीय के खिलाफ सरदारों के एक बड़े दल ने

विद्रोह किया हुआ था। बख्तसिंह ने उन्हें मदद दे एक दूसरे दावेदार को गद्दी दिलानी चाही। पर तभी बख्तसिंह का भी देहान्त हो गया। उसका लड़का विजयसिंह और रामसिंह मारवाड़ की गद्दी के लिए तब फिर लड़ने लगे।

§ ६. भारत में यूरोपी शक्ति का उदय

पेशवा बालाजी राव के प्राण इस बीच दक्खिन में एक नये संकट का मुकाबला करने में फँसे थे। राजा शाहू के देहान्त के बाद छत्रपतित्व के उत्तराधिकार के लिए उठे झगड़ों को तो वह बड़ी होशियारी से निपटा कर मराठा मंडल का सर्वेसर्वा बन चुका था। पर तभी दक्खिन के मुगल सूबेदार हैदराबाद के निजामुल्मुल्क प्रथम का भी देहान्त हो गया (२१-५-१७४८) और उसका बेटा नासिरजंग तथा दोहता मुज़फ्फरजंग गद्दी के लिए परस्पर झगड़ने लगे। पेशवा ने नासिरजंग का पक्ष लेकर उस राज्य पर भी अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश की, पर मुजफ्फरजंग का पक्ष लेकर ऐन मौके पर फ्रांसीसियों के आड़े आ जाने से उसे अपनी सारी योजनायें विफल होती नजर आने लगीं।

पच्छिमी यूरप की जातियों का संपर्क हमारे देश से पन्द्रहवीं सदी के अन्त से हुआ था। राणा साँगा जिस साल गद्दी पर बैठे, ठीक उसी साल (१५०९ ई०) पुर्तगालियों ने गुजरात के सुलतान महमूद बेगड़ा और मिस्र के सुलतान का संम्मिलित बेड़ा दीव बन्दरगाह पर डुबाकर भारतीय समुद्रों पर अधिकार कर लिया था। पर स्थल में भारत के बादशाहों की सेनाओं का आतंक वे तब तक मानते थे। पर वहां भी तोपचियों और समर कर्मान्तकों के रूप में उनकी नियुक्तियां सोलहवीं सदी से ही होने लगीं, क्योंकि वे लोग उन कार्यों में भारतीयों से अधिक होशियार हो गये थे। अतः उस अंश में भारतीय सेनाओं की कमजोरी को वे जल्दी ही जान गये। यूरोप में इसके बाद बारूद तोप और

बन्दूकों का प्रयोग बढ़ने से वहां की समर कला और सामाजिक तथा राजनीतिक संघटन में कई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। एक नेता के आदेश में रहकर एक साथ प्रहार करने वाली साधारण लोगों की बन्दूकची पदाति पलटनों के सामने मध्यकालीन कुलीन घुड़सवार फ़ौजों का निकम्मापन वहां शीघ्र ही प्रकट हो गया। उनकी सहायता से सामन्तों के छोटे छोटे कोटले और गढ़ ढा दिये गये और वहां बड़े बड़े केन्द्र-ग्रथित राज्यों का विकास होने लगा, जिनमें अभिजातों के मुकाबले में सामान्य जन का महत्व धीरे धीरे पुनः स्थापित हो गया, एवं छोटी रियासतों और जागीरों की सीमाबन्दी टूटने से, व्यापार व्यवसाय को उत्तेजन मिल कर, नये नये शिल्प उद्योगों का विकास हुआ।

भारत में यह सब तब न हो पाया। बल्कि यहां उलटे मुगल साम्राज्य के ह्रास के साथ नये नये जागीरदार और सामन्त उठ खड़े हुए थे और सेना आदि में उन्हीं का जोर था। अतः यूरप वाले अब सोचने लगे कि यदि वे अपनी सेनायें यहां बड़ी राशि में ला सकें तो उनके लिए, इस देश को जीत लेना बहुत आसान होगा। पर यूरप की सेनाएँ उतने बड़े पैमाने पर यहाँ लाना संम्भव न था। ऐसी दशा में तामिलतट की फ्रांसीसी बस्ती के पुद्दूचेरी (पांडिचरी) के शासक द्यूमा (Dumas) को सबसे पहले यह सूझा कि भारतीयों को ही अपनी समरकला सिखाकर उनसे यह काम लिया जा सकता है, क्योंकि वे एक अत्यन्त पुरानी सभ्यता के वारिस होने से कोई भी काम आसानी से सीख सकते हैं। लेकिन उनमें किसी तरह की राजनीतिक चेतना या राष्ट्र भावना का सर्वथा अभाव था, अतः उन्हें किसी परदेसी के हाथ का हथियार बन अपने ही भाइयों पर गोली चलाने में कोई शरम या गैरत नहीं थी। दूसरे, उनमें कोई महत्वाकांक्षा या ज्ञानपिपासा भी न थी कि वे उस सिखाई हुई विद्या की जड़ तक जाकर उसे पूरी तरह समझ अपना सकते और उन्हीं दिशाओं में अपना स्वतंत्र संगठन खड़ा कर

फ्रांसीसियों के मुकाबले में खड़े होने का खतरा उपस्थित करते। यूरप वालों ने ग्यूमा की उस सूझ को "भारतीय सिपाही का अविष्कार" नाम दिया और १८ वीं सदी का सबसे महत्वपूर्ण सामरिक और राजनीतिक अविष्कार माना था।

ग्यूमा के बाद फ्रांसीसियों ने अपने इस नये हथियार की शक्ति भारतीय राजा नवाबों के आपसी मामलों में दखल देकर आजमानी शुरू की। १८५२ में उनका एक सेनापति दबुसी पेशवा के विरुद्ध लड़ता हुआ पूना से सिर्फ १६ मील की दूरी पर आ पहुँचा। पेशवा यह देख स्तब्ध रह गया और उसका मुकाबला करने को उसने उत्तर से अपनी सारी फौजों को दक्खिन बुला भेजा। उनके द्वारा उसने इस संकट का कुछ मुकाबला कर भालकी की सन्धि की (२५-१२-१७५२), पर हैदराबाद पर फ्रांसीसी प्रभाव पूरी तरह जम गया। फ्रांसीसियों की देखा देखी अंग्रेजों ने भी भारतीय सिपाही तैयार कर लिये थे। तामिल मैदान पर अपना कब्जा जमाने के लिए वे दोनों अब आपस में लड़ने लगे।

§ ७. बालाजीराव की दिशामूढ़ राजनीति

पेशवा की स्थिति उस समय देश में वास्तविक रूप से और कानूनी रूप से मुगल बादशाह के बाद सबसे ऊपर थी। बादशाह ने उसे साम्राज्य भर में शान्ति बनाये रखने का अधिकार सौंप दिया था और मराठा मंडल का वह सर्वमान्य नेता था ही। उस दशा में यदि वह अपनी जिम्मेदारी को समझ दूरदर्शिता से काम ले सकता और सोच समझ कर अपनी नीति निर्धारित करता तो उसके सामने करने के तब दो काम मुख्य थे। एक तो उत्तर भारत की अफगान समस्या का हल ठीक से करना और मुगल दरबार को अपनी मुट्ठी में रख, उसके प्रभाव का उपयोग साम्राज्य भर में अपने आधिपत्य को दृढ़ करने में करना

और दूसरे दक्खिन और पूरब में जो समुद्रपार के विदेशी अपना पांव जमाने लगे थे उन्हें वहां से निकाल बाहर करना। इनमें से पहले कार्य के लिए उसके जो सबसे अधिक सहायक हो सकते थे उन राजस्थान के राजपूत राजाओं और यहां की जनता में तो यद्यपि वह मराठा मैत्री की साख, जयपुर आदि के मामले में, गंवा चुका था तो भी व्रज के नेताओं, अवध के नवाब वजीर और बादशाह के रूप में उसे कई अच्छे मित्र प्राप्त थे। व्रज और अवध के इलाके रुहेलखंड के ठीक पड़ोसी और प्रतिद्वन्द्वी थे। रुहेलों की रोक थाम के लिए उनकी फौज का विशेष मूल्य होता। दूसरे काम के लिए पेशवा मैसूर आदि दक्खिन के छोटे राज्यों का सहयोग पा सकता था। पर दुर्भाग्य से वह दोनों ओर की परिस्थिति को ठीक से न समझ सका। उसने समझा कि मुगल साम्राज्य अब गिर चुका है और दक्खिन में उसकी शाखाएँ बटोरने का समय आगया है; अतः ठीक उसी समय उसने दक्खिन के सब छोटे राज्यों के खिलाफ मोर्चा खोल दिया। और चूंकि फ्रांसीसी इस कार्य में उसके बाधक थे, अतः उनके मुकाबले में अंग्रेजों को, जो उनके सफल प्रतिद्वन्द्वी साबित हुए थे, उसने बढ़ाने का निश्चय किया। उसने यह न देखा कि आखिर वे भी विदेशी हैं और यदि आज फ्रांसीसी पांव जमाकर उसके लिए खतरा पैदा कर सकते हैं तो कल अंग्रेज भी वही करेंगे। उत्तर भारत में उस समय उसकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक थी, पर वहां वह अपने सेनापतियों को भेज दक्खिन में अपनी शक्ति नष्ट करता रहा। उसकी दक्खिन की चढ़ाई का नतीजा यह निकला कि जिन अंग्रेजों से उस समय मराठा राज्य को सबसे अधिक खतरा था उन्हें तो राहत मिल गयी और मैसूर आदि जिन स्वदेशी शक्तियों की सहायता, उन विदेशियों के मुकाबले में पेशवा ले सकता था, उन्हीं को कमजोर करने में मराठों की ताकत बार-बाद होती रही।

बालाजीराव ने अपने भीतरी शासन में भी एक वैसी ही भारी भूल

की (१७५६)। मराठों के समुद्री बेड़े के अध्यक्ष कान्हो जी आंग्रे का देहान्त हो गया था। उसके बाद उसके बेटे तुलाजी आंग्रे ने कुछ अपराध किया। पेशवा ने अपने उस प्रजाजन के खिलाफ भी अंग्रेजों से मदद ली। अंग्रेजों का मराठा बेड़ा बहुत दिनों से इन विदेशियों की आंखों में खटक रहा था, वह पिछले पचास वर्षों से भारतीय समुद्रों में फिरंगी चांचरी (जल डकैती) को रोकने में मराठा राज का मुख्य साधन था। पेशवा की मदद पाकर अंगरेज़ों के नेता क्लाइव और वाट-सन ने उसे समूल नष्ट कर दिया और कोंकण तट की सब मराठा चौकियां एक एक कर अपने कब्जे में कर लीं। तभी बंगाल बिहार के चौकन्ने नवाब अलीवर्दीखां का देहान्त होने पर अंग्रेजों ने उसके बेटे सिराजु-द्दौला के विरुद्ध खुले आम षड्यन्त्र आरंभ कर दिये। इन षड्यन्त्रों में दो राजस्थानी सेठों जगत सेठ (ओसवाल) और अमीचंद (अग्रवाल) ने विशेष भाग लिया। इनके पूर्वज मुगलों के सूबेदार रूप मे वहाँ जाने वाले राजपूत राजाओं और सेनापतियों के खजाञ्ची मोदी आदि बनकर उधर गये थे। तब से ये अपना कारबार उधर फैलाये हुए थे तथा उन सूबों में साम्राज्य के आर्थिक मामलों का भी नियंत्रण करते थे। नवाब ने उन षड्यंत्रकारी अंगरेजों के विरुद्ध फ्रांसीसियों से मदद लेनी चाही तो बालाजीराव पेशवा चौंका। उसे खटका हुआ कि हैदराबाद की तरह कहीं फ्रांसीसी वहां भी हावी न हो जांय। १७५६ के आरंभ में पेशवा ने अंग्रेजों के कप्तान ड्रेक को बढ़ावा देते हुए लिखा कि नवाब से हर-गिज न दबो, आवश्यकता होने पर एक बड़ी सेना सहयता को भेजी जा सकती है। बंगाल के नवाब को फ्रांसीसी हैदराबाद से मदद न भेज सकें इसके लिए पेशवा ने हैदराबाद के उत्तरी जिलों में विद्रोह भड़का दिया। हैदराबाद का फ्रांसीसी सेनापति द-बुसी उसे बुझाने में बझ गया। इसके बाद पलाशी के मैदान में युद्ध का एक दिखावा सा कर मीर जाफर के देश द्रोह से अंग्रेजों ने कैसे नवाव को मरवाया और बिहार बंगाल को

अपने नियन्त्रण में ले लिया (२३-९ -१७५७ ई०) सो सुविदित है। पेशवा को, जिसे १८५२ में बादशाह ने समूचे साम्राज्य के आन्तरिक और बाहरी उपद्रवों को शान्त करने का कार्य सौंपा था, चाहिए था कि इस मौके पर, प्रभुशक्ति के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में बंगाल पहुँचकर अंग्रेजों और नवाब के झगड़े में दखल देता या उन सूबों का शासन बादशाह के नाम पर सीधे अपने नियन्त्रण में ले लेता। पर उसने तो फ्रांसीसियों को वहां पहुँचने न देने में ही अपने कर्तव्य की इति मानली थी। फलतः साम्राज्य का वह सबसे अधिक उपजाऊ और धनी प्रदेश उसकी उस गफलता के कारण विदेशियों के हाथ में चला गया।

§ ८. राजस्थान ब्रज और अवध में मराठों का अपनी साख गंवाना

पूरे साल भर अनुपस्थित रहने के बाद मई १८५३ में मराठे रघुनाथराव के नेतृत्व में, राजस्थान वापस आये। दिल्ली में तब अहमद शाह और वज़ीर सफदरजंग के बीच झगड़ा चल रहा था। अहमदशाह निज़ाम वंश से एक नौजवान इमाद की प्रेरणा से एक तूरानी सरदार को अपना वज़ीर बना सफदर को राजधानी से निकालने का जतन कर रहा था। रुहेलखण्ड के पठानों का नेता नजीबखां स्वभावतः सफदर के विरुद्ध था। साल भर पहले गंगा-जमना दोआब और दिल्ली के चौगिर्द के प्रदेश में प्रविष्ट हो अपने पांव जमाने का अवसर मराठों को सफदर और ब्रजवालों की सहायता से ही मिला था। उस मित्रता का तकाज़ा था कि मराठे अब सफदर की मदद करते। पर पेशवा को इमदाद से दक्खिन में अधिक सहूलियतें पाने की आशा थी। अतः मराठे भी बादशाह और इमदाद का ही पक्षपोषण करने लगे और दोनों की शक्ति क्षीण होने तक मालवे में ही रुके रहे।

बादशाह भी इस बीच इमाद से ऊब गया और उसने जयपुर के

राजा माधवसिंह को बीच में डाल सफदर और सूरजमल (व्रज के नेता) से समझौता कर लिया। माधवसिंह को इस सेवा के बदले रणथंभोर का दुर्ग इनाम मिला। पर मराठे बादशाह का भी पक्ष छोड़ इमाद के मददगार बन गये। वे व्रज के अपने पुराने सहयोगी और मित्र सूरजमल को भी दबाना चाहते थे। बादशाह ने तब मराठों और इमाद के विरुद्ध सूरजमल, सफदर और राजपूतों से सहयोग लेना स्थिर किया। मराठे तब इन्दौर से चल मुकन्दरा पारकर कोटा और बून्दी होते हुए जयपुर राज में प्रविष्ट हुए (दिसंबर १७५३)। राजा माधवसिंह ने दसलाख रुपया खिराज का चुकाया। जोधपुर का रामसिंह भी वहीं विजयसिंह के खिलाफ मदद लेने उनके पास पहुँचा। मराठे ढूँढाड़ से व्रज की तरफ बढ़े। सूरजमल कुम्भेर में घिर गया और चार मास के उपरोध के बाद अधीनता मानने को विवश हुआ। मल्हार होलकर का बेटा प्रसिद्ध रानी अहल्याबाई का पति खांडेराव इसी युद्ध में मारा गया।

अहमदशाह दिल्ली के दक्खिन सिकन्दराबाद में सूरजमल और सफदर की प्रतीक्षा में पड़ाव डाले पड़ा था। मल्हार होलकर कुम्भेर के बाद मथुरा लेता हुआ एकाएक उसके सिर पर जा पहुँचा। शिविर में भगदड़ मच गई। मल्हार ने दिल्ली पहुँच अपनी शर्तें मनमाने रूप से लिखवायीं। इमाद को वजीर बनाया गया। उसने कुरान हाथ में ले अहमदशाह के प्रति वफ़ादारी की शपथ ली और दरबार से बाहर निकलते ही एक दूसरे शाहज़ादे को आलमगीर २य के नाम से बादशाह घोषित कर अहमदशाह को कैद में डलवा दिया। मुगलियावंश की बची खुची इज्जत भी इस प्रकार धूल में मिल गई और साथ में मराठा राजनीति की क्षणिक लाभ के पीछे दूर दृष्टि और सिद्धान्तों को ताक में रख देने की प्रवृति जो जयपुर के मामले में राजस्थानियों को दिखाई दी थी, अब व्रज और अवध के नेताओं के सामने भी खुल कर प्रकट हो गई। लोगों को तजुर्बा हो गया कि मराठा राजनेताओं की मैत्री बादल की छाँह

की तरह अस्थिर है।

§ ६. नागौर, शुक्रताल पानीपत

दिल्ली से राघोबा ने जयप्पा शिन्दे को रामसिंह की मदद पर मारवाड़ भेजा। विजयसिंह, रामसिंह और जयप्पा से मेवाड़ में हारकर नागौर में जा छिपा। जयप्पा ने नागौर घेर लिया। उधर तभी अवध में नवाब सफदरजंग का देहान्त हुआ। पेशवा ने जयप्पा को आदेश भेजा कि विजयसिंह को अधिक न दबाया जाय और जल्दी से जल्दी उससे कोई समझौता कर वह अवध जाय और वहां नवाब के उत्तराधिकारी से प्रयाग और बनारस ले लेने का जतन करे; जिसका कि यह अच्छा अवसर था। पर हठी जयप्पा नागौर में अड़ गया। विजय ने बीकानेर के राजा गजसिंह और जयपुर के माधवसिंह की सहायता से उसे दो साल तक वहीं अटकाये रक्खा। प्रयाग और बनारस लेने का अवसर इस बीच हाथ से निकल गया। राघोबा और मल्हार ने बीच में पड़ कोई समझौता या निपटारा कराना चाहा, पर जयप्पा न माना। विजयसिंह ने उदयपुर के महाराणा को बीच में डाल संधि करनी चाही पर कोई नतीजा न निकला। तब राजपूतों ने तंग आकर उसकी हत्या करवा डाली।

बीकानेर किशनगढ़ जयपुर उदयपुर जैसलमेर आदि राजपूत राज्यों में मराठों के विरुद्ध उपद्रव उठ खड़े हुए। पर जयप्पा का भाई दत्ताजी शिन्दे, जयप्पा के बाद जनकोजी को उसका उत्तराधिकारी बना, उसकी जगह स्वयं नागौर जा डटा। विद्रोही दृढ़ता से दबा दिये गये। पेशवा ने जयप्पा की मृत्यु का समाचार सुन २० हजार की नयी कुमुक दक्खिन से भेजी। एक दूसरा मराठा सेनापति दिल्ली से व्रज और ढूंढाड़ उजाड़ता हुआ डीडवाणे तक घुस आया। विजयसिंह नागौर से बीकानेर भाग गया। वहां से वह राजा गजसिंह के साथ माधवसिंह की मदद

लेने जयपुर गया। उसने बादशाह आलमगीर और सूरजमल कोभी मराठों के खिलाफ उभाड़ना चाहा। पर माधवसिंह अपना प्रदेश मराठों द्वारा उजाड़ा जाने से घबड़ा रहा था और सूरजमल और आलमगीर की भी मराठों के खिलाफ उठने की हिम्मत न पड़ी। उधर नागौर के सरदारों ने इसी बीच दत्ताजी से समझौता कर लिया। उसके अनुसार नागौर जोधपुर समेत उत्तरी और पच्छिमी मारवाड़ विजयसिंह के अधिकार में रहे और मेड़ता जालोर आदि पूरबी और दक्खिनी मारवाड़ पर रामसिंह का अधिकार माना गया। अजमेर मराठों ने जयप्पा की "मूण्ड-कटी" में ले लिया और ५१ लाख की खंडनी भी उन्हें देना तय पाया (१९ फरवरी १७५६ ई०)। पर तभी पेशवा की बड़ी दक्खिनी चढ़ाई आरम्भ हो गई अतः मुख्य मराठा सेना को उसमें योग देने को दक्खिन चला जाना पड़ा। मारवाड़ में वह साल अकाल का था, अतः रामसिंह भी अपने सुसराल जयपुर चला गया। पीछे विजयसिंह ने मारवाड़ समूचा फिर से दखल कर लिया।

उत्तर भारत से पेशवा द्वारा मराठों के दक्खिन की चढ़ाई पर बुला लिये जाने के बाद, उनके बनाये वजीर इमाद-उद्-दौला ने मूर्खतावश अब्दाली से छेड़छाड़ कर एक भयंकर स्थिति पैदा कर दी। क्रुद्ध अब्दाली दिल्ली साम्राज्य से पंजाब ले राजधानी पर आ टूटा (जनवरी १७५७)। इमाद का सहकारी नजीरखां अपने सजात बन्धुओं को आया देख उनसे जा मिला। सूरजमल, शुजाउद्दौला (अवध का नवाब वजीर) और राजपूत सब इमाद से चिढ़े थे और मराठे दक्खिन में थे। उत्तर भारत में मराठों का सेनापति अन्ताजी माणकेश्वर सिर्फ अपने तीन हजार सवारों समेत गवालियर से चलकर बादशाह की सहायता को दिल्ली आया। कायर इमाद ऐसी दशा में बचने का कोई उपाय न देख दुम दबाये अब्दाली की शरण में चला गया।

अब्दाली ने राजधाजी पर कब्जा कर १९ बरस पहले अपने मालिक

नादिरशाह का अनुकरण करते हुए राजमहल और शहर की एक सिलसिले से मुहल्लेवार लूट की। वहां से वह व्रज की तरफ भी चढ़ा। अन्ताजी ने व्रज की सीमा पर फरीदाबाद में उसे रोकना चाहा, पर अपनी एक तिहाई सेना कटाने के बाद उसे मथुरा की तरफ पीछे हट जाना पड़ा। उसने व्रज के नेताओं को मिलकर मुकाबला करने को कहलाया पर सूरजमल की हिम्मत न पड़ी। वह बेशर्मी से कुभेर में दुबका व्रज की बरबादी देखता रहा। पर उसके नौजवान बेटे जवाहरसिंह से रहा न गया। उसने कहा अफगान हमारी लाशों पर हो कर ही व्रज में घुस पायंगे, और अपने १० हजार नौजवान साथियों को जुटा, वह मैदान में जा डटा। अब्दाली इस टुकड़ी का विनाश कर व्रज में कत्लेआम और और बलात्कार का बाज़ार गरम करता हुआ मथुरा तक बढ़ता चला आया, उसकी हरावलें आगरा तक आ पहुँची। वहां से संभवतः राजस्थान पर भी आक्रमण होता, पर उसकी सेनाओं में महामारी फूट पड़ी और उसे वापस लौट जाना पड़ा (२१ मार्च १७५७)।

इस आक्रमण की खबर पेशवा को मिली तो उसने रघुनाथराव और मल्हार को उत्तर में भेजा। पर मुख्य मराठा फौजें तब भी दक्खिनी चढ़ाई में फंसी थी, अतः राघोबा जब इन्दौर पहुँचा (१४ फरवरी १७५७ ई०) तो उसके पास कुल ६ हजार सैनिक थे और उत्तर भारत में कुल मिलाकर १५ हजार से अधिक फौजें न थीं, और खरचे के लिए खजाने में पैसा कुछ भी न था। अतः दिल्ली को समय पर कोई सहायता न मिल पाई। गरमियों भर मराठे राजस्थान में युद्ध के लिए खरचा उगाहते और सेनायें जुटाते रहे। उनके मारवाड़ पहुँचने पर विजयसिंह को रामसिंह से छीना प्रदेश उसे वापस सौंप देना पड़ा। अब्दाली इस बीच नजीब को दिल्ली में अपना प्रतिनिधि नियत कर और पंजाब में अपने बेटे तैमूर की अध्यक्षता में एक बड़ी रक्षक सेना छोड़ काबुल वापस चला गया था। मई तक मराठा हरावलें आगरा पहुँचने लगीं।

सूरजमल से समझौता किया गया और शीघ्र ही रुहेलों से दोआब छीन उन्होंने दिल्ली को भी जा घेरा। नजीर ने मल्हार को, जो उसे अपने बेटे के समान स्नेह करता था, बीच में डाल समझौता कर लिया और कहलाया कि कहो तो मैं अब्दाली के साथ काबुल जाऊं और दोनों राज्यों के बीच सीमायें निश्चित करा अफगानों से हमेशा के लिए झगड़े का निपटारा करा दूं। पर राघोबा ने उसपर कोई ध्यान न दिया और नजीर के बजाय फिर उसी विश्वासघाती इमाद पर भरोसा कर दिल्ली का अधिकार उसे सौंप दिया; और पंजाब पर चढ़ाई करने लगा। इस प्रकार पठानों से मैत्री कर अंग्रेजों से बंगाल बिहार उद्धार करने को जाने के बजाय मराठों ने, पंजाब पर हमला कर, यहां भी अपने देशवासियों से और पड़ोसियों से झगड़ा बढ़ाने का ही मार्ग चुना।

मराठों के उभारने पर पंजाब में सिक्खों ने अब्दाली के विरुद्ध उपद्रव आरंभ कर दिये। १७५८ के बसंत में मराठे सरहिन्द ले लाहौर तक जा पहुँचे। पठानों की रक्षक सेनाओं को तब पंजाब छोड़ अटक (सिन्ध नदी) पार करजाना पड़ा। राघोबा चिनाब पर्यन्त मराठा आधिपत्य कायम करने के बाद एक मास लाहौर में ठहर कर दक्खिन वापस लौट गया। राजस्थान में जनकोजी शिन्दे राजपूतों से खिराज वसूल रहा था, अगस्त १७५८ में मल्हार भी पंजाब से लौटकर राजस्थान आया और यहां की आमदनी में शिन्दे के साथ अपना हिस्सा भी बराबर का तय कर जून १७५९ तक वापस पूना चला गया।

पेशवा अब अंग्रेजों से सशंक हो उठा था। १७५८ में उसने कोंकण तट पर हब्शियानी (Abysinian) सिद्दियों से जंजीरा लेने में अंग्रेजों से मदद चाही थी, वह उसे न मिली और १७५९ में उलटा सूरत का कोटला उन्होंने धोखा देकर मराठों से छीन लिया। तब पेशवा की आंखे खुलीं। उसने तब अंग्रेजों के विरुद्ध फिर फ्रांसीसियों को बढ़ाने और उनकी सहायता लेने की नीति अपनानी चाही। पर उत्तर भारत

में अफगान समस्या के तभी बहुत अधिक उलझ जाने से वह अपना पूरा ध्यान उस ओर न दे सका; और मराठे जब उस समस्या को सुलझाने का जतन करते हुए पानीपत के मैदान में अफगानों के साथ जीवन मरण के संघर्ष में फंसे थे तभी अंग्रेजों ने एक बड़ी कुमुक अपने देश से मंगा कर और फ्रांसीसियों की ताकत तामिल देश और आन्ध्र तट से भी उखाड़ फेंकी। निजाम हैदराबाद ने भी तब फ्रांसीसियों के बजाय अंग्रेजों को पल्ला पकड़ा।

उत्तर भारत में पेशवा ने मल्हार होलकर की बजाय दत्ताजी शिन्दे को अपना मुख्य प्रतिनिधि और आगरे का सूबेदार बनाकर भेजा था। उसे आदेश था कि पंजाब में आधिपत्य को और अधिक दृढ़ करे और शुजाऊद्दौला से प्रयाग और बनारस ले बिहार बंगाल का उद्धार अंग्रेजों से करने का भी जतन करे। लाहोर में राघोबा द्वारा नियत मुसलमान सूबेदार मर चुका था। दत्ताजी ने उसकी जगह अपने भाई साहबजी शिन्दे को, जो पंजाब राजस्थान में साहबा पटेल के नाम से मशहूर है, नियत कर दिया। प्रयाग-बनारस शुजा से लेने और बिहार-बंगाल को अंग्रेजों से छुड़ाने के लिए पेशवा की योजना यह थी कि इमाद की बजाय, जो विश्वासघाती और निकम्मा साबित हो चुका था, अवध के नवाब शुजा को साम्राज्य का वजीर बनाया जाय और दत्ताजी बादशाह और वजीर को ले कर दिल्ली से बिहार बंगाल की चढ़ाई के लिए निकले। रघुनाथ राव दक्खिन से बुन्देलखण्ड के रास्ते आ कर उनसे प्रयाग में मिले, और शुजा पर दबाव डाल, प्रयाग और बनारस के इलाके उससे पेशवा के लिए मांग ले; और बदले में बिहार बंगाल की विजय में उसे भी हिस्सा दिया जाय।

पर इससे पूर्व अफगानों के मामले का फैसला आवश्यक था। इसके लिए पेशवा का आदेश था कि उनके नेता नजीब से जहां तक हो समझौता कर बिहार बंगाल की चढ़ाई में उसे भी अपने साथ लिया जाय,

अन्यथा उसे जड़मूल से उखाड़ दिया जाय ताकि अब्दाली से मिल पीछे वह कोई उपद्रव न खड़ा सके। लेकिन इस कार्य के लिए दत्ताजी की बजाय मल्हार अधिक उपयुक्त होता, जो पेशवा बाजीराव के समय से अब तक उत्तर भारत की राजनीति के सूत्र सभालता रहा था और इधर सब लोगों के स्वभाव और आदतों से भली भांति परिचित और राजनीति के दांव पेंचों में उस्ताद था। दत्ताजी एक निरा शूरमा और योद्धा था। इमाद तो उसके सामने झुक और गिड़गिड़ा कर बच गया, पर नजीब से समझौता न किया जा सका और शुजा भी बिदक गया।

नजीब को खदेड़ते हुए दत्ताजी ने उसे हरिद्वार के दक्खिन गंगा के कछार में शुक्रताल नामक स्थान पर घेर लिया और उसे उखाड़ने की धुन में, चार साल पहले नागौर में विजयसिंह के विरुद्ध अपने भाई जयप्पा की तरह, सब आगा पीछा भूल, वहीं अड़ गया। पेशवा के प्रयाग और बनारस लेने तथा अंगरेजों से बिहार बंगाल छुड़ाने के सब मनसूबे इस प्रकार नागौर की तरह, इस बार गंगा के उस कछार में गल गये। उधर नजीब के बुलाने पर अब्दाली के फिर भारत में आ जाने से पंजाब और दोआब भी मराठों के हाथ से फिर निकल गये। दत्ताजी को शुक्रताल से घेरा उठा कर तब दिल्ली की रक्षा के लिए दौड़ना पड़ा (दिसम्बर १७५९)। अब्दाली दोआब में पहुँचा तो नजीब और शुजा दोनों उससे जा मिले। दत्ताजी दिल्ली की रक्षा करता हुआ काटा गया। मराठा सेना तब जनकोजी की अध्यक्षता में राजस्थान में, नारनौल हट आई। वहां मल्हार होलकर भी उनसे जा मिला और नयी मराठा कुमुक दक्खिन से पहुँचने तक छापामार युद्धों द्वारा अब्दाली को इधर उधर छकाता और उसे ब्रज तथा राजस्थान में आगे बढ़ने से रोकता रहा।

पेशवा इस बीच उसके मना करने पर भी अंगरेजों से जा मिलने के अपराध में निजाम को दण्ड देने और उससे राजस्थान के दक्खिनी सीमान्त के आसीरगढ़ बुरहान पुर आदि सब महत्व पूर्ण किले और नाके

ले कर, उसका नियन्त्रण करने में लगा था। अब्दाली की चढ़ाई और दत्ताजी के मारे जाने की खबरें मिलने पर उसने अपने भाई सदाशिव-राव भाऊ और लड़के विश्वासराव को एक बहुत बड़ी सेना देकर उत्तर भेजा। अब्दाली लौट रहा था, पर नजीर ने मराठों का आना सुन उसे सन् १७६० में यहीं रुहेलखंड में रोक लिया। भाऊ ने मल्हार होलकर आदि सरदारों को लिखा कि राजस्थान और दोआब में अफगानों के विरुद्ध अपने मित्रों का अधिक से अधिक संग्रह करें। पर पेशवा के अब तक के बर्ताव से यहाँ सभी लोग मराठों से चिढ़े हुए थे। भाऊ ने राज-पूत राजाओं को बहुत मनाया-समझाया और पिछली गलतियाँ माफ करते देने को कहा, पर प्रत्यक्ष विदेशी खतरा सम्मुख देखकर भी वे अपने वैर भाव भुला न सके; बल्कि मराठों की इस विपत्ति से मन ही मन प्रसन्न हो और इस संघर्ष से अलग रहने का कोई न कोई बहाना ढूंढते रहे।

भाऊ जमना पार कर दोआब में अब्दाली पर सीधा आक्रमण करना चाहता था, पर जमना में उस साल बाढ़ होने से मराठे वैसा न कर सके। तब उसने जमना के बांये बांये ब्रज़ में होकर दिल्ली ले ली और पंजाब-सिंध पर अपना प्रभाव मानने तथा रुहेलखंड में रुहेलों के सताये जाने की शर्त पर वापस लौटने को तैयार हुआ। पर पेशवा की पंजाब के लिए जिद्द थी। सूरजमल तथा राजपूतों ने भी, जो मराटा अफगान सघर्ष में दोनों को चूर हो जाने पर अपने उठने का अवसर खोजते थे, इसका विरोध किया और इसी बहाने रूठ कर अलग आ बैठे। मल्हार की राय ब्रज में ही अपनी सेना का आधार बनाकर लड़ने की थी; पर सदाशिव राव को जो दक्खिन के युद्धों में यूरपी शैली की युद्ध कला की श्रेष्ठता के देख चौंधियाया हुआ था, अपनी उस शैली पर सधायी गई तिलंगे सिपाहियों और तोपखाने की शक्ति पर अधिक विश्वास था। उसने सारे संरंजाम के साथ दिल्ली से आगे पंजाब की तरफ बढ़ अब्दाली का संबन्ध अपने देश से काट देना चाहा। वह भूल गया कि यूरपी शैली, की

सबसे बड़ी विशेषता, केन्द्र, और अपने आधार से संबन्ध बनाये रखना तथा सामान और कुमक के आने जाने के मार्ग को बराबर सुरक्षित रखना थी।

अब्दाली दोआब से मराठा सेना के दक्खिन आ, जमना पार कर, दिल्ली ले ली। मराठों का संबन्ध तक दक्खिन से पूरा कट गया। उसने उत्तरी राजस्थान और हरियाने के रास्ते सवार भेज पटियाला के सिक्ख सरदार आलासिंह द्वारा मराठों को मिलने वाली मदद का रास्ता भी छेंक दिया। मराठे तब स्वयं मूसादानी में फंस गये। यदि वे अपनी पुरानी छापा मार पद्धति से लड़ते होते और मल्हार के कहने के अनुसार अपना भारी सामान साथ न लिये होते तो उनके लिए इस मूसादानी को तोड़ कर निकल जाना कुछ भी मुश्किल न था। पर भाऊ तो यूरपी शैली को ठीक से समझे पचाये विना उसकी नकल कर रहा था; और भारी सामान तोपखाना और स्त्रियों तक को साथ लिये फिरता था। दो मास की छुट पुट झपटों और चाँपावलों के बाद १४ जनवरी १७६१ को पानीपत के मैदान में दोनों सनाओं का मुकाबला और भारी जन संहार हुआ। और सिवाय एक मल्हार होलकर के, जो आसन्न विनाश उपस्थित देख अब्दाली की मोरचेबन्दी का लंबा चक्कर काट दक्खिन और राजस्थान में खिसक आया था, सदाशिवराव भाऊ और विश्वास-राव समेत प्रायः सभी प्रमुख मराठा सरदार और सेनापति इस युद्ध में खेत रहे। अब्दाली का भी नुकसान कम न हुआ।

पानीपत के बाद अब्दाली ने दिल्ली आ कर व्रज के नेता और राज-पूतों से भी खिराज मांगा। तब राजपूत शासकों की आंखें खुलीं। पेशवा बालाजीराव एक बड़ी कुमुक लिए भाऊ की मदद को स्वयं चला आ रहा था और तब सिरोंज में था। जयपुर के राजा माधवसिंह ने उसे जल्दी बूंदी आने को लिखा और सब राजपूत राजाओं के सहयोग का आश्वासन दिया। पर पानीपत की हार और उसमें हुए नर संहार की

खबरों से पेशवा का दिल टूट चुका था। राजपूतों को उसने फटकारा और जयपुर तथा जोधपुर के राजाओं को अजमेर में अपने प्रतिनिधि के सन्मुख हाजिर होने का आदेश दिया। उसने लिखा "भाऊ ने सब अपराध माफ कर पिछली बातें भुला देने को कहा था।···राजपूतों को होश होना चाहिए। हमें यदि विदेशियों ने (पेशवा और अन्य हिन्दू अज्ञान वश पठानों को विदेशी ही समझते थे) हरा दिया, तो हम नर्मदा पार चले जायंगे। मुझे अब अब्दाली का डर नहीं है।"

पानीपत के बचे खुचे लोगों को लेकर पेशवा इसके बाद शीघ्र ही लौट गया और धक्के के कारण बीमार हो मृत्यु शय्या पर जा पड़ा। अब्दाली ने अपने दूत उसके आश्वाशन को पूना भेजे। शाहजादे अलिगौहर को जो इमाद और रुहेलों के डर से शुजा की शरण में पूरब भागा फिर रहा था शाहआलम के नाम से दिल्ली की गद्दी का मालिक घोषित कर, रूहेलों की शुजा, सूरजमल, राजपूतों और मराठों में सुलह करा, दिल्ली केन्द्र को फिर से सुदृढ़ करने का भी उसने जतन किया; क्योंकि उसकी अपनी सेना में भी, तनखाह बहुत अधिक चढ़ जाने तथा शिया सुन्नियों के बीच साम्प्रदायिक तनातनी बढ़ने से अब असन्तोष और गड़बड़ी के लक्षण प्रकट हो रहे थे, अतः उसे काबुल लौट जाने की जल्दी थी; तथा दिल्ली केन्द्र की अव्यवस्था से उसके अपने राज को भी खतरा था। फिरंगी (अंग्रेजों का) खतरा भी तब देश में बढ़ता नज़र आ रहा था। पर सूरजमल, जो युद्ध से अलग रहने के कारण इस समय उत्तर भारत में सबसे अधिक बलवान था, मराठों-अफगानों की बरबादी में अब अपने लिए उठने का अवसर देख रहा था। उसके कारण यह यह शान्ति सम्मेलन सफल न हो सका। अब्दाली के यहां से जाते ही उसने आगरे का किला भी दखल कर लिया (१२-६-१७६१) पूना में तभी पेशवा बालाजीराव का देहान्त हुआ।

§ १०. मल्हार सूरजमल और जवाहरसिंह

बालाजी का उत्तराधिकारी पेशवा माधवराव तब सिर्फ १६ वर्ष का कुमार था, अतः मराठा मंडल की बागडोर उसके अभिभावक रूप में उसके चाचा रघुनाथराव या राघोबा दादा के हाथ में आ गई।

मराठों की शक्ति को पानीपत युद्ध में गहरा धक्का लगा था अतः उनके शत्रु चारों ओर सर उठाने लगे। निजाम भी दांत दिखाने लगा और कर्नाटक में मैसूर के हैदरअली ने मराठों से बहुत से इलाके ले लिये, पर रघुनाथराव ने निजाम का शीघ्र ही दमन कर दिया।

इधर राजस्थान में राजपूतों ने भी मराठों के विरुद्ध विद्रोह उठाना चाहा। जयपुर के राजा माधवसिंह के नेतृत्व में कोटा बूँदी खीचीवाड़ा और शोपुरे के राजपूतों ने उठ कर ढूंढाड़ और हाड़ौती से उन्हें उखाड़ देने का जतन किया। विजयसिंह ने जोधपुर में रामसिंह से मारवाड़ के बचे हुए प्रदेश छीन लिए और अजमेर पर भी घेरा डाल दिया। पर मल्हार होलकर ने, जो पानीपत के बाद इन्दौर में बरसात बिता रहा था, तेजी से आ कर कोटा से उत्तर पार्वती तट पर मांगरोल में ढूंढाड़-हाड़ौती की सम्मिलित फौजों को करारी हार दी और साल भर के भीतर मराठा नियन्त्रण यहां फिर से कस दिया। इस समय राजपूत राजाओं की मनोवृत्ति और मल्हार के कर्तृत्व के स्वरूप का कुछ ठीक आभास हमें राजपूताने में प्रसिद्ध उसी युग के किसी चारण कवि के कहे हुए इस दोहे में मिलता है—

> सींहाँ सिर नीचा किया, गाडर करै गळार।
> अधपतियां सिर ओढणी, तो सिर पाग मल्हार ॥

अर्थात् सिंहों (अपने नामों के पीछे सिंह लगाने वाले बड़े बड़े राजपूतों) ने अपने सिर नीचे कर लिये और गाडर (भेड़, मल्हार जात का धानक गडरिया होने से) आज खूब शब्द कर रही है। अधिपतियों (राजपूत राजाओं) के सिर पर तो ओढ़नी (साड़ी) है, पाग तो मल्हार

आज तेरे ही सिर पर है ।

किन्तु राजस्थान के उत्तरपूरब व्रज की शक्ति अब चमकी। सूरजमल पानीपत युद्ध के बाद इधर सब से बलवान था । मुगल साम्राज्य का वजीर इमाद, अब्दाली के आने पर बादशाह आलमगीर २य को इस डर से कि कहीं अब्दाली या मराठे उसका उपयोग न करें; मारकर और एक दूसरे शाहजादे को शाहजहाँ २य के नाम से बादशाह घोषित कर, उस समेत भाग कर सूरजमल के पास कुंभेर में आ रहा था; और यद्यपि भाऊ और अब्दाली दोनों ने शाहजादे अलीगौहर को शाहआलम के नाम से दिल्ली का बादशाह घोषित कर दिया था, पर वह चूंकि रुहेलों आदि के डर से शुजाउद्दौला के पास पूरब में ही था और अभी तक दिल्ली आने की हिम्मत न करता था, अतः वजीर और शाही तख्त के एक दावेदार बादशाह के भी उसके पास रहने से, सूरजमल की शक्ति और भी अधिक बढ़ गई थी। आगरा तो उसने १७६१ की गर्मियों में अब्दाली के यहां से जाते ही ले लिया था। अब जमना पार कर अलीगढ़ और इटावे तक समूचा व्रजभाषी प्रदेश उसने अपने अधिकार में कर लिया और जमना के दक्खिन भिंड गोहद आदि बुंदेली प्रदेशों पर भी, जो पेशवा के खास अपने इलाके थे, धावे मारने शुरू किये। गोहद में उसी के खानदान का एक जाट घराना स्थापित हो गया। इटावे के पास रामपुर का गढ़ उसने भरतपुर के ही नमूने पर बनवाया, पच्छिम में अलवर मेवात का राजस्थानी प्रदेश भी उसने ले लिया। मेवात पर, कह चुके हैं कि, राजा जयसिंह के जमाने से ढूंढाड़ के कछवाहों के दांत थे और वहां जयपुर राजवंश की एक छोटी शाखा नारूका के सरदार, मेव-मीणों तथा अहीर, जाट, गूजर आदि कृषक पशुपालकों की आबादी के मुखियों और मुगलों के स्थानीय कारिन्दों से, छीन झपट कर अपनी जागीरें बना रहे थे। सूरजमल के व्रज से इधर कदम बढ़ाते ही उसकी जयपुर वालों से बिगड़ गई।

मेवात के उत्तर हरियाना और दोआब-रुहेलखंड (कुरु-पंचाल) में, कह चुके हैं कि, बलोचों-पठानों की बस्तियां सोलहवीं-सतरहवीं सदी से बस रही थीं और इस समय तक वे लोग वहां की शासक जाति बन गये थे। अपनी स्थानीय हिन्दू जनता से पठानों के संबन्ध धार्मिक पक्षपात से सर्वथा मुक्त और अच्छे थे और आन्तरिक शासन में उनका सहयोग उन्हें बराबर मिलता था। नजीब इस समय उनका मुखिया होने से उस समूचे दोआब-रुहेलखंड का नेता था। हरियाने में अनेक बलोच सरदारों को बस्तियां भी, नादिरशाह और अब्दाली के जमाने से उनके सैनिक चौकीदारों के रूप में, बसी थीं। वे भी अब नजीब की ही अधीनता मानते थे। ये बलोच उत्तरी मेवात में अकसर डाकेजनी और लूटपाट करते। अतः मेवात लेने के बाद सूरज के उन्हें दबाने को उत्तर कदम बढ़ाने पर नजीब से भी उसकी सीधी ठन गई। अपने बेटे जवाहर को पटौदी और फर्रुखनगर में इन बलोचों का दमन करने को छोड़ सूरज तब दिल्ली की तरफ बढ़ा और जमना पार करते ही गाजियाबाद के दक्खिन हिंडन नदी के तट पर, जहां व्रज और कुरु की सीमाएँ प्रायः मिलती हैं, उसकी नजीब से लड़ाई हुई; जिसमें वह मारा गया (२३-११-१७६३)। व्रज का नेतृत्व तब उसके वीर पुत्र जवाहर के कंधों पर पड़ा।

व्रज के ये नेता वहां के जाट कृषक थे। उसी समय पंजाब की कृषक जाट प्रजा भी सिक्खों के नेतृत्व में अफगान शासन के विरुद्ध विद्रोह कर रही थी। सिक्ख उधर बीकानेर के राठौड़ों से मिल बहावलपुर-मुलतान के बलोचों को दबाने का जतन कर रहे थे; इधर पूरब में उनके धावों का आतंक सहारनपुर और देहरादून तक छा जाने से, नजीब की व्रज पर बढ़ने की कार्रवाई में भी शिथिलता आ गई। व्रज के अनेक नेता जवाहरसिंह के विरोधी थे और उसके छोटे भाई नाहरसिंह को राजा बनाना चाहते थे। जवाहर ने उन्हें, बस में करने को व्रज से बाहर के भाड़ैत सैनिक भरती करने की धमकी दे, कुछ सीधा किया और अपने

पिता का बदला चुकाने को, पठानों के सभी शत्रुओं—सिक्खों मराठों और शुजा आदि—से मेल कर, दिल्ली को जा घेरा (१७६४)।

पर उसकी पीठ पीछे जयपुर का राजा माधवसिंह पठानों का सहायक था और मराठा सेनापति मल्हार होलकर भी, बावजूद पेशवा के जवाहर को सहायता देने के आदेश के, भीतर ही भीतर पठानों को मदद दे रहा था। मल्हार का मत कदाचित् यह था कि उत्तर भारत की तात्कालिक सब शक्तियों में पठान ही सब से दृढ़ और सच्चे थे, जिन्हें उखाड़ना या दबाना तब मराठों के लिए न अनिवार्य था और न संभव; तथा जिनका सहयोग पाने में मराठा शासन की भलाई थी। बाकी लोगों की, खासकर राजपूतों, ब्रजवासियों या मुगल-तुर्कदल की सचाई या उपादेयता पर मल्हार को उतना विश्वास नहीं था। इमाद ने भी जवाहर को धोखा दिया, उससे और आशा ही क्या हो सकती थी? सिक्खों और अवध के नागों को, जो इस समय उत्तर भारत की एक अच्छी भाड़ैत सैनिकों की जमात थी, जवाहर के अपनी फौज में भरती करने से, ब्रज के लोगों में भी सामान्यतः उसके प्रति असंतोष बढ़ता गया। उसके सरदारों ने भीतर ही भीतर जयपुर महाराज से मिल उसके खिलाफ षडयन्त्र करना शुरू कर दिया। उधर तभी नजीबखां ने सहायता के लिए फिर अब्दाली को बुलवा भेजा। उसका आना सुन सिक्ख एकाएक बिना सूचना दिये दिल्ली का घेरा छोड़ पंजाब चले गये। इस प्रकार तीन मास के घेरे और काफी खर्चा उठाने के बाद जवाहर को भी तब दिल्ली से हट जाना पड़ा (१६ फरवरी, १७६४)।

उसने तब से जयपुर के राजा, इमाद, मराठों और अपने गद्दार सरदारों से बदला चुकाना ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य मान लिया, इसके लिए उसने अपनी सेना में सिक्खों नागों आदि की भरती बड़ी मात्रा में आरंभ की, तथा बरनी सौम्ब्रे (समरू) आदि फ्रांसीसी सेनापतियों को, जो अंग्रेजों के बंगाल बिहार ले लेने तथा तामिलनाड आन्ध्र-

तट और हैदराबाद में फ्रांसीसी ताकत तोड़ देने के बाद प्रायः प्रत्येक भारतीय राजा रईस के पास जा जाकर उसे अंग्रेजी खतरे से सावधान करते फिर रहे थे, अपनी सेवा में रख यूरपी शैली सीखे हुए सिपाहियों की एक बड़ी सेना तैय्यार की। व्रज के विद्रोहियों को उसने उस सेना की सहायता से शीघ्र ही निकाल भगाया। मल्हार होलकर को भी, जो विद्रोहियों का साथ दे रहा था, उससे हार खानी पड़ी। उसने जमना के दक्खिन धौलपुर और गौहद तक ले मराठों के बुन्देलखंड और उत्तरी मालवा के खास प्रदेशों पर भी धावे आरंभ कर दिये। व्रज के विद्रोहियों ने तब भाग कर राजस्थान में जयपुर शाहपुरा आदि में शरण ली। बूढ़ा मल्हार अब इन्दौर में बीमार पड़ा था।

नागौर और शुक्रताल में मराठों के फंसे रहने और फिर पानीपत का धक्का खाने से अंगरेजों को बंगाल-बिहार में अपने पैर जमाने का अवसर मिल गया। १७६० में उन्होंने मीरजाफर को हटा मीरकासिम को गद्दी पर बैठाया था। पर मीरकासिम उनके हाथ की कठपुतली बनकर रहने को तैयार न हुआ तो उसे फिर गद्दी से उतार मीरजाफर को बिठाया। उधवानाला की लड़ाई में कासिम को हरा बिहार बंगाल को उन्होंने पूरी तरह अपने शिकंजे में कस लिया। कासिम ने शुजा और शाह आलम की मदद ली, पर बक्सर की लड़ाई में उन्हें भी परास्त हो कर भागना पड़ा और अंगरेजों ने बनारस और इलाहाबाद तक दखल कर लिया। मल्हार होलकर ने शुजा की मदद उनके खिलाफ की, पर अंग्रेजी तोपों के मुकाबले में वह छापामार बूढ़ा शेर भी अपनी टूटी फूटी फौजों से नहीं टिक सका। बादशाह को तब अंग्रेजों की शरण जाना पड़ा। शुजा ने भविष्य में अंग्रेजों के शत्रुओं को अपना शत्रु समझना और अपने राजा की रक्षा के लिए उन्हीं पर निर्भर रहना मान अवध को भी एक तरह उन्हीं के संरक्षण में सौंप दिया (१७६५ ई०)।

माधवराव पेशवा बहुत ही ऊँचे चरित्र और हृदय का व्यक्ति था।

सन् १७६३ ई० में उसने शासन अपने हाथ में लिया। हैदरअली पर उसने शीघ्र अपना प्रभाव स्थापित कर लिया और निजाम से अंगरेजों का पल्ला छुड़ा दिया (१७६५ ई०)। उत्तर में मल्हार की बीमारी तथा जवाहर और अंगरेजों का बढ़ना सुन, १७६६ ई० के आरम्भ में, उसने रघुनाथराव को एक बड़ी सेना के साथ भेजा। उसने अब हैदर और निजाम को मिला कर अंगरेजों को तामिलवाड से भी निकाल बाहर करने की योजना बनाई। अंगरेजों के नेता क्लाइव ने तब उत्तर भारत में शुजा, बादशाह, जवाहर, रुहेले आदि मराठों के सभी शत्रुओं को मिला उनके खिलाफ़ एक गुट्ट बनाने के लिए छपरा में एक "कांग्रेस" बुलाई और बादशाह शाहआलम को अपनी संरक्षता में दिल्ली ले जाकर बिठाने का प्रस्ताव रक्खा (जुलाई १७६५)। पर जवाहर को उस प्रस्ताव से व्रज का बड़ा अंश छोड़ना पड़ता, अतः यह गुट्ट न बन सका।

इधर राघोबा को भी व्रज और बुंदेलखंड में जवाहर के खिलाफ़ कोई बड़ी सफलता न मिल सकी। उसका एक कारण यह भी था कि राघोबा की नीयत शुरू से ही साफ़ न थी। वह पेशवा का राज बढ़ की अपेक्षा इधर अपनी शक्ति बढ़ाने और पेशवा को किसी तरह नीचा दिखाने की अभिलाषा से काम कर रहा था। अतः महादजी शिन्दे, मल्हार होलकर आदि से उसे कभी सच्चा सहयोग न मिला। मई १७६६ को मल्हार का इन्दौर में देहान्त हुआ। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी पोता भी शीघ्र ही चल बसा (दिस० १७६६)। रघुनाथ ने होलकर के दीवान यशवंत चन्द्रचूड को अपने साथ मिला, एक नाबालिग शिशु को गोद दिला, उसके नाम पर वहां अपना नियंत्रण कायम करना चाहा। पर मल्हार की पतोहू रानी अहल्याबाई के आगे उसकी एक न चली। अहल्या ने मल्हार के एक दूर के रिश्तेदार तुकोजी होलकर को अपना सहायक रख होलकर राज के शासन का सूत्र अपने ही हाथ में बनाये रक्खा।

इसी प्रकार राघोबा ने गुजरात में भी अपना नियंत्रण बढ़ाने की विफल चेष्टाएँ कीं। पर माधवराव की सावधानी और होशियारी से उसे कहीं सफलता न मिल सकी। तब वापिस महाराष्ट्र पहुँच उसने खुल्लमखुल्ला विद्रोह उठाना चाहा; अंग्रेजों के दूत उसे भीतर ही भीतर इसके लिए उकसा रहे थे। उधर हैदर भी तभी उनके बहकावे में आ मराठों के विरुद्ध फिर से आक्रमक रुख स्वीकार करने लगा। पेशवा ने राघोबा को तो पकड़ कर नज़रबंद कर दिया और हैदर का मद भी शीघ्र ही उतार कर उसे अंग्रेजों का साथ छोड़ने को विवश किया (१७७२ ई०)।

जवाहर ने इस बीच गोहद से आगे बढ़ बुंदेलखंड में कालपी के मैदान से भी मराठों को निकाल दिया। फिर उसने माधवसिंह से अपने भागे हुए भाई नाहरसिंह के तथा ब्रज के अन्य भागे हुए विद्रोही सरदारों के परिवारों को वापस मांगा। नाहरसिंह और ये सरदार विष खाकर आत्मघात कर चुके थे। मारवाड़ में विजयसिंह इस समय तक रामसिंह के मरने के बाद समूचा मारवाड़ दखल कर चुका था और सांभर अजमेर भी लेने का जतन कर रहा था। उसने और जवाहर ने मिल मराठों को राजस्थान भर से निकाल बाहर करने की एक योजना बनाई। बीकानेर और जयपुर राज्यों को भी उन्होंने उसमें शामिल करना चाहा। पर जाटों के बढ़ने से उन दोनों राज्यों को खतरा था; अतः वे शामिल न हुए।

जवाहर ने तब एक बड़ी सेना लेकर जयपुर राज में प्रवेश किया। विजयसिंह भी मारवाड़ से उसकी सहायता के लिए आया। बीकानेर और जयपुर की सेनाओं ने उन्हें लालसोत और कौंमा पर दो करारी हारें दीं। माधवसिंह का इसके बाद तुरत ही देहान्त हो गया (फरवरी १७६८) और ब्रज का राजा जवाहरसिंह भी अपने एक विद्रोही सैनिक के हाथ मारा गया (जुलाई १७६८)। ब्रज की शक्ति भी तब टूट गई।

§ ११. मेवाड़ की अराजकता और अंगभंग

१८६९ में पेशवा ने राघोबा के घरू झगड़े से निपट कर रामचन्द्र गणेश, विसाजी कृष्ण पंडित, राणोजी शिन्दे के छोटे भाई महादजी शिंदे तथा मल्हार होलकर की पतोहू रानी अहल्याबाई के सेनापति तुकोजी होलकर आदि सेनापतियों को एक बड़ी सेना लेकर फिर उत्तर भारत में भेजा।

मेवाड़ में चूंडावतों-शक्तावतों आदि के आपसी झगड़ों तथा राणा जगतसिंह २य के बाद (१७३१ ई०) प्रतापसिंह २य (१७५४) और और राजसिंह २य (१७६१) की छोटी उम्र में मृत्यु से उठे उत्तराधिकार संबन्धी झगड़ों के कारण तब गहरी अराजकता छा रही थी और पास-पड़ोस के राजाओं सामन्तों आदि द्वारा उसके प्रदेशों का अंगभंग बड़ी तेजी से किया जा रहा था। बाजीराव के समय से निश्चित डेढ़ लाख रुपया सालाना नकद चुकाने की एवज उसका पूरव का सबसे उपजाऊ चंबल तट का सारा प्रदेश—रामपुरा-भानपुरा आंतड़ी आदि—शिन्दे होलकर आदि मराठा सरदारों ने दबालिया था। इधर राणा अरिसिंह के मूर्खतापूर्ण अभिमानी बर्ताव तथा विश्वासघाती और कमज़ोर शासननीति के कारण चिढ़कर उसके बहुत से सरदारों ने, गद्दी के एक दूसरे दावेदार, बालक रत्नसिंह के नाम पर विद्रोह किया हुआ था। उन्हें दबाने के लिए ब्रज के जवाहरसिंह की तरह अरिसिंह ने भी बाहर से बहुत से सिन्धी मुसलमानों, बलोच-पठानों आदि को अपनी सेना में भरती करके भाड़ैत फौजें बनाना शुरू किया था।

जयपुर का राजा मेवाड़ के इन विद्रोहियों की पीठ पर था, अतः मेवाड़-ढूंढाड़ के बीच में स्थित किशनगढ़, शाहपुरा, बूंदी, कोटा आदि छोटे राज्य भी, जिन्हें जयपुर के बढ़ने से अपनी स्वतंत्रता के लिए खतरा था, महाराणा के झण्डे तले आ गये। मराठों के उत्तर भारत में वापस आने पर विद्रोहियों ने महादजी शिन्दे को सवा करोड़ रुपया देना कर

अपने पक्ष में मिला लिया। मेवाड़ मालवा के सभी छोटे राज्यों की एक सम्मिलित बड़ी सेना ने तब मेवाड़ के [illegible] तले एकत्र हो मराठों को उज्जैन के पास शिप्रा तट पर ही रोक देने का यत्न किया। पर [illegible] मौके पर जयपुर से [illegible] सैनिकों [illegible] की देखादेखी अब जयपुर वाले भी [illegible] फौजों में [illegible] एक बड़ी कुमक [illegible]। [illegible] ने तब उदयपुर [illegible]।

[illegible] बहुत अधिक [illegible] [illegible] नहीं [illegible] कर [illegible] सेना [illegible] [illegible] न [illegible] की [illegible] के [illegible] का [illegible] के [illegible]।

[illegible] पर जयपुर [illegible] को [illegible] राजा जवाहरसिंह की मृत्यु के बाद जयपुर के [illegible] के पास चला आया था, सहायता पाकर [illegible] रहे। अमरचन्द ने मेवाड़ के मैदानों से इन माड़ैतों को तो शीघ्र ही खदेड़ दिया, पर कुंभलगढ़ के पहाड़ों से विद्रोही न निकाले जा सके। उन्हें वहां से भी

निकालने के लिए राणा अरिसिंह ने जोधपुर के राजा विजयसिंह से मद मांगी और सेना खर्च के लिए मेवाड़ का आड़ावळा के पच्छिम तरा का गोड़वाड़ प्रदेश मारवाड़ वालों को ठेके पर दिया। विजयसिंह विद्रो हियों को तो कुंभलगढ से अनदस्था न नका सका, पर गोड़वाड़ सदा लिए मेवाड़ से निकल गया और महाराणा के अनेक यत्न करने पर भ वापस न लिया जा सका (१७७० ई०)।

§ १२. माधवराव और नाना फड़नीस—पहला मराठा अंगरेज संघर्ष

मराठा सेनाएँ मेवाड़ के बाद मध्य सिन्ध कांठे में राघोगढ़ को घे खीचीवाड़े का विद्रोह दमन करतीं, कोटा बूंदी जयपुर आदि राजस्थान की दूसरी रियासतों तथा ब्रज में करौली भरतपुर आदि से दृढ़तापूर्वक खिराज वसूल करती हुई, फिर दोआब में पहुँचीं। नजीबखां को दिल्ल छोड़ उत्तर दोआब में हट जाना पड़ा। वह तुकोजी होलकर से मिल कर अपने बेटे जाबिताखां का हाथ उसके हाथ में देकर बोला कि उसपर वैसी ही कृपा रखना जैसे मल्हार होलकर ने मुझपर रक्खी थी। इसके बाद अपने स्थान (नजीबाबाद) लौटते हुए हापुड़ के पास उसका देहांत हो गया (३०-१०-१७७० ई०)। बादशाह शाहआलम भी अब अंग्रेजों का आसरा छोड़* मराठों की सहायता से प्रयाग से दिल्ली आ

---

*अंगरेज़ों ने इस अवसर पर बादशाह को मराठों से न मिलने देने के लिए हर तरह बहकाया; बंगाल के तात्कालिक गवर्नर ने उसे एक पत्र में लिखा "वे (मराठे) तैमूर वंश के पुराने दुश्मन हैं...उसके विनाश पर ही उनका अभ्युदय हुआ है...उनका राजनीतिक हित ही नहीं, उनका मजहब भी...विरोधी है।" पर बादशाह अंगरेजों के झूठे वायदों से ऊब चुका था। उधर महादजी ने यह धमकी दी थी कि यदि वह

कर गद्दी बैठा (जून १७७१)। मराठों ने बादशाह के नाम पर दोआब शीघ्र ही जीत लिया (जून १७७२) और गंगा पार कर रुहेलखंड से भी खिराज वसूलने का जतन करने लगे। उनका इरादा अंग्रेजों से प्रयाग भी वापिस लेने का था। शुजा तब उनके डर से पूरी तरह अंगरेजों के चंगुल में जा फंसा (१७७३)।

यों पानीपत युद्ध को दस साल बीतते बीतते मराठों की स्थिति उत्तर भारत में भी प्रायः पूर्ववत् हो गई। पर अब दक्खिन और उत्तर दोनों तरफ अगरेज उनके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी हो उठे थे। पेशवा माधवराव अब उनके विरुद्ध हैदरअली निजाम और उत्तर भारत की सभी शक्तियों को मिलाकर उत्तर पूरब दक्खिन और पच्छिम (सूरत बंबई पर) सब तरफ एक साथ हमला कर उन्हें देश से उखाड़ फेंकने की योजना बना रहा था। पर हैदर ने भोलेपन में आ उसका भेद अंग्रेजों पर खोल दिया। अंगरेजों के दूत तब पेशवा के दरबार में पूना पहुँचे। पर तभी एक बीमारी में फंस जाने से महाराष्ट्र का वह सर्वश्रेष्ठ महापुरुष अचानक चल बसा (१८-११-१७७२ ई०)।

पेशवा माधवराव के अकस्मात् देहांत से मराठा मंडल को फिर गहरा धक्का लगा और विरोधियों को फिर सिर उठाने का मौका मिल गया।

मारवाड़ में रामसिंह का भी देहांत तभी हुआ (१७७२ ई०)। विजयसिंह ने मारवाड़ का अधिकांश तो १७७१ में ही ले लिया था,

---

दिल्ली न लौटा तो साम्राज्यगद्दी पर किसी दूसरे शाहजादे को बिठा दिया जायगा और उसके परिवार की हिफाजत का, जो तब तक दिल्ली में ही था, मराठे जिम्मा न लेंगे। अंगरेजों ने शुजा रुहेलों और व्रज के जाटों को भी उसी प्रकार मराठों के खिलाफ भड़काने के अनेक जतन किये थे।

सिर्फ सांभर के इलाके पर जयपुर वालों के बल पर रामसिंह का अधिकार बाकी था। विजयसिंह ने अब उसपर भी दखल कर लिया और मराठों को अंग्रेजों से बझा देख धीरे धीरे अजमेर की तरफ भी कदम बढ़ाने आरंभ किये।

मेवाड़ के राणा अरिसिंह का बूंदी के राव अजितसिंह से मेवाड़ के कुछ गांवों के बारे में विवाद चल रहा था। अजितसिंह ने शिकार के बहाने अलग ले जाकर अरिसिंह का धोखे से खून कर दिया (९–३–१७७३ ई०)। वहां का शासन तब अपने कम-उम्र बच्चे हम्मीरसिंह २य को गद्दी पर बिठाकर उसकी रानी ने अपने हाथ में लेना चाहा। लेकिन राणा अमरसिंह २य के समय से मुगलों की देखादेखी परदे का प्रचलन मेवाड़ में हो चुका था। अतः रानी को अपने सरदारों और प्रमुख राज्याधिकारियों से संपर्क, सीधा न रख, अपनी दासियों के द्वारा ही चलाना पड़ता था। उसकी एक दासी के नाराज़ हो जाने पर राज के सुयोग्य प्रधान मंत्री अमर चंद बड़वा को, जिसने विषम परिस्थितियों में राज की बागडोर संभाले रक्खी थी, अपनी जान विष खा कर गंवानी पड़ी। अब शासनतंत्र फिर चूंडावतों शक्तावतों की दलबन्दियों का शिकार बन गया, जो उसपर अपना अपना प्रभाव जमाने के लिए, प्रायः आपस में झगड़ा करते।

उधर मराठा मुल्क में माधवराव के बाद उसका भाई नारायण राव पेशवा बनाया गया। माधवराव ने मरते समय अपने चाचा रघुनाथराव से [illegible] कर उसे छोड़ दिया था। अंगरेज दूत मोस्टिन की रघुनाथ और उसकी पत्नी आनन्दीबाई से खूब घुटती थी। नारायणराव ने रघुनाथ राव को फिर नज़रबंद कर दिया। रघुनाथ ने तब अपने छुटकारे और नारायणराव को बंदी बनाने का षड़यंत्र कुछ यूरपी शैली से शिक्षित भाड़ैत सैनिकों (गारदियों) की सहायता से रचा। पर आनन्दी बाई ने, जिस पर मोस्टिन का पूरा प्रभाव था, उस षडयन्त्र में और प्रपंच रच

कर नारायणराव का खून करा दिया (३०-८१-७७३ ई०)। मोस्टिन ने इस हत्या की सूचना गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के पास भेजी, और वह इसे पाते ही तेजी से कलकत्ते से बनारस भागा आया, मानों वह दम साधे इस समाचार को सुनने की प्रतीक्षा में ही था; और मराठा मण्डल के विरुद्ध एकदम उसने अपनी कार्रवाई शुरू कर दी।

उसने मराठों के विरुद्ध छेड़े जाने वाले नये युद्ध के लिए खरचा जुटाने को ५० लाख रुपया ले कर इलाहाबाद अवध वासस शुजा को दे दिया और सेना के खर्चे के नाम पर ४० लाख उससे ऐंठ कर रुहेलखण्ड पर भी उसके नाम पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया। तभी एक रुहेला लड़की द्वारा नवाब शुजाउदौला मारा गया। हेस्टिंग्स ने उसके उत्तराधिकारी को और अधिक सुरक्षा-सेना रखने के लिए मजबूर कर उसके खर्चे के लिए गोरखपुर बहराइच ज़िले भी ले लिये।

उधर मराठा मण्डल की इस आन्तरिक विपत्ति का लाभ उसके दूसरे प्रतिद्वन्द्वी निजाम हैदरअली आदि ने भी उठाने का जतन किया। नारायणराव की हत्या के बाद राघोबा पेशवाई पर कब्जा कर, उन्हें दबाने निकला तो पीछे से मराठा दरबार के बारह प्रमुख नेताओं ने, जिन्हें इतिहास में 'बारा भाई' नाम मिला है, उस हत्यारे को पेशवा की गद्दी कलंकित न करने देने का प्रण कर शासन का सूत्र अपने हाथ में ले लिया और नारायणराव के नवप्रसूत बच्चे को सवाई माधवराव के नाम से घोषित किया। 'बारा भाई' में बालाजी जनार्दन भानु मुख्य था जो इतिहास में नाना फड़नीस नाम से प्रसिद्ध है। राघोबा लौट कर पूना न गया, अंगरेज़ों से सहायता की बात करने, गुजरात की तरफ रवाना हुआ। नर्मदा पार राजस्थान के मराठा सेनापतियों महादजी शिन्दे और तुकोजी होलकर ने उसका पीछा किया। राघोबा भागकर सूरत अंगरेजों के पास पहुँच गया। अंगरेजों को मराठा मंडल के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का चिरप्रतीक्षित अवसर तब हाथ आया।

अंगरेजों ने बंबई के पास साष्टी (Salsette) द्वीप दबा लिया। मोस्टिन और राघोबा की प्रेरणा से गुजरात के मराठा शासक फतहसिंह गायकवाड़ को अपनी तरफ फोड़ उन्होंने भरुच भी दखल कर लिया। पर राघोबा को ले पूना चढ़ाई करने वाली अंगरेजी फौजें जब नर्मदा भी पार न कर सकीं तो कलकत्ता की अंगरेजी कौंसिल ने वह युद्ध बन्द कर अपना दूत भेज, मराठा दरबार से एक सुलह की जिसमें साष्टी और भरुच पर अपना अधिकार मान लेने की शर्त पर राघोबा को मराठा दरबार को लौटा देना उसने स्वीकार किया।

असल में कलकत्ता कौंसिल का विचार मराठों से शान्ति करने का नहीं बल्कि युद्ध को एक पूरी योजना के अनुसार और बड़े पैमाने पर चलाने के लिए कुछ अवकाश प्राप्त करने का था। उन्होंने राघोबा को मराठा दरबार को नहीं लौटाया। उनका गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स बनारस में बैठा नये षड्यंत्र पका रहा था।

बनारस बड़ा तीर्थ विद्या केन्द्र और उत्तर भारत में व्यापार की एक बड़ी मंडी होने से भारत भर के सभी प्रान्तों के लोगों के मिलने की जगह था। अतः भारत भर के सभी राज्यों के खिलाफ अंग्रेजों के षड्यंत्र पकाने का भी तब वहीं अड्डा था। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने एक बनारसी पंडित की मारफत मराठा राज के दूसरे सरदार मुधोजी भोंसले को भी जो इधर अंगरेजी इलाकों से लगे उड़ीसा छत्तीसगढ़ नागपुर और बराड़ का शासक था, अपनी तरफ फोड़ने का जतन किया। उसने प्रयाग से कर्नल लेसली को एक बड़ी फौज देकर मराठा राज पर उत्तर से चढ़ाई करने को भेजा। पर सागर और दमोह के शासक बालाजी गोविन्द खेर 'बुन्देला' ने उसे आगे बढ़ने से रोक दिया और वह वहीं बीमार होकर मरा। तब कर्नल गोडर्ड को उसकी जगह नियत किया गया।

उधर बंबई से राघोबा को लेकर जो फ़ौज सीधी पूना को भेजी गयी थी (नव० १७७८ ई०), वह पूना से १८ मील उत्तर तक पहुँच बुरी

तरह फंस गई। एक मराठा टुकड़ी ने घाटों से कोंकण की तरफ उतर उसका बंबई से संबन्ध पूरी तरह काट दिया। पूना से उत्तर वडगांव के तालाब में अपनी तोपें फेंक अंगरेज पीछे मुड़े, पर दो दिन के भीतर ही वे चारों तरफ से घेर लिये गये और सन्धि की प्रार्थना करने को विवश हुए। राघोबा को महादजी शिन्दे के सम्मुख आत्मसमर्पण करना पड़ा और १७७३ के बाद पांच वर्षों में अंगरेज़ों ने कोंकण में मराठों का जितना प्रदेश दबोचा था वह सारा लौटा देने और कर्नल गांडर्ड की नायकता में उत्तर से आती फ़ौज को भी वापस लौटा लेने की शर्त पर वे उस चूहेदानी से छुटकारा पा सके।

किन्तु मराठों ने अब तक भारतीय राज्यों से ही बरता था जो एक बार की सन्धि हो जाने पर उसका आखिरी दम तक सचाई के साथ पालन करते थे। उन्होंने नहीं समझा कि उनका वास्ता अब एक ऐसी जाति से पड़ा था जो समय आने पर मेमने की तरह मिमियाना भी जानती है और खतरा दूर होते ही भेड़िया बनकर सिर पर चढ़ गुर्राने लगती है; और एक हीन सन्धि का पालन जिससे तभी कराया जा सकता है जब उसकी गरदन पंजे में रहे। मराठों ने सारी शर्तें पूरी कराये विना ही वडगांव वाली अंगरेजी फौज को कैद से छोड़ दिया। खतरे से बाहर होते ही अगरेज़ों ने शर्तें तोड़ दीं।

हेस्टिंग्स ने मुधोजी भोंसले को बनारस में उसके वकील की मारफत अपनी तरफ फोड़ लिया। उसकी चश्मपोशी तथा मराठों के सामन्त भोपाल के नवाब की सक्रिय गद्दारी से गांडर्ड की फौज "मराठा राज को सूखे बाँस की तरह बीचोबीच चीरती हुई" बुन्देलखंड और दक्खिनी राजस्थान के रास्ते सूरत आ निकली। तभी राघोबा भी पूना से झांसी में नजरबन्दी के लिए ले जाया जाता हुआ शिन्दे की कैद से नर्मदा तट पर निकल कर फिर गुजरात भाग गया।

गौडर्ड ने फतहसिंह गायकवाड़ की मदद से पेशवा से दाभोई और

अहमदाबाद के इलाके ले लिये। तब महादजी शिन्दे और तुकोजी होलकर राजस्थान से उधर भेजे गये। अपनी छापामार नीति के अनुसार वे गोडर्ड को घुमा कर और थकाने का जतन करने लगे, तभी कोंकण की तरफ से एक [illegible] से आ उसका सूरत से संबन्ध काट देना चाहा। पर गोडर्ड भी एक सावधान सेनापति था, अतः वह उनके फंदे में न फंसा। पर कोंकण की अंगरेज़ी टुकड़ियाँ जरूर बुरी तरह फंस गयीं।

[illegible] ने अंग्रेज़ों को [illegible] किया। तब [illegible] और निज़ाम, हैदरअली और [illegible] उसने अंग्रेज़ों [illegible] एक साथ हमले का [illegible]। [illegible] ६० हजार सेना लेकर [illegible] ५० लाख रुपया [illegible] किया। [illegible] न [illegible]। पर हैदर-अली [illegible] था और अन्त में जब [illegible] बड़ी बहादुरी से [illegible] रहा, और उसके बाद [illegible] टीपू ने भी कुछ जल्दी [illegible] न किया।

महादजी और तुकोजी बड़ी [illegible] से लड़े। कर्नल गौडर्ड की फौजों को उन्होंने गुजरात में फंसाये रखा और कोंकण में फंसी अंगरेज़ी फौजों की मदद को न जाने दिया। पर हेस्टिंग्स ने तभी शिन्दे के सामन्त गोहद के राणा को भी अपनी तरफ फोड़ ग्वालियर के किले पर अपनी सेनाओं का दखल करा दिया। उधर मुधोजी भोंसले की गद्दारी से अंग्रेजों की एक फौज उड़ीसा के मराठा प्रदेश में से होकर हैदर के खिलाफ मद्रास की रक्षा को जा पहुँची। महादजी को गुजरात में गौडर्ड का पीछा छोड़ ग्वालियर की तरफ आना पड़ा। गौडर्ड को कोंकण में अपनी सेना को कुमुक पहुँचाने का अवसर मिल गया। उसने बसई और

अर्नाला लेकर संधि का प्रस्ताव पूना भेजा। नाना आखिर तक लड़ने का निश्चय किये हुए था। उसने पूना के राजमहलों में बारूद भरवा दी थी कि ज़रूरत हो तो उन्हें फूंक कर और भीतर चला जाय। एक मराठा सेना [illegible] और हरि फड़के के नेतृत्व में अंग्रेजों के खिलाफ भेजी गयी, [illegible] अंग्रेजों को कोंकण से मार भगाया।

[illegible] महादजी से [illegible], जो पहले [illegible] को [illegible] नागपुर में निष्क्रिय था [illegible] के कारण [illegible] दक्खिन [illegible] करना मान लिया।

ई० १७८२ [illegible] को [illegible] में संधि हुई जिससे [illegible] १७७६ के बाद का [illegible] सारा मराठा [illegible] पड़ा, तथा [illegible] नियंत्रण में आना पड़ा। इस [illegible] का [illegible] महाराष्ट्र में [illegible] पहले थे, नाना की दृढ़ता और सूझबूझ के कारण [illegible] हुए और आगे [illegible] वर्षों तक मराठों से फिर कोई छेड़छाड़ करने की हिम्मत उन्हें न हुई। मराठों की भी अग्रसर नीति इस गृह झगड़े के कारण कुछ समय के लिए रुक गयी।

§ १३. सामन्त शाही गृह कलह

मेवाड़ का गृह कलह अराजकता और अंग छेदन इस बीच बराबर जारी था। सरदारों के झगड़ने वाले दल पास पड़ोस के राजे सरदारों और मराठा सेनापतियों को अपने पक्ष पर चढ़ाकर लाने और अपने देश के जन धन और प्रदेशों की हानि कराने में मानों होड़ सी लगाये थे।

उसका चंबल तट का पूरवी अंश समूचा—भीचौर सिंगोली रतनगढ़ खेड़ी जावद—इसी सिलसिले में शिन्दे और होलकर दबा बैठे थे। इन्दौर की रानी अहल्या ने निम्बाहेड़ा भी इसी प्रकार हड़प लिया।

मेवाड़ ही की तरह राजपूतों के अन्य राज्यों की भी सरदारों की अविवेयता के कारण दुर्दशा हो रही थी। मारवाड़ में रामसिंह की मृत्यु के बाद गृह कलह तो प्रायः शान्त हो गया, पर सरदारों के विद्रोह दबाने में राजा विजयसिंह को काफी परेशानी उठानी पड़ रही थी और यही हालत प्रायः बीकानेर जयपुर आदि की थी। जयपुर में राजा माधवसिंह के बाद पृथ्वीसिंह की नाबालिगी में बहुत अधिक गड़बड़ चलती रही। उसके माचेड़ी के सरदार प्रतापसिंह नारुका ने इसी समय जयपुर से विद्रोह कर और व्रज की कमजोरी का लाभ उठा उससे अलवर लछमनगढ़ आदि प्रदेश छीन मेवात में वर्तमान अलवर राज की नींव डाली (१७७८ ई०)। पृथ्वीसिंह के देहान्त के बाद उसका भाई सवाई प्रतापसिंह तो मानो रहन सहन और आदतों में लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिद-अली शाह का पूर्वज ही था।

मराठे इन राज्यों की इस आन्तरिक स्थिति का लाभ उठाते रहे। खासकर अंग्रेजों के साथ होने वाले लंबे संघर्ष के दिनों में तो यह क्षेत्र युद्ध का खर्चा जुटाने को मानों उनका चरागाह था। अकेले मेवाड़ से लगभग दो करोड़ रुपया नकद और करीब उतनी ही वार्षिक आमदनी के इलाके उनके हाथ लगे थे; लूटपाट और विभिन्न सरदारों से सैनिक शुल्क (फ़ौजखर्च) या दंड स्वरूप उगाही गई बड़ी से बड़ी रकमें इसके अतिरिक्त थीं। मेवाड़ की बरबादी, राणा उदयसिंह से अमरसिंह १म तक मुगलों के विरुद्ध लगभग आधी शताब्दी के स्वाधीनता युद्ध से, राणा राज-सिंह के समय औरंगजेब के मुकाबले में बरती गई छापामार युद्ध शैली और घर उजाड़ नीति से या विशाल मुगल सेनाओं के आक्रमण और अनवरत सञ्चरणों से भी कभी उतनी न हुई थी जितनी सरदारों की इस

अन्तः कलह और उसमें प्रयुक्त होने वाली इन पड़ोसी ताकतों की भाड़ैत सेनाओं की लूटमार उजाड़ के कारण इस समय हुई।

वास्तव में देखा जाय तो राजस्थान में राजपूतों का वह सामन्तशाही ढांचा, जो तुर्कों के मुकाबले के लिए यहां १४ वीं १५वीं सदियों में जन-शक्ति के नेताओं के पारस्परिक सहयोग तथा अपने में सबसे योग्य और बलशाली का नेतृत्व मानने की प्रवृत्ति के आधार पर खड़ा हुआ था, अब समूचा डगमगा रहा था। स्वेच्छाकृत सहयोग का उसका वह आरंभिक आधार तो उसी रोज टूट गया था जब राणा अमरसिंह ने जहांगीर के आगे अन्तिम रूप से हथियार डाल दिये थे। राजपूत राजा उसके बाद अपने इलाकों में, जनता के मुखिया नेता या राजा नहीं अपितु मुगलों के मनसबदार या वेतन भोगी उच्च पदाधिकारी मात्र रह गये थे। उनकी रियासतें मुगलों द्वारा अपने साम्राज्य की सेवा के लिए उन्हें दी जानेवाली वृत्तियां या सैनिक टुकड़ियां सज्जित रखने का खर्चा उठाने के लिए दी गई जगीरें मात्र रह गईं थीं। उनके नीचे का सरदार या जागीरदार वर्ग भी तब राजाओं का सामन्त या चाकर नहीं, प्रत्युत साम्राज्य का अधीनस्थ कर्मचारी या निचला पदाधिकारी वर्ग था, जिसकी भक्ति का विषय, अब वे राजा या जातीय नेता नहीं, मुगल सम्राट थे। राजाओं के साथ उनका संबन्ध एक उच्चतर कर्मचारी के प्रति निचले कर्मचारी की आज्ञाकारिता की भावना मात्र था; जिसका आधार राजा, जातीय नेता या प्रभु के प्रति रक्खी आने वाली स्वामिभक्ति नहीं, मुगल शस्त्रों की अजेयता या सर्वप्रमुखता था। अतः वह अजेयता और प्रमुखता जब तक बनी रही, सरदारों की विधेयता में कोई व्यवहारिक अड़चन न पैदा हुई। परन्तु उसके शिथिल पड़ते ही अब उन्हें एकत्र बांध कर रख सकने वाली कोई शक्ति या सिवा, सैनिक बल की अधिकता या युगों से चली आती अधीनता मानने की आदत के, न रह गई। राजपूत राजा अधिकांश में तो इस समय अपने वंशों के बड़प्पन की

मिथ्या भावना ("डोफर"), निरंकुशता और व्यक्तिगत सुखोपभोग की कामना या विलासिता के शिकार थे। कोई ऊंची राजनीतिक महत्वाकांक्षा देशभक्ति या जनहित कामना उन्हें उद्भावित न करती थी कि जिससे वे [illegible] सरदारों या सैनिक वर्गों में कोई नई प्रेरणा स्फूर्ति [illegible] जगा सकें। [illegible] आदर्शों की भावना के लिए [illegible] सैनिक [illegible] की भावना जब [illegible] अपने [illegible] जगा सकें? [illegible] सरदार, [illegible] जिन्हें नीचे [illegible] और वह [illegible] ख्यात-नामा [illegible] को उन [illegible] या उनकी [illegible] वर्ग की [illegible] कर सकते थे। [illegible] प्रायः सभी राज्यों द्वारा [illegible] और—कायस्थों, [illegible] विहीन व्यापारी और नौकरी [illegible] सम्बद्ध न होने के कारण ऊंची [illegible] के लिए [illegible] आकांक्षा ही न कर सकते थे, अधिक से अधिक सहयोग देने की प्रवृत्ति रखते देखते हैं।

सामन्तशाही की ये कमजोरियां मराठों में भी थीं और उनमें भी सरदारों की उच्छृंखलता और अविधेयता कभी कभी असह्य हो उठती थी। पर शिवाजी और बाजीराव का हिन्दुपतपातशाही या सार्वभौम मराठा साम्राज्य बनाने का आदर्श एक प्रेरणा रूप में उनमें अब तक कार्य कर रहा था और उनकी राजनीतिक चेतना और सचेष्टता बनाये हुए था, जिससे वे दूसरे लोगों के मुकाबले में अधिक प्रगति शील, क्रियापरक

और एक दल के रूप में संगठित हो कर कार्य करते थे। मराठा राजनीति का एक सूत्र बना चला आता था जिसे उसके सरदारों की उच्छृंखलता अब तक तोड़ न पायी थी। अतः भारत में [illegible] मराठे ही अन्य पुरानी स्थानीय शक्तियों के मुकाबले में [illegible] और उनका नेतृत्व [illegible] | [illegible] भी [illegible] | [illegible] राजपू[illegible] होना, [illegible] में, [illegible] ।

[illegible]

बिगड़ गई।

§ १५. महादजी शिन्दे

सालबाई में अंगरेजों से निपटने के बाद महादजी फिर दिल्ली पहुँचा। मराठा फौजें १७७३ की बरसात में नारायणराव पेशवा के

बुलाने पर दिल्ली से चली गई थीं। अब महादजी के नेतृत्व में उनके फिर वहां आने पर बादशाह ने उसका हार्दिक स्वागत किया और पेशवा को अपने वकीले मुतलक (एक मात्र प्रतिनिधि) का खिताब दिया। महादजी अवध को अंगरेजों से वापस लेने के लिये अब पंजाब के सिक्खों की भी सहायता लेने की कोशिश करने लगा। पर दिल्ली दरबार में तभी अनेक झगड़े और उलझनें पैदा हो जाने से उसे दिल्ली से हट आना पड़ा (१७८५)।

दक्खिन में हैदर के बाद उसका बेटा टीपू कुछ अहमक स्वभाव का था। हैदर को, अंगरेजों के विरूद्ध लड़ाई छेड़ने के लिए राजी करने को नाना फड़नीस ने कुछ इलाके दिये थे। टीपू ने धर्मान्धता वश वहां के निवासियों पर अत्याचार आरंभ कर दिये। नाना को तब निजाम और अंगरेजों को मिला कर उसके खिलाफ युद्ध छेड़ना पड़ा (१७८६)। उत्तर भारत की मुख्य मराठा फौजों को भी तब दक्खिन जाना पड़ा।

बीकानेर में तभी राजा गजसिंह का देहान्त हुआ (अप्रैल १७८७ ई०)। उसका लड़का राजसिंह भी कुल २१ दिन बाद चल बसा। तब राजसिंह के छोटे बेटे प्रतापसिंह को मार उसका भाई सूरतसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा (अक्त० १७८७)। पर अनेक सरदारों ने उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया जिसे दबाने में सूरतसिंह को काफी कठिनाई झेलनी पड़ी।

दिल्ली में नजफखां जैसे अंग्रेजों के कारिन्दे गुप्त या प्रकट रूप में अपना कार्य इस बीच बराबर कर रहे थे। नजफखां के साथी मुहम्मद बेग हमदानी और इस्माइल बेग आदि राजस्थान में राजपूतों को मराठों के विरुद्ध भड़काने के उद्योग में लगे थे।

सूरत, पूना, कलकत्ता, बिहार अदि में अनेक "मारवाड़ी" (राजस्थानी) व्यापारियों की कोठियां उस समय भी फैली हुई थीं। प्रायः सभी राज्यों की अर्थव्यवस्था इन व्यापारी कोठियों के हाथों में थी और प्रायः

सारे भारत में इन की पेढ़ियों के जाल फैले थे। इन मारवाड़ी व्यापारियों के अनेक व्यापार-व्यवसायों में अंग्रेज़ों के साथ कारोबार होने से भारतीय राज्यों में अंगरेज़ों द्वारा रचे जाने वाले प्रायः सभी राजनीतिक षड्यंत्रों में भी इनका सहयोग उन्हें आरंभ से ही प्राप्य रहा था यद्यपि इन षड्यन्त्रों में इनका हिस्सा तुच्छ ही होता था। राजस्थान के राज्यों में, जैसा कि अभी ऊपर कह आए हैं, इस समय उच्च पदों पर अधिकांश में इनके ही भाई-बन्दों—मुत्सद्दी वर्ग—की प्रधानता थी। अतः उनका झुकाव भी मराठों के विरुद्ध अंग्रेज़ों की तरफ होना स्वाभाविक था, और चूंकि राजपूत राजा अधिकांश में इन मध्यमवर्गी मुत्सद्दियों और भाड़ैत सैनिकों के जोर पर ही अपनी प्रजा और सरदारों के विद्रोह दबा रहे थे, अतः सरदारों और आम जनता में अंगरेज़ों की अपेक्षा मराठों के प्रति अधिक सहानुभूति थी।

१७८६ में महादजी ने बादशाह की तरफ से जयपुर वालों से खिराज के लिए तकाजा किया। प्रतापसिंह ने जिसे अपने ऐश-इशरत से ही फ़ुरसत न थी, कुछ न दिया और अपने दीवान खुशालीराम को, जिसने ६३ लाख देने का वादा कर लिया था, निकाल दिया और अपने दूतों को अंगरेज़ों से सहायता लेने लखनऊ भेजा। महादजी ने प्रतापसिंह के विरुद्ध मानसिंह का पक्ष लेकर उसे सीधा करना चाहा, तब हमदानी और इसमाईल बेग आदि अंगरेज़ों के गुरगे प्रतापसिंह से जा मिले और जोधपुर के राजा विजयसिंह के नेतृत्व में उन्होंने समूचे राजस्थान में मराठों के विरुद्ध विद्रोह भड़का दिया। महादजी ने उनका दमन करने को सेना भेजी। पर जयपुर में लालसोत-चाटसू के पास तुंगा नामक स्थान पर विद्रोहियों से उसकी टक्कर हुई (जुलाई १७८७ ई०)। मराठे बुरी तरह हारे। हमदानी और इसमाईल बेग ने ब्रज में मथुरा आगरा भी दखल कर लिये। राजपूतों ने अजमेर ले लिया। मराठों को राजस्थान से बाहर करने की योजनाएँ अब फिर से बनने लगीं।

मेवाड़ में नये प्रधान सोमचंद गांधी की बदौलत स्थिति कुछ सुधरी थी। सोमचंद ने शक्तावतों और कोटा के सैनिक नेता जालिमसिंह झाला की मदद लेकर चूंडावतों की शक्ति को तोड़ दिया था। अब उसने मराठों से मेवाड़ की रक्षा करने और गया हुआ इलाका वापस लेने का नारा बुलंद कर दोनों दलों को महाराणा के [illegible] का जतन किया। मराठों को राजस्थान से निकालने [illegible] जयपुर वालों से [illegible] बनाया। मेवाड़ के [illegible] रामपुरा आदि [illegible] छीन लिये गये। [illegible] से आक्रमण [illegible] (फरवरी १७८८ ई०)। चूंडावत-शक्तावतों [illegible] और [illegible] हुआ [illegible] हुआ (१७८८ ई०)।

[illegible] तब फिर [illegible] ध्यान [illegible] तरफ [illegible] दूसरा [illegible] फ्रांसीसी [illegible] प्रयत्न [illegible] की [illegible] आदि [illegible] है। [illegible] में रह कर [illegible] राजस्थान क्षेत्र में उनका संचालन कर रहे थे। [illegible] सेनानायकों की अधिकता होने से मराठा शक्ति अन्य स्थानीय शक्तियों के मुकाबले में अब भारी पड़ने लगी थी। महादजी की इस नयी सेना में उसी तरह की शिक्षित टुकड़ियों की प्रधानता थी, जो एक फ्रांसीसी सेना

पति दबॉञ्ञ की संचालकता में काम करती थीं। इसमाइल बेग राजपूत फौजों को उनके मुकाबले में उतारना चाहता था, पर जयपुर जोधपुर की मदद उसके पास पहुँच न पायी। सिर्फ शिन्दों के पुराने दुश्मन नजीबखां का पोता और जाबिता का बेटा गुलामकादिर, जो ब्रज में लूटमार करता फिरता था, उसकी सहायता को पहुँचा। ब्रज में मराठों के खिलाफ उनके पांव न टिक सके तो भागकर वे दिल्ली पहुँचे। गुलाम-कादिर ने राजधानी पर कब्जा कर बादशाह अहमदशाह को, जिसका झुकाव अब स्पष्टतः मराठों की तरफ था, पकड़ कर अंधा कर दिया और शाही परिवार के दूसरे सदस्यों पर भी घृणित अत्याचार किये।

महादजी यह सुन सीधा दिल्ली पहुँचा। गुलामकादिर को अपने कुकर्मों का फल मिला; पर इसमाइल बेग उसके सामने पहले ही झुक कर बच निकला।

महादजी राजपूतों से भी सन्धि और मैत्री चाहता था, पर वे भीतर भीतर उसके विरुद्ध अंगरेजों से बातचीत कर रहे थे। कलकत्ते के मार-वाड़ी सेठ इसमें बिचवो का काम कर रहे थे। विजयसिंह के एक पत्र से पता चलता है कि कलकत्ते में कार्नवालिस के पास जयपुर और जोधपुर के स्थायी दूत का कार्य कोई मारवाड़ी सेठ रामसिंह करता था, जिसकी मारफ़त कार्नवालिस ने राजपूतों को इस समय मराठों के विरुद्ध उभाड़ने का जतन किया था। विजयसिंह ने उसके उत्तर में लिखा—"शिन्दे धोखेबाज है।···राजपूतों को दबाकर वह अंगरेज़ों पर चोट करेगा।··· अंगरेज़ हम दोनों राजाओं (जयपुर जोधपुर) से संधि करलें···राजपूत आप की और आप राजपूतों की मदद करें।"

उधर इस्माइल बेग आदि भी दिल्ली से भाग कर विजयसिंह से फिर आ मिले। तब महादजी को इन विद्रोहियों के खिलाफ़ कदम बढ़ाना पड़ा। माचेड़ी का ठिकानेदार, जो जयपुर से स्वतंत्र अलवर में अपना राज बनाने का जतन कर रहा था, मराठों से मिल गया। जयपुर ने भी अपने

मुल्क के उजड़जाने के डर से विद्रोहियों का साथ छोड़ दिया। तो भी राजपूतों की सम्मिलित सेना में पचास हजार से अधिक सैनिक घुड़सवार आदि तथा बहुत सी तोपें थीं। मराठा सेना उनके मुकाबले में १० हजार से अधिक न थी, पर द-बॉञ उनका नेतृत्व कर रहा था। जयपुर के उत्तर शेखावाटी में तंवरों की पाटण पर दोनों सेनाओं में मुकाबला हुआ। राजपूत घुड़सवार और सैनिक सांगा और मालदेव के समय से अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे और उनकी धाक आसाम से काबुल और कर्नाटक तक छायी हुई थी, पर द बॉञ की यूरपी शैली से शिक्षित उस छोटी सी टुकड़ी के सामने वे तीन घंटे से ज्यादा मैदान में न ठहर सके। यह बात सारे भारत में आश्चर्य और कौतूहल के साथ सुनी और समझी गई। राजस्थान के क्षेत्र में तो द बॉञ की टुकड़ी उसके बाद चेरी (उड़न) फौज के नाम से प्रसिद्ध हो गई।

पाटण के बाद द-बॉञ ने अजमेर और मेड़ता भी ले लिया। मेड़ते में काठियावाड़ियों ने द-बॉञ के ही शब्दों में "वह वीरता दिखाई कि वर्णन नहीं किया जा सकता।" पर नवीन सैनिक संघटन और युद्ध शैली के सामने सब व्यर्थ साबित हुआ। उनकी हिम्मत टूट गयी और बावजूद इस्माइल बेग आदि के प्रोत्साहनों के विजयसिंह को शिन्दे से संधि के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। अजमेर का सूबा और दंडस्वरूप एक बड़ी रकम लेने के सिवाय शिन्दे ने उसे अधिक न दबाया (१ जनवरी १७९१ ई.)।

दिल्ली में यह बात अब स्पष्ट रूप से अनुभव की जाने लगी थी कि साम्राज्य को मुख्य खतरा अंगरेजों से था, और उनका मुकाबला सिवाय मराठों के देश की और कोई ताकत न कर सकती थी, अतः भारत की सभी ताकतों को मिलकर उन्हीं के नेतृत्व में इन विदेशियों के खिलाफ एक सम्मिलित मोरचा कायम करना चाहिए। बादशाह ने महादजी को अपना 'फर्जन्द जिगरबन्द' कह कर पुकारा, पेशवा का 'वकीले मुतुलक'

(एकमात्र प्रतिनिधि) का खिताब फिर से स्थायी कर दिया । महादजी को उसने इसके बाद अपना यह खास सन्देश दे कर नाना के पास पूना भेजा कि अंगरेजों से मिलकर उसका टीपू के खिलाफ युद्ध छेड़ना भारी भूल थी। सब लोगों को अपनी शक्ति इकट्ठी कर देश का उद्धार अंगरेजों के पंजे से करने का प्रयत्न करना चाहिए।

पेशवा के लिए शाही खिताब खिल्लत और यह संदेशा लेकर पूना के लिए जाते हुए महादजी ने रास्ते में राजपूतों के सर्वमान्य नेता और शिवाजी के वंश की भी मूल गद्दी के मालिक होने से मराठों के लिए भी वन्दनीय मेवाड़ के महाराणा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि देना आवश्यक समझा। मेवाड़ की तत्कालीन हीन दशा देख उसे बड़ा दुःख हुआ और उसने अपने खास सेनापति आंबाजी इंगलिया को राजस्थान की सूबेदारी दे खास इसी काम के लिए मेवाड़ में छोड़ा कि वहां शान्ति कायम करने में महाराणा की पूरी मदद करे।

महादजी के पूना पहुँचने पर मराठा दरबार में बड़ा समारोह मनाया गया और पेशवा ने सम्राट् द्वारा भेजे गये खिताब और खिल्लत को बड़े अदब के साथ ग्रहण कर साम्राज्य के प्रति अपनी भक्ति प्रकट की (१७९२) । टीपू से शीघ्र ही सुलह कर ली गई ।

राजस्थान में आंबाजी इंगलिया के सत्प्रयत्न से मेवाड़ में शीघ्र ही चूंडावतों और शक्तावतों की शक्ति टूट गयी और कुंभल गढ़ के इलाके से, गद्दी के झूठे दावेदार रत्नसिंह के निकाल दिये जाने से, लगभग आधी शताब्दी से चलने वाले गृह युद्ध की समाप्ति होकर एक बार फिर शान्ति के चिन्ह प्रकट होने लगे।

जोधपुर जयपुर बीकानेर में भी अब शान्ति थी। मराठों के विरुद्ध उठा विद्रोह सब जगह दबाया जा चुका था। ८ जुलाई १७९३ को मारवाड़ में राजा विजयसिंह का देहान्त हुआ। उसका उत्तराधिकारी भीमसिंह कमजोर और विलासी था अतः सरदारों में उसका विरोध बढ़ गया

और वहां फिर से गृह-युद्ध के लक्षण प्रकट होने लगे। तभी बीकानेर में इसी तरह की आन्तरिक उलझनें प्रकट होने लगीं। पर मराठों के विरुद्ध सिर उठाने की हिम्मत अब किसी को न थी।

महादजी १७९२ के बाद पूना में ही रहने लगा। काबुल में अहमदशाह अब्दाली के बाद उसके बेटे तिमूरशाह ने राज किया था। अब उसका भी देहान्त हुआ, और उसका बेटा जमानशाह गद्दी बैठा (१७९२)। अंगरेजों को भारत से निकालने की कोई तजवीज लेकर महाराजा शिन्दे ने अपने दूत गुप्त रूप से जमानशाह के पास भेजे।* १२ जनवरी १७९४ को पूने में ही महादजी शिन्दे का देहान्त हो गया। इन्दौर की रानी अहल्याबाई होलकर भी, जिसके सुशासन की ख्याति भारत में आज तक बनी है, तभी चल बसी (१७९५)।

उसी वर्ष पेशवा सवाई माधवराव भी चल बसा। नाना ने उसका पोषण बड़े लाड़प्यार में अपने पुत्र की तरह किया था; परन्तु उसके कारण उसका विकास ठीक न हुआ और वह एक नाजुक और कमजोर युवक बन गया। राघोबा के बड़े लड़के बाजीराव की ओर, जो कि एक सुन्दर मृदुभाषी परन्तु मायावी मूर्ख कायर और क्रूर स्वभाव का युवक था, उसका खिंचाव देख, नाना ने उसे सावधान करना चाहा। इसपर

*महाराजा शिन्दे के, जमानशाह के पास, अंगरेजों के विरुद्ध सहायता के लिए दूत भेजने की बात हमने यहां जयचन्द्र विद्यालंकार के इतिहास प्रवेश के आधार लिखी है और किसी ऐतिहासिक ने इस पर आज तक ध्यान नहीं दिया। श्री जयचन्द्जी ने इसे सिक्ख इतिहास लेखक सर जोसेफ कनिंघम के ग्रन्थ "ट्रान्सफर्मेशन आफ सिखिज़्म" क एक पाद टिप्पणी के आधार पर लिखा है। कनिंघम को बहावलपुर राज्य के कागज़ातों में कहीं उसकी पूरी विगत मिली थी।

वह नाना के नियन्त्रण से भी ऊब गया। उधर बाजीराव ने भी उसे नाना के खिलाफ भरना जारी रक्खा। उसका स्वास्थ्य भी तब बिगड़ गया और क्षय के लक्षण प्रकट होने लगे। उसी अवस्था में अक्तूबर १९९५ में दशहरे के दो दिन बाद वह एकाएक महल के छज्जे से गिर पड़ा और दो एक रोज़ बाद मर गया। लोगों का अनुमान था कि नाना के नियन्त्रण से ऊबकर ही उसने अत्महत्या की। पर अनेक लोग उसे एक आकस्मिक घटना भी मानते थे।

नाना को इससे गहरा धक्का पहुँचा।

छटा अध्याय

अर्वाचीन राजस्थान—मराठा ब्रिटिश युग सन्धि

(१७९५-१८१८ ई०)

§ १ मराठा राजनीति आत्मघात के पथ पर

सवाई माधव राव के अचानक देहान्त के बाद पेशवा परिवार में, सिवाय देशद्रोही रघुनाथराव की सन्तान के कोई पुरुष न बचा था। रघुनाथ के पुत्रों में बाजीराव ही सब से बड़ा था। उधर महादजी के भी कोई सन्तान न थी अतः उसके भाई के पोते दौलतराव शिन्दे को, जो तब मुश्किल से १५ बरस का था, उसका उत्तराधिकार मिला। दौलतराव स्वभाव का दुरभिमानी छिछोरा और उद्धत था।

नाना फड़नीस की मरजी मराठा राज का नेतृत्व इस समय एक देशद्रोही के खानदान में जाने देने की बिलकुल न थी। उसके मत में सवाई माधवराव की विधवा पत्नी को बेटा गोद लेने की अनुज्ञा मिलनी चाहिए थी। पर दौलतराव अपने मन्त्री बालोबा की प्रेरणा से, मराठा मंडल की बागडोर नाना के बजाय अपने हाथ में करलेने का सपना देखता था। उसने नाना के प्रस्ताव का विरोध किया। अतः नाना को बाजीराव को ही जेल से मुक्त कर पेशवा बनाना पड़ा। बाजीराव ने भी नाना को ही अपना प्रधान बनाया, इसपर दौलत बिगड़ गया। उसने बाजीराव को कैद कर राघोबा के दूसरे पुत्र चिमणाजी को पेशवा बनाने की घोषणा कर दी। नाना को भी भाग जाना पड़ा; पर बाद में दौलतराव को नाना और बाजीराव से समझौता करना पड़ा।

उधर इन्दौर में तभी तुकोजीराव होलकर का भी देहान्त हो गया (१७९७)। दौलतराव ने तुकोजी के बड़े बेटे काशीराव को अपना बन्दी बना और एक छोटे बेटे को युद्ध में मारकर राजस्थान में होलकर के कुल प्रदेशों को आत्मसात करना चाहा। तुकोजी के अनौरस बेटे जसवन्तराव और उसके सहोदर विठूजी ने राजस्थान से बाहर भाग कर जानें बचाईं।

उधर बाजीराव भी नाना से अधिक दिन बनाकर न रख सका। दौलतराव से मिल उसने महाराष्ट्र के उस सब से सयाने वयोवृद्ध महापुरुष को, जो तब सारे भारत की राजनीति का प्रधान सूत्रधार था, गिरफ्तार करवा मराठा राजतंत्र पर मानों स्वयं ही एक सांघातिक प्रहार किया। इस कुकृत्य के लिए उसने दो करोड़ रुपया दौलतराव को देना किया था, पर अब एक करोड़ से अधिक खजानें में उसके हाथ न लगा तो उसने अपनी राजधानी पूना को लूट कर वह रकम वसूल करने की दौलतराव को स्वयं छूट देदी।

उसके बाद बाजीराव ने दौलतराव को गिरफ्तार कराना चाहा। तब दौलतराव की भी आंखें खुलीं। उसने नाना को कैद से छोड़ फिर से प्रधान मंत्रित्व के पद पर प्रतिष्ठित करा अपने दुष्कर्म का कुछ मार्जन करना चाहा।

इस बीच अंगरेज अनेक क्षेत्रों में बाजी मार ले गये थे। उन्होंने निजाम हैदराबाद को, जो १७९५ के बाद मराठों का बिलकुल करद सामन्त रह गया था, दबाकर अपनी आश्रित सेना रखने को मजबूर कर लिया था (१७९८ ई०) और अब टीपू पर आक्रमण कर उसे युद्ध में मार मैसूर पर भी अपना अधिकार कर लिया (१७९९)। टीपू का निधन-समाचार पूना में मराठा दरबार पर गाज सा गिरा। तभी नाना फड़नीस का भी देहान्त हुआ (मार्च १८००)। "उस के साथ मराठा राजतंत्र का सारा सयानापन भी विदा हो गया।"

अंगरेजों ने अब अवध के नवाब को दबा, अपनी आश्रित सेना की

मात्रा और बढ़ा दी और उसके खरचे की एवज रुहेलखंड फर्रुखाबाद अर्थात् समूचे उत्तरी और दक्खिनी पंचाल को भी ले मराठा सीमान्त पर चारों तरफ से अपना शिकंजा कसना आरंभ कर दिया।

इधर राजस्थान के राजपूत क्षेत्रों में अब फिर गड़बड़ी और अराजकता के लक्षण प्रकट होने लगे थे, महादजी के बाद दौलतराव शिन्दे ने आंबाजी इंगलिया को मेवाड़ से बुंदेलखंड में दतिया के मोरचे पर बदल अपने दूसरे सेनापति लकवा दादा को अजमेर की सूबेदारी दे कर भेजा था। पर इंगलिया अपने प्रतिनिधि गणेश पंत को मेवाड़ में अपनी तरफ से छोड़ गया था। लकवा की आंबाजी से पुरानी दुश्मनी थी। उसने गणेश पंत को यहां से निकाल देने के लिए चूंडावत सरदारों की मदद ली। चूंडावतों शक्तावतों की धमाचौकड़ी तब मेवाड़ में फिर से बरबादी ढाने लगी। यही दशा मारवाड़ बीकानेर जयपुर आदि की, सरदारों की अविधेयता के कारण हो रही थी। जयपुर में राजा प्रताप सिंह के दुष्ट स्वभाव से सरदारों में बड़ा असंतोष था, और जोधपुर में राजा भीमसिंह के खिलाफ उसके दूसरे भाई और सरदार बराबर संघर्ष चला रहे थे। उन्हें राणा, आंबाजी और लकवा दादा आदि से बराबर शह मिलती रही।

वस्तुतः राजस्थान के इस क्षेत्र में तब कहीं भी आन्तरिक शान्ति या संघटित शासनतंत्र काम नहीं करता था। अधिकांश राज्यों की आर्थिक दशा आन्तरिक अशान्ति के कारण इतनी हीन थी कि मराठों का खिराज वे नियम से चुकाने में प्रायः असमर्थ रहते। फलतः मराठों को भी बार बार उन पर सैनिक कारंवाई करनी पड़ती जिसमें लड़ने झगड़ने वाले विभिन्न दलों की फूट का लाभ वे भी उठाते। फलतः जनता की होने वाली जन धन की अपार हानि के जिम्मेवार उन्हें ही ठहराया जाता; एवं जनता और शासकवर्गों से उनके संबन्ध दिन प्रतिदिन कटु से कटुतर होते जाते थे।

अंगरेज़ इस स्थिति से लाभ उठाने से चूकने वाले न थे। उनके गवर्नर जनरल सर जान शोर ने इस बाबत अपनी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए १८९४ में ही लिखा था कि राजपूत "राज्यों में हमारे दूत भेजे जाने और मराठों से स्वतंत्र उनकी सत्ता स्वीकार कर लेने से उनकी शक्ति बढ़ेगी और मराठों के विरुद्ध उन्हें संघटित होने का हौसला होगा।" १७९९ में लार्ड वेलेज़ली के एक दूत से बात करते हुए जयपुर के राजा प्रतापसिंह ने मराठों के विरुद्ध राजपूतों की अंगरेज़ों से मिल एक गुट्ट बनाने की सर्वसम्मत अभिलाषा प्रकट की पर अंगरेज़ पहले मराठा युद्ध का सबक अभी तक भूले न थे और काफी फूंक फूंक कर कदम बढ़ा रहे थे।

तोभी नाना फड़नीस की मृत्यु (१८००) ने उनके हौंसले फिर बढ़ा दिये। मराठा मंडल में उनके द्वारा बोये गये फूट और अविश्वास के बीज अब फल लाने लगे। गुजराज के गोविन्दराव गायकवाड़ का भी तभी (१८०० ई० में) देहान्त हुआ। उसका लड़का आनन्दराव एक कमजोर दिमाग का लहरी आदमी था। उसने राज की रक्षा के लिए अंगरेजों की आश्रित सेना स्वयं ही बुला कर अपने यहां रख ली (१८०२ ई०)। अंगरेजों के दूत अब पेशवा, शिन्दे, होलकर, भोंसले आदि मराठा सरदारों को भी एक दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा कर और भय दिला कर अपनी आश्रित सेना रखने को फुसला रहे थे। सबसे पहले पेशवा बाजीराव हो उनके चंगुल में फंसा। वह उनकी आश्रित सेना रखने को इस शर्त पर राजी हो गया कि ऐसी सेना रहे तो अंगरेजों के अपने ही इलाकों में, पर आवश्यकता होने पर वह उसे अपनी सहायता के लिए बुला सके। अंगरेजों ने देख लिया कि जब तक कोई आसन्न विनाश का खतरा उसके सम्मुख उपस्थित न होगा वह सीधे रास्ते न आयेगा और वह अवसर भी शीघ्र ही उपस्थित हो गया।

तुकोजी का लड़का जसवन्तराव राजस्थान से भाग कर नागपुर के

भोंसले राजा की शरण में पहुँचा था; पर भोंसले ने दौलतराव के डर से उसे अपने यहां नजरबन्द रक्खा था। मैसूर विजय के बाद, अंगरेज़ों के जो दूत नागपुर गये थे, वे जसवन्तराव को पेशवा और शिन्दे के खिलाफ खड़ा करने में सफल हुए। अमीरखां नामक पठान तब एक भाड़ैत फौज बनाये अपनी किस्मत आजमाता फिरता था। अंगरेजों से उसकी साँठ-गाँठ थी। वह जसवन्तराव के साथ हो गया। जसवन्तराव ने मालवा पहुँच कर दौलतराव की सेनाओं पर आक्रमण आरंभ कर दिये। दौलत-राव को तब पूना छोड़ कर राजस्थान आना पड़ा। उधर जसवन्तराव के सहोदर विठूजी होलकर ने कोल्हापुर में उपद्रव मचाया। जसवन्तराव ने उसे शिन्दे और अपने बीच पड़कर फैसला करा देने को पूना में बाजीराव के पास भिजवाया तो बाजीराव ने उसे विद्रोही करार दे पकड़वा-कर क्रूरतापूर्वक मरवा डाला। जसवन्तराव तब उसका बदला लेने के लिए राजस्थान से निकल कर एकएक पूना पर जा टूटा। शिन्दे की बची खुची फौज और पेशवा को आसानी से हराकर वह राजधानी पर कब्जा करने में सफल हुआ। बाजीराव तब भागा, पर अपने सहायक दौलतराव के पास राजस्थान में नहीं, प्रत्युत देश के शत्रु अंगरेजों के पास गुजरात में, और वहां उनकी मीठी मीठी बातों में आ बसई में उनकी आश्रित सेना अपने यहां रखने और उसके खर्च के लिए बुन्देलखंड में २६ लाख की आमदनी का प्रदेश उन्हें दे देने की शर्तों पर हस्ताक्षर कर बैठा। सवाई माधवराव के भौतिक देह का अन्त आत्महत्या से हुआ कि दुर्घटना से सो तो सन्दिग्ध है, पर उसके उत्तराधिकारी मराठों के पेशवा द्वारा बसई की सन्धि पर हस्ताक्षर किया जाना मराठा राज्य की वास्तविक आत्महत्या थी।

§ २. दूसरा मराठा अंगरेज युद्ध

अपनी और अपने देश की गुलामी का यह पट्टा स्वयं लिखकर दे

देने के बाद पेशवा पछताने लगा। उसने होलकर शिन्दे आदि अपने सरदारों से फिर समझौता करा देने को अपने दूत नागपुर के बूढ़े भोंसले राजा के पास भेजे। पर इससे पहले कि वे सरदार परस्पर मिलकर बात चीत कर पाते, अंगरेजों की फौज मैसूर से बढ़ कर पूना आ पहुँची। होलकर को पूना छोड़ जाना पड़ा। पेशवा ने चाहा कि अंगरेज़ उसे दंड दें, पर वह सारा कांड उन्हीं के हत्थे चढ़ कर तो होलकर ने रचा था और वह उनके लिए इतना उपयोगी साबित हुआ था अतः उन्होंने उसे कुछ भी न कहा। पेशवा ने तब शिन्दे और भोंसले को सलाह करने के लिए पूना बुलाना चाहा। किन्तु अगरेज सेनापति आर्थर वेलज़ली ने उन्हें आदेश दिया कि पेशवा के इलाके से तुरत निकल जाँय और उसके बाहर भी एक दूसरे से हटकर अलग अलग ठहरें। अंगरेजों का आभिप्राय इस समय जैसे भी हो उन्हें छेड़कर मुकाबला करने को उकसाना और इस प्रकार उनकी सेनाओं, खासकर शिन्दे की यूरपी ढंग पर सीखी पदाति सेनाओं और तोपखाने की ताकत को कुचल देना था।

मराठों की इन सेनाओं के अफसर प्रायः सब फ्रांसीसी थे जो अंगरेजों द्वारा फ्रांसीसी शक्ति के भारत में कुचल दिये जाने के बाद भारतीय राज्यों में जीविका कमाने और व्यक्तिगत लाभ के विचार से ही नौकरी करते फिरते थे। आर्थिक लाभ के सिवाय इनके सामने और कोई उद्देश न था, अतः समय आने पर उन्हें खरीद लेना भी अंगरेजों के लिए सम्भव था। मराठों ने स्वयं इनकी युद्धशैली को हृदयंगत न किया था और अपनी सेनाओं का खड़ा करना और चलाना इन्हीं भाड़ैतों के हाथ सौंप दिया था। यह नया सेनासंघटन मराठों ने अपनी पुरानी सामन्तशाही पद्धति पर ही करना चाहा था, और इन भाड़ैत अफसरों और इनकी सेनाओं को स्वयं सीधे वेतन न देकर अपने देश वालों की ही तरह जागीरें दे रक्खी थीं। सेनाओं की भरती शिक्षा और वेतन का सारा खर्च उन जागीरों की आमदनी से ये अफसर खुद चलाते थे, जिससे

मराठा राजाओं का उन सेनाओं पर सीधा नियन्त्रण कुछ भी न र
गया था। यों यदि ये विदेशी भाड़ैत गद्दारी करते तो मराठा राजतं
का सैनिक ढांचा और शासन यंत्र दोनों एक साथ ठप्प किये जा सक
थे। इसीलिए जब महादजी शिन्दे ने पहले पहल इन सेनाओं का संघ
टन प्रारम्भ किया था, तब वारेन हेस्टिंगस् ने यह भविष्यवाणी की थ
कि मराठों का पतन इन्हीं सेनाओं के कारण होगा। सर टामस मुनर
ने उन्हें देखकर कहा था कि "उन्हें एक सी वरदी पहना कर कवायद व
लिए क्या ले जाया जाता है, मानों सजाकर कुर्बानी के लिए ले जाय
जाता हो।"

जब तक फ्रान्स के अपने घर में अव्यवस्था थी और कोई राष्ट्री
शक्ति इन साहसिक देशवासियों की पीठ पर इन्हें किसी राजनीति
उद्देश से सहारा देनेवाली न थी, अंगरेजों को इनकी फौजों से विशे
डर नहीं था। किन्तु १७९३ में फ्रान्स में राज्यक्रान्ति होने पर फ्रांसीसियों
के अपने अद्वितीय नेता नैपोलियन की नायकता में संघटित होकर उठ
खड़ा होने और साम्राज्य निर्माण के अखाड़े में उतर आने पर, अंगरेज
इन सेनापतियों की शक्ति से चिन्तित थे।

१७९८ के प्रारम्भ में नैपोलियन ने पूरब में फ्रान्स का साम्राज्य
खड़ा करने और अंगरेजों के भारतीय आधिपत्य के विरुद्ध कार्रवाई
चलाने को एक अच्छे आधार की तलाश में एक सेना को मिसर ल
उतारा था। उसके दूत भारतीय राज्यों में जहां इन सेनापतियों क
जोर था चक्कर लगा रहे थे, और शिन्दे ने पैरों जैसे जिन फ्रांसीसी
अफसरों को आगरे के इलाके और हरियाने में बड़ी जागीरें दे रक्खी
थीं, वे बड़ी तेजी से जमना से सतलज की तरफ अपनी शक्ति बढ़ा रहे
थे। वे यदि बीकानेर बहावलपुर, जैसलमेर के रास्ते अथवा पंजाब के रास्ते
सिन्ध तक अपना राज पहुँचा लेते तो समुद्र के रास्ते मिसर द्वारा फ्रांस
से सीधा सम्बन्ध जोड़ सकते थे। अतः अंगरेजों को उनकी शक्ति को

उखाड़ देना तब आवश्यक दिखाई दिया। लार्ड वेलेज़ली को खास इसी काम के लिए गवर्नर जनरल बनाकर हिन्दुस्तान भेजा गया था।

अंगरेज सेनापति आर्थर वेलेज़ली ने पूना पहुँचकर शिन्दे और होलकर को पेशवा की सीमा से हट जाने और बाहर भी अलग अलग हटकर ठहरने का आदेश दिया था। किन्तु उनके उसे न मानने पर अंगरेज़ों ने चारों तरफ से उनपर हमला बोल दिया। इनकी एक सेना निजाम राज्य से बढ़ बराड़ पर सीधी आयी। दूसरी ने पूना से अहमदनगर औरंगाबाद हो राजस्थान और बराड़ की सीमा पर मराठों से टक्कर ली; तीसरी तभी राजस्थान-गुजरात सीमा के मराठा किले लेने लगी, चौथी ने जिसका नेता लार्ड लेक था, कानपुर से बढ़ व्रज के दोआबवाले समूचे अंश पर अधिकार कर लिया और अलीगढ़ ले दिल्ली की तरफ प्रयाण किया। लेक के दूत व्रज मेवात हरियाना और कुरु क्षेत्र के जाट राजपूत सिक्ख गूजर आदि मराठा करद सरदारों को उनके विरुद्ध भड़काने का काम करने लगे। राजस्थान के राजपूत राज्यों से भी मराठों के विरुद्ध सन्धि के प्रयत्न किये गये। पांचवीं फ़ौज ने तभी तामिल देश से गंजम की राह बढ़ भोंसले के उड़िया इलाके पर हमला बोल दिया। बंगाल से भी उसकी सहायता को टुकड़ियां भेजी गयीं। छठी एक सेना मैसूर के उत्तरी सीमान्त पर तैनात रक्खी गयी कि पेशवा के अधीन दक्खिनी महाराष्ट्र के सामन्त सिर न उठा सकें।

मराठों के तमाम यूरपी अफसरों ने—फ्रांसीसियों ने भी—जिनसे ईसाई होने के नाते हिन्दुओं और मुसलमानों के खिलाफ और यूरपी या गोरे होने के नाते भारतीयों (कालों) के खिलाफ विद्रोह करने की अपीलें की गयी थीं, प्रायः सब जगह विश्वासघात किया, और ऐन मौके पर अंगरेज़ों से जा मिले। फलतः मराठों की सेना "लड़ने में दैत्यों की तरह" होने पर भी नेतृत्व के अभाव और धोखादेही के कारण कहीं भी अपने पांव रोप कर टिक न सकी। जसवन्तराव होलकर अंगरेज़ों की

मीठी बातों में आ, युद्ध से विरत रहा। अलीगढ़, असई (खानदेश), लासवाड़ी (अलवर राज्य), आरगांव (बराड़) और गवीलगढ़ (खानदेश) की पराजयों के बाद, जिनमें शिन्दे की पदाति सेना तोपखाने और रिसालों की ताकत पूरी तरह कुचलदी गयी, शिन्दे और भोंसले ने घुटने टेक दिये। तब दोनों राजाओं से अलग अलग संधियां की गईं (दिसम्बर, १८०३ ई०)। शिन्दे को अपने, व्रज, कुरु और मेवात में सब तथा बुन्देलखंड के बहुत से प्रदेश देने पड़े और निजाम बादशाह एवं राजपूत राज्यों पर अपने सब दावे उठाने पड़े। बादशाह तब अंगरेजों के आश्रय में रहने को मजबूर हुआ। कुछ समय बाद होलकर का हौआ दिखाया जाने पर शिन्दे ने अंगरेजों की आश्रित सेना रखना भी माना और गवालियर गोहद का प्रदेश भी सैनिक खर्च पेटे में अंगरेजों को सौंप दिया (फरवरी १८०४)।

§ ३. जसवन्तराव होलकर

जसवन्तराव होलकर तब अकेला बच गया। अंगरेज उससे वादे करते रहे थे कि शिन्दे ने उसके जो इलाके दोआब हरियाना मेवात आदि में दबा लिये थे उन्हें वे उसे वापस दिला देंगे। पर अब उन्होंने उसे साफ अंगूठा बता दिया।

लेकिन जसवन्तराव वीर पुरुष था, और शुरू में दौलतराव और पेशवा के दुर्व्यवहार से विवश हो अंगरेजों के बहकावे में आकर उसने चाहे जो किया हो, एक बार परिस्थिति को ठीक से समझ लेने के बाद उसने युद्ध की ठानली। वह राजपूतों, व्रज के जाटों, रूहेलों आदि सभी को अंगरेजों के विरुद्ध मिलकर मोरचा लेने को उभारने और मराठों को भी, खासकर शिन्दे और भोंसले को, फिर से शस्त्र उठाने के लिए प्रेरित करने लगा। दोआब के लोग अंगरेजों के नवस्थापित राज से बहुत असन्तुष्ट थे, जसवन्तराव ने वहां अपने दूत भेजे। होल्कर वंश और

रुहेलखंड के पठानों के बीच मल्हार और नजीब के समय से मैत्री चली आती थी। रुहेले सरदार अब इसकी राह देखने लगे कि जसवन्तराव दोआब आ जाय तो वे भी अंगरेजों के खिलाफ उठ खड़े हों।

जसवन्तराव मालवे के उत्तर तरफ पूरबी राजस्थान में आ डटा, जहां से ठेठ हिन्दुस्तान, गुजरात और दक्खिन तीनों तरफ अंगरेजों की कार्रवाइयों पर वह चौकसी रख सकता और आवश्यकतानुसार किसी तरफ भी बढ़ सकता। उसने देखा कि उसकी सेना में उसके अंगरेज नौकर गद्दारी करने पर उतारू हैं। इस अपराध में तीन अंगरेज कप्तानों—विकर्स, टौड और नियान—को पकड़ कर उसने उदयपुर के पास नाहरा-मंगरा में फांसी पर लटकवा दिया।

अंगरेजों ने जयपुर के अलवर-माचेड़ी वाले सामन्त को अपनी तरफ फोड़ लिया। वे जयपुर को भी होलकर के खिलाफ अपना साथ देने को मजबूर करना चाहते थे। जसवन्तराव उदयपुर से जयपुर आया। उधर उत्तर भारत का अंगरेज कमांडर-इन-चीफ लेक कानपुर की अपनी मुख्य छावनी से बांदीकुई के १९ मील दक्खिन-पच्छिम दौसा पर सेना सहित आ गया। कर्नल बाल के अधीन एक टुकड़ी उसने जयपुर राज्य की उत्तर-पच्छिमी सीमा की ओर कानोड पर भेजी। मौन्सन की नायकता में एक और टुकड़ी उसने जयपुर तक चढ़ा दी (२१-४-१८०४)। होलकर तब दक्खिन हट गया।

दक्खिन के अंगरेज सेनापति आर्थर वेलेज़ली को दक्खिन तरफ से चढ़ने का आदेश था। वेलेज़ली ने कर्नल मरे को जो गुजरात की अंगरेज़ी सेना का नायक था, मालवे पर चढ़ाई करने भेजा। लेक स्वयं आगे न बढ़ा। उसने लिखा—"···मैं इस लुटेरे (जसवन्तराव) के बारे में अपने को बड़ी कठिन स्थिति में पा रहा हूँ, क्योंकि यदि वह मेरी तरफ नहीं आता,······है, तो मैं उसकी तरफ नहीं बढ़ सकता, क्योंकि जैसे ही मैं उसकी तरफ बढ़ूंगा···वह मुझे चकमा देकर अपने सवारों के साथ

हमारे इलाके (दोआब व्रज या मेवात) में घुस आयगा···।"

लेक चाहता था कि आर्थर वेलेज़ली दक्खिन से होलकर के खिलाफ बढ़े। लेकिन वेलेज़ली भी इसके लिए तैयार न था। उसका कहना था कि "दक्खिन से सेना हिन्दुस्तान ले जाना ठीक न होगा। यदि हमारी (दक्खिन की) सेना चान्दोर (ताप्ती कांठे) से उत्तर चली जाय तो महाराष्ट्र में पचास होलकर उठ खड़े होंगे···।"

आर्थर वेलेज़ली का मत थ‌ ल लेक को हिन्दुस्तान (आधुनिक युक्त प्रांत हरियाना आदि) में अपनी पदाति सेना का मुख्य भाग और कुछ सवार सेना छोड़ कर स्वयं पूरे ज़ोर से होलकर के खिलाफ बढ़ाना चाहिए।···हिन्दुस्तान की सुरक्षा का यों प्रबन्ध करके उसे होलकर का डट कर पीछा करनाचाहिए।"*

किन्तु लेक को वैसा करने की हिम्मत न हुई। जसवन्तराव इस समय ठीक मराठा शैली से लड़ने को तैयार था और राजस्थान की भूमि उसके लिए खूब उपयुक्त थी। हमने देखा है कि यूरपी शैली की तोपची और पदाति सेना का मराठे अपनी शैली से मैदान में मुकाबला न सकते थे, पर विशेष अवसरों और स्थानों में उनकी शैली का अपना उपयोग था।

उस शैली से वे यदि तोपची बन्दूकची सेना के मुकाबले में जमकर युद्ध करने में सफल न हो सकते थे तो शत्रु को छापामार युद्ध द्वारा परेशान तो कर ही सकते थे। खासकर जहां जनता और प्रदेश अपना हो, और उसकी स्वाधीनत के लिए लड़ना हो, वहां उनकी छापा मार शैली

* बसु—राइज़ आव दि क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया (भारत में ईसाई शक्ति का उदय), २य संस्क०, कलकत्ता १९३१, पृ० ५०६, ५१५।

अद्वितीय थी। शत्रु के पांव किसी प्रदेश से उखाड़ देना और उसे वहां कभी जमने न देना उस शैली से लड़ते हुए बहुत आसान था, यह बात यूरप के ये बड़े सेनापति भी अब देख रहे थे। यही कारण है कि लेक और वेलेज़ली दोनों अब होलकर का पीछा करने से कतरा रहे थे। मराठे यदि अपनी शैली के साथ नई यूरपी शैली का सामंजस्य कर पाते और यह विवेक कर लेते कि कहां उनकी अपनी शैली काम देगी और कहां नई शैली, और दोनों का यथा समय उपयोग करते तो कोई उन्हें हरा न सकता। पराये ज्ञान का अपने पुराने ज्ञान के साथ सामञ्जस्य न कर सकने से उनका जो मतिविभ्रम हुआ वही उनके पराजय का मुख्य कारण हुआ। आर्थर वेलेज़ली ने मराठों से ही उनकी शैली सीख कर यूरप जाकर पहले पहल उसका नैपोलियन के खिलाफ स्पेन में प्रयोग किया। नैपोलियन जैसे सेनापति के मुकाबले में जहां और कोई युद्धनीति न चल सकती थी वहां यह सफल हुई, और इसी की बदौलत आर्थर वेलेज़ली ड्यूक आव वेलिंगटन बना।

जयपुर बून्दी और कोटा के राजा अंगरेज़ी फौज को सामने देख जसवन्त राव का साथ देने को तैयार न थे, इसलिए वह हाड़ौती के दक्खिन सोंधवाड़ा के अपने इलाके में भानपुरा आकर ठहरा। सोंधवाड़ा मालवे का उत्तरी छोर है जो कि मेवाड़ के ठीक पूरब लगा है।

शिन्दे को अंगरेज अब होलकर के खिलाफ खिलाना चाहते थे; उन्होंने दौलतराव को होलकर के मालवा वाले प्रदेशों को लेने के लिए उकसाया। उसके सेनापति बापू शिन्दे और जीन फिलोस ने पूरबी मालवे में होलकर के भिलसा सिहोर के आदि प्रदेश छीन लिये। आर्थर वेलजली ने कर्नल मरे को बागड़ के रास्ते गुजरात से इन्दौर तक बढ़ शिन्दे की फौज का सहयोग लेने का आदेश दिया था। पूना से कर्नल वालेस को ताप्ती कांठे में होलकर का चान्दौर किला लेकर राजस्थान की दक्खिनी सीमा पर पहरा देने को भेजा गया। लेक ने एक टुकड़ी जयपुर और बूदी के बीच टोंक-

रामपुरा पर भेजी, जिसने १६–५–१८०४ को वह किला ले लिया।

बुन्देलखंड में जालौन से झांसी के रास्ते पर कोंच में अंगरेजी फौज की एक छावनी थी। २१ मई १८०४ की रात को इस छावनी को छापे मार रिसाले के एक दल ने आ घेरा, जो कुल अफ़सरों और सैनिकों का सफ़ाया कर उनकी सब तोपें छीन ले गया। अंगरेज़ नायक जसवन्तराव का पीछा करने से पहले ही कतरा रहे थे, अब और घबरा गये, और गवर्नर जनरल ने मौनसन और मरे को लौटा कर युद्ध बन्द करने का आदेश दिया। लेकिन वे दोनों सेनानायक काफ़ी आगे बढ़ चुके थे, इसलिए युद्ध बन्द न हुआ।

कर्नल मरे मही काँठे से बांसवाड़ा प्रतापगढ़ राज्यों की सहायता लेते हुए बढ़ रहा था। उसके मही पार कर चंबल कांठे में घुसने पर जसवन्त राव ने चंबल के दायें दायें दक्खिन जाकर चंबल उतरने के घाट के ठीक सामने अपना शिविर डाल दिया। मरे होलकर को सामने देख उलटे पांव गुजरात की तरफ भागा (१–७–१८०४)।

उसी दिन मौन्सन हाड़ौती और मालवे के बीच का मुकुन्दरा घाटा पार कर सोंधावड़े में घुसा। अगले दिन उसकी एक टुकड़ी ने हिंगलैस-गढ़ ले लिया। एक सप्ताह में वह मुकुन्दरा के पचास मील दक्खिन तक पहुँच गया। उसके सोंधवाड़े में पांव रखते ही सोंधियों ने, जो मध्यम पूरबी राजस्थान की एक विकट योद्धा और स्वाधीनता प्रिय ज्ञाति है, उसके घोड़े पशु आदि सामान चुरा कर, उसकी हुलिया तंग कर दी थी।

उसे खबर मिली कि जसवन्तराव उसकी तरफ आ रहा है और मरे गुजरात की तरफ भाग गया है। उसने भी तब भागने में ही खैर मनाई। वह बारह मील पीछे हटा था जब उसे खबर मिली कि होलकर के सवारों ने उसकी चन्दावल के रिसाले पर हमला कर उसका सफाया कर दिया। मुकुन्दरा के उत्तर तरफ़ १७ जुलाई को होलकर ने उसकी मुख्य सेना को आ पकड़ा, पर आमने सामने की लड़ाई में उसकी तोपों और बन्दूकची

पाँतों को होलकर तोड़ न सका। अगले दिन मौनसन कोटा पहुँचा, पर वहां के अधिनायक जालिमसिंह ने भी अब उसका साथ न दिया। होलकर बराबर पीछा कर रहा था, इसलिए मौनसन चम्बल और चंबली नाला पार कर अपनी तोपों में कीले ठोकता, गोला बारूद में आग लगाता और स्त्रियों बच्चों और घायलों को उनकी किस्मत पर छोड़ता भागता ही गया। हाड़ोती की कृषक पशुपालक वनवासी मीणा भील आदि जातियों ने मराठों से सहयोग कर उसकी फौजों की काफी दुर्गति की।

२९ जुलाई को वह टोंक-रामपुरा पहुँचा। लगातार वर्षा के कारण जसवन्तराव भी उसका पूरा पीछा न कर सका था। रायपुरे में रुक कर मौनसन उसकी गतिविधि और अपनी कुमुक आने की राह देखता रहा।

जसवन्तराव के मौनसन के पीछे लगने पर मरे फिर गुजरात के रास्ते से लौटा और उसने बिना किसी संघर्ष के इन्दौर शहर ले लिया। किन्तु जसवन्तराव अब देश की लड़ाई के लिए निकला था। अपने क्षुद्र स्वार्थों चिन्ता, एक शहर—राजधानी—का मोह उसकी गति को रोकने या उसे पीछा खीचने न पाया।

२१ अगस्त तक लेक की भेजी कुमुक मौनसन को टोंक रामपुरे में आ मिली। उधर जसवन्तराव भी आ रहा था। उसे आते देख मौनसन ने नई कुमुक के बावजूद भी फिर पीछे भागना तय किया। उसके बनास पार करते करते २४ अगस्त को जसवन्तराव उसपर आ टूटा। मौनसन मार खा कर अपना सामान और थके और घायल सैनिकों को छोड़ दुम दबा कर भागा। २५ अगस्त की रात वह जयपुर राज्य में कुशलगढ़ पहुँचा। वहां दौलतराव शिन्दे की सेना सदाशिव भाऊ भास्कर के नेतृत्व में थी। यह वही सेनापति था जिसे जसवन्तराव ने १८०३ में पूना में हराया था। मौनसन को इससे मदद पाने की आशा थी। पर शिन्दे का सेनापति बापू शिन्दे कोटा में ही जसवन्तराव की तरफ चला गया था और अब भास्कर भी अपना पुराना झगड़ा भूल उससे जा मिला।

मौनसन की कुछ अपनी सेना भी जसवन्तराव की तरफ़ चली गई। रास्ते में अनेक जगह मार खाता हुआ ३१ अगस्त को वह आगरा पहुँचा। लेक का कहना था कि उसने सर्वोत्तम सेना-दल मौनसन के हाथ सौंपे थे, जो सब नष्ट हो गये।

होलकर के पराक्रम और रण कौशल को देख शिन्दे भोंसले आदि दूसरे मराठा सरदारों के भी हौंसले फिर से बढ़ने लगे, वे अपने इतनी आसानी से हथियार डालने पर अब पछताने लगे थे। ब्रज में ब्रिटिश आधिपत्य के खिलाफ काफी असंतोष था; भरतपुर का राजा रणजीतसिंह भी, जिसे अंगरेजों ने उसी साल शिन्दे से स्वतंत्र कर अपनी रक्षा में लिया था, अब उनके खिलाफ उठ खड़ा हुआ। दोआब की समूची जनता ब्रिटिश आधिपत्य के कारण असंतुष्ट थी। जनता और होलकर के दूतों ने रणजीतसिंह को बराबर उभाड़ा था। होलकर ने मथुरा पर चढ़ाई करदी, दौलतराव शिन्दे भी तब उनसे मिलने बुरहानपुर सेब्रज की तरफ रवाना हो गया। होलकर मथुरा लेकर दिल्ली की ओर बढ़ा। उसका विचार बादशाह को फिर से अपने आश्रय में ले लेने का था। पर कानपुर से अंगरेजों ने वहां बहुतसी नयी कुमुक कर्नल आक्टरलोनी की नायकता में भेजदी थी। अतः वहां उसे सफलता न मिल सकी। वह दिल्ली का घेरा उठा दोआब में घुसा। लेक ने उसका पीछा किया और १८ दिन तक २३ मील रोज़ की चाल से दौड़ते हुए फर्रुखाबाद में उसके रिसाले को जा पकड़ा। होलकर तब जमना पार कर वापस डीग लौट आया और वहां से भरतपुर जा कर रणजीतसिंह के साथ शामिल हो गया।

जनवरी फ़रवरी १८०५ में भरतपुर किले पर लेक ने तीन बार हल्ला बोला, पर तीनों बार विफल हुआ। तीसरे हमले से पहले गुजरात वाली सेना भी कर्नल मरे के उत्तराधिकारी की नायकता में राजस्थान पार कर वहां आ पहुँची थी, और उस हमले में शामिल हुई थी। गढ़ के रक्षकों ने भीतर से निकल कर अंगरेजी फ़ौज की कुछ खन्दकें छीन ली थीं;

गोरी फ़ौज को उनपर बढ़ने का हुक्म दिया गया तो उसने न माना, तब अंगरेजों की देसी फौज ने बढ़कर वे खन्दकें वापिस लीं।

इस बीच दौलतराव शिन्दे मालवे से भारतपुर की ओर बढ़ा जा रहा था; अतः अंगरेजों ने भरतपुर में अधिक देर फंसे रहने में बुद्धिमानी न समझी। तीन मास तक व्रज वासियों ने अपनी उस राजधानी की रक्षा में अद्भुत साहस और शौर्य का प्रदर्शन किया, पर अन्त में राजा रणजीतसिंह ने अंगरेजों से सुलह कर ली।

होलकर को व्रज छोड़ना पड़ा। चंबल के दक्खिन व्रज और बुन्देलखंड की सीमा पर सबलगढ़ में उसकी शिन्दे से भेंट हुई। भोंसले और पेशवा के दूत भी वहां उपस्थित थे। शिंदे के प्रयाण में इतना विम्लब होने और उसके समय पर भरतपुर की सहायता को न पहुँचने का कारण उसका दोगला सेनापति जीन फिलौस था। होलकर के कहने पर उसे गिरफ्तार कर लिया गया और तब दोनों राजा वहां से राजस्थान में अजमेर की तरफ हट आये; जहां उनका पीछा करने का साहस अंगरेजों को भी न था।

शिन्दे का बुंदेलखंड, गोहद-गवालियर-दतिया मोर्चे पर नियुक्त सेनापति आंबाजी इंगलिया भी, जो १८०३ के युद्ध में अपने मालिक को दग़ा देकर अंगरेजों से मिल गया था और फलतः अंगरेजों ने जिसे संधि के समय शिन्दे से पृथक गवालियर के दक्खिन नरवर में एक स्वतंत्र रियासत दिलाई थी, अब फिर उससे आ मिला था। राजस्थान के राजपूत राज्य जयपुर जोधपुर मेवाड़ आदि भी जिन्होंने १८०३–४ में मराठों के विरुद्ध अंगरेजों से सन्धियां करली थीं, अब उनके एकाएक इधर आ निकलने से सहम गये और अंगरेजों के विरुद्ध अब फिर मराठों का साथ देने को मजबूर हुए। आंबाजी ने शिन्दे को उकसाया कि दोनों राजा मिल कर मेवाड़ को आपसमें बांट लें और उस राज्य का, जिसका शासन तन्त्र तब भीतर ही भीतर काफी सड़ गल गयाथा,

हमेशा के लिए अन्त कर दिया जाय। पर होलकर का विचार राजपूतों में सौहार्द पैदा कर विदेशी के खिलाफ इस संघर्ष में उन्हें भी अपना साझीदार बनाने का था। उसने जोधपुर के राजा मानसिंह से अपना पगड़ी बदल भाई का सम्बन्ध स्थापित किया और मेवाड़ के महाराणा को "अपने मालिकों का भी मालिक" कह, मराठों द्वारा अबतक लिये गये उसके सारे प्रदेश वापस लौटाना तय किया। पर राजपूत राजा अब भी भीतर भीतर उनके विरुद्ध अंगरेजों से मिलने के षडयन्त्र चला रहे थे। उनका नैतिक पतन तब चरम सीमा तक हो चुका था और वे अपनी ही प्रजा और सरदारों को अपने वश में रखना कठिन अनुभव करने से तब किसी बाहरी संरक्षण के लिए उतावले थे। मराठों का साथ देने में तो अब मुसीबत और विपत्ति ही उनके हाथ पड़ती। जसवन्तराव को मालूम हो गया कि महाराणा का दूत भी जयपुर वालों के साथ दिल्ली के अंगरेजी शिविर में, उसके खिलाफ संधि का गुप्त प्रस्ताव लेकर पहुँचा है। इधर शिन्दे से भी उसका विश्वास शीघ्र ही उठ गया। उसका दीवान मुंशी कमलनयन और अम्बाजी इगलिया, जो भीतर ही भीतर अंगरेजों के हाथ बिके थे, एक तरफ तो राजपूतों और मराठों में परस्पर का आतंक बढ़ाकर मेल न होने देने के जतन कर रहे थे, दूसरी तरफ मुंशी कमलनयन शिन्दे को होल्कर से भी अलग करने के जतन में लगा था। उसकी मारफत अंगरेजों ने शिंदे को अश्रित सेना की शर्त से मुक्त कर, गोहद और गवालियर लौटा तथा राजपूत राज्यों पर उसका अधिकार पहले जैसा ही मानकर, शीघ्र ही होलकर से अलग हो जाने को राजी कर लिया। गोहद का राणा शिन्दे के खिलाफ सदा से अंग्रेजों से मिल गद्दारी करता आया था। अंग्रेजों ने उसे अब गोहद के बजाय व्रज में भरतपुर और गवालियर के बीच धौलपुर की जागीर दिलाई ताकि वे दोनों परस्पर मिल फिर कोई नया उपद्रव न खड़ा कर सकें।

जसवन्तराव तब देश की आजादी की अन्तिम लड़ाई पंजाब में

सिक्खों और काबुल के पठानों की, जो तब सिन्ध मुलतान पेशावर और कश्मीर के भी अधिपति थे, मदद लेकर चलाने के लिए जयपुर और शेखावाटी के रास्ते पंजाब की तरफ रवाना हो गया। लार्ड लेक रेवाड़ी से सेना लेकर उसके पीछे पीछे व्यास घाट तक गया। मेवात हरियाना के सब भूतपूर्व जागीरदार जिनमें वर्तमान अलवर लोहारू झज्झर फरीद-कोट, जींद, नाभा पटियाला आदि रियासतों के संस्थापक शामिल थे और जिन्हें अंगरेजों ने मराठा अधिपत्य से स्वतंत्र कर अब अपने प्रभाव में घोषित कर दिया था, इस समय उसके लिए बड़े सहायक सिद्ध हुए।

जसवन्तराव के पंजाब पहुँचने पर सिक्ख सरदारों की एक संगत अमृतसर में जुटी। कुछ सरदार मराठों के पक्ष में थे और कुछ अंगरेजों से मिलना चाहते थे। जसवन्तराव काबुल के अफगानों को भी बुलाने की बात करता था, पर सिक्खों का मुकाबला पंजाब में तब मुख्यतः उन्हीं से था; अतः उसकी यह बात उन्हें कम जंचने वाली थी। दूसरे, सरदार रणजीतसिंह पंजाब में तब अपना राज बना रहा था; उसे मराठा अफ-गान या अंग्रेज किसी की भी फौज का किसी बहाने वहां आना पसंद न था; इसलिए उसके प्रभाव से वहां जसवन्तराव को कोई सहायता न मिल सकी। अंगरेजों के भी दूत उसके पीछे पीछे अमृतसर पहुँचे थे। सिक्खों ने उनसे अनाक्रमण की संधि कर ली। तब जसवन्तराव अफगानों से सहायता प्राप्त करने पेशावर जाने को उद्यत हुआ। पर अंगरेजों ने उसे भी उसका जीता हुआ सारा प्रदेश वापस लौटा देने का वादा कर मना लिया; राजपूत क्षेत्रों पर उसका प्रभाव भी उन्हें शिन्दे की तरह पूर्वावत् मानना पड़ा (दि० १८०५ ई०,)।

देश की आजादी के लिए छेड़ा हुआ जसवन्तराव का वह संघर्ष यद्यपि, इस प्रकार, सफल न हो सका तो भी कम से कम राजस्थान की गरदन तो कुछ समय के लिए इससे अंगरेजी गुलामी के जुए के नीचे जाने से बच गयी; जैसा कि उस समय के मेवाड़ी कवि चारण

जसजी मैहारिया ने कहा कि—

दखणी दखणी पवन ज्यूँ जो नह आतो जसवन्त ।
फैल उतर कांठल फिरंग कुळ लोपना करन्त ॥*

अर्थात् यशस्वी दक्खिनी पवन की तरह जो यशवन्तराव दक्खिनी न आता तो फिरंग रूपी उत्तरी ओले बरसाने वाली घटा (कांठल) ने चारों तरफ फैल कर तमाम (राज) कुलों का लोप कर दिया होता, राजस्थान की जनता ने जसवन्तराव को तब सचमुच ही अपने एक रक्षक के रूप में ही देखा था ।

§ ४. राजस्थानी जनता का मराठों और अंगरेजों के प्रति रूख

मराठा मण्डल में महादजी शिन्दे आदि पुराने नेताओं की मृत्यु के बाद पारस्परिक द्रोह का जो घातक विष एकाएक उघड़ आया था, उसके पहले दौर की समाप्ति अब इस रूप में हुई किस पांच छः वर्षों के भीतर पूना का मराठा केन्द्र पूर्णतः उध्वस्त हो गया और महाराष्ट्र भी अब पूरी तरह अंगरेजी नियंत्रण में चला गया। स्वतंत्र मराठा सत्ता राजस्थान को छोड़ तब कहीं भी न बची। भारतीय राजनीति का सूत्र संचालन इसके बाद पूना की बजाय कलकत्ता से अंग्रेजो द्वारा किया जाने लगा ।

किन्तु मराठों के पांव राजस्थान से उखाड़ना अंग्रेजों के लिए सम्भव न हुआ और बावजूद अपनी श्रेष्ठतर सैनिक शक्ति वरिष्ठ संघटन और दृढ़ राजव्यवहार (Diheomacy) के, वे उनका पीछा इधर करने का साहस न कर सके; राजपूत राज्यों को उनसे तोड़ कर उनका सहयोग

---

* जसजी मैहारिया के वंशधर राजस्थानी के यशस्वी कवि श्री नाथूदानजी मैहारिया की कृपा से प्राप्त ।

मराठों के विरुद्ध प्राप्त करने की नीति में भी वे अन्ततागत्वा विफल रहे; इस के मुख्यतः तब दो कारण थे। एक तो राजस्थान भूमि की बाहर वालों के लिए परंपरागत दुर्गमता और उसकी रचना के सम्बन्ध में तब तक अंगरेजों की जानकारी का अधूरापन; दूसरे, भारत के अन्य प्रान्तों और जनपदों की अपेक्षा राजस्थान की जनता और सरदारों में, विगत काल में स्वाधीनता के लिए निरंतर लड़ेगये युद्धों के इतिहास की स्मृति और परंपराओं के जीवित होने से स्वदेश भावना और अपनी राजनीतिक स्वाधीनता के प्रति आग्रह और चेतना का अधिक मात्रा में बना रहना; जिसके कारण राजपूत राजा और उनके हित साधक मुत्सद्दी वर्गों के देश को अंगरेजों के हाथ बेचने को प्रस्तुत रहने पर भी, जनमत की लाज के कारण, उन्हें इस संबध में अपना रुख दसों बार बदलने को विवश होना पड़ा था। राजपूत सरदारों और जनता के कृषक और सैनिक वर्गों में, अंगरेजों के मुकाबले में मराठों के प्रति अब भी सहज आत्मीयता प्रशंसा और सहानभूति की इस भावना का परिचय कुछ तो हम सोंधवाड़े की कृषकपशुपालक जनता द्वारा कर्नल मौन्सन के प्रति किये गये व्यवहार तथा मेवाड़ मारवाड़ जयपुर आदि के सरदारों के रुख की विवेचना करते समय पीछे पाही चुके हैं। मेवाड़ी कवि जसजी के ऊपर उद्धृत दोहे में, जसवन्तराव के प्रति प्रकट किये भागों में उसके अंग्रेजों से अकेले संघर्ष लेने को जनता ने किस रूप में देखा, उसकी गूंज है। पर राजस्थान की जनता का भाव अंगरेजों और मराठों के प्रति इस समय ठीक क्या था इसकी अभिव्यक्ति उसी युग में लिखे मारवाड़ी कवि बांकीदास के इस गीत से और स्पष्ट होती है—

आयो इंगरैज मुलकरै ऊपर आंहस लीधा खांच उरा।
धिणयां मर्यां न धरती दीधी धणियां ऊभां गयी धरा॥

फौजां देख न फौजां कीधी दोयण कर्यां न खळों दळौं ।
खवाँ खाँच चूडै खावंदरै उणहिज चूडै गयी यळा ॥
छत्रपतियां नहिं लागी छाणत गढपतियां धर परी गमी ।
बळ नहिं कर्यौं बापडाँ बोतां जातां जातां गयी जमी ॥
द्विचत्रमास वादियो दिखर्णा भोम गयी सो लिखित भवेस ।
पूगो नहीं चाकरी पकड़ी दीधो नहीं मढैठो देस ॥
बजियो भलो भरतपुर वाळो गरजे गजर धजर नभ गोम ।
पहलाँ सर साहबरो पड़ियो भड़ ऊभै नहिं दीधी भोम ॥
महि जातौं चींचातौं महिला ए दुई मरण तणा अवसाण ।
राखो रे किंहिक रजपूती मरद हिंदू कै मुस्सलमाण ॥
पुरजोधाण उदयपुर जयपुर पहु थांरा खूट्या परियाण ।
आंके गयी आवसी आंके बांको आसल करै बखाण ॥

इसमें कवि अंगरेजों के देश पर चढ आने पर तात्कालिक भारतीय राजा रईसों द्वारा दिखाई गई निष्कर्मण्यता साहसहीनता या नामर्दी के प्रति गहरी निराशा और खेद प्रकट करते हुए कहता है कि मानों सबका पराक्रम (आंहस) अंगरेजों द्वारा खींच लिया गया हो। पुराने धणी (भूस्वामी) तो मर कर भी अपनी धरती दूसरे को न लेने देते थे। लेकिन अब धणियों के खड़ा रहते धरती चली गई। उन्होंने शत्रु की फौजों के चढ़ आने पर भी अपनी फौजों का संचालन नहीं किया, दुश्मनों (दोयण) का खलन दलन नहीं किया, और यह इळा (धरती) अपने स्वामी के दिये हुए सुहाग चिन्हों (खंवा खांच चूड़े आदि) समेत नवोढा वधू की तरह दुश्मनो द्वारा हर ले जायी गई; पर छत्र-पतियों को लाज नहीं आयी और गढपतियों के रहते उनकी धरा गुम हो गयी। उन बिचारों से इतना भी बल करते नहीं बना जितना कि एक डूबता हुआ आदमी हाथ पांव हिला कर अंतिम क्षण में करता है;

और यह जमीन उनके देखते देखते चली गई। सिर्फ एक दक्खिनी (जसवन्त होलकर) ने दो चौमासों तक विवाद किया, फिर भी भूमि यदि उसके हाथ से निकल गई तो विधाता का लेख था, सो होना ही था। पर उसने जहां तक बन पड़ा विदेशी की गुलामी नहीं स्वीकार की। मराठे ने देश को शत्रु के हाथ स्वयं नहीं दिया। भरतपुर वाला भी खूब लड़ा; आसमान में खूब तोपें गरजीं और जब तक पहले अंगरेज (साहब) का सिर कटकर धरती पर नहीं पड़ गया, उस भट ने खड़े खड़े भूमि पर अंगरेजों का अधिकार आसानी से नहीं होने दिया।

कवि इसके बाद रजपूती के इस उच्च आदर्श का बखान करते हुए कि—"महिजातां चींचातौं महिला ए दुई मरण तणा अवसाण" अर्थात् देश (मही) जब जा रहा हो, पराधीन हो रहा हो, या महिलाएँ विपत्ति में पड़कर सहायता के लिए पुकार करती हों, तो ये दोनों अवसर, आदमी के लिए आगा पीछा बिना सोचे मर मिटने के होते हैं—देश की तत्कालिक सभी शक्तियों को वे चाहे हिन्दु थीं या मुसलमान, अंग्रेजों को मुकाबला करने को ललकारते हुए कहता है कि कोई तो मरद इस समय मैदान में सामने आओ और रजपूती की इस मर्यादा को थोड़ा बहुत रक्खो (राखो रे किंहिंक रजपूती, मरद हिन्दू के मुस्सलमाण)।

राजपूतों के नेता कहलाने वाले जोधपुर उदयपुर जयपुर आदि के स्वामियों को, उनकी इस अवसर पर दिखाई कायरता से खीझ कर, बड़े अधिक्षेप के साथ उपालंभ देते हुए कवि आगे कहता है कि हे प्रभुओं! तुम्हारा पितृयाण (परियाण, अर्थात् अपने देश की स्वाधीनता के लिए मर मिटने का तुम्हारे पिता पितामहों का मार्ग) अब खुट गया, समाप्त हो गया, जान पड़ता है। भाग से भूमि गयी है, अब भाग से ही वापस आयगी। *

* मूलगीत के लिए दे० बांकीदास ग्रन्थावली, भाग तीसरा,

इस रुख के जनता में रहते आश्चर्य नहीं यदि अंगरेज राजपूत राजाओं को फोड़कर मराठों के विरुद्ध खड़ा करने में तब सफल न हो सके और प्रायः सभी राजपूत राजा उनसे संधि और सहयोग के लिए आतुर रहने और दोनों तरफ से बार बार संधि प्रस्ताव किये जाने पर भी, जनमत की इस स्पष्ट रुझान के सम्मुख, लज्जावश अपने प्रस्तावों को कोई स्थायी रूप देनेका साहस करने में सफल न हो सके। अंगरेजों के लिए राजस्थान का एक प्रमाणिक नक्शा बिना प्राप्त किये एवं राजपूत सरदारों और जनता में मराठों मुसलमानों आदि के विरुद्ध बिना काफी प्रचार और असंतोष पैदा किये तब अधिक सफलता पाना शक्य न था। अतः शिन्दे के दरबार में स्थित अपने रेजिडेंट की अधीनता में रह कर कार्य करने के लिए, जेम्स टाड नामक एक अंगरेज़ युवक को, जो मुल्क की पैमाइश सैनिक दृष्टि से ठीक ठाक करने में निपुण था और लोगों के इतिहास रीति रिवाज आदि का अध्ययन कर अपनी व्यवहार-कुशलता से उनके हृदयों में पैठ कर अपना मनमाना प्रचार करने के लिए आवश्यक साहित्यिक

काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९३८, पृ० १०४५।

इस गीत की रचना के समय कविवर बांकीदास की आयु २२–२३ वर्ष की थी और जोधपुर के राजा मानसिंह का आश्रय प्राप्त कर उसने राजसम्मान तब तक नहीं पाया था। अतः उसका संपर्क सर्वसाधारण जनता और सरदारों के इस समय के मनोभावों से जीवित और स्वाभाविक रूप से था, जो इस के गीत में प्रकट हुए हैं। उसकी, मानसिंह का आश्रय प्राप्त होने बाद लिखी गयी, दूसरी कविताओं में कोई विशेषता नहीं है। बांकीदास अपने जमाने का विद्वान और बहुश्रुत था, उसका किया हुआ राजस्थान की इतिहास संबन्धी कोई २००० वार्तों का संग्रह भी उपलब्ध होता है, जो इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बड़ा उपयोगी है।

योग्यता और अभिरुचि भी रखता था, उन्होंने इस कार्य के लिए शीघ्र ही नियत कर दिया।

यदि मराठे भी जनता के इन भावों की कद्र तब कर सकते और उसका संग्रह करते, तो अब भी, बावजूद अंगरेजों की सारी राज-कीय शक्ति, सैनिक संगठन की योग्यता और कुशल राजव्यवहार के, राजस्थान में उनके लिए अपना पांव दृढ़ता से रोप कर सफलता पूर्वक खड़े हो सकना कठिन न था; और तब उन्हें व्रज दोआब आदि की जनता का सहयोग भी आसानी से मिल जाता। उनके अंगरेज विरोधी रुख का प्रमाण उन्हें १८०४ में मिल चुका था। परन्तु दुर्भाग्य से इसमें मराठे बिलकुल विफल रहे। १८०३-४ में भारतीय राजाओं तथा कतिपय ऊंचे वर्गों द्वारा दिखलायी गई देशद्रोही प्रवृत्ति और स्वार्थपरता को देख उनके हौसले बिलकुल पस्त हो गये थे। और बजाय अपनी स्थिति इस प्रकार मजबूत बनाने के, सिर्फ बदला चुकाने की भावना से प्रेरित हो अन्धाधुन्ध लूट मार कर और लोगों से धन बटोरने के लिए सब तरह के क्रूर कृत्यों द्वारा जनता, सरदारों और राजवर्गों में एक आतंक और कटुता का वातावरण उत्पन्न कर उन्होंने उसे और भी अधिक कमजोर बनाना जारी रक्खा। मुंशी कमलनयन, आंबाजी इंगले और अमीरखां जैसे अंगरेजों के प्रच्छन्न कारिन्दे उनके मुख्य सलाहकार और सेनापति बन उन्हें और भी गुमराह करते रहे।

राजपूत राजवंशों का सामाजिक पतन, इधर नैतिकता की सबसे निचली सीमा को भी लांघ चला था। उनकी पारस्परिक ईर्ष्या और मिथ्यावंशाभिमान का सांघातिक रोग अब प्रायः उन्माद और सन्निपात की सी अवस्था को पहुँच रहा था, राजनीतिक एवं अन्य सब दृष्टियों से क्षीण और जर्जरित होने पर भी वे मराठों को—शिन्दे और होलकर जैसे राजकुलों को—बराबरी का सामाजिक बरताव देने, तथा वह सामान्य शिष्टाचार और सम्मान दिखाने को भी प्रस्तुत न होते थे, जो मुगलों

के भूतपूर्व अदना से अदना सामन्तों को वे देते आये थे, फिर चाहे उनकी राजनीतिक स्थिति या शक्ति शून्य के बराबर ही क्यों न रह गयी हो। इससे मराठों को इनके विरुद्ध चिढ़ने के अवसर आते रहते थे।

§ ५. राजस्थान की सीमाओं पर अंगरेजी शिकंजा

१८०५ में अंगरेज इस प्रकार राजस्थान के भीतर अपना कोई दखल न कर सके, लेकिन राजस्थान की पूरबी और दक्खिनी सीमाओं पर उनका कब्जा प्रायः पूरा हो गया। अब उन्होंने उसे पच्छिम और उत्तर से भी घेरने का उपक्रम शुरू किया।

१८०७ में नेपोलियन ने यूरप में जर्मनी और रूस को भी हराकर सारे यूरपी महादेश को अपने आधिपत्य में ले लिया। सिर्फ अंगरेजों का द्वीप ही तब उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रह गया। वह इंगलैंड पर भी चढ़ाई करना चाहता था, पर अंगरेजों की बलवान नौसेना का उसके पास कोई जवाब न था। तब उसने आर्थिक प्रतिबन्ध लगा कर उनको झुकाना चाहा, पर जब तक भारत जैसे समृद्ध प्रदेशों पर उनका आधिपत्य था उसमें उसे सफलता मिलने की कोई आशा न करनी चाहिए थी। अतः उसने अब रूस से मिल तुर्की और ईरान के शाह के सहयोग से कन्दहार गजनी गोमल और डेरा इसमाइलखां के रास्ते उनके आधिपत्य के खिलाफ भारत पर बढ़ने की एक योजना बनाई। तब भारत से अंगरेजों के दूत भी ईरान अफगानिस्तान के शाहों, सिन्धी अमीरों और राजा रणजीतसिंह के पास पंजाब की ओर दौड़ने लगे। १८०८ में उनका एक दूत इसी सिलसिले में दिल्ली से उत्तरी राजस्थान के रास्ते बहावलपुर मुलतान होकर अफगानों के पास पेशावर जाते हुए मार्ग में बीकानेर के राजा सूरतसिंह से भी जाकर मिला।

ईरान और अफगानिस्तान में तो उन्हें अधिक सफलता न मिल सकी, पर सिन्ध में अमीरों को उन्होंने अफगान शासन के जुए से मुक्त

करा देने का आश्वासन दे अपनी तरफ फोड़ लिया, वहां अपना एक व्यापारिक दूत रखना भी उनसे मनवा लिया।

पंजाब में राजा रणजीतसिंह से भी उन्होंने नैपोलियन के आक्रमण की संभावना की बात कही। रणजीत तब सतलज से जेहलम तक सिक्खों की सभी मिसलों के इलाकों पर अपना अधिकार कर पंजाब के मुख्य प्रदेश को एक शासन के नीचे ला चुका था और अब पच्छिम में अफगानों के घरू मामलों में दस्तन्दाजी कर पच्छिमी पंजाब लेने और पूरब में सतलज पार के पंजाबी प्रदेशों पर भी अपना अधिकार फैलाने के प्रयत्न में था। अंगरेजों ने राजस्थान के उत्तर जमना और सतलज के बीच मेवात हरियाना और पूर्वी पंजाब के इस समूचे इलाके के जागीरदार सरदारों आदि को जो मराठों के करद थे, बिना कुछ भी खिराज आदि लिये, १८०५ में, अपना संरक्षण देकर मराठा आधिपत्य से मुक्ति दिलाई थी। रणजीतसिंह ने अब अंगरेजों से पूछा कि पहले वे बताएँ कि जमना और सतलज के बीच वे उसका आधिपत्य मानने को तैय्यार हैं या नहीं। अंगरेज तब चुप कर गये। रणजीत ने सतलज पार कर अंबाला तक का प्रदेश दखल कर लिया।

किन्तु इसी बीच यूरप में सेनापति सर आर्थर वेलेजली ने १८०५ के बाद भारत से जाकर फ्रांसीसी आधिपत्य के खिलाफ स्पेन में राष्ट्रीय विद्रोह भड़का उसका नेतृत्व कर नैपोलियन की अधिकार रखने वाली सेनाओं को दो बार करारी हार दे कर उसके शस्त्रों की अजेयता की धाक स्थल युद्धों में भी उड़ा दी थी। तब जर्मनी आस्ट्रिया आदि मध्य यूरप के देशों में भी उसके आधिपत्य के खिलाफ राष्ट्रीयता की लहरें उभरने लगीं और नैपोलियन के उन्हें दबाने में उलझ जाने के कारण उसके भारत आक्रमण का खतरा टल गया। तब अंगरेजों ने अपनी फौजें सेनापति आक्टरलोनी की नायकता में दिल्ली से एकाएक लुधियाना लेजा कर रणजीतसिंह को कहला भेजा कि सतलज से पूरब का सारा प्रदेश

अंगरेजों की रक्षा में है।

रणजीत ने लड़ाई की ठानी और अपने दूत राजस्थान में मराठों के पास सहायता पाने भेजे। चार साल पहले ही तो जसवन्तराव होलकर ने उसे मिलकर अंगरेजों का मुकाबला कर देश की आजादी के लिए प्रयत्न करने को कहा था, लेकिन उसने तब अपना छोटा स्वार्थ देख होलकर की बात मानने से इनकार कर दिया था और अंगरेजों से सुलह की थी। अब खुद पर आई तो उसे भी मराठों की याद आयी। पर जसवन्तराव १८०५ के बाद की निराशा के कारण १८०८ ई० से ही विक्षिप्त सा रहने लगा था, शासन की बागडोर सब अंगरेजों के खरीदे हुए कारिन्दे अमीर खां पठान के हाथों में थी। रणजीतसिंह ने अपने दूत दौलतराव शिन्दे के पास भेजे। पर वहां भी अंगरेजों के खरीदे हुए गुप्त कारिन्दों की भरमार थी। सेनापति आर्थर वेलेज़ली ने उसके लिए १८०४ में ही लिखा था क "उसके दरबार में हमारे पैर ऐसे जमे हैं कि यदि वह कम्पनी से लड़े तो उसकी आधी सेना और सरदार हमारी तरफ होंगे।" दौलतराव बिलकुल पस्त हिम्मत था, अतः रणजीत को यहां से कोई मदद न मिल सकी। निदान उसे भी अंगरेजों से सुलह कर लेनी पड़ी, तो भी उसके दूत १८११ तक मराठा दरबारों में इसके लिए व्यर्थ चक्कर काटते रहे। राजस्थान के उत्तर पच्छिमी अंचल और उसके सीमान्त के इस समूचे प्रदेश पर तब अंगरेजी अधिकार स्थिर हो गया।

राजस्थान के दक्खिन पूरबी सीमान्त पर इसी प्रकार नागपुर के भोंसलों का राज था। राजस्थान से बाहर मराठा राज का सिर्फ वही अंग ऐसा बचा था कि जिसपर अंगरेजी आधिपत्य या आश्रित सेना के रखने की संधि अब तक नहीं लादी जा सकी थी। अंगरेजों ने उसे भी अपनी रक्षा में आने को विवश करने के लिए अब एक षड्यंत्र रचा। होलकर राज में अपने कारिन्दे अमीरखां को अंगरेजों ने अपने आश्रित नज़ाम हैदराबाद से प्रत्यक्ष रूप में कहला कर भोंसले राज पर आक्रमण

करवा दिया और तब भोंसले राजा पर यह प्रभाव डालने के लिए कि होलकर की सेना से उसे अंगरेजी सेना के सिवाय कोई नहीं बचा सकता, उसके साथ आश्रित सेना की कोई संधि न होने पर भी, अपनी सेना वहां भेज कर अमीरखां के हाथों से उसे बचाने का नाटक किया।

§ ६. कृष्णा कुमारी

राजपूत राज्यों में १८०५ के बाद एक बहुत ही शर्मनाक झगड़ा आरंभ हो गया था। मेवाड़ के राणा भीमसिंह की कन्या कृष्णा की सगाई का प्रस्ताव, मेवाड़ के चूंडावत दल द्वारा मारवाड़ वालों की सहायता से मेवाड़ में अपना पक्ष मजबूत बनाये रखने के लिए, मारवाड़ के राजा भीमसिंह से किया गया था। लेकिन मारवाड़ के राजा भीमसिंह का १८०३ में अचानक देहांत हो गया और जोधपुर के मुत्सद्दी प्रधानों ने उसके भतीजे मानसिंह को, जो तब तक विद्रोही था, इस गरज से गद्दी बिठाया कि यदि दूसरा कोई शिशु राजगद्दी का मालिक बना तो सरदारों के मुकाबले में उनके लिए शक्ति अपने हाथ में रख रियासत का प्रबन्ध चलाना कठिन होगा। पर मानसिंह कृतघ्न और क्रूर निकला। अपने को गद्दी पर बैठाने वालों को, उसने इस द्वेष के कारण कि भीमसिंह के समय वे ही उसका दमन करने में भी अग्रणी थे, बिना अपराध शीघ्र ही कैद में डाल मरवाने का जतन किया। सरदारों से भी उसकी बन न सकी और उनमें से अनेक धोखा देकर मार डाले गये। उनका एक बड़ा दल विद्रोह कर पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह के नेतृत्व में स्वर्गीय राजा भीमसिंह के एक अवसानोत्तर जात पुत्र धोकलसिंह को गद्दी दिलाने के विचार से जयपुर के राजा जगतसिंह से सहायता पाने का प्रयत्न करने लगा।

कृष्णा की सगाई के लिए शक्तावतों द्वारा जयपुर के राजा जगतसिंह का प्रस्ताव लाया गया। किन्तु दौलतराव शिन्दे जयपुर और मेवाड़ दोनों से १८०३–४ के बाद से चिढ़ा हुआ था। उसने धमकी दी कि

सगाई का प्रस्ताव लेकर आये जयपुर के दूत मेवाड़ से तुरत निकाल बाहर न किये गये तो वह चढ़ाई कर मेवाड़ को बरबाद कर देगा।

उधर पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह ने भी अपनी पोती की सगाई जयपुर के राजा से की थी। मानसिंह ने सवाईसिंह को कहलाया कि सम्मुख जयपुर जाकर लड़की का विवाह करने में राठौड़ों के कुल की हेठी होगी। उत्तर में सवाईसिंह ने कहलाया कि लड़की के एक छोटे दादा का घर जयपुर भी है, अतः इसमें तो राठौड़ों की हेठी का सवाल उतना नहीं, पर राठौड़ों की हेठी ता वास्तव में तब होगी जब उनके भूतपूर्व राजा (स्व० भीमसिंह) की मांग कृष्णा को कछवाहा विवाह ले जायगा। मानसिंह को यह बात लग गई और वह सब तरह के औचित्य को तिलाञ्जलि दे कृष्णा का विवाह रोकने पर उतारू हो गया। बीकानेर का राजा सूरतसिंह भी धोकलसिंह को जोधपुर की गद्दी दिलाने का पक्ष-पाती था अतः जगतसिंह ने उसकी और सवाईसिंह की सेना के साथ मानसिंह को गद्दी से उतारने के प्रयत्न में योग देना स्वीकार किया।

मानसिंह ने जसवन्तराव को अपनी मदद पर बुलाया। जयपुर उदयपुर से तो वह उनके १८०४ के बरताव के कारण, पहले ही असन्तुष्ट था; दूसरे मानसिंह को उसने १८०४ में अपना पगड़ी बदल भाई भी बनाया था; लेकिन मानसिंह के अभिमानी बरताव के कारण वह उससे भी रुष्ट होकर लौट गया। राजपूत क्षेत्रों में खिराज उगाहने को नियुक्त उसका सेनापति अमीरखां तब जयपुर वालों से एक बड़ी रकम लेकर जगतसिंह के साथ हो गया। जगतसिंह ने मानसिंह का पराभव कर जोधपुर भी जा घेरा। उसके सलाहकारों की राय थी कि उसे पहले उदयपुर जाकर कृष्णा से विवाह कर लेना चाहिए। पर ठाकुर सवाई-सिंह ने उसे पहले जोधपुर चलकर, धोकलसिंह को गद्दी दिलाने को बहकाया। पर ऐन मौके पर अमीरखां के मानसिंह द्वारा एक बड़ी रिश्वत मिल जाने से दगा देकर जोधपुर वालों से जा मिलने के कारण

जयपुर वालों को वहां का घेरा छोड़ देना पड़ा। सवाईसिंह अमीरखां द्वारा धोखा देकर मार डाला गया। मानसिंह ने बीकानेर पर तथा अपने अन्य विद्रोही ठिकानों पर आक्रमण कर बदला चुकाने का जतन किया, पर नाथसाधु आयस देवनाथ के, मानसिंह जिसे अपना गुरू मानता था, बीचबचाब करने पर जोधपुर बीकानेर जयपुर आदि का वह आपसी झगड़ा निपट गया।

जसवन्तराव जैसा कि कह चुके हैं, १८०८ से विक्षिप्त सा रहने लगा था और राज की बागडोर अब अमीरखां के ही हाथों में थी; जो उसके नाम पर खिराज उगाहने एवं राजपूतों के इन तुच्छ आपसी झगड़ों में दखल देकर लूटपाट करने का अवसर खोजता फिरता था। राजपूत राजाओं के आपसी झगड़ों के इस प्रकार आसानी से मिट जाने पर लूट खसोट का कोई नया अवसर निकालने के लिए उसने अब मानसिंह को बहकाया कि कृष्णा से या तो मानसिंह का विवाह हो जाय, अन्यथा वह जब तक जीती रहेगी, उसका विवाह किसी न किसी से तो होगा ही, और जोधपुर के राजवंश का अपमान होने की आशंका सदा बनी रहेगी; अतः उसे अब मरवा देना चाहिए। मानसिंह ने यह काम तब उसी के जिम्मे कर दिया।

मेवाड़ का एक चूंडावत सरदार अजितसिंह, शक्तावतों की ताकत तोड़ने को सहायता लेने के लिए होलकर के यहाँ मेवाड़ वकील के रूप में अमीरखां के पास रहता था। यह घृणित पैगाम अमीरखां ने उसी के हाथ उदयपुर भिजवाया और सेना लेकर मेवाड़ के प्रदेशों को उजाड़ने की धमकी भी दी। मेवाड़, चूंडावत शक्तावतों के पारस्परिक संघर्षों के कारण, इतना अशक्त हो चुका था कि राणा, बावजूद इस धृष्टता के, कृष्णा का विवाह मानसिंह से करने को भी प्रस्तुत हो गया; पर मानसिंह ने यह कह कर, कि कृष्णा मेरे चाचा भीमसिंह की मांग है, विवाह करने से इनकार कर दिया। तब चूण्डावतों के उस शूरमा ने राणा को

अमीरखां द्वारा देश के लूटे और बरबाद कर दिये जाने का भय बताकर, जो उसके द्वारा पहले से ही वहां पहुँच कर आरम्भ कर दिया गया था, देश रक्षा के लिए आततायी से शस्त्र लेकर जूझ मरने के क्षत्रिय-धर्म की बजाय, उस निर्दोष कुमारी का प्राण लेकर अपनी चमड़ी बचाने का मार्ग स्वीकारने को विवश किया। पर जब क्रूर से क्रूर घातक भी उस निर्दोष तेजस्वी सौन्दर्य पर शस्त्र उठाने का साहस न कर सका तो उस कुमारी ने अपने देश और जनता को उत्पीड़न से बचाने और अपने पितृकुल पर आगे कोई नयी लांछना अपने कारण लगने का अवसर टालने के लिए पिता के भेजे विष के एक के बाद एक तीन प्यालों को प्रसन्नता पूर्वक पीकर अपनी इह लीला समाप्त कर दी (२१ जुलाई १८१०)। कृष्णा की माता राजमहिषी ने, भी इसके बाद अनशन द्वारा अपना प्राण विसर्जन कर, राजपूतों की गौरव लक्ष्मी की तरफ से मानों स्वयं अपने नेत्र मूंद लेने की सूचना दी।

मेवाड़ के दूसरे सरदारों और जनता ने जब यह समाचार सुने, तो आत्मग्लानि से उनकी गर्दनें अपनी उस बेबसी पर स्वयं ही झुक गईं। सरदारों ने राणा और उसके पिशुन सलाहकार, 'वीर चूण्डा के उस महान वंशधर' अजितसिंह को खुली सभा में धिक्कारा। अजित को मेवाड़ में खुले आम जनता में मुख दिखाना भी तब भारी हो गया।

सवाई माधवराव पेशवा की मृत्यु आत्मघात से हुई थी या दुर्घटना से सो निश्चित नहीं है। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद बाजीराव २ य और दौलतराव की छिछोरी करतूतों से भारतीय राजनीति में जो नया दौर शुरू हुआ था वह निश्चय से आत्मघाती था। कृष्णा कुमारी का विष के प्याले पीना उस आत्मघाती राजनीति का परिणाम और पर्यवसान था।

§ ७. राजस्थान लुटेरों के चंगुल में

राजस्थानी राज्यों में इसके बाद जो भी घटित हुआ वह एक मुमूर्षु

की दम तोड़ने से पहले की छटपटाहट से अधिक कुछ न था। मेवाड़ की बरबादी कृष्णा के आत्मबलिदान से भी रुकी नहीं, इससे उसकी कमजोरी का सब जगहँ ढिंढोरा पिट गया।

१८११ में जसवन्तराव होलकर का देहान्त हो गया। होलकर राज की बागडोर, उसके नाबालिग लड़के मल्हार २य के नाम पर, उसका प्रधान संरक्षक होने से, अमीरखां के हाथ में आयी। वह और उसके सहकारी जमशेदखां मुहम्मदखां आदि होलकर की अनियमित सेना (पेंढारियों) के अनेक सेनापति तब राजपूत राजाओं और सरदारों के आपसी झगड़ों में दखल देकर तथा दूसरी तरह उन्हें दबाकर खिराज वसूल करने के नाम पर खुल्लमखुल्ला लूट आगजनी और बरबादी बरपा करने के कार्यों द्वारा चारों ओर जनता में आतंक और त्रास का वातावरण पैदा करते घूमने लगे।

मारवाड़ में १८११–१२ में भीषण अकाल था, तो भी मानसिंह अपने व्यक्तिगत बैर के कारण सिरोही पर फौजकशी करने में अपना समय और शक्ति बरबाद करने में लगा रहा; उधर उसी बीच सिन्ध के तालपुरों ने अमरकोट थर पारकर का राजस्थानी प्रदेश मारवाड़ वालों से छीन लिया। १८१३ में अमीरखां के एक सहकारी मुहम्मदखां ने मारवाड़ में भी आकर जनता को बुरी तरह लूटा, पर मानसिंह उसका कुछ भी प्रतिकार न कर सका।

अमीरखां ने १८१५–१६ में समूचे राजपूत क्षेत्रों का दौरा किया; जगह जगह लोगों को दबाकर धन वसूल किया। जोधपुर के राजा मानसिंह के गुरू आयस* देवनाथ के उद्योग से राजपूतों के आपसी झगड़े

---

* बुद्ध के चेलों के साथ प्राचीन काल में जैसे आयुष्मान् शब्द का प्रयोग होता था, राजस्थान में नाथपंथियों के साथ उसी प्रकार आयस लगाने का रिवाज रहा है, जो आयुष्मान् का ही प्राकृत रूप है।

शान्त हुए थे और मारवाड़ आदि में फिर से कुछ शान्ति और व्यवस्था के आसार नज़र आने लगे थे। अमीरखां ने १८१५ में जोधपुर पहुँच कुछ असन्तुष्ट सरदारों और राजकर्मचारियों के साथ षड्यंत्र कर उसे तथा दीवान इन्द्रराज संघवी आदि कतिपय अन्य राजकर्मचारियों को, जो मारवाड़ में शान्ति और व्यवस्था को बनाये हुए थे, ठेठ राजप्रसाद में अपने आदमी भेजकर मरवा डाला। फिर उसने मानसिंह पर दबाव डाल राज्य की बागडोर उन स्वार्थी गद्दारों और महाराजा के पुत्र छत्रसिंह के हाथ में सौंपवा दी। महाराजा तब एक विरक्त विक्षिप्त का सा जीवन विताने लगा।

इसी प्रकार बीकानेर में अमरचन्द सुराणा नामक एक योग्य मन्त्री के कारण अमीरखां की दाल न गलती थी और वहां के सरदारों पर भी उसका कठोर नियन्त्रण बना था। दुष्ट लोगों ने राजा सूरतसिंह के कान उसके खिलाफ भर कर उसे भी इसी समय मरवा डाला। अमीरखां का हाथ इस षड्यन्त्र के पीछे भी छिपे रूप में कहा जाता है। यही हाल जयपुर के प्रधान रामचन्द्र और खुशहालचन्द्र का हुआ; क्योंकि उनके कठिन आर्थिक नियन्त्रण में महाराजा जगतसिंह और दूसरे घूंसखोर राजकर्मचारियों की दाल न गलती थी; एवं वे अंगरेजों की अपेक्षा मराठों के या यों कहिये कि जयपुर राज्य की स्वाधीनता के अधिक पक्षपाती थे।

यों राजपूत राज्यों में अराजकता बढ़ती गई और आन्तरिक शासन की व्यवस्था बिगड़ने से आर्थिक स्थिति कमजोर पड़ गई, और वे मराठों का खिराज भी नियमित तौर पर चुकाने में असमर्थ रहने लगे। मराठों को तब उनपर अधिकाधिक फौजकशी करने को मजबूर होना पड़ा, जिसमें अमीरखां और उसके साथी लुटेरों को, जो भीतर ही भीतर अंग्रेजों के इशारों पर खेल रहे थे, जनता पर मराठों के नाम से अधिकाधिक अत्याचार और उत्पीड़न करने का अवसर मिलने लगा। इससे मराठों

की बदनामी और जनसाधारण में उनके प्रति कटुता के भाव बढ़ते गये। ऐसी दशा में राजाओं के साथ जनता और सरदारों को भी उनसे निस्तार पाने के लिए अब सिवा अंगरेजों का आसरा पकड़ने के और कोई उपाय न सूझ पड़ने लगा, और तब वही व्यक्ति, जो इस सारी अराजकता और अव्यवस्था के लिए जिम्मेवार थे—अर्थात् मेवाड़ में सरदार अजितसिंह और मारवाड़ में कुमार छत्रसिंह और उसके साथियों जैसे लोग—अब अंगरेजों का आश्रय लेने के औचित्य का प्रचार जनता में करने लगे। जनता और सामान्य सरदार वर्ग ने भी, जो अधिकांश में या तो भीतर की सभी परिस्थिति से अनभिज्ञ थे या सब कुछ जानते बूझते भी जिन्हें और कोई रास्ता सूझता न था, तब विवश होकर इसके लिए एक तरह अपनी सहमति दे दी।

§८. राजपूत राजाओं का अंगरेजी जुए में अपनी गरदनें देना

१८१४–१६ में अंगरेजों ने नेपाल के गोरखा राज पर भी चढ़ाई की गोरखा राजवंश का संबन्ध भी शिवाजी वाले वंश की तरह मेवाड़ के राजवंश से माना जाता है। उसके मूल पुरुष १४ वीं सदी में चित्तौड़ पर तुर्क अधिकार हो जाने के बाद कभी यहां से जाकर हिमालय की तराई के पालपा गोर्खा बस्तियों के प्रदेश में बस गये थे। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब कि राजस्थान और गंगा जमना दोआब में मराठे, पंजाब में सिक्ख और बंगाल विहार में अंगरेजी राज की स्थापना हो रही थी, लगभग उसके समकाल में ही गोरखों ने भी नेपाल दून को जीत अपना राज कायम किया था और अब लगभग अंगरेजों के साथ साथ ही वे भी उत्तर पहाड़ों में उनके राज के समानान्तर अपना राज फैलाते हुए सतलज तक आ पहुँचे थे।

अंगरेजी आक्रमण का जवाब गोरखों ने खूब डट कर, वीरतापूर्वक युद्ध कर के दिया। उनके एक सेनापति बलभद्रसिंह ने अपने सिर्फ २४०

साथियों—स्त्री पुरुष और बच्चों समेत—को लेकर देहरादून के उत्तर एक मामूली सी नाका बन्दी पर अंगरेजों की १० हजार की एक पूरी सेना को दो महीनों तक अटकाये रक्खा। अंगरेजों का एक बड़ा सेनापति, जिसने नैपोलियन के एक साथी सेनापति को हराने में नाम कमाया था, उस मोरचे पर शुरू में ही मारा गया। दो दूसरे अंगरेज सेनापति भी, जो अन्य मार्गों से नेपाल पर चढ़ कर जाने को निकले थे, अपनी सेनाओं को छोड़, जानें बचा कर भाग आये। पर अंगरेज कूटनीति में आखिर गोरखों से बाजी मार गये और गोरखों के दूसरे पहाड़ी राजपूत सामन्तों को अपनी ओर फोड़ सतलज से कुमाऊँ तक का प्रदेश वे नेपाल से पृथक कर अपने आधिपत्य में लेने में सफल हुए (जनवरी १८१६)। लेकिन गोरखे इससे भी हताश न हुए। उनके दूत राजपूतों, मराठों, निजाम, पंजाब के राजा रणजीतसिंह आदि भारतीय राज्यों को तथा उधर चीन सम्राट् और बरमा के राजा को भी अंगरेजों के विरुद्ध उभाड़ कर सारे एशिया में एक सम्मिलित संघटित मोर्चा तैयार करने का जतन करने लगे।

१८१४-१५ में गोरखों की बहादुरी से मराठों के भी हौसले फिर से बढ़ने लगे। उनमें यह आम विश्वास फैल रहा था कि १८०३-०४ की उनकी असफलताओं का कारण उनका यूरपी शैली की नकल का प्रयत्न था। दक्खिनी रियासतों में अपनी नियमित सेना के अतिरिक्त अनियमित छापामार घुड़सवारों के दल भी एक बड़ी संख्या में रखने का पुराना रिवाज़ था। शान्ति के समय उन्हें नाम मात्र का वेतन और खेती बाड़ी कर गुजारा चलाने के लिए जमीनें मिली रहती; पर युद्ध के समय शत्रु देश में पहुँचने पर लूट करने की खुली आज़ादी रहतीं। मराठी में उन्हें पेंढारी कहते थे। पेंढारियों में अधिकतर संख्या उन अफ़गान साहसिकों की थी, जो पहले मुगलों के मुकाबले को बड़ी संख्या में दक्खिनी रियासतों में जाकर नौकर हो गये थे; बाद शिवा जी और

बाजीराव ने भी जिन्हें अपनी सेवा में लिया, और खास कर शिन्दे और होलकर के यहाँ जिनकी बड़ी तादाद रहती आयी थी, जिन्हें क्रमशः शिन्देशाही और होलकरशाही पेंढारी नाम दिये जाते थे। उनका केन्द्र तब मुख्यतः दक्खिनी राजस्थान—नर्मदा और तापी के बीच का राजस्थान और महाराष्ट्र की सीमा पर का प्रदेश नीमाड़ या प्राचीन अनूप देश— था।

किन्तु १८०३–४ के बाद मराठा शासन के गिरने और ढीला पड़ने से ये लोग कुछ अधिक स्वच्छन्द हो कर शान्ति-काल में कई बार अपने ही इलाकों में भी लूटमार कर लेते थे। ध्यान रहे कि होलकर राज्य का संरक्षक अमीरखाँ भी इन पेंढारियों में से ही था। अंगरेज एक तरफ तो उसकी करतूतों द्वारा मराठों और पेंढारियों को बदनाम करा रहे थे, दूसरी तरफ उसी द्वारा मराठों और पेंढारियों के एकोद्देश होकर युद्ध चलाने में बाधा उपस्थित कर रहे थे। शिन्देशाही पेंढारियों का नेता इस समय चीतू पेंढारी था, जो मेवात के रहने वाले एक जाट का बेटा था। पर उसे एक पठान पेंढारी नेता ने अपना दत्तक पुत्र बनाया था। १८१४-१५ में बालाजी कुंजर नाम का एक दूत पूना से तमाम मराठा दरबारों में भेजा गया। वह नर्मदा तट पर, हरदा के समीप, नेमावर में चीतू पेंढारी के 'लब्बर' (छावनी) में भी गया। पेंढारियों ने अब यह निश्चय किया कि भविष्य में वे अंगरेजों और उनके मित्र निज़ाम के इलाकों पर छापे मारा करेंगे।

अंगरेजों से तब भारत के सभी राजा मन में कुढ़ते थे। लार्ड हेस्टिंग्स को यह संभावना दीखी कि यदि रणजीतसिंह सतलज पार कर आये और बरमा का राजा चटगाँव के रास्ते बंगाल पर चढ़े तो गोरखे मराठे आदि भी उनके खिलाफ उठ खड़े होंगे। रणजीतसिंह तो सेना लेकर सतलज पार आया भी, पर मराठा राज सब दिलमिलयकीन और पस्तहिम्मत हो चुके थे और गोरखों की तरह डट कर लड़ने को अब कोई भी तय्यार न था।

किन्तु अंगरेजों ने तैयारी पूरी की। गुजरात महाराष्ट्र और बुन्देलखंड में उनकी छावनियाँ पहले से ही थीं। १८१५ में कर्नल जेम्स टाड का राजस्थान का नक्शा तैयार हो गया जिससे सिन्ध (पूर्वी) से सिन्ध तक समूचे भूभाग की पूरी जानकारी अंगरेजों को मिल गयी। अतः उसके आधार पर राजस्थान-विजय की योजना बनायी जा सकी। राजपूत राज्यों में टाड के षड्यंत्र भी अब फल ले आये। ये राज्य, जैसा कि हम देख आये हैं, अब सारे के सारे अंगरेजी आश्रय में जाने को उत्सुक थे; अंगरेजों का मराठा-विरोधी प्रचार जनता और सरदारों में अपना पूरा रंग दिखा रहा था। टाड ने षड्यन्त्र करके प्राय: प्रत्येक राजपूत राज्य के प्रतिनिधि, मराठा आधिपत्य से इन्हें मुक्त करा अपने आधिपत्य में ले लेने के प्रार्थनापत्रों समेत, अंगरेज गवर्नर-जनरल के पास पहुँचा दिये थे। राजपूतों ने, जो मराठों को अपने से नीचा मानते थे, इन प्रार्थनापत्रों द्वारा विदेशी बनियों से मानों उनके चरणों पर अपनी पगड़ियाँ धर कर शरण माँगी।

तभी नागपुर के बूढ़े राजा रघुजी भोंसले का देहांत हुआ और अंगरेजों ने उसके उत्तराधिकारी अप्पासाहब को भी अपनी आश्रित सेना रखने को सहमत कर लिया (१८१६)। नागपुर में भी तब अंगरेज छावनियाँ पड़ गईं और राजस्थान के मराठा राजा—शिन्दे और होलकर—दक्खिन तरफ भी पूरी तरह घेर लिये गये। शिन्दे पेशवा को महाराष्ट्र में फिर से उठाने की सोच रहा था; पर अब दोनों के बीच अंगरेजों की लोहे की दीवार आ खड़ी हुई।

व्रज में अंगरेजों की सैनिक धाक १८०३-४ में वहाँ के निवासियों द्वारा भरतपुर के मुहासरे में उनका सफल मुकाबला किये जाने और स्वयं अंगरेज प्रधान सेनापति लार्ड लेक द्वारा तीन तीन बार धावा बोलने पर भी उसके सर न किये जा सकने के कारण बहुत घट गयी थी; और जैसा कि सर चार्लस मेटकाफ ने १८१४ में गवर्नर-जनरल के नाम अपने पत्र

में लिखा था "वे दिन अब न रहे थे जब लोग सफेद चेहरे या लाल कुड़ती को देखते ही भाग खड़े होते थे", "भरतपुर के हतभागे घेरे में" उनकी "सैनिक प्रतिष्ठा का बड़ा अंश दब गया था।" अतः मराठों को छेड़ने से पहले अंगरेज सेनापतियों के मत में भरतपुर के कलंक का परिमार्जन आवश्यक था। लेकिन भरतपुर को छेड़ने में यह खतरा भी था कि कहीं फिर असफलता मिली तो लेने के देने न पड़ जायँ। अतः दोआब में हाथरस और मुरसान के किलों को, जो भरतपुर के ही नमूने पर बने थे और बड़े अजेय समझे जाते थे, सर करके हाथ-आजमाई की गई।

हाथरस का राजा दयाराम भरतपुर के ही राजवंश का था। अंगरेजों ने चाहा कि वह उन्हें अपने किले के भीतर घुसकर परीक्षा करने दे ताकि भरतपुर से युद्ध करना पड़े तो वे उसका लाभ उठा सकें। पर बहादुर दयाराम, निश्चित पराजय जानते हुए भी, मरने मारने पर उतारू हो गया। तब अंगरेजों ने एक बड़ी सेना के साथ हाथरस घेर लिया और २० दिन की गोलाबारी और संघर्ष के बाद सुरंगों द्वारा किले की दीवार में कई जगह दरारें डालने में सफल हो गये। एक गोले के बारूदखाने में जा पड़ने से किले का भीतरी बड़ा अंश सैनिक सामान शस्त्रास्त्र आदि भी ध्वस्त हो गये। दयाराम तब मुकाबला करना असम्भव देख अपने थोड़े से साथियों समेत लड़ते भिड़ते किला छोड़ निकल गया और हाथरस पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। अंगरेजों की सैनिक धाक इससे दोआब में जम गयी और दूसरे किलेदारों ने मुकाबला करना व्यर्थ समझ सर्वत्र आत्मसमर्पण कर दिया। उस युग के अंगरेज ऐतिहासिकों का तो मत था कि राजस्थान में मराठों पर उसका नैतिक प्रभाव बहुत अधिक पड़ा। अगले युद्धों में, जैसा कि हम अभी देखेंगे, राजस्थान में उनके अधिकार के अनेक ऐसे किलों ने भी कि जिनमें कुछ दृढनिश्चयी रक्षकों के रहते उस युग में भी बड़ी सेनाओं के लिए उन्हें सर कर लेना

आसान न होता, प्रायः बिना मुकाबला किये या आधे दिल से मुकाबले के बाद ही निस्साहस होकर आत्मसमर्पण कर दिया।

अंगरेजों ने अब पेशवा और भोंसले को और अधिक दबा कर मुकाबले को उभारना और इस प्रकार उनकी शक्ति को पूरी तरह समाप्त कर देना चाहा। उनका एक पिछलग्गू गंगाधर शास्त्री, जो गायकवाड़ की तरफ से पेशावा के खिराज की चढ़ी रकमों का फैसला कराने के बहाने अंगरेजों की तरफ से पेशवा का भेद लेने को पूना भेजा गया था, तभी पंढरपुर में अपने अत्यन्त चिढ़ाने वाले बरताव के कारण मार डाला गया। अंगरेजों ने उसके लिए पेशावा को जिम्मेदार ठहरा उसके कई किले दखल कर लिये और पेंढारियों को दबाने के नाम पर पेशवा की सेना भी ले ली (१८१७)।

निजाम की आश्रित अंगरेजी सेना के अंगरेज अफसर ने १८१५ के अन्त में शिन्देशाही पेंढारियों पर हमला किया था। पेंढारी जवाब में निजाम राज्य पर टूट पड़े और कृष्णा नदी के किनारे 'उत्तरी सरकार' तक जा कर लूट मार करने लगे थे। अंगरेजी सरकार ने तब उनकी रोक-थाम के लिए शिन्दे से कुछ कहने के बजाय स्वयं ही राजस्थान के भीतर घुसकर उनके दमन का निश्चय किया। ३० हजार पेंढारियों के मुकाबले में १ लाख १४ हजार अंगरेजी सेना मैदान में उतारी गयी। अंगरेजों के बिहार बंगाल के अपने इलाकों में डकैतों के कारण पूरी अराजकता मची थी, अंगरेजी शासन उनके खिलाफ कदम उठाने में उपेक्षा से काम ले रहा था। पर क्योंकि पेंढारी एक राजनीतिक शक्ति भी थे, जो अंगरेजों के विरुद्ध मोरचा लेने की प्रवृत्ति रखते थे, अतः उनके खिलाफ बड़ी कार्रवाई की गयी। अंगरेजी सेना के पड़ाव उत्तर तरफ रेवाड़ी से आगरा होते हुए कालपी कालंजर तक डाले गये। दक्खिन में दोहद से खानदेश पर्यन्त राजस्थान की दक्खिनी सीमा के साथ-साथ उनकी दोहरी सैनिक पंक्तियां तैनात हुईं, जिनमें से एक दक्खिन ओर

महाराष्ट्र की तरफ मुँह किये पेशवा और भोंसले पर दृष्टि रखने को और दूसरी उत्तर की तरफ राजस्थान के भीतर बढ़ पेंढारियों का घेरा करने को थी।

पर पेंढारियों से पहले शिन्दे और होलकर की नियमित सेनाओं की शक्ति तोड़ देना जरूरी था, जिससे मराठा राज्य सुसंघटित हो उनकी कोई सहायता करने या राजस्थान में विद्रोह खड़ा करने का साहस न कर सकें।

दौलतराव शिन्दे, जो अपने दल-बल समेत इस समय गवालियर में था, गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्स के शब्दों में "भारत के राजाओं में प्रायः सबसे अधिक शक्तिशाली था। वह यदि अपने परखे हुए बहादुर सैनिकों और अच्छे सधे हुए तोपखाने को मैदान में उतार पाता" तो राजस्थान के अनेक भागों में "उसकी साथी शक्तियों को भी हथियार संभालने का मौका और उत्साह मिल जाता और उन्हें दबाना या उनका मुकाबला करना" अंगरेजों को "काफी मँहगा पड़ता।" अतः हेस्टिंग्स, जो मोर्चे पर स्वयं मौजूद था और राजस्थान का घेरा डालने वाली उत्तरी पांतों के बीच की बागडोर स्वयं सँभाले था, कालपी से आगे बढ़ कर एकाएक गवालियर के दक्खिन जा पहुँचा। गवालियर शहर से कोई २० मील दक्खिन सीधे पहाड़ों की एक धार सिन्ध और चंबल नदियों के बीच आड़ी आयी हुई है। गवालियर से राजस्थान आने के लिए उस जमाने में बड़ी सेनाओं को या तो उसके पच्छिमी छोर पर चंबल तट के पास से लांघना होता था या फिर पूरब में सिन्ध दून के रास्ते। हेस्टिंग्स ने इन दोनों नाकों पर सेना ले जाकर इन्हें रोक दिया। शिन्दे तब गवालियर में ही घिर गया। उसके सामने अब दो ही रास्ते थे। या तो वह अपना सारा तोपखाना (जिसमें १०० के करीब पीतल की बहुत ही अच्छी यूरप की बनी तोपें थीं) और भारी सामान खजाना आदि सब कुछ गँवा कर किसी पगडंडी के रास्ते राजस्थान के अपने

प्रदेशों में भाग कर उन्हें बचाने का जतन करता और या फिर अंगरेजों की दी हुई शर्तों पर उनसे संधि कर लेता। सेना और साधनों के बिना राजस्थानी प्रदेशों की रक्षा करना आसान न था; क्योंकि वहाँ उसके राजपूत सामन्तों से इसके लिए उसे मदद मिलने की अब कोई गुंजाइश न थी।

इस दशा में हेस्टिंग्स की दी हुई शर्तों पर उसे हस्ताक्षर करने पड़े। हेस्टिंग्स के शब्दों में—"यह उसका बिना शर्त पूरा आत्मसमर्पण था, यद्यपि सार्वजनिक रूप से उसकी लज्जा ढाँकने के लिए रंग दिया हुआ।" यों राजस्थान के राजपूत क्षेत्रों के १९ राज्यों पर से शिन्दे को अपना आधिपत्य छोड़ देना पड़ा।

पिंढारियों को कुचलने के लिए राजपूतों की भी सहायता तब अंगरेजों को उपलब्ध हो गई। शिन्दे की हार के बाद डेढ़ महीने के भीतर-भीतर होलकर राज्य की शक्ति को भी पूरी तरह कुचल कर रख दिया गया। अमीरखाँ को उसकी अब तक की गद्दारी के लिए होलकर से खुल्लमखुल्ला अलग कर टोंक की नवाबी इनाम दी गई। नायकहीन सेना पर अंगरेजों ने हमला किया। उज्जैन के उत्तर शिप्रा के किनारे महीद-पुर पर लड़ाई हुई। अमीरखाँ का जंवाई अब्दुलगफ्फूर युद्ध में ऐन मौके पर होलकर सेना का साथ छोड़ अंगरेजों से जा मिला। उसे जावरा की नवाबी दी गयी। मन्दसौर की संधि (२०-१२-१८१७) से होलकर भी पूरी तरह अंगरेजों का सामन्त बन गया और उसने भी राजपूत राज्यों पर अपने सब दावे छोड़ दिये।

६ जनवरी १८१८ को शिन्दे से एक दूसरी सन्धि कर अंगरेजों ने अजमेर भी ले लिया। पर आश्रित सेना रखने या तथाकथित परस्पर की सहायता और विदेशों से अंगरेजों के बिना सीधा सम्बन्ध न रखने जैसी अपनी आजादी पर कोई स्पष्ट प्रतिबन्ध लगानेवाली शर्त मानना दौलतराव शिन्दे ने अब भी स्वीकार न किया और उसकी सेना अब भी

उसके पास समूची और अक्षुण्ण बनी रही। उसे तोड़ने या कुचलने का साहस हेस्टिंग्स को भी न हुआ।

अब पेंढारी बाकी बच गये। उनके प्रति राजस्थान की खास कर हाड़ौती और मालवे की जनता में बहुत सहानुभूति थी, उनकी कोई खबर वह अंगरेजो को न देती और समय आने पर उसका सक्रिय सहयोग भी पेंढारियों को मिलता। राजस्थान की जनता को उनसे कोई बड़ी शिकायत न थी। वह उलटा अंगरेजों की गुलामी से घबराती थी। अतः सिर्फ सैनिक ताकत के बूते पेंढारियों का पूरा दमन करना तब अंगरेजों के लिए आसान न होता। इसलिए उन्होंने अब बड़ों-बड़ों को मालवे में जागीरें आदि बाँट विश्वासघात के लिए लुभाया। मालवे में आज बड़ी संख्या में पाया जाने वाला जागीरदारों गिरासियों आदि का जो वर्ग है वह अधिकांश में अंगरेजों द्वारा इन गद्दारियों के लिए पुरस्कार पाने वालों का ही है। शेष पेंढारियों के लिए भी साधारण जनता—कृषक वर्गों— में चुपचाप मिल जाने की तब पूरी सुविधा थी, पर "वे मुसीबतों खतरों भूख प्यास और मौत का भी सामना करते हुए" बहुत समय तक अंगरेजों के मुकाबले को अड़े रहे। एक समसामयिक अंगरेज इतिहासकार विलसन के शब्दों में "यह उनकी सच्ची देशभक्ति और स्वाधीनता के सहज प्रेम का" एक ज्वलंत प्रमाण था।

अंगरेजों ने पेशवा को ८ लाख की पेंशन देकर, उसे कानपुर के पास बिठूर में रख महाराष्ट्र पर पूरा अधिकार कर लिया। नागपुर का अप्पासाहब भी उसी तरह पकड़ कर प्रयाग भेजा जा रहा था, पर वह रास्ते ही से निकल भागा और राजस्थान और महाराष्ट्र की सीमाओं पर स्थित महादेव पहाड़ियों में आ छिपा। चौरागढ़ आदि के किले उसने ले लिये। पर वहाँ भी उसका पीछा किया गया; तब वह चीतू पेंढारे की सहायता से असीरगढ़ पहुँचा। अंगरेजों ने अप्रैल १८१९ को असीरगढ़

आ घेरा। चीतू जंगल में एक बाघ का शिकार हुआ, पर अप्पासाहब एक फकीर के वेश में वहाँ से भी निकल भागा। वह पंजाब के राजा रण-जीतसिंह और जोधपुर के राजा मानसिंह के दरबारों में अंगरेजों के विरुद्ध सहायता पाने को भटका, पर तब किसी की हिम्मत अंगरेजों के विरुद्ध सिर उठाने की न थी। १८२७ के बाद जोधपुर की शरण में ही उसका देहान्त हुआ।

दूसरे मराठा युद्ध (१८०५) के बाद से अंगरेज राजस्थान में अमीरखां जैसे लुटेरों और टाड जैसे गुप्त षड्यन्त्रियों द्वारा बारह वर्ष जो खेल खेलते रहे, उसका पर्यवसान १८१७–१९ के तीसरे मराठा युद्ध और पेंढारी युद्ध से यह हुआ कि राजपूत राज्यों की गरदनें पूरी तरह अंगरेजी जुए में जुत गईं।

सातवाँ अध्याय

अर्वाचीन राजस्थान (४)---अंगरेजी जमाना

(१८१६—१९४७ ई०)

§ १. अंगरेजी शासन की इकाइयों का बनाया जाना तथा गुलामी के पिंजरे में प्रजा का पहला छटपटाना

अंगरेजों ने अजमेर को अपना केन्द्र बना राजपूत राज्यों के क्षेत्र का राजपूताना नाम से एक नया प्रान्त बनाने का निश्चय किया। जनरल ऑक्टरलोनी राजपूताना और मालवा दोनों का मुख्य कामदार (एजेण्ट जनरल) बनाया गया; उसके नीचे कर्नल जेम्स टाड राजपूताने का पहला राजनीतिक कामदार नियत हुआ।

मालवे में मालकम को शान्ति-व्यवस्था का काम सौंपा गया। उसने मराठों की शक्ति तोड़ने के लिए छोटे-छोटे सरदारों और ठिकानादारों को भी मराठा राजाओं से स्वतंत्र अपनी मातहती में शासनाधिकार देना मान अनेक छोटी-छोटी रियासतों का सृजन किया, और अनेक छोटे-छोटे जागीरदारों और ठिकानादारों को, जो मराठा राज्य के गिरने के समय मचने वाली अव्यवस्था का लाभ उठा कर कुछ गढ़ों या गाँवों पर बिलकुल गैरकानूनी तौर पर अपना अधिकार जमा बैठे थे, अपनी तमाम जायदाद पर काबिज बनाये रखने का आश्वासन दे उनकी वफादारी मराठों के बजाय अपने प्रति जीतने का जतन किया। मालवा अब से राजस्थान से अलग हो गया और बाद में मध्य भारत के साथ टँका रह

गया। उसमें ठेठ मालवे के अतिरिक्त कुछ ब्रज और बुन्देली के प्रदेश भी जहाँ छोटी-छोटी रियासतें थीं शामिल किये गये।

शेष बुन्देलखंड को अंगरेजी शासन के सूत्रों और रियासती भागों में पृथक से शामिल कर लिया गया। इसी प्रकार आगरे के पच्छिम ओर भरतपुर करौली और धौलपुर का ब्रजभाषी प्रदेश भी मराठा राज्य से अलग कर राजपूताने के साथ टाँका गया। बाकी ब्रज जो शिन्दे के अधिकार से निकल कर अंगरेजों के हाथ में आया, "उत्तरपच्छिमी प्रान्त" (आजकल के युक्त प्रान्त) में लगा दिया गया।

राजस्थान के उत्तरी आँचल में मेवात का अलवर के उत्तर का प्रदेश—नारनौल रेवाड़ी झज्झर आदि भी—जहाँ राजपूत अधिकार न था, राजस्थान से अलग रक्खा गया, और १८५७ तक अंगरेजों के उत्तरपच्छिमी सूबे के अधीन रहा। पर १८५७ में राष्ट्रीय विद्रोह के समय उसमें पंजाब के अंगरेजी शासन द्वारा पुनः व्यवस्था कायम करने में सहायता मिलने से तथा नाभा पटियाला जीन्द आदि अंगरेजभक्त सिक्ख रियासतों को उनकी अंगरेजों की सेवा के लिए उसमें अनेक बड़ी-बड़ी जागीरें आदि मिलने के कारण पंजाब में जोड़ दिया गया।

बीकानेर के राजा का सिरसा आदि के राजस्थानी प्रदेश पर हम देख चुके हैं कि हमेशा का दावा रहा है। पर वह चूँकि अंगरेजी अधिकार-स्थापना के समय बीकानेर के अधिकार से निकल चुका था, अतः अब राजस्थान से पृथक् कर हरियाने के साथ ही जोड़ दिया गया। इसी प्रकार बीकानेर के उत्तर-पच्छिम मोजगढ़-मरोठ वाला राजस्थानी प्रदेश ठीक इसी समय बीकानेर वालों के हाथ से निकल कर बहावलपुर के नवाब के अधिकार में चला गया था; बीकानेर वाले उसे ले लेते, पर अंगरेजी आश्रय स्वीकार कर लेने के बाद सीधी कार्रवाई का अधिकार तो उन्होंने खो दिया, और अंगरेज अफ़गानों के खिलाफ सिन्ध बहावलपुर के शासकों को अपनी तरफ मिलाये रखना चाहते थे, अतः बीकानेर वालों

को उन्होंने बहावलपुर में दखल न देने दिया। यों वह प्रदेश भी अब राजस्थान से निकल गया। मारवाड़ का थरपारकर प्रदेश १८११–१२ में ही मारवाड़ वालों के अकाल और आपसी झगड़ों में फँसा रहने के कारण सिन्धी तालपुरों ने ले लिया था, वह भी अब राजस्थान से निकल गया। जोधपुर वाले उसके मुतालबे के लिए अंगरेजों से व्यर्थ प्रार्थना करते रह गये।

राजपूताने में भी अंगरेजों ने राजाओं को मराठों से पनाह दिलाने की एवज अब उनसे काफी धन और इलाके लेने का जतन किया। "उनकी शक्ति" लार्ड हेस्टिंग्स के शब्दों में 'काफी थी। पर वे आपस की ईर्ष्या के कारण परस्पर कभी मिल न सकते।" तो भी वे फिर कभी मिल कर एक हो खड़े हो न जायँ अतः प्रायः प्रत्येक बड़ी रियासत की सीमा पर के कुछ इलाके अंगरेजों ने अब इन्तजाम ठीक रखने के नाम पर सीधे अपने नियन्त्रण में ले लिये।

अजमेर के दक्खिन मेवाड़ मारवाड़ की सीमा पर मेर लोगों की बस्तियाँ है। मेर मध्य राजस्थान की एक अत्यन्त बहादुर और स्वतंत्रता-प्रिय बिरादरी हैं। अंगरेजी शासन की स्थापना पर असंतुष्ट हो कर मेरों ने उपद्रव आरंभ कर दिये। तब अंगरेजों ने उन्हें नियन्त्रित करने के नाम पर वह सारा प्रदेश मेवाड़ मारवाड़ से अपने नियन्त्रण में ले लिया और उसकी शान्ति तथा व्यवस्था के लिए किया जाने वाला सब खर्चा दोनों राज्यों से वसूल किया।

मेवाड़ के दक्खिन इसी प्रकार मेवाड़ मारवाड़ गुजरात और बागड़ के सीमा प्रदेशों में भीलों मीणों आदि की बड़ी बस्तियाँ हैं। वे लोग राजपूत शासन के अधीन अपने पंचों की नायकता में सदा से आन्तरिक स्वाधीनता भोगते आये थे और अंगरेजी नियन्त्रण से असन्तुष्ट थे। अंगरेजी शासन की स्थापना होते ही अंगरेजों ने राजाओं से मिल उनके परम्परागत अधिकारों में दखल देना चाहा, तब वह सारा प्रदेश उनके

खिलाफ उठ खड़ा हुआ। उन्हें दबाने के लिए मालवा गुजरात और मेवाड़ से अंगरेजी फौजें उन प्रदेशों में घुसीं, वहाँ उनके बड़े-बड़े मुखियों गिरासियों और पल्लीदारों को जागीरें इनाम आदि दे देकर अपनी तरफ फोड़ा और साधारण जनता का दमन कर व्यवस्था कायम की, जिसका सारा खर्च मेवाड़ और अन्य राज्यों से वसूला।

मेवाड़ ढूंढाड़ और हाड़ौती की सीमा पर खेराड़ के प्रदेश में इसी प्रकार मीणों की बस्तियाँ हैं। अंगरेजी नियन्त्रण के विरुद्ध जनता ने वहाँ भी सिर उठाया, पर मेवाड़ की तथा कोटा के अधिनायक जालिमसिंह झाला की मदद से उसे दबा दिया गया।

हाड़ौती की जनता सरदार और राजा भी अंगरेज आधिपत्य से सब से अधिक चिढ़े हुए थे, यह हम पेंढारी युद्धों में भी देख चुके हैं। पर वहाँ कोटा का अधिनायक जालिमसिंह झाला अंगरेजों का मित्र बना था। कोटा के महाराव ने उसे हटा कर शासन अपने हाथ में लेना चाहा। अंगरेजों को डर हुआ कि कोटा कभी भी मराठों से मिल सकता है। शिन्दे की सैनिक शक्ति अभी बनी थी, अंगरेज १८१७ की सन्धि में उससे सिर्फ राजपूत क्षेत्र ले पाये थे, आश्रित सेना रखवाकर या अन्य किसी तरह उसकी स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध वे न लगा पाये थे। अतः कर्नल जेम्स टाड के प्रयत्न से जालिमसिंह को कोटा रियासत का दक्खिन प्रदेश, झालरापाटण, झालावाड़ नाम से अलग रियासत बनाकर दिया गया। इसी कारण कोटा के पूरब छाबड़ा प्रदेश टोंक के नवाब अमीरखाँ को तथा दक्खिनपूरब खिलचीपुर का प्रदेश भोपाल के नवाब को दिया गया। टोंक को मालवा और बुन्देलखंड की सीमा पर सिरोंज भी इसीलिए मिला कि मराठा राज्यों की निरन्तरता इससे छिन्न भिन्न की जा सके और उनपर अंगरेज इन गद्दारों के जरिये अपना अंकुश बनाये रख सकें।

मेवाड़ ढूंढाड़ हाड़ौती पर नजर रखने के लिए देवली की सैनिक

चौकी कायम हुई और खारी नदी के काँठे का फूलिया तथा केकड़ी का इलाका अंगरेजों ने अपने अधिकार में रक्खा। फूलिया बाद में मेवाड़ के शाहपुरा के ठिकानेदार को देकर अलग रियासत भी बना दी गई। केकड़ी प्रदेश अजमेर मेरवाड़े के साथ लगा दिया गया। मेरों मीणों का नियन्त्रण करने तथा मेवाड़ मारवाड़ और जयपुर के शासकों पर नज़र रखने के लिए नसीराबाद में अंगरेजी छावनी स्थिर रूप से डाली गयी तथा मेरवाड़े में उनकी अनेक चौकियाँ बनीं। इसी प्रकार भील प्रदेशों का नियन्त्रण करने के लिए उन्हीं लोगों की एक सेना खड़ी कर खेर-वाड़ा में छावनी बनायी गयी। भीलों को सभ्य और विनीत बनाने के लिए वहाँ ईसाई मिशनरियों की एक जमात भी पहुँची, जिसने भीलों की छोटी छोटी बोलियों का भी अध्ययन कर उनमें ईसाई साहित्य का सृजन किया।

मेवाड़ बागड़ और मालवा पर नज़र रखने के लिए नीमच में भी अंगरेजी छावनी डाली गई।

मारवाड़ में भी जनता अंगरेजी शासन के विरुद्ध थी। दक्खिन-पच्छिमी मारवाड़ के मल्लाणी परगने के सरदारों ने उपद्रव उठाया और गुजरात काठियावाड़ के अंगरेजी प्रदेशों में लूटमार करने लगे। उनका दमन करने को जोधपुर दरबार से कहा गया। पर दरअसल मारवाड़ सारा ही इस समय अंगरेज-विरोधी था। कुमार छत्रसिंह और उसके दल के लोगों से जिन्होंने कि अंगरेजों से सुलह की थी, महाराजा और जनता दोनों में असंतोष था। जोधपुर दरबार ने मल्लाणी के दमन में अपनी असमर्थता प्रकट की और सेना या खरचा आदि देने से भी साफ इनकार कर दिया। तब अंगरेजों ने अपनी सेना ले जाकर वह प्रदेश, जो मारवाड़ गुजरात और सिन्ध की सीमा पर होने से काफी सामरिक महत्व का था, सीधे दखल कर लिया। मारवाड़ में अव्यवस्था के नाम पर लार्ड विलियम बेंटिंक (१८२८-३५) ने राजा मानसिंह को हटाकर वहाँ

का शासन भी अपने नियंत्रण में कर लेना चाहा। पर सरदारों के भड़क जाने के डर से उसे * अपना यह इरादा छोड़ देना पड़ा, तो भी उसने मानसिंह के बहुत से अधिकार कम कर वहाँ अब एक कौंसिल बना दी।

बीकानेर के पूरबी और जयपुर के उत्तरपच्छिमी अंशों - चूरू सुजानगढ़ शेखावाटी आदि प्रदेशों—की जनता और सरदार भी अंगरेजी नियंत्रण से चिढ़े थे। उन्हें अंगरेजों ने बीकानेर और जयपुर के राजाओं की मदद तथा मेवात के अपने इलाकों से फौजें लाकर कुचला। उसके पूरब अलवर राज की स्थापना १८०४ में जयपुर राज के माचेड़ी ठिकाने के सरदार द्वारा अपने मालिकों (जयपुर के स्वामी) और मराठों (शिन्दे और होलकर) के विरुद्ध अंगरेजों को दी गयी मदद के इनाम रूप में ही हुई थी। १८०५ में जयपुर जोधपुर आदि पर मराठा आधिपत्य को फिर से मानने को विवश होने पर अंगरेजों ने अपने उस पिछ्लू को वापिस मराठों के हाथ न सौंपा और जयपुर से स्वतन्त्र कर उसके लिए एक पृथक् रियासत बना दी थी। किन्तु जयपुर से उसके विवाद चले आते थे, जिन्हें अब जयपुर के भी अपनी संरक्षता में आ जाने के बाद अंगरेजों ने उसी के पक्ष में सुलझाया। तब अलवर के राजा ने भी अंगरेजों के आदेश बिना जयपुर के खिलाफ हथियार उठाने की हिमाकत की।

---

* इस समय मारवाड़ के अनेक सरदार जो मानसिंह के पुराने विरोधी थे अतः मानसिंह ने जिनके साथ दुर्व्यवहार किया था, उसकी शिकायत लेकर अंगरेजों के पास अजमेर पहुँचे थे। विलियम बेंटिंक ने दरबार में उनसे पूछा कि सरकार यदि मानसिंह को हटाकर मारवाड़ का शासनाधिकार अपने हाथ में ले ले तो सरदारों का रुख क्या होगा। यह सुन सरदारों ने उत्तर दिया, आज महाराजा से हमारा झगड़ा अवश्य है, पर वे हमारे मालिक हैं, अतः उस दशा में हम उनके प्रति अपना कर्तव्य अवश्य पूरा करेंगे।

§ २. भरतपुर का जीता जाना

उधर भरतपुर में भी तभी राजा रणजीतसिंह का देहान्त हुआ और उत्तराधिकार के लिए उसके दो भतीजे आपस में लड़ने लगे। अंगरेजों को किसी सन्धि के अनुसार उनके मामले में दखल देने का हक न था, न किसी ने उन्हें सहायता के लिए बुलाया ही था। पर अंगरेजी कौंसिल के मेम्बर सर चार्ल्स मेटकाफ के मत में "शान्ति के सर्वोपरि संरक्षक होने के नाते अलवर का दमन करना और भरतपुर में एक दावेदार के विपरीत दूसरे कानून-सम्मत हकदार को गद्दी दिलाना आवश्यक था।"

भरतपुर का किला अंगरेज १८०३–४ में न ले सके थे, इससे उनकी सैनिक ख्याति को तब भारत भर में धक्का लगा था, जिसे उन्होंने १८१६ में हाथरस लेकर थोड़ा बहुत धोने का जतन किया था, सो हम पीछे देख चुके हैं। किन्तु भरतपुर को वे तब भी छेड़ने का साहस न कर पाये थे और उत्तर भारत के लोगों के सामने जब कभी वे अपनी वीरता या सैनिक महत्ता की डींग हाँकते, वे लोग यह कह कर उनका मुँह बन्द कर देते कि "क्या भरतपुर भी ले सकते हो ?" ब्रज का नैतिक साहस इस प्रकार अंगरेजों के मुकाबले में तब भी ऊँचा था। वहाँ की कहावत

सात फिरंगी नौ गोरा—
लड़ैं जाट के द्वै छोरा,

उसी युग में बनी थी।

ब्रज के चारों तरफ राजस्थान (जयपुर, अलवर, शेखावाटी, पूरबी बीकानेर), हरियाना, दोआब और बुन्देलखंड आदि में, जहाँ-जहाँ जाट कृषकों की प्रधानता थी, वहाँ-वहाँ अंगरेजी अधिकार के प्रति आम तौर पर फैली अवहेलना की मनोवृत्ति में भी उसका असर स्पष्ट रूप से था। अतः

अंगरेज अब किसी शानदार तरीके से भरतपुर को ले लेने अथवा उसका मान-मर्दन कर अपनी पिछली असफलताओं के प्रभाव को 'जो अभी तक धुंधला नहीं हो पाया था किसी प्रकार मिटा देने" के अवसर की ताक में थे।

भरतपुर के इस आपसी झगड़े ने वह अवसर अनायास ही उपस्थित कर दिया। गवर्नर-जनरल लार्ड ऐमहर्स्ट ने मेटकाफ की सलाह के अनुसार प्रधान सेनापति कोम्बरमीर को इसके लिए २५ हजार सेना और एक तोपखाना देकर भरतपुर का मुहासरा करने भेजा (दिसम्बर १८२५)। पिछली बार यह जनप्रवाद फैल गया था कि भरतपुर की रक्षा स्वयं व्रजराज श्रीकृष्ण कर रहे हैं। अंगरेजों की सेना में लड़ने वाले भारतीय सैनिकों में से भी अनेक ने तब इस प्रकार सूचना दी थी कि रात को प्राचीर की रक्षा करते हुए शंख चक्र गदा और पद्मधारी चतुर्भुज भगवान को पीताम्बर पहने हमने अपनी आँखों से देखा है। किन्तु अब की बार सम्भवतः अंगरेजों ने अपने वेतनभोगी ज्योतिषियों को व्रज में भेज पहले से ही यह प्रवाद फैला दिया था कि कोई सात समुद्र पार का एक मगरमच्छ आकर आक्रमण करेगा तब भरतपुर की रक्षा न हो सकेगी। कोम्बरमीर और मकरवाची संस्कृत शब्द कुम्भीर की उच्चारण-समता के कारण अब यह फैलाया गया कि उक्त किंवदन्ती का मगरमच्छ यही कोम्बरमीर है, अतः अब के भरतपुर की रक्षा होना सम्भव नहीं। तो भी व्रजवासियों ने भरतपुर की रक्षा बड़ी वीरता से अन्त तक की और अंगरेज एक महीना और आठ दिन के घेरे के बाद बड़ी कठिनाई से उसे ले सके (१८ जन० १८२६)। भरतपुर की अजेयता में जनता को ऐसा विश्वास था कि लोग इसके बाद भी प्रायः यही कहते रहे कि भरतपुर लिया नहीं जा सका, अंगरेजों ने कुछ लोगों को रुपया देकर उसे खरीदा।

भरतपुर लेने के बाद अंगरेजों ने वहाँ बुरी तरह लूट की और लोगों

पर तरह तरह के घृणित अत्याचार कर अपनी खीझ मिटाई। एक अंगरेज लेखक ने लिखा है कि देसी लोग बाद में भी बहुत अरसे तक अंगरेजों के इस टुच्चेपन और लूटमार की प्रवृत्ति का, जो उन्होंने भरतपुर में दिखायी, एक नाटक करते थे। उसमें दिखाया जाता था कि एक बिलकुल फटेहाल हिन्दुस्तानी दो अंगरेज सैनिकों को, जो भरतपुर में लूटते फिर रहे थे, मिला तो उन्होंने उससे अपना धन गहने और जवाहरात बताने को कहा। लेकिन उसके बहुत अज़िजी करने और अपनी दरिद्रता का बखान करने पर जब उससे उनके हाथ और कुछ न आया तब उन्होंने उसके सिर के बाल ही कैंची से कतर कर अपनी जेबें भर लीं। पुराने भारतीय राजा कई बार अपने गौरव के लिए पड़ोसी देशों पर विजय किया करते थे और पराजित के साथ बहादुरी दिखाने के बाद भलमनसाहत का बरताव करते थे, पर विजय के बाद इस दर्जे कत की कमीनी लूटपाट उन्होंने अब अंगरेजों में ही देखी। भारतवासियों के लिए यह एक नया तजरबा था।

भरतपुर का युद्ध अंगरेजों को बहुत अधिक मंहगा पड़ा। अतः इसका खर्चा वसूल करने के लिए अंगरेजों ने अनेक भारतीय राजाओं को दबाकर धन वसूला। १८२८ में गवालियर का दौलतराव शिन्दे भी चल बसा। तब अंगरेजों ने उसकी विधवा बैजाबाई को दबाया और उससे भी भरतपुर युद्ध के खर्चे में काफी रुपया लिया। लार्ड बेंटिंक चाहता था कि रानी बैजाबाई और दौलतराव का उत्तराधिकारी लड़का जनकोजी पेंशन देकर गवालियर की गद्दी से हटा दिये जावें और इस प्रकार समूचा मालवा अब सीधा अंगरेज अधिकार में ले लिया जाय। पर अनेक कारणों से वह वैसा करने में सफल न हो सका।

अलवर और जयपुर का झगड़ा लम्बा चलता रहा। जयपुर वालों का अलवर पर जो आधिपत्य का दावा था उसे अन्त में अंगरेजों ने नामंजूर कर के १८३१ से अलवर को पृथक् रियासत बना दिया।

§३. नमक और अफीम का व्यापार

नमक और अफीम के व्यापार पर अंगरेजों ने शुरू से अपना एकाधिकार रखने की नीति रक्खी थी। भारत से जो लूट व्यापार के नाम पर कच्चे या पक्के माल अन्न आदि के रूप में जहाजों से विदेशों को जाने लगी थी उसके बदले में वहां से लाने के लिए अंगरेजों के पास शुरू में कुछ भी न था। बाद में जब भारतीय शिल्पों के विनाश के बाद इंगलैण्ड के कारखानों का बना पक्का माल यहां आने लगा तो भी वह कच्चे माल की तुलना में कम आकार परिमाण और भारवाला होने से लौटती बार उन जहाजों को समुद्र में लहरों के उलटने से बचाने से लिए नमक जैसी सस्ती चीज़ के सिवा और कोई दूसरी वस्तु न हो सकती थी। भारत में आकर वह नमक भी यहां के बाजारों में यहां बने नमक के मुकाबले में बिक सके इसके लिए नमक का भाव यहां के बाजार में महंगा बनाये रखना अंगरेजों के लिए यों आवश्यक था। दूसरे, उस व्यापार में वैसे भी अंगरेजों को बड़ा लाभ था क्योंकि नमक की आवश्यकता सभी लोगों को होती है; अतः ब्रिटिश सरकार उस पर अधिकार रखना अनिवार्य मानती थी। और भारतीय बाजार में नमक को महंगा बनाये रखने के लिए यहां के उत्पादन पर २५० या ३०० प्रतिशत तक का कर अपने इलाकों में वसूलती थी। इंगलैण्ड में नमक का भाव जब ३० शिलिंग प्रति टन होता भारत में तब २१ पौंड प्रति टन तक के भाव से उसे बेचा जाता था।

नमक बनाने का शिल्प राजस्थान में बहुत पुराना था और भारत के एक बड़े हिस्से में नमक की आवश्यकता यहां के आकरों पर के तैयार होने वाले नमक की पैदावार से ही पूरी होती थी। पर नमक कर वसूलने वाली अंगरेजी चौकियों का घेरा अब राजस्थान के चारों तरफ अंगरेजी इलाकों में पड़ जाने से यहां के उस व्यापार और शिल्प को गहरा धक्का लगा। चौकियों के पहरेदार और अंगरेज पदाधिकारी इस बहाने

दूसरे जिन्सों के व्यापार—सामान के स्वतन्त्र आयात निर्यात—पर भी अनुचित रुकावटें डालते, दस्तन्दाजी करते और खुल्लमखुल्ला बड़े परिमाण में रिश्वतखोरी करते थे; इससे राजस्थान के व्यापार व्यवसायों को सामान्यतः भी काफी नुकसान पहुँचा और वे धीरे धीरे उजड़ते एवं चौपट होते गये और जनता में गरीबी और बेकारी बढ़ी।

अफीम की खेती, जो राजस्थान के दक्खिनपूरबी अंशों मालवा मेवाड़ आदि में पहले स्थानीय आवश्यकता के लिए की जाती थी, और व्यापार पर भी अंगरेजों ने इसी प्रकार अपना एकाधिकार कर लिया। १८१३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत व्यापार का एकाधिकार समाप्त हो गया था और सिर्फ चीन में व्यापार करने का एकाधिकार बाकी था। रेशम और कला की सुन्दर वस्तुओं का मूल्य अंगरेज चीनियों की अफीम जैसे विषैले और हानिकारक द्रव्य का चस्का लगा कर चुकाते थे। १८३० तक भारत की अफीम अंगरेजों द्वारा चीन में आयात की मुख्य जिन्स बन गयी थी। अंगरेजों को भारत में इसके लिए अफीम की पैदावार बढ़ाने और उसके व्यापार पर अपना पूरा नियन्त्रण करने की तब बड़ी चिन्ता थी। राजस्थान में आधिपत्य जमाने के बाद मालवा मेवाड़ में अफीम की खेती को प्रोत्साहित करने और उसकी खरीद फरोख्त के लिए जगह जगह उनकी कोठियां और कांटे (तौलने की चौकियां) कायम हो गये। इससे कुछ बड़े बड़े किसानों जमीदार जागीरदारों और अफीम के देसी दलालों को भी थोड़ा बहुत रुपया पैसा कमाने का अवसर तो अवश्य मिला, पर अन्न के उत्पादन में कमी होने से अकालों की संख्या और तीव्रता में वृद्धि हुई और गरीब लोग उन अकालों में बहुत बड़ी मात्रा में मरने लगे।

नमक के उत्पादन पर अपना सीधा नियन्त्रण करने के विचार से अंगरेजों ने मारवाड़ और जयपुर से सांभर का इलाका छीनना भी चाहा। पर जयपुर और मारवाड़ में व्यापक विद्रोह उठ खड़ा हुआ और एक

अंगरेज अफसर उसमें मारा गया (१८३५) ।

राजपूत राजा चाहे कितने ही निकम्मे क्यों न हों और उनकी अपने सरदारों से चाहे न बनती रही हो, पर सरदारों और जनता को अपनी अपनी रियासतों का अंग भंग होना और उनके किसी भी अंश पर परदेसी का दखल होना तब हर्गिज अभीष्ट न था। अंगरेजों ने देखा कि कहीं राजपूताने में उपद्रव खड़ा हो जाय और वे पंजाब के सिक्खों और पच्छिम में सिन्ध के रास्ते काबुल के अफगानों से भी सम्बन्ध जोड़ लें तो स्थिति विकट हो सकती है। अतः राजपूत राज्यों के साथ अब नरमी का बरताव ही किया गया। सांभर के इलाके पर कब्जे का इरादा उन्हें छोड़ना पड़ा और धीरे धीरे उनके दूसरे इलाकों पर से भी अंगरेजों ने प्रायः अपना नियन्त्रण हटालिया (१८३६–३९ ई०) ।

§ ४. सिन्ध गवालियर और पंजाब पर बरतानवी आधिपत्य

अंगरेजों का राजस्थान के बाद सतलज और थर के आगे राज्य विस्तार का प्रयत्न भी इस बीच जारी था। वे अफगानिस्तान सिन्ध और पच्छिमी सीमाप्रान्त को लेकर राजस्थान में अपना अधिकार पक्का करने और पंजाब में सिक्ख राज को पच्छिम से भी घेर लेने का उद्योग कर रहे थे। इसके लिए १८३१ में इंगलैण्ड के राजा द्वारा भेजी गई कुछ वस्तुओं को पंजाब के राजा रणजीतसिंह तक पहुँचाने के नाम पर समुद्र से सिन्ध नदी के रास्ते की जांच की गई। सिन्ध के अमीरों को दबाकर अंगरेजी नावों द्वारा व्यापार के लिए सिन्ध सतलज का मार्ग खुलवा लिया गया।

पिछले काल में सिन्ध और पच्छिमी देशों से गंगा जमना कांठे को जाने के लिए व्यापार मार्ग प्रायः उमरकोट या जयसलमेर मारवाड़ अजमेर होकर राजस्थान के भीतर से चलता था। इससे थळी अर्थात् उमरकोट जयसलमेर प्रदेश से लेकर पाली, अजमेर, सुजानगढ़ चूरू आदि तक

समूची मरुभूमि में अनेक समृद्ध बस्तियां बसी थीं। पर अब पच्छिमी राजस्थान की इन बस्तियों का व्यापारिक महत्व नष्ट होने लगा और वहां का नागरिक जीवन भी मन्दा पड़ने लगा। मारवाड़ी व्यापारियों का नया प्रवाह राजस्थान के बाहर ब्रिटिश इलाकों में बंगाल खानदेश और बराड़ की तरफ प्रवास कर के जाने लगा, इसके राजनीतिक और आर्थिक कारणों और पहलुओं की छान बीन करना अभी बाकी है।

अंगरेजी शासन के आरंभिक जमाने में पुनर्वास, आयात निर्यात, माल के चालान और खरीदने-बेचने के सब नये केन्द्रों की स्थापना में मरुस्थल के इन भाण्डविनिमयकर्म के पुराने अभ्यस्त व्यापारियों का बड़ा सहयोग रहा है। अंगरेजी बैंको की स्थापना से पूर्व सरकारी लेन देन और खजाना संभालने की जिम्मेवारी प्रायः ये ही लोग संभालते रहे। विदेशी माल की थोक खरीद और सारे भारत में उसके वितरण का काम भी बहुत शीघ्र इन्होंने संभाल लिया। इससे राजस्थान से बाहरी प्रान्तों में मारवाड़ी व्यापारियों की स्थिति तो मजबूत होने लगी, पर राजस्थान के भीतर व्यापार व्यवसाय और शिल्पों के नष्ट हो जाने से सामान्य जनता दिन-प्रति दिन गरीब और बेकार होती गयी।

१८३९ में अंगरेजों ने सिन्ध में अपनी सेना रख दी, पंजाब के राजा रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद वे उसे भी ले लेने की तैयारियां करने लगे। १८४३ में उन्होंने सिन्ध ले लिया। पर पूरबी राजस्थान में राजा शिन्दे की शक्ति अभी तक बनी थी और अंगरेज, जैसा कि पहले भी कह चुके हैं, उससे आश्रित सेना रखने जैसी कोई सन्धि अभी तक न करा पाये थे। उसकी यूरपी ढंग से सधी सधाई सेना भी, जिसकी कि नींव महादजी शिन्दे ने इतने प्रयत्न से रक्खी थी, अभी तक बनी थी, और उसमें गैरअंगरेज यूरपी अफसर भी अभी तक मौजूद थे। सतलज से इस पार वही एकमात्र सुसज्जित स्वतन्त्र भारतीय सेना थी। अंगरेजों को खतरा था कि यदि वे पंजाब की ओर बढ़े तो कहीं वह पीछे से कोई

उपद्रव न खड़ा कर दे। सिक्ख राज्य के दूत जनकोजीराव के पास इस समय बराबर आ जा रहे थे। अतः अंगरेज तब मनाते थे कि किसी तरह "गवालियर दरबार और उसकी सेना को भूकम्प निगल जाय तो अच्छा हो।"

७-२-१८४३ को जनकोजीराव शिन्दे का देहान्त विष प्रयोग द्वारा अचानक हो गया। लार्ड एलनब्रो, गवालियर में आगे घटने वाले घटनाचक्र पर नज़दीक से दृष्टि रखने के लिए, दिल्ली से आगरा आ कर ठहरा और अपनी सेनाओं को किसी भी मौके के लिए तयार रखने के लिए उसने उनकी स्थिति में तुरत आवश्यक परिवर्तन किये। गवालियर में जनकोज़ी के पीछे उसकी ११ बरस की एक बाल विधवा रानी के सिवाय कोई न बचा था। उसने ८ बरस के एक बच्चे जियाजीराव को गोद लिया और उसके नाम से शासन चलाने लगी। राज का असली शासन तब दरबार के हाथों में रहा। अंगरेजों ने दबाव डालकर दरबार का प्रधान अपने एक पिट्ठू दिनकरराव उर्फ मामासाहब को चुनवाया। पर कुछ समय बाद दरबार ने उसे पदच्युत कर दादा-खासजीवाला को अपना प्रधान चुना। वह योग्य शासक था। राज्य का प्रबन्ध उसने सुचारु रूप से किया और अंगरेजों की चढ़ी खिराज की रकमें भी चुका दीं। सेना से उसने तमाम यूरपी और दोगले अफसरों को, जो सदा गद्दारी करते थे, निकाल दिया, और अनेक ऐसे व्यक्तियों को भी नौकरी में रक्खा, जो पहले अंगरेज विरोधी होने से निकाल दिये गये थे।

अंगरेज इसपर बिगड़ गये। गवर्नरजनरल लार्ड एलिनबरो ने दरबार से खासजीवाला को गिरफ्तार कर अपने सिपुर्द करने की मांग की। गवालियर दरबार डर गया, खासजीवाला को पदच्युत कर कैद कर लिया गया। एलिनबरो ने तब दरबार को और दबाया, और गवालियर पर दो तरफ से आक्रमण कर दिया। दरबार ने अन्त तक युद्ध की तैयारी न

की थी। पर सेना आखिरी समय वीरता से लड़ी। युद्ध की किसी योजना और नेतृत्व के अभाव में हार अवश्यम्भावी थी, तो भी अंगरेजों को गहरा नुकसान उठाना पड़ा। अपनी खीझ मिटाने को उन्होंने गवालियर शहर बूरी तरह लूटा और जनता पर तरह तरह के क्रूर अत्याचार कर के अपनी कसर निकाली।* वे इस राज्य को बिलकुल समाप्त कर देना चाहते थे, पर सिन्ध के बाद ही गवालियर पर भी दखल करने से सारे भारत में असन्तोष बढ़ जाने का खतरा था, अतः उन्हें अपने विश्वास के आदमियो को शासक नियत करवा उनकी मारफत वहां अपना नियन्त्रण बनाये रखने में ही सन्तोष मानना पड़ा।

१८४५–४६ और १८४८ के दो युद्धों में सिक्खों की शक्ति कुचल देने के बाद पंजाब भी ले लिया गया। उन अवसरों पर बीकानेर का राजा सिरसा के प्रदेश के लिए अंगरेजों से अपनी मांग पुनः कर रहा था, पर अंगरेजों ने उस पर बिलकुल ध्यान न दिया। बीकानेर की प्रजा और सरदारों में इसके लिए काफी असंतोष था। तिसपर भी पंजाब के युद्धों में बीकानेर के राजा ने अंगरेजों की बड़ी मदद की।

§ ५. स्वाधीनता का विफल युद्ध

इस प्रकार १८४३ में गवालियर के शिन्दे की स्वतन्त्र सैनिक शक्ति

---

*एक मकान में बहुत से आदमियों को बन्द कर जिन्दा जला दिया गया था। लोगों ने उस मकान को उसके मुरदों समेत महीना भर, अंगरेजों की लूट और ध्वंस लीला की स्मृति रूप में वैसा ही बनाये रक्खा। गवालियर के नये अंगरेज भक्त दीवान ने बाद में उसे ध्वस्त करवा, इस डर से कि कहीं लोग पीछे वहां शहीदों का स्मारक न बना लें, उस स्थान पर हल चलवा कर उसका नामोंनिशान तक मिटावा दिया। दे० वसु, भारत में ईसाई शक्ति का उदय, पृ० ८५०।

को अन्तिम रूप से कुचल देने और १८४५-४६ में पंजाब की खालसा फौज की ताकत तोड़ने के बाद प्रायः सारे भारत पर अंगरेजी आधिपत्य छा गया। उसके कुछ अंग तो सीधे अंगरेजी अधिकार में चले गये पर बाकी बड़े अंश पर भारतीय राज्यों के खड़हर अभी बनी रहे। इससे बहुत से लोग अब विचार करने को विवश हुए और उनके सामने यह बात धीरे धीरे स्पष्ट होने लगी कि भारत में अंगरेजी राज का आधार हमारे अपने ही देशबन्धुओं की बनी भाड़ैत सेना थी; यदि भारतवासी उसे समझा बुझा कर अपनी तरफ मिलालें तो अंगरेजों को भारत से आसानी से निकाला जा सकता है। खासकर भरतपुर के घेरे जैसी घटनाओं ने, जहां गोरी फौजें किला रक्षकों की मार से घबड़ा कर अपना साहस छोड़ बैठीं तब भारतीय सैनिकों की वीरता से ही अंगरेजी मोरचे बचाये जा सके थे, यह बात और भी स्पष्ट कर दी थी।

भारत के उच्च वर्गों ने जिनके पास तब देश के सब आर्थिक राजनीतिक साधनों का नियन्त्रण जनता की थाती रूप में था, और जनता जिनसे नेतृत्व की आशा करती थी, अपना आत्मविश्वास खो दिया था। जनता की पवित्र थाती रूप में प्राप्त अपने विशेषाधिकारों को, अपने लिए व्यक्तिगत रूप में थोड़ा बहुत बचाने के लालच से, उन्होंने विदेशी से सौदा कर, जनता की आजादी को उसके हाथ बेच कर, जनता के साथ विश्वासघात का दुष्कर्म किया था। किन्तु भारत के बड़े बड़े राज्य जिस प्रकार एक के बाद एक करके अंगरेजों के सामने गिरते गये, उससे अंगरेजों के मन में भारतीयों के प्रति अब ऐसी तुच्छ धारणा बन गयी थी कि जो थोड़े बहुत आर्थिक राजनीतिक अधिकार इन देसी उच्च वर्गों के पास बच रहे थे, उनका औचित्य भी उन्हें अब समझ न पड़ने लगा और उनके लिये भी वे अब लारें टपकाने लगे। भारतीय साम्राज्य के इन बचे खुचे खण्डहरों को ढा मिटा कर शीघ्र ही 'समथर बना देने' की डींगें अब खुल्लमखुल्ला हांकी जाने लगी थीं। लार्ड डलहौजी, खास इसी उद्देश को

सामने रख, भारत का गवर्नरजनरल बन कर आया और उसने आते ही, छल-बल, और कौशल से जैसे भी बना धृष्टतापूर्वक भारतीय राज्यों और राजकुलों को मिटाकर "समथर" बना देने का कार्य आरम्भ कर दिया।

भारतियों की अपनी राजसत्ता के दो सर्वमान्य मूर्धा—एक बाबर वंश में दिल्ली के बादशाह और दूसरा महाराष्ट्र के छत्रपति—समझे जाते थे। उन दोनों की शक्ति क्षीण होकर पीछे मुख्यतः अवध के नवाब वजीर और मराठा पेशवा के पास आ गयी थी, और बाद में बादशाह द्वारा भी पेशवा को अपना प्रधान प्रतिनिधि बना लिया जाने से वही तब भारत भर की शान्ति व्यवस्था और शासन के लिए कानूनी जिम्मेवार था। वे चारों राजपद तब एक तरह भारतीय स्वराज्य के प्रतीक थे। अंरेगजों ने चारों को बस में कर, एक के प्रभाव का उपयोग दूसरे विरुद्ध कर के ही, भारत का शासन अपने हाथ में लिया था। अन्तिम पेशवा बाजीराव २य के विरुद्ध १८१८ में सतारा के छत्रपति द्वारा फरमान निकलवा उसे उन्होंने महाराष्ट्र से हटा कानपुर के पास बिठूर में ला रक्खा था। पेशवा बाजीराव २य, अवध का वजीर, दिल्ली का बादशाह और सतारा का मराठा छत्रपति, यों गुलामी का तौक पहनने के बाद, बराबर अपने परिमित साधनों और प्रभाव का यत्किंचित् उपयोग अंग्रेजी राज के पक्ष में करते रहे थे। बाजीराव ने अपनी ८ लाख की पेंशन में से भी बचाकर ५० लाख रुपया अंगरेजों को अफगान युद्धों में सहायता के लिए दिया था और पंजाब युद्ध में एक हजार पैदल और एक हजार सवारों की मदद अपने खरचे से अङ्गरेजों को दी थी। नागपुर का भोंसले और निजाम हैदराबाद प्रायः आम्भ से अंगरेजों के पिट्ठू रहे। तो भी अंगरेजों ने जब उनका कोई लिहाज न किया, पेशवा बाजीराव के मरने पर (१८५१) उसके दत्तक पुत्र धोण्डोपंत नानासाहब की पेंशन बन्द करदी, सतारा और नागपुर जब्त कर लिए, निजाम से आन्तरिक अव्यवस्था को शान्त करने के बहाने—आश्रित सेना की मात्रा

और बढ़ा उसके खरचे के नाम पर—बरार ले लिया और बादशाह बहादुरशाह के सम्मान में कमी कर उसका भारत सम्राट् का पद भी मिटा देना चाहा, तब भारत के उच्च वर्गों की आंखें खुलीं। उन्हें समझ आ गया कि जिन स्वार्थों, विशेषाधिकारों, के बचाव के लिए, जनता से गद्दारी कर, वे विदेशी आश्रय में गये थे, उनकी सुरक्षा की भी ठीक राह, अपनी जनता से हितैक्य रख विदेशी शासन के विरुद्ध उठने उसका साथ देना ही, थी।

स्वाधीनता-युद्ध की योजना, इस प्रकार, पहले पहल नानासाहब पेशवा ने की। नानासाहब के वकील अजीमुल्ला और सतारा राजा (माराठा छत्रपति) के वकील रंगोबापू के मन में इसका पहला विचार लन्दन में आया। वे दोनों वहां अपने मालिकों के मामलों की पैरवी करने गये हुए थे। अजीमुल्ला ने बचपन में अंगरेज अफसरों के यहां खानसामे का काम किया था; उनके सम्पर्क से वह फ्रेंच और अंगरेजी मजे में लिखता बोलता था, तथा उनके रीति रिवाजों और विचारों से खूब परिचित था। वह यों भी एक असाधारण प्रतिभाशाली, सुन्दर और मोहक शिष्टाचार से सम्पन्न, युवक था। लन्दन में अंगरेजों के ऊंचे समाज में घुलमिल कर उसने वहां की हालत खूब ध्यान से देखी जांची। स्वदेश लौटते समय वह यूरप के दूसरे अनेक देशों में भ्रमण कर उनकी दशा का भी निरीक्षण करता और मार्ग में मिसर के सुलतान तथा ईरान के शाह से भारत के स्वाधीनता युद्ध में मदद के लिए बातें करता आया था। यूरप में तब रूस और तुर्की के बीच छिड़ी थी। उसमें अंगरेज रूसियों के खिलाफ तुर्की का पक्ष ले क्रीमिया के मैदान में रूसियों से उलझे थे। वहां रूसियों ने उन्हें कई करारे सबक दिये। अजीमुल्ला स्वयं उस मैदान में जा युद्ध का निरीक्षण कर आया और रूसियों के हाथ होती हुई अंगरेजी सेनाओं की दुर्गति का हाल अपनी आंखों देखता आया था। अंगरेजी शास्त्रों की अजेयता की धाक उसके मन पर से

बिलकुल उठ चुकी थी। उसके मत में भारत में क्रान्ति करने का वह उपयुक्ततम समय था।

उसने और नानासाहब ने मिलकर भारत में क्रांति की योजना बनायी। तमाम भारतीय राजा नवाबों जागीरदार-जमीदारों से लेकर साधारण पुलिस के सिपाही और सैनिकों तथा अंगरेजी अफसरों के खानसामों चपड़ासियों और भिश्तियों तक, तथा गांव गांव में उनके दूत क्रांति का सन्देशा लेकर पहुँचे।

३१ मई १८५७ क्रान्ति आरम्भ करने की निश्चित तारीख थी। किन्तु जनता और सैनिकों को, अपनी राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध उभड़ने के लिए, क्रान्ति के नेताओं ने, उनकी धार्मिक भावनाओं को भी उभाड़ा; अंगरेजों के ईसाई होने से, हिन्दु और मुसलमान दोनों का धर्म भ्रष्ट करने के लिए प्रयत्नवान् होने जैसी बातों का भी प्रचार किया था। भावुकता धर्मान्धता की आंधी को वश में रखना सम्भव न हुआ और अनेक स्थानों पर निश्चित तारीख के पूर्व ही विद्रोह फूट पड़ा; उससे शत्रु को दूसरे स्थानों में पहले से सावधान होने और अपनी स्थिति मजबूत करने का अवसर मिल गया।

युद्ध का मुख्य घटनाचक्र, भारतीय इतिहास की विवेचना का विषय होने से, प्रायः सुपरिचित है। यहां उस विस्तार में न जा, हम सिर्फ राजस्थान के मोर्चे वाली घटनाओं का ही उल्लेख मोटे तौर पर करेंगे। तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि इस युद्ध में विशेष रूप से अवध रुहेलखंड और दोआब की जनता ने ही भाग लिया; जिन्हें अंगरेजों ने अभी कुछ ही दिन पहले, अपने परम्परागत राजघरानों के नेतृत्व से वञ्चित किया था, अतः जिनका घाव अभी ताजा था। भारत के दूसरे प्रान्तों में, जहां जनता और अंगरेजों के बीच परम्परागत देसी राजघरानों की ढाल बची थी, कोई उपद्रव सफलता से इसलिए भी न उठ सका कि जनता का सम्पर्क अंगरेजों से सीधा न हुआ था और वे अपने पर-

म्परागत शासकों की अधीनता में होने से, इस महान् परिवर्तन को ठीक से समझ भी न सके थे कि उनके वे पुराने राजा अब परदेसी के हाथ की कठपुतली मात्र हैं।

पंजाब १० साल पूर्व ही स्वाधीनता के लिए विकट युद्ध कर के चुका और अब थका था। अंगरेजी साम दाम और दण्ड भेद के चक्कर में वहां जनता बुरी तरह फंसी थी। गोरी सेनायें वहां बड़े परिमाण में थी। बिहार बंगाल और तामिलनाड आदि पर अंगरेजी प्रभुत्व जमे करीब एक शताब्दी पूरी हो रही थी, अतः जनता प्रायः साहस हीन थी। महाराष्ट्र में पेशवा सतारा और नागपुर राजवंशों का अन्त इसी समय किया गया था, अतः असंतोष सबसे अधिक होना चाहिए था; किन्तु एक तो चूंकि महाराष्ट्र के नेताओं को पहले ही वहां से दूर हटा उत्तर हिन्दुस्तान में ला रक्खा गया था; दूसरे, वहां पुराने जागीरदारों को भी, अंगरेजों ने सन्धियों द्वारा स्वतन्त्र राजाओं का पद देकर, अपने मूल प्रभुओं की बराबरी के दर्जे पर ला दिया था, अतः वे ब्रिटिश आधिपत्य में सन्तुष्ट थे। तीसरे, तीन युद्धों में अंगरेजों के हाथ पराजय खाने से महाराष्ट्र के लोगों की हिम्मत भी बिलकुल टूट गयी प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त अवध रुहेलखंड दोआब और दिल्ली के आसपास के लोग ही मुख्यतः अंगरेजों की सेनाओं में भरती थे और उनके सैनिक नियन्त्रण एवं नये ढंग की रणशैली को भीतर से देखे समझे थे, अंगरेजों की सैनिक सामर्थ्य की थाह कुछ उन्हें थी, अतः वहां उसका रोब जनता पर उतना न था। इसलिए जहां जहां अंगरेजी छावनियों में उनकी टुकड़ियां थीं, सबने उनके खिलाफ उठने और विद्रोह करने का साहस किया।

राजस्थान में नसीराबाद नीमच मऊ आदि की सेनाओं ने जुलाई १८५७ तक विद्रोह के झण्डे खड़े कर दिये। नीमच की छावनी में अंगरेजों की सहायता के लिए मेवाड़ से प्रधान महता शेरसिंह और अर्जुन-

सिंह सहीवाला के नेतृत्व में जो सेना गयी, वह भी विद्रोहियों से मिलने को तत्पर हो गयी। टोंक और मालवा में भी लोग उठे। मन्दसौर ले लिया गया और नींबाहेड़ा पर विद्रोहियों का कब्जा हो गया। राजस्थान की सामान्य जनता की सहानुभूति स्वतन्त्रता युद्ध के वीर सैनिकों के साथ बहुत अधिक थी; पर राजाओं और शासक वर्ग ने बिलकुल साथ न दिया। मेवाड़ मारवाड़ और ढूँढाड़ के शासकों ने नीमच, नसीराबाद और दक्खिनी मारवाड़ की छावनियों के अंगरेज अफसरों और उनके परिवारों को विद्रोहियों से बचाने के लिए ला लाकर अपने यहां महलों और अन्तःपुरों में स्थान दिया। विद्रोहियों ने जब उन्हें स्वाधीनता युद्ध में आगे आकर नेतृत्व करने को निमन्त्रण दिये, तब उन्होंने उलटा अपनी सेनायें उनके विरुद्ध भेज उन्हें अपने प्रदेशों से निकाल देने की चेष्टा की। मऊ की छावनीवाली सेना ने स्वतन्त्रता युद्ध में इन्दौर के होलकर राजा पर अपना नेतृत्व करने को दबाव डाला। वहां की सेना और जनता युद्ध में भाग लेने को उतावली थी, पर होलकर राजा उन्हें बहाने बना और झूठे वादे कर तब तक टालता रहा, जब तक कि अंगरेज सेनापति सर ह्यू रोज बम्बई से अंगरेजों की एक बड़ी कुमुक लेकर विद्रोहियों को दबाने के लिए इन्दौर न पहुँच गया। वह भीतर ही भीतर अंगरेजों की रक्षा कर उनके प्रति अपनी राजभक्ति प्रकट करते रहने में भी न चूका। लगभग यही हाल गवालियर के शिन्दे राजा का रहा। अंगरेजों का पिट्ठू दिनकरराव उर्फ मामासाहब १८५२ से फिर वहां का दीवान बन बैठा था और जनकोजी राव शिन्दे को उससे दबना पड़ता था। होलकर की तरह वह भी अपनी सेना और प्रजा को, जो विद्रोह में शामिल होने के लिए उतावली बैठी थी, किसी न किसी बहाने रोके रहा।

विद्रोही लोग तब नेतृत्व पाने की तलाश में, राजस्थान के बीच अपना रास्ता काटते हुए आगरा दिल्ली और कानपुर में बहादुरशाह और

नानासाहब के झण्डों तले एकत्र होने को चल पड़े। फलतः राजस्थान और पंजाब में अंग्रेजों के पैर शीघ्र जम गये। अंगरेजों को इधर से कुमुक और सहायता पहुँचाने के रास्ते साफ मिलते गये और दिल्ली आगरा कानपुर झांसी आदि के विद्रोह केन्द्रों पर अक्रमण करने और विद्रोहियों को महाराष्ट्र तथा दक्खिन की तरफ बढ़ने से रोक रखने का अवसर हाथ आ गया। अंगरेजों की बड़ी सेना पंजाब पर नियन्त्रण रखने के लिए पहले से उधर थी। उसने अब पूरब बढ़कर दिल्ली पर घेरा डाल दिया। उसके पीछे पटियाला नाभा जींद के पंजाबी राजाओं ने तथा दाहिने तरफ पटौदी, लोहारू, अलवर, बीकानेर आदि राजस्थानी रियासतों ने हरियाना मेवात में उठे छुटपुट विद्रोही दलों को दबाकर चौकीदारी करते हुए अपनी अंगरेज भक्ति का सबूत बड़ी तत्परता से दिया। बीकानेर के राजा ने हांसी हिसार सिरसा से तमाम विद्रोहियों को मार भगाया। राजस्थान में तब सिर्फ एक बून्दी का राव ऐसा था कि जिसने विद्रोहियों के प्रति कुछ सहानुभूति दिखायी या यों कहना चाहिये कि उन्हें दबाने में अंगरेजों से सक्रिय सहयोग करने में ढिलाई करता रहा। बाकी राजा तो मानों तब अपनी अंगरेज भक्ति का प्रदर्शन करने में होड़ सी करते रहे। मध्य पूरबी राजस्थान—पूरबी मेवाड़ा और उत्तरी मालवा, मन्दसौर, नींबाहेड़ा—आदि में मेवाड़ वालों की सहायता से शान्ति स्थापित हुई और अंगरेजों की बहुत सी नयी कुमुक बम्बई गुजरात से आ पहुँची।

क्रान्ति के नेताओं ने विद्रोह को उभार तो दिया था, पर युद्ध की कोई पूरी या निश्चित योजना या सैन्य संचालन के लिए किसी पूर्व-व्यवस्था या तैयारी करने की आवश्यकता पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया था। वे शायद अंगरेजी ढग से कवायद सीखे और उनके शास्त्रास्त्रों से लैस सेनाओं का होना ही युद्ध में यूरपी शैली की सफलता का रहस्य समझते थे। इस नयी शैली की मुख्य विशेषता तो, युद्ध के संचालन में एक योजनानुसार कार्य करना होती थी, इस रहस्य को वे तब न देख पाये

थे। नेतृत्व के विषय में, उनमें और उस युग की साधारण भारतीय जनता में, यह अन्धविश्वास गहरा बैठा हुआ था कि किसी राजवंशी या अभिजात कुल का होना नेतृत्व के लिए अनिवार्य और एकमात्र आवश्यक गुण है। किसी साधारण या गरीब कुल में जन्मा आदमी भी नेतृत्व या सैन्य-संचालन की योग्यता रख सकता है, यह बात लोगों को तब समझ ही नहीं आती थी और इसका तो उन्हें कभी भान ही न हुआ था कि सेनापतित्व के लिए भी किसी शिक्षा या साधना-विशेष की जरूरत होती है। इसलिए संख्या में सिपाहियों की मात्रा अधिक रहने और उनमें से प्रत्येक के असाधारण देशभक्ति वीरता और आश्चर्यजनक साहस प्रदर्शन करने पर भी, संख्या में अपने से थोड़ी, पर सधे हुए अंगरेज सेनानायकों द्वारा संचालित दुश्मन की फौजों के आगे उन्हें प्रायः सब जगह अन्त में हारें खानी पड़ीं।

क्रान्तिकारी तब यदि इस तरह के अन्धविश्वास में न फँस, पहले से नेतृत्व की भी चिन्ता रखते, या विद्रोह करने के बाद अपने में से ही किसी योग्य नेता को चुन अपने-अपने इलाकों और मोरचों की रक्षा के लिए पूर्वनिर्धारित योजनाओं के साथ डट जाते, सबके सब उच्चकुलीन नेतृत्व की तलाश में दिल्ली या कानपुर की तरफ न चल पड़ते और अपने चुने हुए सेनापतियों के नेतृत्व में संचालन का सारा अधिकार विश्वासपूर्वक सौंप उनके आदेशों पर विनय (डिसिप्लिन) में स्थित रहकर कार्य करने को उद्यत रहते तो निश्चय से उस युद्ध का परिणाम कुछ और ही निकलता।

तो भी क्रान्ति के नेता सच्चे हृदय से अपने देश की आजादी चाहते थे। बहादुरशाह ने जब यह अनुभव किया कि सिर्फ नेतृत्व की कमी से युद्ध की सफलता संदिग्ध होती जा रही है और नेतृत्व करने का सामर्थ्य उसमें नहीं है, तब उसने इसके लिए अपने साम्राज्य के पुराने सामन्त राजपूत राजाओं जोधपुर जयपुर उदयपुर बीकानेर आदि

को एक पत्र द्वारा उस युद्ध के लिए आह्वान करते हुए लिखा —

"मेरी यह तीव्र इच्छा है कि चाहे जो मूल्य देना पड़े, फिरंगी को हर उपाय से, हिन्दुस्तान से भगा दिया गया देखूँ।...भारत स्वतन्त्र हो जाय। स्वाधीनता के इस क्रान्तियुद्ध (जिहाद) में विजयमाला तभी प्राप्त होगी जब कोई ऐसा व्यक्ति मैदान में आवे, जो राष्ट्र की विभिन्न शक्तियों को संघटित कर एक ओर लगा सके, सारे आन्दोलन का दायित्व और सञ्चालन सम्हाल ले, जो समूचे राष्ट्र के जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करे। अंगरेजों के निकाले जाने के बाद अपने निजी लाभ के लिए शासन करने की इच्छा मेरी तनिक भी नहीं। यदि आप राजा लोग शत्रु को भगा देने के लिए अपनी तलवारें उठाकर आगे आने को तैयार हों तो मैं अपने तमाम शाही अख्त्यारात...किसी ऐसे संघ या पंचायत के हाथ में सौंप दूँगा, जो इस काम के लिए चुना जाय।"*

किन्तु राजपूतों का नैतिक बल प्रायः समाप्त था। राजपूताने के एक भूतपूर्व एजेंट-जनरल सर हेनरी लारेन्स ने उनके विषय में १८५४ में ही लिखा था कि "वे एक अफीमचियों की जाति हैं। कर्नल टाड का चित्र उनकी आज की दशा पर एक व्यंग मात्र है। उनमें न सच है, न ईमानदारी और न कोई बहादुरी। हर राज का यही हाल है।" और दरअसल कर्नल टाड ने भी उनकी प्रशंसा के गीत इसलिए गाये थे कि अंगरेजों को उन्हें मराठों और मुसलमानों के विरुद्ध फोड़ना और अपने पक्ष में लेना अभीष्ट था। अंगरेजों की उस खुशामद से फूल कर

---

* श्रीविनायक दामोदर सावरकर द्वारा अपने ग्रन्थ "१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर," (पूना, सं० २००३ वि०) में ३२२-२३ पर उद्धृत सर चार्ल्स मेटकाफ कृत 'दि नेटिव नैरेटिव' पृ० २२६ पर दिये गये सम्राट के हस्ताक्षरों समेत पत्र का अनुवाद।

राजपूतों का एक तरफ तो अपने को अत्यन्त अभिजात तथा अपने दूसरे देशवासियों को अपने मुकाबले में हेच समझने का पुराना रोग अब बहुत बढ़ चुका था। दूसरे, अन्दर ही अन्दर अपनी क्षीणता के कारण राजपूत राजा यह भी समझते थे, कि अंगरेजों की ही वजह से उनकी वर्तमान पद प्रतिष्ठा बची थी, अन्यथा जनता और दूसरी उठती हुई शक्तियों ने उन्हें कब का उखाड़ फेंका होता; अतः वे अंगरेजी राज को, बावजूद उससे मिली अनेक अवमाननाओं के, अब अपने लिए वरदान मानने लगे थे। फिर क्रान्तिकारियों का नेता या तो मुगल बादशाह था और या मराठा पेशवा। राजपूत राजाओं को कुछ ही समय पहले टाड जैसे अंगरेज गुरुओं ने उन दोनों के खिलाफ पढ़ाया था, और मराठों के चंगुल से त्राण पाने को ही इन राजाओं ने अंगरेज कम्पनी के अचल में मुंह छिपाये थे। टाड की शिक्षा का प्रभाव १८५७ तक काफी हो चुका था—वह बाद में बढ़ता ही गया, आज तक भी नहीं मिटा—अतः राजपूत राजाओं ने अंगरेज मालिकों के प्रति वफादार बने रहना अपना परम कर्तव्य माना।

तो भी, जैसा कि कहा जा चुका है, राजस्थान की जनता में विद्रोहियों के प्रति काफी सहानुभूति थी। उदयपुर जयपुर जोधपुर के बाजारों में अंगरेजों की तरफ मिलकर क्रान्ति के विरुद्ध लड़ने वाले हिन्दुस्तानियों को रोज सैकड़ों गालियां दी जातीं और लोग क्रान्ति की सफलता के लिए रोज शुभकामनाएँ करते थे। अधिकांश लोग अपने राजाओं के प्रति भक्ति रखने के कारण यद्यपि स्वयं खुलकर न उठे थे, पर जब कभी उन्हें मौका मिला वे अपनी सहानुभूति उनके प्रति प्रकट करने और अपना सक्रिय सहयोग उन्हें देने से कभी न चूके। नीमच नसीराबाद की फौजों ने जाकर जब आगरा घेर लिया तो भरतपुर के राजा ने अपनी सेना अंगरेजों की मदद के लिए उनके विरुद्ध भेजी। पर सैनिकों ने साफ उत्तर दिया कि "हम खुद विद्रोह न करेंगे, क्योंकि

हमारे राजा का हुक्म नहीं है, पर अपने भाइयों पर गोली हर्गिज़ न चलायेंगे।" यही बरताव जोधपुर, जयपुर और उदयपुर आदि की सेनाओं ने भी अनेक बार दुहराया था।

§ ६. रानी लक्ष्मीबाई और तांत्याटोपे का स्वाधीनता की ज्योति जागती रखने का अन्तिम प्रयास

मार्च १८५८ तक क्रान्ति के सभी मुख्य केन्द्र दिल्ली कानपुर लखनऊ आदि जब गिर गये और अंगरेजो ने पंजाब और बनारस से बढ़कर समूचा गंगा-जमना-दोआब और अवध का पूरवी आंचल भी फिर से दबा लिया, तब क्रान्तिकारियों के दो दल बन गये। मुख्य दल नानासाहब पेशवा अजीमुल्ला और अवध की बेगम के नेतृत्व में छापामार युद्धों द्वारा अवध रुहेलखण्ड में अंगरेजो के पांव जमने न देने का जतन करता रहा। दूसरे दल ने नानासाहब के भाई रावसाहब बालासाहब को उसका प्रतिनिधि बना, तांत्याटोपे और रानी झांसी के नेतृत्व में जमना के दक्खिन कालपी में अपना एक केन्द्र बना लिया था जहां से वह बुन्देलखण्ड राजस्थान और महाराष्ट्र तक युद्ध जारी रखने की चेष्टा कर रहा था।

अंगरेजों का नया सेनापति सर ह्यू रोज़ बम्बई से इस दूसरे दल के खिलाफ एक बड़ी सेना लेकर चला आ रहा था और इन्दौर के राजा ने अपनी प्रजा और सेना के साथ विश्वासघात कर किस तरह उसका साथ दिया था, सो कह चुके हैं। दिसम्बर १८५७ तक ह्यू रोज़ मऊ में ठहर अपनी सैनिक तैयारी करता रहा। भोपाल के नवाब और हैदराबाद के शासकों ने भी अपनी प्रजा के विरुद्ध अंगरेजों का साथ दिया और अपनी फौजें सर ह्यू की सहायता को भेज दीं। निजाम की गद्दारी से मद्रास की सेनाएँ भी उनसे आकर मिल गईं। सर ह्यू ने अब अपनी सेना को दो भागों में बांटा; एक जबलपुर से बुन्देलखण्ड में बांदा के नवाब के, जो पेशवा बाजीराव १म के उसकी पासवान मस्तानी

बेगम से उत्पन्न लड़के का वंशधर था और पानीपत युद्ध से १८५७ तक किये गये प्रत्येक राष्ट्रीय संघर्ष में बराबर मराठों का साथ देता आया था, विरुद्ध भेजी गयी और दूसरी को अपने साथ ले कर वह चन्देरी के रास्ते विद्रोहियों के केन्द्र झांसी और कालपी की तरफ बढ़ा।

रानी लक्ष्मीबाई ने झांसी के चारों तरफ दूर दूर तक का प्रदेश उजाड़ दिया था कि अंगरेजों को कहीं घास-दाना या आश्रय न मिल सके। पर गवालियर, इन्दौर ओरछा आदि के राजाओं की मदद से ह्यू रोज़ की सेना सब बाधाओं को पार करती झांसी आ पहुँची (२० मार्च १८५८)। रानी ने १०—१२ दिन तक बड़ी वीरता और साहस से झांसी की रक्षा की, पर एक देशद्रोही द्वारा किले का फाटक खोल दिया जाने पर ३ अप्रैल १८५८ को नगर और दुर्ग पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। रानी अपने चुने हुए कुछ साथियों समेत अपने दत्तक पुत्र को अपनी पीठ पर बांधे अंगरेजी छावनी के बीचोंबीच हो कर, निकल गयी। एक अंगरेज कर्नल ने कुछ घुड़सवार ले उसका पीछा करने का जतन किया। पर स्वयं रानी के हाथों घायल हो, उसे लौट जाना पड़ा। एक दिन और डेढ़ रात लगातार घोड़े का सफर करती हुई लक्ष्मीबाई झांसी से १०२ मील की दूरी पार कर कालपी पहुँची। उसकी यह यात्रा पूरी करा कर उसका विश्वस्त घोड़ा चल बसा। उधर बांदा का नवाब भी अपना प्रदेश गवाँ कर वहीं आ पहुँचा।

क्रान्तिकारी कालपी की रक्षा की तैयारी में लगे। पर सारी सेना का नेतृत्व कौन करे इस बीच में उनका पूरा डेढ़ महीना निकल गया। तांत्या और लक्ष्मीबाई सेना संचालन में सबसे कुशल साबित हो चुके थे पर तांत्या एक साधारण कुल का आदमी था और लक्ष्मी एक स्त्री, वह भी सिर्फ २२ साल की लड़की। अतः रावसाहब के पास इकट्ठे हुए दूसरे नवाब जागीरदार राजपूत मराठा और पठान सरदार उनका कहना मानने को तैयार न थे। ऐसी दशा में पराजय निश्चित समझ तांत्या किसी दूसरे सुरक्षित केन्द्र की तलाश में गुप्त रूप से गवालियर पहुँचा। जयाजी-

राव शिन्दे अपने दीवान दिनकरराव के बहकाने में आ देशद्रोह कर रहा था, पर तांत्या ने सेना पुलिस राजकर्मचारियों और प्रजा के सभी मुख्य नेताओं को चुपचाप अपने पक्ष में कर लिया। कालपी की रक्षा रानी लक्ष्मीबाई बड़ी वीरता और तत्परता से करती रही। ह्यू रोज़ ने डेढ़ महीने की तैयारी के बाद कालपी पर भी धावा किया। लक्ष्मी ने उसका जवाब दिया। पर सेना में अनुशासन की कमी और अंग़रेजों के सधे हुए ऊंट-रिसालों और तापखाने के आगे कालपी अधिक काल तक बचायी न जा सकी। क्रान्तिकारियों की महीनों से सञ्चित रसद युद्ध सामग्री और शस्त्रास्त्र बनाने के कारखाने यंत्र आदि सब अंगरेजों के हाथ लगे (२४ मई १८५८)। पर क्रान्ति के नेता निकल आये।

इस लड़ाई में काम करने वाला ऊंट-रिसाला बीकानेर-जैसलमेर का था। इसने १८३८–४० की अफ़गानिस्तान चढ़ाई में भी भाग लिया था। १८५७–५८ की इनकी इस कारगुजारी के पुरस्कार रूप में कई भाटी सरदारों को बुन्देलखण्ड में जागीरें मिलीं।

अंगरेजों ने समझा था कि कालपी के पतन के बाद कम से कम जमना नर्मदा के बीच तो शान्ति स्थापित हो जायगी और वे सब छुट्टी मना सकेंगे। पर तांत्याटोपे के रावसाहब, और झांसी की रानी को ले कर गवालियर पर चढ़ जाने के समाचार उन्हें मिले। रावसाहब ने शिन्दे को पेशवा के प्रतिनिधि की हैसियत से अपने पुराने सम्बन्धों की याद दिलाई, मित्रता का सन्देश भेजा और अपने पुराने मालिक के झडे तले आने और उसका साथ दे महाराष्ट्र पर चढ़ाई कर उसे गुलामी के फन्दे से छुड़ाने के लिए निमंत्रित किया। जवाब में जियाजी और दिनकर राव सामने आये; पर लक्ष्मीबाई के पराक्रम के सामने उनकी एक न चली। तांत्या के जादू से उनकी सेना प्रजा और दरबारियों ने, पेशवा का प्रतिनिधि होने से रावसाहब का स्वागत किया। जियाजी राव और उसका वह दीवान भागकर आगरे अंगरेजों के पास चले गये।

तांत्याने अब रावासाहब को नाना साहब के अभाव में बाकायदा

पेशवा पद पर अभिषिक्त कर सम्पूर्ण राजस्थान और महाराष्ट्र के पेशवा के पुराने जागीरदारों और सामन्तों को, उसके झण्डे तले आ कर, मातृ-भूमि को अंगरेजी गुलामी से छुटकारा कराने में मददगार बनने के लिए अपील की। रानी लक्ष्मीबाई इसके बाद तुरत युद्ध की तैयारी में लग जाने का आग्रह करती रही, पर रावसाहब ने अपने पेशवा बनने की खुशियां मनाने में ही १६–१७ दिन बिता दिये। उधर सेनापति ह्यू रोज़ ने देखा कि यदि थोड़े दिन भी क्रान्तिकारी गवालियर में जम गये, तो सारे राजस्थान और महाराष्ट्र में आग सुलग जायगी। अतः वह अपनी छुट्टी का कार्यक्रम रद्द कर तुरत कालपी से गवालियर चढ़ गया। जियाजीराव शिन्दे उसके साथ था। ह्यू रोज़ ने घोषणा की कि अंगरेज सिर्फ शिन्दे को राज दिलाने के लिए लड़ रहे हैं। गवालियर की राजभक्त प्रजा इससे संशय में पड़ गयी। विद्रोही दल में भी गड़बड़ी मची और रावसाहब बांदा का नवाब आदि सब नेता घबरा गये। पर एक लक्ष्मी-बाई अविचल थी। उसने सबको धीरज बंधा किले के मुख्य पूरबी द्वार की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और सब लोगों को अपना अपना कर्तव्य पालन करने का आदेश दिया। सेनापति तांत्या मुरार की तरफ अंगरेजों का मुकाबला करने को भेजा गया। लक्ष्मी ने दो दिन तक अंगरेजी आक्रमण का मुकाबला बड़ी वीरता से किया। पहले दिन अंग-रेज सेनापति स्मिथ को उसके असाधारण पराक्रम और रणकौशल के सामने पीछे हट जाना पड़ा। तब सर ह्यू रोज स्वय अगले दिन उसके मुकाबले पर आया।

बड़ी विकट लड़ाई हुई। अंगरेजों की सधी सधाई सेना के सम्मुख क्रान्तिकारी टिक न सके। लक्ष्मीबाई की सारी सेना धीरे धीरे कट गई। अंगरेजों के बीकानेरी और ऊंट सवारों के दलों के सामने उसकी रक्षा की अन्तिम पंक्ति भी टूट गयी और लक्ष्मी अपने १४–१५ सवारों के साथ चारों तरफ शत्रु से घिर गयी। वह इनकी कतारें काट अपनी सेना

के दूसरे पासे जाने लगी। अंगरेजों ने उसका पीछा किया। उसकी एक सखी मन्दार एक गोरे की गोली खा कर गिर गई, लक्ष्मी उसकी आवाज सुन पीछे मुड़ी और उस गोरे पर बिजली की तरह टूटी; उसे दो में काट फेंका। वह तब अकेली उनकी पांतों को बीच से चीरती हुई निकल गयी। पर आगे अचानक एक नाला था। लक्ष्मी के पास, राणाप्रताप के चेतक की तरह, उस दिन कोई अपना घोड़ा न था। उसका प्यारा घोड़ा उसे झांसी से कालपी पहुँचा कर मर गया था और कालपी के बाद यहां तक वह जिस घोड़े की पीठ पर चढ़ कर आयी थी, वह भी दुर्भाग्य से उस दिन सुबह कुछ थका सा होने से रानी एक नये घोड़े पर सवार थी। पर उसे शायद अपने सवार के प्रति उतनी ममता न थी। नाला पार करने के बजाय घोड़ा उसी के किनारे चक्कर काटने लगा, इतने में शत्रु ने लक्ष्मी को घेर लिया। वह अकेली उन अनेक सवारों से जूझने लगी। एक गोरे ने पीछे से अपनी तलवार का पूरा वार किया। लक्ष्मी का कपाल दायीं आंख तक कट गया और उसकी वह आंख लटकने लगी। दूसरा वार उसके वक्ष पर हुआ। पर लक्ष्मी ने गिरते गिरते आक्रमणकारी के टुकड़े कर दिये। तब लक्ष्मी के घायल शरीर को उठाकर उसके एक अनुचर ने पास की एक झोंपड़ी में पहुँचाया। झोंपड़ी के मालिक बाबा गंगाराम ने उसे ठण्डा जल पिलाया और बिस्तरे पर लिटा दिया। लक्ष्मी के प्राण सुख से निकले। उसकी चिता वहीं गंगाराम की झोंपड़ी के पास दरवाजे के सामने जलाई गयी (१८ जून १८५८)।

सेनापति तात्याटोपे रावसाहब नवाब बांदा आदि क्रान्ति के नेताओं समेत गवालियर से भी बच कर निकल गया। उसका लक्ष अब राजस्थान के बनपर्वतों और दुर्गों के आश्रय ले वहां की अनेकों रियासतों में बेकाम पड़ी सेना को अपनी तरफ खींच और उन रियासतों के आर्थिक साधनों का, सदुपयोग कर आजादी की लड़ाई की ज्वाला को

जहां तक बन पड़े जल्दी रखना और अवसर मिलते ही नर्मदा पार कर महाराष्ट्र में पहुँच, उसे ब्रिटिश आधिपत्य के विरुद्ध उठाना, और पेशवा के ध्वज के नीचे फिर से एकत्र करने का था। गवालियर से १९ जून को गायब हो वह २२ को एकाएक जावरा के पास प्रकट हुआ। अंगरेजी सेनाएँ राजस्थान में चारों तरफ उसका घेरा करने को तैनात थीं। अतः वहां अंगरेजों से हारने के बाद वह राजस्थान छोड़ ब्रज में घुसा पर भरतपुर में भी अंगरेज छावनी पड़ी थीं, अतः फिर जयपुर की तरफ मुड़ गया। गवालियर की तरह जयपुर की भी जनता और राज दरबार की राजा के विरुद्ध विद्रोह कर, भीतर ही भीतर उसका स्वागत करने को तैयार थे। पर अंगरेजों के कान में इसकी भनक पड़ गयी और अंगरेजी सेना नासीराबाद से एकाएक जयपुर आ पहुँची। जयपुर के राजा ने संभवतः गुप्त रूप से चौथ के नाम पर कुछ धन राव साहब के पास भिजवाया।

तब तांत्या एकाएक टोंक पर जा धमका। नवाब किले में बन्द होकर बैठ गया, पर सेना और तोपखाना, जो उसके मुकाबले को भेजा गया, उसे तांत्या के चुम्बक ने अपनी तरफ खींच लिया। उन्हें साथ में ले तांत्या चम्बल पार कर फिर दक्खिन जाने को इन्दरगढ़ की ओर बढ़ा, पर आगे चम्बल में जल का पूर था और बरसात खूब बरस रही थी। तांत्या बून्दी की तरफ मुड़ा, बूंदी से उसने २ लाख रुपया चौथ मांगी, राजा और सरदारों ने कहलाया कि अंगरेज चक्रवर्ती हैं चौथ हमें उन्हें देनी पड़ती है तुम देश उनसे जीतो तो, तुम्हें चौथ दे देंगे। अन्त में दोनों दलों में लड़ाई हुई। बूंदी की मराठा फौज लड़ाई का छोटा सा नाटक कर तितर-बितर हो गयी। राजा भागा। क्रांतिकारियों ने नगर और महल पर कब्जा कर खज़ाने से चार-पांच लाख रुपया नकद तथा रसद शस्त्रास्त्र आदि ले राजा के शिशु को गद्दी पर बिठा, बूंदी छोड़ दी।* वहां से तांत्या जहाजपुर होता हुआ भीलवाड़ा आ कर ठहरा,

*दे० विष्णुभट्ट गोडशे कृत माझा प्रवास नामक मराठी ग्रन्थ का

(ता० ७ अगस्त १८५८)। नीमच का अंगरेज सेनाध्यक्ष कप्तान राबर्टस्, जिसे राणा ने १८५७ में अपने यहां शरण दी थीं, अब मैदान में आया, सहाड़े की तरफ से उसके भीलवाड़ा बढ़ने पर, तांत्या कोठार्या निकल गया और वहां से नाथद्वारा में दर्शन करने पहुँचा (१३ अगस्त)। उसी रोज आधी रात को नाथद्वारा से दर्शन कर जब वह कोठार्या लौटा तो खबर मिली कि पीछा करने वाली अंगरेजी फौज भी वापस आ गयीं हैं। तांत्या वहां से रातोंरात प्रयाण करना चाहता था, लेकिन सेना बेहद थकी थी, अतः१४अगस्त को कोठार्या में उसका राबर्ट्स से मुलाकात हुआ। सेना तितर बितर हो गयी और तोपें अंगरेजों के हाथ लगीं। पर तांत्या का मार्ग रोका न जा सका। अब तीन सेनापति प्रयत्न करने लगे कि वह मेवाड़ से चम्बल पार कर निकलने न पाये। पर तांत्या दो को छकता और एक को हराता हुआ रामपुरा से चम्बल पार कर एकाएक झालरापाटण जा पहुँचा। राजा अगरेज भक्त था, पर प्रजा और सेना तांत्या के चुम्बक से खिंची चली आयी, तब राजा को भी अपनी जान बचाने को १५ लाख रुपया और ३२ तोपें दण्ड स्वरूप तांत्या को समर्पित करनी पड़ीं। वह खजाना उसने अपने सैनिकों में बांट उन्हें मन्त्र दिया—"अब सीधे इन्दौर"; जहां की जनता सारी उसके पक्ष में थी और होलकर का कर्तव्य था कि अपने मालिक पेशवा की सहायता करे, चाहे दिल से, चाहे मजबूर हो कर।

अंगरेजी सेना बड़ी परेशानी से चारों तरफ दौड़ने लगी। छः सेनापति इन्दौर की रक्षा और तांत्या को नर्मदा तट से दूर रखने का प्रयत्न

अमृतलाल नागर कृत 'मेरा प्रवास' नाम से हिन्दी अनुवाद, शारदा प्रकाशन बनारस सं २००५ वि०, पृ० १४२-१४४। अंगरेजों को सन्देह था कि बूंदी के राजा ने जान बूझ कर यह नाटक रचा था दर असल वह भीतर ही भीतर गदर वालों से मिला था।

करने लगे। तांत्या एकाएक राजगढ़ पहुँच गया। एक अंगरेजी सेना तब उसका मुकाबला करने को बढ़ी, वह जब राजगढ़ के पहाड़ों पर एक तरफ से चढ़ कर ऊपर पहुँच रही थी तभी तांत्या अपनी सेना समेत उसके पास से होकर नीचे उतर रहा था। पर अंगरेजी सैनिक थक कर चूर थे अतः उसे छोड़ने का साहस न कर सके। अगले रोज उन्होंने तांत्या को एक पड़ाव पर जा पकड़ा। तांत्या के पास तब ५ हजार सेना और ३२ तोपें थीं, उधर अंगरेजों की सेना में कुल एक हजार सैनिक थे। लेकिन तांत्या के लिए अब एक एक आदमी का मूल्य था। वह यदि सारी की सारी अंगरेजी टुकड़ी काट डालता तोभी अंगरेजों का कुछ अधिक बिगाड़ने वाला न था। दूसरी तरफ तांत्या का जो नुकसान होता वह कभी भरने वाला नहीं था। अतः तांत्या लोभ संवरण कर, तोपें अंगरेजों के लिए छोड़, मैदान से क्रमशः पीछे हटता हुआ बेतवा के जंगलों में अन्तर्धान हो गया। उसका लक्ष अब नागपुर था। जंगल के परले छोर पर उसे चार नयी तोपें मिलीं। उसने शिन्दे के ईसागढ़ कस्बे पर, जो जिले का भी एक केन्द्र था, चढ़ाई कर बहुत सी रसद सामान और रुपया पैसा लूट लिया। पर उसका लक्ष्य नर्मदा अब काफी दूर छूट चुका था। अंगरेजों को चक्कर देने के लिए वह कुछ दूर उत्तर की तरफ लौट जाने का नाटक करता दिखायी दिया, मानों नर्मदा पार जाने का इरादा उसने अब छोड़ दिया हो। पीछा करने वाली अंगरेजी सेनाएँ भी उत्तर आ गईं और ललितपुर के आस पास उसे घेर लेने का जतन करने लगी। तब तांत्या सहसा उनका घेरा तोड़ दक्खिन झपटा और राजगढ़ में एक अंगरेजी सेना को परास्त कर होशंगाबाद के पास, एकाएक नर्मदा पार हो गया। उसके इस अद्‌भुत रण कौशल को देख तब तब दुनियां भर के सेनापतियों और युद्ध विशारदों ने दांतों तले अंगुली दबाई।

तांत्या नागपुर जा पहुँचा। उसे आशा थी कि महाराष्ट्र, पेशवा का झण्डा देखते ही, समूचा उठ खड़ा होगा। यदि वह कुछ समय पहले

पहुँचता तो शायद उसका कुछ स्वागत होता भी, अब तो वहां श्मशान की शान्ति हो चुकी थी, क्रान्ति की सब सुरंगें अंगरेजो ने अलग अलग करके फोड़ दी थीं। अतः पेशवा के प्रतिनिधि और सेनापति के पहुँच ने पर भी वहां कोई हलचल दिखायी न दी। मराठा सरदार बिलकुल बरफ की तरह ठण्डे पड़े थे; उसी दशा में वे लोग अपने महान् नेताओं की हलचलों को देखते भर रहे। तांत्या और रावसाहब पेशवा दोनों तब निराश हो कर वापस राजस्थान के ही जंगलों और बीहड़ पर्वतों की शरण लेने को लौट पड़े, जहां और कुछ नहीं तो जनता तो उनसे सहानुभूति दिखाती थी और छोटे छोटे राज्यों और जागीरदारों से सेना और शस्त्रास्त्र सामग्री की मदद भी आसानी से मिल जाती थी। वे अब जहां तक बन पड़े आजादी की मशाल जलाये रखने का निश्चय किये थे।

तांत्या ने नागपुर से नर्मदा के बांये बांये दूर तक जा कर एकाएक उसे फिर से लांघ बड़ौदा पहुँचने की कोशिश की। पर एक अंगरेज सेना से उसे हारना पड़ा और उस मराठा रियासत में भी वह न घुस सका। तब वह बागड़ के रास्ते राजस्थान लौट आया। उसका लक्ष्य अबके उदयपुर था। पर चारों ओर से अंगरेजी सेनाएँ मेवाड़ बागड़ के जंगलों में उसका शिकार खेलने को घिर आयीं। बांदा के नवाब ने जो अब तक बराबर उसके साथ था, थक आत्म समर्पण कर दिया।

तभी अवध से मुगल शाहजादा फीरोज एक सैनिक टुकड़ी और शिन्दे के एक विद्रोही राजपूत सरदार मानसिंह को साथ ले कर तांत्या की सहायता को राजस्थान आ रहा था। बागड़ से निकल तांत्या उससे मिलने इन्द्रगढ़ (बून्दी के पूरब) गया। पर अंगरेजी सेनाओं के वहां भी घेरा डाल देने पर वह उन्हें चकमा दे फीरोज समेत देवास निकल आया। वहां शत्रु ने तांत्या फीरोज और रावसाहब को पेशवा को पूरी तरह घेर लिया। वे उनके शिविर के भीतर जा पहुँचे। पर क्रान्ति के तीनों नेता आश्चर्य जनक ढंग से निकल भागे। अंगरेजों ने अबके उन्हें सीकर में जा घेरा। एक संघर्ष में सेनापति होम्स ने उनकी

रही सही शक्ति भी नष्ट कर दी। रावसाहब पेशवा और तांत्या तब कुछ निश्चय कर अपने साथियों से अलग हुए।

तांत्या सीकर से अपने विद्रोही साथी राजपूत सरदार मानसिंह के पास जो तब पैरोन के जंगलों में छिपा था, रहने को चला गया। लेकिन मानसिंह भी अब अंगरेजों से क्षमा पाने का कोई उपाय ढूंढ़ रहा था। उसने गुप चुप तांत्या के अपने यहां पहुँचने की खबर अंगरेजों को देदी। तांत्या से उसने अपने अंगरेजों से क्षमा पा जाने की बात भी कही। तांत्या ने पूछा तुम्हें यदि मेरे रहने से खतरा हो तो मैं चला जाऊँ, पर उसने कहा नहीं, इसकी जरूरत नहीं, तुम मेरे आदमी द्वारा बताये स्थान पर छिपे रहो, मैं तीन दिन में अंगरेज छावनी से सब स्थिर करके अवश्य लौट आऊँगा। उसके बाद जैसा भी होगा देखेंगे। पर अंगरेजी छावनी से वह अंगरेज सैनिकों का एक दस्ता अपने साथ परौन के जंगल में लिवाता लाया और आधी रात को जब आजादी का वह शेर उस पर भरोसा कर, उसके आदमी के बताये स्थान पर आश्वस्त भाव से सो रहा था, उसने उसे इन शिकारियों के पिंजरे में फंसा दिया। इस घृणित नरविक्रय का इनाम अंगरेजों ने मानसिंह को नरवर की जागीर शिन्दे से वापस दिलायी।

तांत्या पैरोन के जंगल से पकड़ कर सीप्री ले जाया गया। अंगरेजों ने न्याय का ढोंग रच उसे फांसी की सजा सुनायी। तांत्या ने उनके उस नाटक में भाग लेने से शुरू में ही इनकार कर दिया। उसने कहा "मैं अंगरेजों के विरुद्ध लड़ा हूँ और जानता हूँ कि मुझे मरने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। तुम्हारे न्याय विचार से मुझे कोई वास्ता नहीं। "मैं पेशवा नानासाहब का सेवक हूँ। मैंने जो कुछ किया अपने स्वामी की आज्ञा से।···प्रत्यक्ष युद्ध के अतिरिक्त किसी आदमी की हत्या मैंने नहीं की, न किसी को क्रूरता से फांसी दी; बस, तुम्हारी न्याय समिति के कार्य से मुझे कोई दिलचस्पी नहीं।"

१८ अप्रैल १८६० को जब उसे फांसी के खंभे पर ले जाया गया तो

उसने बड़ी शान्ति और शान के साथ वह अन्तिम यात्रा की; वधिक को उसने अपने हाथ न बांधने दिये, उसे एक ओर हटा फन्दा स्वयं गले में कसा और शान्ति के साथ फांसी पर स्वयं ही झूल गया।

लोगों पर रौब गांठने की गरज से अंगरेज उसकी लाश वहीं लटकती छोड़ चले गये, तब आस पास की सैकड़ों जनता ने आ कर उस वीर की लाश के अन्तिम दर्शन किये, और अपने उस महान नेता के चरणों में श्रद्धांजली अर्पित की। भीड़ को चीर कर अनेक गोरे भी वहां पहुँचे और उसके सिर के बालों के गुच्छों के लिए आपस में ठेला ठेली करते रहे।

रावसाहब पेशवा और शाहजादा फीरोज इसके बाद भी एक महीने तक राजस्थान में रह संघर्ष चलाते रहे। रावसाहब अन्त में तीन वर्ष बाद एक संन्यासी के वेश में कानपुर में पकड़ा और फांसी चढ़ा दिया गया; शाहजादा फीरोज भारत से निकल गया।

---

§ ७. गुलामी की पिनक

१८५७ का स्वाधीनता युद्ध इस प्रकार असफल रहा। अंगरेजों ने भारत के बादशाह बहादुरशाह को, जिसने देश के सच्चे सम्राट होने के नाते उस युद्ध में अपनी जनता की मांग पर उसका नेतृत्व करने का साहस किया था, गद्दी से हटा भारतीयों के अपने राज्य का वह अन्तिम चिह्न भी मिटा दिया और देश का शासन अब सीधा ब्रिटिश ताज द्वारा अपने अधिकार में ले लेने की घोषणा की। अंगरेजों के टुकड़ों पर पलने वाले भारत के राष्ट्रीयता भ्रष्ट लोगों ने, जो प्रायः अंगरेजी पढ़े लिखे, अंगरेजों के अमले मुनीम गुमाश्ते या निहित स्वार्थों वाले उच्च वर्गों में से थे और अपने स्वार्थों को बचाने के लिए जनता की स्पष्टमांग के बाव-

जूद गुप्त या प्रकट रूप से अंगरेजों का साथ देते रहे थे, अब जनता में यह भ्रम फैलाना भी आरम्भ किया कि कम्पनी का अन्यायी शासन हट जाने और अंगरेज महारानी का सीधा शासन स्थापित हो जाने से भारत में अब रामराज आ गया। इस प्रकार जनता की प्रबुद्ध राष्ट्रीय चेतना और विदेशी शासन के विरुद्ध जगी भावनाओं को राजभक्ति के इस आभास और भावी ब्रिटिश सुशासन के वायदों की अफीम देकर सुला देने का जतन किया गया। राजस्थान के राज्यों के सभी शासकों ने इस आत्म प्रवंचना द्वारा काम चलाया।

यदि देखा जाय तो इस युद्ध की विफलता का दायित्व मुख्य रूप से इन राजा महाराजाओं और राजस्थानी उच्च शासक वर्ग के ही मत्थे था, जिन्हें यहां की जनता ने राष्ट्रीय नेताओं के रूप में आगे बढ़ाया था, और जिनकी ईमानदारी आत्मबलिदान की भावना और नेतृत्व शक्ति पर विश्वास कर उसने अपने सारे राजनीतिक और आर्थिक साधनों और अधिकारों को एक पवित्र थाती के रूप में उन्हें सौंप दिया था; और जिनका अनुगमन करने की वह आदी हो चुकी थी। किन्तु नागभट, बापा, हम्मीर, प्रताप, चूण्डा, बीका, चन्द्रसिंह, राजसिंह, दुर्गादास, सवाई जयसिंह, महादजी, मल्हार, अहल्याबाई और जसवन्तराव जैसे नेताओं की परम्परा अब समाप्त हो चुकी थी, जो स्वयं आगे बढ़कर जनता को स्वाधीनता संघर्षों के लिए नेतृत्व दिया करते थे। उनके वंशधरों ने अब इसके विपरीत स्वयं गुलामी की राह पकड़ी थी और जनता जब अपनी आजादी के लिए स्वयं जीवन मरण का संघर्ष करने को प्रस्तुत थी और उन्हें नेतृत्व करने को बुला रही थी तब उन्होंने न सिर्फ आगे बढ़ने का साहस न किया, बल्कि जनता से विश्वासघात कर उसके द्वारा सौंपे गये विशेषाधिकारों तथा देश के तमाम राजनीतिक आर्थिक साधनों की नियन्त्रणा की थाती को अपनी बपौती बना हड़प जाने के लिए देश के शत्रु से हाथ मिलाया।

राजस्थान का राजकीय इतिहास इस प्रकार अब समाप्त हुआ। राजा महाराजा नाम को बने रहे, पर अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रतीक या भारत के किसी राष्ट्रीय साम्राज्य के अंग या स्तम्भ बन कर नहीं प्रत्युत विदेशी के हाथ में कठपुतली बनकर, उसके उपग्रहों के रूप में। राजस्थान के राजवंशों के इतिहास में इसके बाद जो कुछ भी घटित हुआ उसे हम गुलामी की पिनक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कह सकते।

१८५७ का स्वाधीनता युद्ध सफल न हुआ, तो भी अंगरेजों को उसके कारण कुछ समय के लिये भारतीयों के साथ अपना बरताव बदलना पड़ा। उन्होंने देखा देसी राज्यों को उखाड़ने पर जनता की राष्ट्रीय भावना जगती है, जिसके उठाने का सारा वेग उन्हें स्वयं सीधे झेलना पड़ता है, किन्तु उन्हें बनाये रक्खें तो जनता की उठती हुई राष्ट्रीयता के मुकाबले में वे ढाल का काम बखूबी देते हैं। अतः राजाओं को, उनके परम्परागत राजकीय विशेषाधिकारों और सम्मान को उनके व्यक्ति या परिवार के अधिकारों के रूप में सीमित कर स्थिर रूप से बनाये रखने का, आश्वासन ब्रिटिश शासकों की तरफ से दिया गया।

स्वाधीनता युद्ध के समय जिन लोगों ने देश के साथ गद्दारी कर अंगरेजों का साथ विशेष रूप से दिया था, उन्हें अंगरेजों ने नयी जागीरें जमीदारियां आदि भी इनाम में दीं। राजस्थानी क्षेत्र में उत्तरी मेवात (अहीरवाटी) में झज्झर का नवाब, १८०४-५ में मराठों के विरुद्ध उससे मिली सहायता के पुरस्कार रूप में, अंगरेजों द्वारा ही बनाया गया था। १८५७ में उसने राष्ट्रीयविद्रोहवादियों का साथ दिया, अतः उसकी रियासत अब जब्त की गयी और उसके अनेक अंश नवाब के गद्दारी करने वाले नौकरों में बांट, पटौदी दुजान फरीदकोट लोहारू आदि की नयी रियासतें भी खड़ी की गयीं। शेष अनेक बड़े अंश अंगरेज भक्त सिक्ख रियासतों में बांट दिये गये।

गवालियर राज्य को क्रान्ति युद्ध में योग देने से विरत रखने में

वहां के दीवान देशद्रोही दिनकरराव उर्फ मामासाहब का हाथ विशेष रूप से था, जिसे १८४३ में गवालियर के स्वाधीनता प्रेमी सरदारों और सेना की शक्ति तोड़ने के बाद, १८५२ से अंगरेजों ने फिर वहां का दीवान बनवा दिया था। उसका सम्मान अब रायबहादुरी और सर के खिताब देकर और अधिक बढ़ाया गया। शिन्दे राजा की, मालूम होता है अंगरेजों के दिनकर राव की पीठ पर होने से, उसके आगे अब कुछ न चलती थी। गवालियर की जनता सरदार और दरबारी, जो स्वाधीनता युद्ध में जनता का साथ देने के पक्षपाती थे, उससे मन ही मन कुढ़ते थे। उन्होंने महाराजा को समझाया कि दिनकर राव ने स्वाधीनता युद्ध के समय अंगरेजों का साथ देने की सलाह उसे इसलिए दी थी कि जिससे उनके बल पर वह रियासत में अपना प्रभाव और नियन्त्रण अधिक बढ़ा सके और राजकाज सब अपने हाथ में बनाये रह सके। जयाजीराव शिन्दे ने उस पर कोई दोषारोपण कर संक्षिप्त सा एक मामला चला उसे अपनी सेवा से पृथक कर, राज से भी निकाल दिया। शिन्दे जैसे प्रबल राजा को इसके लिए कुछ स्पष्ट कहने की हिम्मत अंगरेजों को न हुई; क्योंकि विद्रोह का असर अभी देश से पूरी तरह गया न था; विद्रोहियों के नेता नाना साहब बालासाहब रावसाहब और शाहजादा फीरोज अभी छुटे घूम रहे थे; शिन्दे, जिसकी शक्ति और प्रभाव काफी था, कहीं अब भी उठ खड़ा होता तो क्रान्ति फिर भड़क सकती थी। किन्तु सर दिनकर राव को उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा बचाने के लिए, वायसराय (लार्ड केनिंग) की शासन समिति का सदस्य बना लिया (१८६१)। राजपूत राजाओं के प्रतिनिधि रूप में बाद में जयपुर का राजा भी उसमें सम्मिलित किया गया (१८७०)।

गवालियर की तरह दूसरे राज्यों के भी अनेक प्रधान और उच्च राज्य कर्मचारी अंगरेजों के खरीदे हुए थे, जिन्होंने उस संकट के समय राजाओं का रुख अंगरेजों के प्रति ठीक रखने और उनसे अंगरेजों को

सैनिक सहायता दिलाने का भी जतन किया था। अंगरेज राज्याधिकारियों में उनका प्रभाव और मान बढ़ता देख, राजा उनसे असूया करने लगेथे। फलतः मेवाड़ मारवाड़ और अलवर आदि राजस्थान की राजधानियों में राजाओं द्वारा अपने अनेक दीवानों उच्च राजकर्मचारियों को, बावजूद अंगरेज अधिकारियों द्वारा उसका तीव्र विरोध करने के भी, अपनी सेवा से पृथक करने आदि की अनेक घटनाएँ घटीं जिनमें अनेक बार उन पर प्रत्यक्ष रीति से अविचार भी किये गये। मेवाड़ में महता शेरसिंह इसी प्रकार मेवाड़ के प्रधान की हैसियत से सेना दे कर नीमच की तरफ भेजा गया था, नीमच और पास पड़ोस के इलाके में शांति कायम करने में उसने बड़ी तत्परता से काम किया था। किन्तु महाराणा उससे प्रसन्न न था, अंगरेज रेजीडेन्ट और एजेन्ट गवर्नर जनरल खुद खास इसी के लिए उदयपुर महाराणा से आ कर मिला, तिसपर भी जब महाराणा सरूपसिंह ने शेरसिंह का कोई लिहाज न किया तो अंगरेज अधिकारी उससे इतना रूठे कि सत्तावन के उस संकट के समय अंगरेजों का साथ देने के लिए दूसरी रियासतों की तरह मेवाड़ को भी मिलने वाली जमीन जायदाद आदि की सब भेंट रोक दी गयी, मेवाड़ को सिवाय शाब्दिक तारीफ से कोई इनाम नहीं दिया गया।

राजाओं की शक्ति कमजोर करने के लिए जनता शासक वर्ग और राजाओं में आगे कभी आपसी मेल या एकता न हो और अनभीष्ट लोगों के हाथों में शक्ति न जाने पाये इसका ध्यान अंगरेज अब और भी विशेष रूप से रखने लगे। इसके लिए उन्होंने राज्यों के वंशानुगत राजभक्त प्रधानों और मुत्सद्दी वर्गों की नियुक्ति को अनुत्साहित करने और जहां तक हो सके बाहर के अपने ऐसे विश्वस्त लोगों को ही वहां के प्रधान दीवान और दूसरे उच्चपदों पर नियत कराने की नीति अपनायी, जिन पर ब्रिटिश प्रजाजन होने से राजाओं का कोप काम न कर सकता और जिनका रियासत में सिवाय अपनी नौकरी की तनखा पाने के राजा या

प्रजा के साथ कोई हितऐक्य या राजभक्ति की परम्परा न होती, एवं जो अंगरेजों के राजनीतिक विभाग द्वारा बढ़ाये, नियत किये गये, होने से उन्हीं के इशारे पर काम करने और राजा प्रजा के बीच एक तरह के ब्रिटिश गुप्तचरों का काम देने वाले हों।

राजकुमारों की शिक्षा दीक्षा पर भी उनका ध्यान गया; उनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना की छूत न लगने पावे, इसके लिए, उन्हें अंगरेजी रीति नीति रहन सहन और व्यसनों की शिक्षा दे अपनी जनता से उनका सब तरह का सम्बन्ध और एकानुभूति नष्ट कर देने के लिए अजमेर में मेयोकालिज की स्थापना की गयी (१८७०)।

१८५७ के बाद भारत की जनता को बिलकुल निहत्था बना दिया गया, राजस्थान को भी तब निहत्था कर देने की उनकी इच्छा थी। लेकिन यहां की जनता और शासक वर्ग इस हद तक अपमानित होने को अब भी तैयार न थे। राजस्थान में ऐसी किंवदन्ती है कि इस प्रश्न पर तमाम राजपूत राजाओं ने एका कर अंगरेजों को जवाब दिया कि हमारे शस्त्र महाराणा मेवाड़ के दिये हैं; अतः वे ही उन्हें रखवा सकते हैं; यदि राजपूतों के मुख्य नेता रूप में महाराणा शस्त्र रखना मान जावें तो हमें भी उनके रख देने में कोई उज्र न होगा। पर मेवाड़ के महाराणा से शस्त्र रखवाना आसान न था, राणा ने उत्तर दिया बताते हैं कि पहले इस धड़ पर से सिर उतर जायगा तब वे या उनके प्रजाजन कोई अपनी तलवार किसी के सामने रक्खेंगे। अतः राजस्थान में जनता के शस्त्र न लिये जा सके। जो भी हो राजस्थानी जनता की मनोवृत्ति इस किंवदन्ती से सूचित होती है; यदि राजस्थानियों को निहत्था करने के लिए अधिक दबाया जाता तो राजाओं से अंगरेजों की मैत्री (दोस्ती लधन) का ढोंग खुल जाता और तब इस प्रश्न पर शायद विद्रोह भी उभर सकता अतः इस मामले को ठण्डा कर दिया गया।

इंगलैण्ड में १८२५ तक रेलगाड़ी और १८३६–३७ तक ध्वनि

लेखन (टेलिग्राफी) या तार यन्त्र का आविष्कार हो चुका था। अंगरेजों ने देश को अपने नियन्त्रण में रखने के लिए भारत भर को अब तार और लोहे के डण्डों से जकड़ देने की योजना बनाई। १८७६-८१ तक राजस्थान में भी लोहे की पटड़ी बिछा दी गयी। अनेक राज्यों से जमीन इसके लिए मुफ्त ली गयी, कुछ ने मुआवजा भी ठहराया।

रेलपथों के बन जाने से जहां आने जाने के साधन सुधर कर व्यापार व्यवसाय की मात्रा में वृद्धि हुई, वहां आवागमन के, पुराने साधन मुहय्या करने वाले बाळदी गाडं.ल्ये वणजारे रहबारी (ऊँट पालने वाले) आदि लाखों लोगों की रोजी नष्ट भी हो गई और वे अब से रोजगारहीन फिरन्दरों या आवारागिर्द जमातों का जीवन बिताने लगे। अजमेर पाली सोजत जयपुर वैराट खण्डेला आदि राजस्थान की दर्जनों समृद्ध बस्तियों में जो बड़े बड़े सेठ साहूकार माल भेजने लेजाने तथा थोक खरीद-फरोख्त व्यापार से लाभ उठाकर काफी धनी और समृद्ध बने हुए थे, अब आवागमन के साधनों का लाभ अंगरेजी रेल कम्पनियों के मालिकों की जेब में पहुँचना शुरू हो जाने से दीवालिये होते गये, बस्तियां उजड़ती चली गयीं और प्रान्त में पूंजी लगाने के दूसरे कोई नये अवसर उनके स्थान में न खुलने से वह धीरे धीरे यहां से गायब होने लगी। विदेशी माल की आमद बाजारों में बढ़ गयी, जिससे राजस्थान के दूसरे स्थानीय धन्धों, शिल्प-व्यवसायों, का भी ध्वंस हो गया और आर्थिक जीवन का सारा सन्तुलन बिगड़ जाने से जनता की क्रय शक्ति कम हो गयी। देसावरी सामान खरीदने के लिए अन्न आदि कृषिजन्य पदार्थों का निर्यात बढ़ा, जिससे लोगों का खाद्य सञ्चय क्षीण पड़ गया और जब कभी थोड़ी सी वर्षा की खींच या अनावृष्टि हुई भीषण दुर्भिक्षों के नजारे देखने में आने लगे। रेलगाड़ी बनजाने से अनाज बाहर से पहुँच सकने में सुविधा होने पर भी लोगों की क्रय शक्ति कमजोर होने से उसका पूरा लाभ न मिल सका और लोग लाखों की संख्या में भूखों

मरने लगे। जनता की बेकारी और बेबसी बढ़ी, जिससे नैतिकता का मानदण्ड भी नीचा गिरा और राजस्थानी नस्ल का ह्रास बड़ी तेजी से होने लगा।*

नमक बनाने के शिल्प और व्यवसाय का ह्रास तो राजस्थान में जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं अंगरेजी राज की स्थापना के बाद से ही आरम्भ हो गया था, पर उसके उत्पादन पर अंगरेज तब अपना सीधा अधिकार न कर सके थे। १८७४ में उन्होंने राजाओं को उनके राज में नमक बनाना बन्द करने से होने वाली अमदनी की घटी का कुछ मुआवजा देना तय कर, उस शिल्प पर अपना पूरा एकाधिकार कर लिया। सांभर और पञ्चभद्रा आदि नमक के कुछ आकरों को छोड़ प्रायः सब जगह यह शिल्प कानून द्वारा बन्द कर दिया गया, और उन स्थानों पर भी अंगरेजी ठीकेदारों को छोड़ कोई व्यक्ति नमक बना या उसका व्यापार न कर सकता था। इससे उस व्यवसाय में लगे लाखों श्रमिक कारीगर और व्यवसायी भी अब बेकार हो गये।

पुराने समय राजस्थान की हर बोली के क्षेत्र में अपना एक राज होने से राज काज की भाषा भी वही रहती और शिक्षा का माध्यम भी

---

* स्व० पं० गौ० ही० रा ओझा प्रायः कहा करते थे कि १८८८ में जब वे पहले पहल उदयपुर आये तब से १९४० तक ही वहां के राजपूतों और दूसरे लोगों की शकल सूरत और शारीरिक गठन में इतना फरक पड़ गया कि आज के मेवाड़ियों को देखकर कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वे ४२ बरस पुरानी वहां की उसी नस्ल के वंशधर हैं। १९४० के मेवाड़ियों को देखकर तो कोई यह भी न मान सकता कि इन्हीं के पूर्वजों ने कई पीढ़ियों तक तुर्कों आदि के विरुद्ध स्वाधीनता के वैसे विकट युद्ध लड़े होंगे।

बनती, तब शिक्षा का प्रबन्ध पंचायतों द्वारा आसानी से गांव में ही हो जाता, अतः अशिक्षितों का प्रश्न तब यहां इतना न था। पर अब जो "पढ़े लिखे" राज्याधिकारी शासन सुधार के नाम पर सरकार द्वारा नियत किये जा कर यहां आने लगे वे प्रायः बाहरी लोग होते जो राज काज, जनता की भाषा को छोड़, फारसी उर्दू या अंगरेजी में चलाते; शिक्षा का माध्यम भी उर्दू अंगरेजी बना दिया गया। फलतः सिर्फ अपनी बोली में बोलना जानने सोचने वाली अधिकांश जनता अब अशिक्षित करार दी गयी। इससे अशिक्षितों की संख्या बहुत बढ़ गयी और राजस्थान की वे सब बोलियां, जो इससे पहले काफी पुष्ट साहित्य सृजन और विचार प्रकाशन की क्षमता और प्रवृत्ति दिखाती रही थीं, अब सिर्फ बोलचाल की गंवारू बोलियां बन गयीं। उनमें नये ज्ञान या विचारों की हवा और खाद पानी पहुँचना बन्द हो जाने से उनका उपजाऊपन नष्ट हो गया, जनता धीरे धीरे बिलकुल असंस्कृत हो गई और उत्तरोत्तर अज्ञान के अन्धकार में ढकेली जाती रही।

किन्तु राजस्थान की जनता ने ये सभी परिवर्तन बिना किसी विरोध के चुपचाप सह लिये हों ऐसा नहीं। वह सदा से अपने आदमियों द्वारा अपनी परम्परा से शासित होने की ही अभ्यस्त थी। अंगरेजों द्वारा भेजे गये बाहरी आदमियों की शासकों के रूप में नियुक्ति और परम्परा गत कानूनों में उनके हस्तक्षेप का उसने आरम्भ से कड़ा प्रतिवाद किया। मेवाड़ में, राणा सरूपसिंह के देहान्त के बाद (१८६१) उसके उत्तराधिकारी शंभूसिंह की नाबालगी के समय, अंगरेज रेजिडेण्ट ने पञ्चसरदारी (regency council) को तोड़ शासनाधिकार अपने हाथ में करने का जतन किया और नये ढंग की अंगरेजी कचहरी कायम कर कुछ नये कानून लागू करने चाहे, मेवाड़ की जनता उसपर बिगड़ उठी। उदयपुर में व्यापक हड़ताल की गई और और मेवाड़ की जनपञ्चायत के मुखिया (नगर सेठ) चम्पालाल के नेतृत्व में लोग विरोध प्रदर्शन के

लिए रेजीडेण्ट पर चढ़ गये, जिन्हें सेना की मदद से बड़ी कठिनाई हटाया गया। पर अन्त में रेजीडेण्ट को जनता के पञ्चों से समझौ करना पड़ा। मेवाड़ की तरह जयपुर जोधपुर आदि दूसरे राजस्था राज्यों में भी इस प्रकार की अनेक घटनाएँ घटीं। १८७० में अलवर अधिकांश जनता और सरदार राजा के निरंकुश बरताव के विरुद्ध श लेकर उठ खड़े हुए, जिन्हें लार्ड मेयो ने अंगरेजी सेना भिजवा दबाया और बचाव करने का जतन किया।

पुराने जमाने में राजा सरदारों की शक्ति अपनी जनता से आ थी अतः राजा आदि की स्वेच्छा-चारिता पर जन मत का अंकुश रह और राजाओं या सरदारों जागीरदारों आदि को जनता की सुख सु धाएँ और अभिमत का ध्यान मजबूरन रखना पड़ता था। पर र राजा-प्रजा के बीच तीसरी अंगरेजों की बाहरी शक्ति के उतर आने उनका वह परस्पर का पासंग बिगड़ गया। अंगरेजों द्वारा बाहरी अ भीतरी दोनों खतरों से उन्हें बचा लेने और जहां तक वे उनके प्रति व दार रहते, उनका अस्तित्व सदा बनाये रखने का आश्वासन पा जाने अब वे अधिकाधिक निरंकुश और स्वेच्छाचारी होते गये। जनता अशिक्षित अज्ञ और असंगठित होती गई, शासन तन्त्र की शकल सू बाहर से न बदली इससे उनकी परम्परागत राजभक्ति के लिए प्रत्यक्ष र से कोई व्यवधान अधिक उपस्थित भी न हुआ, अतः वह अपनी दि प्रतिदिन गिरती दशा और उसके कारणों को ठीक से समझ भी न सकं फलतः उसकी स्वाभाविक राजनीतिक चेतना धीरे धीरे प्रसुप्त हो औ मन्द पड़ती चली गयी।

§८. राजस्थानी इतिहास द्वारा भारत में नवचेतना का उद

भारत की आत्मा १८५७ के पराभव के बाद कुछ समय के लि बिलकुल अभिभूत सा प्रतीत होने लगी। अंगरेजी शस्त्रों की वरिष्ठ

अन्तिम रूप से सिद्ध हो जाने से भारतवासियों का राष्ट्रीय आत्म विश्वास क्षीण पड़ गया। विजेता की भाषा, धर्म, वेश-भूषा, सामाजिक रीति-रवाज, विचार वाङ्मय और इतिहास में रुचि और आकर्षण अनुभव किया जाने लगा। राष्ट्रीय इतिहास का कोई अपना सुस्पष्ट रूप तब लोगों के सामने न था। अंगरेजों से ठीक पहले भारतीयों का जो अपना शासक वर्ग था उसमें अधिकतर या तो मुसलमान (मुगल) थे या मराठे, जिन्हें दोनों को अंगरेज अपना शत्रु मानते थे। मुसलमानों की मूल प्रेरणा विदेशी और विधर्मी होने से अधिकांश भारतीय जनता (हिन्दुओं) की दृष्टि में वे अब भी विदेशी ही थे और मराठों को निरा आततायी लुटेरों की जमात कहना अंगरेजी रिवाज था;* अतः

---

* मराठों के विरुद्ध प्रचार करने में अंगरेज तब कितने तत्पर रहते इसका एक नमूना स्व० पं० गौ० ही० ओझा प्रायः सुनाया करते थे। उन्होंने अपने 'राजपूताना का इतिहास' में किसी दूसरे प्रसंग में उसे दिया भी है। जोधपुर के कविराजा मुरारदान ने ओझाजी को सुनाया था कि किस तरह मारवाड़ का एक अंगरेज रेजीडेंट दौरे के समय गांव गांव घूम कर किसानों की सभा करता और मराठों के अत्याचार लूटपाट आदि का बयान कर उन्हें अंगरेजी अमल से लाभ कानून और सुख शान्ति की व्यवस्था का बखान सुनाता फिरता था। एक बार किसी गांव से एक जाट किसान ने उसका भाषण सुन खड़े होकर जवाब दिया कि ठीक है साहब माना कि अंगरेजी राज में बड़ी शान्ति और व्यवस्था है, मराठे अकसर आकर लूटते थे, पर उससे हम किसानों का तो कोई नुकसान न था। लुटते तो गांव के बनिये महाजन या जमीदार जागीरदार आदि मालदार लोग, किसानों और गरीबों को तो उसमें लाभ ही होता महाजनों के कागज-पानड़े खाता बही नष्ट हो जाने

भारतीयों के पास यूरप के मुकाबले में अपना अतीत कह गौरव करने को और जातीय रूप में पाँव टिका और माथा ऊँचा कर खड़ा होने को अपने इतिहास के नाम पर तब कुछ भी न बचा था। अंगरेजी शिक्षा से प्रभावित पढ़े-लिखों या अंगरेजों के उपजीवी अनुचरों और देश-द्रोहियों का जो वर्ग अंगरेजों की जीत के बदौलत समाज में ऊपर आया वह तो क्रान्ति के वीर नेताओं और देशभक्तों को अंगरेजों के ही सुर में सुर मिलाकर निर्लज्जतापूर्वक बुरा-भला कहने में भी न हिचकता और अंगरेजी राज को वह भारत के लिए वरदान कह जनता में मतिविभ्रम ही पैदा कर रहा था।

किन्तु राजस्थान में जहाँ अधिकांश जनता अपने परम्परागत राजवंशों के ही शासन में थी, जनता में अपने पुराने इतिवृत्त और स्वाधीनता-संघर्षों में अपने पुरखाओं द्वारा किये गये गौरवपूर्ण कृत्यों की स्मृतियाँ जीवित थीं। बल्कि मुगल जमाने में वह स्वाधीनता खंडित हो जाने पर 'बगड्यो ठाकुर पुरखांरीज गावे' (बिगड़ा ठाकुर पुरखों की ही गाता है) इस राजस्थानी कहावत के अनुसार, अपने पुरखों का कीर्तन-स्मरण मानो राजस्थानी चरित्र की एक कमजोरी बन चुका था। कर्नल जेम्स टाड ने उसी का लाभ उठा उन्हें मोहा और मराठों मुसलमानों से अलग कर अपने फंद में फँसाया था। राज-स्थानी वीर-चरित्रों का वर्णन उसने अपने ग्रन्थ "राजस्थान की बीती बातें और पुरानी ख्यातें" (ऐनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज आफ़ राजस्थान) में बड़ी चटकीली भाषा में किया था। पर साथ ही उसने पुराने विदेशी आक्रान्ताओं के खिलाफ़ राजस्थानी वीर पुरुषों के उन संघर्षों को ईसाई

से कर्जदारी से राहत मिलती। किन्तु अंगरेजी राज में कचहरियों के पेचीदा कानून क़ायदों से तो महाजनों जागीरदारों की ही चाँदी है। किसान की तो अब पीढ़ियों तक ब्याज दर ब्याज कर्जा चुकाते कमर टूटी जाती है।

क्रूसेडों की भाँति हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों के विरुद्ध निरन्तर लड़े गये धर्मयुद्धों का बाना पहना कर हमारे देश में हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक विद्वेष के विषवृक्ष की जड़ें भी गहरी जमा दी थीं। कर्नल टाड का ग्रन्थ प्रकाशित होने (१८३५-३६ ई०) के बाद अपने समूचे इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में देखने और उसी रूप में उसकी व्याख्या करने की एक नयी प्रवृत्ति ने जन्म लिया था *। कोटा के कवि सूरजमल द्वारा वंशभास्कर नामक एक बृहत् काव्येतिहास की रचना (१८३५-६८ ई०) इस नयी प्रवृत्ति के साहित्य का एक अच्छा नमूना है।

भारत के दूसरे प्रान्तों के अंगरेजी-पढ़ेलिखों का ध्यान भी टाड के ग्रन्थ ने खींचा। हिन्दू-मुस्लिम-विद्वेष की नये सिरे से उभरती हुई भावनाओं पर १८५७ की क्रान्ति के नेताओं द्वारा किये गये प्रचार से

---

* राजस्थानी साहित्य में टाड युग के पूर्व की रचनाओं में मुस्लिम-विरोधी स्वर प्रायः न के बराबर है। यहाँ तक कि पृथ्वीराजरासो में शहाबुद्दीन गोरी और पृथ्वीराज के संघर्ष में भी हिन्दू मुसलमान के संघर्ष का भाव ध्वनित नहीं होता, न रासोकार कहीं जयचन्द्र को इसके लिए धिक्कारता है कि उसने एक हिन्दू राजा के विरुद्ध मुसलमान का साथ दिया। पुराने राजस्थानी साहित्य में राजपूत मुसलमान संघर्ष को शुद्ध स्वदेशी-विदेशी शक्तियों के बीच होने वाले स्वाभाविक संघर्ष के रूप में ही अंकित किया गया है, मुगलों से पहले तुर्क मुसलमान आक्रान्ताओं को प्रायः शक कहा गया है, और मुगलों को तुर्क जिनके खिलाफ कि पुराने जमाने में भी निरंतर संघर्ष करने की धुँधली स्मृति राजस्थानवासियों के मन में पहले से थी। समूचे राजस्थानी साहित्य का अध्ययन और विवेचन, इस दृष्टि से, उसे तिथिक्रम में सजाकर करना महत्व का कार्य होगा।

कुछ रोक लगी थी। उसका प्रभाव नष्ट करने में टाड के ग्रन्थ का प्रचार बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। उसके अनुवाद उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाओं में निकाले गये। साम्प्रदायिक विद्वेष के विषबीज उस ग्रन्थ के प्रसार के साथ साथ देश में चारों तरफ फैले; पर साथ ही टाड जैसे एक अंगरेज शासक की ज़ोरदार कलम से निकली राजस्थानी वीरों की उज्ज्वल कथाओं के फैलने से भारतवासियों को—हिन्दुओं को ही सही-- जातीय भाव और घोर अनात्मविश्वास के प्रवाह में पांव टिका कर खड़े रहने को टूटी-फूटी एक बैसाखी हाथ लगी। राजस्थान से वीर चरित्रों को लेकर हिंदी बंगला गुजराती आदि अनेक भारतीय भाषाओं में बहुत सा ऊंचा देशभक्ति पूर्ण साहित्य-काव्य, नाटक उपाख्यान और कहानियाँ आदि, सृजा गया। भारत के राष्ट्रीय नवजागरण में उसका भी भाग है।

§ ६. जागृति के अग्रदूत दयानन्द

अंगरेज़ों के भारतीय इतिहास साहित्य और कला आदि के अध्ययन मनन और अन्वेषण का काम, इस देश पर अपना आधिपत्य होने की सम्भावना देखते ही, आरम्भ कर दिया था (१७८५ ई०) ताकि वे इसका शोषण कर्षण अधिक निपुणता पूर्वक कर सकें। पर संस्कृत भाषा की अभिव्यञ्जना की असाधारण क्षमता तथा उसके वाङ्मय की विविधता और समृद्धि का परिचय पाकर यूरप के दूसरे देशों के विद्वान् भी उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। भारत के लोगों का ध्यान भी इससे आपसी चीजों की तरफ लौटने लगा और यह जानकर कि उनकी जातीय धरोहर की कीमत उनके विजेताओं तथा उनके दूसरे समकक्ष और सजातीय लोगों की नजरों में भी कुछ है, उनकी आत्म-प्रतीति बढ़ी, राष्ट्रीय आत्मविश्वास जागने लगा और अपने पुराने इतिहास का नवीन परिचय पाकर वे अपना राष्ट्रीय रूप फिर से पहचानने का प्रयत्न करने लगे।

पश्चिमी यूरप की नवजाग्रत जातियों के सम्पर्क और चोटों से भारत में नवचेतना के लक्षण प्रकट होने लगे। शुरू-शुरू में धर्म और समाज सुधार के आन्दोलन प्रकट हुए। उनमें से कुछ जो अंगरेजी पढ़े लिखों और उनके अतिनिकट संपर्क में आने वाले लोगों द्वारा चलाये गये थे, वे अंगरेजों और उनके राज्य के प्रशंसक थे। वे अपने धर्म समाज और रहन सहन को अंगरेजी सांचे में ढाल देने और अंगरेजों की भाषा वेश भूषा आप स्वीकार कर लेने में ही अपना श्रेय समझते थे। उनका प्रभाव अंगरेजी पढ़े लिखों और सरकारी नौकरों या सफल वकील आदि वर्गों की सीमा के बाहर कभी न जा सका। उधर अंगरेज ईसाई प्रचारक आम जनता में भी अपने धर्म का प्रचार करने में तब बड़ी उत्सुकता दिखा रहे थे, और अंगरेज सरकार इस प्रकार भारतीयों में भी आन्तरिक परिवर्त्तन कर उनके स्वजातीयता के अभिमान की जड़ खोद मानसिक दृष्टि से भी उन्हें अपनी गुलामी में जकड़ लेने की नियत से उस प्रचार को प्रोत्साहन देती थी। राजस्थानी हिन्दू रियासतें भी ईसाइयत के प्रचार के लिए अंगरेज अधिकारियों के दबाव से या अपने शासकों की प्रसन्नता और खुशामद के विचार से, अपने यहाँ अनेक सुविधाएं देने को मजबूर थीं। इस दशा में ईसाई प्रचारकों तथा उनके प्रभावित नयी रोशनी के भारतीयों की ओर से निरन्तर किये जाने वाले कटाक्षों के कारण, शताब्दियों से चली आती रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों से विजड़ित भारतीय समाज के अन्तराल में भी अब भारी सम्मर्द पैदा हो गया। अपनी जाति के हृदय पर होने वाले उन निरन्तर के आघातों का भारतीय जनता की ओर से उत्तर अपने भीतर को आवश्यक रूप से सुधार कर दृढ़ता पूर्वक देने का और इसके लिए भारतीय जनता को झकझोर कर जगा देने का प्रयत्न करने वाले भारत के आधुनिक नव जागरण के अग्रदूतों में काठियावाड़ के स्वामी दयानन्द का नाम प्रथम है।

काठियावाड़ में प्राचीन प्रतिहार वंश की पुरानी रियासत मोरवी थी। दयानन्द का जन्म उस रियासत के टंकारा नामक गांव में एक समृद्ध ब्राह्मण गृहपति करसनजी के यहाँ सन् १८२४ में हुआ था। भारत की स्वाधीनता के लिए प्रथम संग्राम का आयोजन करने वाले धोंधो पंत नाना साहब का जन्म भी १८२४ में ही हुआ था। यों भारत की स्वाधीनता के लिए मर मिटने और उसमें फिर से राष्ट्रीयता जगाने वाले ये दोनों महापुरुष समसामयिक और समवयस्क भी थे। इनमें से एक जब शस्त्र का आश्रय लेकर राष्ट्र की स्वाधीनता की ज्योति को प्रज्वलित रखने में अपना सर्वस्व होम कर भी असफल रहा, तब दूसरे ने उसके स्फुलिंगों को एकत्र कर उसे फिर से जगाने की विधि निकालने के लिए शास्त्र का आश्रय ग्रहण किया।

काठियावाड़ में श्वेताम्बर जैनों के स्थानकवासी सम्प्रदाय का जोर है, जिसका कि उदय इस्लाम के सम्पर्क से उठे १४ वीं सदी के धार्मिक सुधार आन्दोलन की एक धारा के रूप में हुआ था। अतः स्थानकवासी मूर्ति पूजा के प्रबल विरोधी होते हैं। दयानन्द के पिता कर्सनजी तिवाड़ी के स्वयम् मूर्तिपूजक और नैष्ठिक शिवोपासक रहते तथा अपने पुत्र बालक मूलशंकर उर्फ दयाराम को उसी की शिक्षा आग्रह पूर्वक दिलाने पर भी उस बालक का विश्वास मूर्तिपूजा और शिवमाहात्म्य के अद्भुत पौराणिक उपाख्यानों पर उठ गया था और सत्यासत्यविवेचनम् तथा ज्ञान की पिपासा युवावस्था के आरम्भ में ही उसमें इतनी तीव्र हो उठी थी कि १८४६ से, ठीक जिस साल कि अंगरेजों ने पंजाब लेकर भारत के अन्तिम भाग की स्वाधीनता भी नष्ट कर दी थी, वह घर से निकल प्रव्रजित हो ज्ञान की तलाश में पर्यटन करने लगा था। पहले दस सालों में वह गुजरात और राजस्थान में ही उस तलाश में घूमता रहा। उसने दयानन्द नाम धारण किया।

अप्रैल १८५५ से, जब कि उसका दूसरा समवयस्क भारत का पेशवा

बनने के बाद क्रान्ति यज्ञ के समारम्भ में दीक्षित होने जा रहा था, मार्च १८५७ तक वह प्रायः गंगा के साथ साथ गंगोत्तरी और बदरीनाथ से बनारस तक गढ़वाल रुहेलखण्ड दोआब और काशी के प्रदेश में घूमता रहा, जहां तब क्रान्ति की तैयारियां जनता में भीतर ही भीतर जोरों से की जा रही थीं।

१८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर गया और आगे पांच मास तक कानपुर इलाहाबाद के बीच ही चक्कर काटता रहा। फिर बनारस मिर्जापुर चुनार होकर मार्च १८५७ में, जब क्रान्ति की तैयारियां लगभग पूरी हो चुकीं और नानासाहब के सैकड़ों सन्देशवाहक साधुओं फकीरों आदि के रूप में पूरव पच्छिम उत्तर दक्खिन देश के हर कोने में क्रान्ति का सन्देश लेकर रवाना हुए, और स्वयं नानासाहब और अजीमुल्ला भी क्रान्ति आरम्भ करने की तारीख निश्चय कर उसकी सारी तैयारी अपनी आंखों से देख लेने को तीर्थयात्रा करने निकले तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर चुनार होकर नर्मदा स्रोतों के लिए दक्खिन की ओर निकल पड़ा। अपने आरम्भिक जीवन का परिचय देने के लिए दयानन्द की स्वलिखित जीवनी का यहां आकर एकाएक अन्त हो जाता है। आगे तीन साल क्रान्ति युद्ध के दिनों में वह कहां रहा और क्या करता रहा इसकी कोई विगत उसने कभी नहीं दी। यह कहना तो कठिन है कि क्रान्ति युद्ध या उसके संगठन के प्रति उसका रुख क्या रहा और उसने भी उसमें कोई भाग लिया या नहीं। तो भी उसकी जीवन-घटनाओं की तिथियों का जो संक्षिप्त सा विवरण ऊपर दिया गया है उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही सकती है कि क्रान्ति की तैयारियों आदि से उसे निकट परिचय करने का अवसर अवश्य मिला। यह बात मान लेना आसान नहीं कि दयानन्द के सदृश भावना प्रवण और चेतनावान् हृदय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा रहा हो और

उस युद्ध की सफलता विफलता की उसपर कोई प्रतिक्रिया न हुई हो।* अतः उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह पूरी चुप्पी भी कम अर्थ भरी नहीं प्रतीत होती। उसकी जीवनी की अगली घटनाएँ अक्टूबर १८६० से विदित होती हैं, जब कि क्रान्ति विफल हो जाने पर देश में मुर्दनी छा चुकी थी और वह हाथरस से मुरसान होकर मथुरा में बूढ़े पंजाबी विद्वान् प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द के पास अध्ययन के पहुँचता है।

भारत की पुरानी विद्वन्मण्डली में मालूम होता है १८५७ के पराजय के बाद देश की गिरती दशा पर इस समय गहरा विमर्श चल रहा था और अनेक संस्कृत विद्वान् इस नतीजे पर पहुँच रहे थे कि वेद आदि प्राचीन आर्य ग्रन्थों का पठन पाठन बन्द हो जाने और उनके स्थान पर भागवत पुराण अर्वाचीन अनार्य ग्रन्थों के चल निकलने तथा उनके मूर्ति-पूजा रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों के फैलने से हमारे धर्म और समाज में जो दोष उत्पन्न हो गये थे उन्हीं के कारण देश की यह दशा हुई थी। कहते हैं कि मथुरा का स्वामी विरजानन्द या उसका गुरु हरद्वार का स्वामी पूर्णानन्द ही इस विचार के मूल प्रवर्तकों में से थे। विरजा-नन्द ने १८५७ के बाद और स्वामी दयानन्द के मथुरा पहुँचने से कुछ ही समय पूर्व अपनी पाठशाला में पुराण और भागवत और सिद्धान्त कौमुदी आदि अर्वाचीन अनार्य ग्रन्थों का खंडन करना और वेद

---

*१८८० में स्वामी दयानन्द ने मेरठ में कहा बताते हैं कि वह गंगास्रोत से गंगासागर और रामेश्वरम् तक सारे भारत में पैदल घूमा था। (दे० स्वामी सत्यानन्द कृत दयानन्द प्रकाश, लाहौर सं० १९८४ वि०, पृ० ४२१।) यदि यह बात सही हो तो यह यात्रा उसने इस तीन वर्षों के अरसे में ही की होगी, जिसकी विगत देना उसने किसी कारण ठीक नहीं समझा।

उपनिषद् मनुस्मृति अष्टाध्यायी महाभारत रामायण आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों को भी पढ़ाना आरम्भ किया था।

विरजानन्द का जन्म १७९७ ई० में पूर्वी पंजाब की रियासत कपूरथला में कर्तारपुर के पास गंगापुर गाँव में नारायणदास व्यास नामक सारस्वत ब्राह्मण के घर में हुआ था। ५ वर्ष की अवस्था में उसके नेत्र जाते रहे थे। ११-१२ वर्ष की अवस्था में माता पिता के चल बसने से अनाथ होकर वह हरद्वार सोरों आदि में भटक कर विद्याभ्यास करता रहा था। १८१४-१५ में अंगरेजों से जमकर मुकाबला करने वाले हाथरस मुरसान आदि के जमींदारों से तथा अलवर भरतपुर करौली गवालियर जयपुर आदि के राजाओं से उसका घनिष्ट संबन्ध था उनमें से एक दो को उसने राजनीति धर्म और दर्शन (महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म प्रकरण, मनुस्मृति आदि) का अध्ययन कराके प्रबोध कराने का भी जतन किया था।

दयानन्द को विरजानन्द के पास पढ़ने की प्रेरणा विरजानन्द के गुरु पूर्णानन्द ने १८५५ में ही दी थी; परन्तु क्रान्ति आन्दोलन के शीघ्र छिड़ जाने की सम्भावना के कारण प्रतीत होता है उसकी मनःस्थिति —तब गम्भीर अध्ययन की तरफ न थी, किन्तु उसकी विफलता ने १८६० में वह मनःस्थिति पैदा कर दी थी। १८६३ तक ढाई साल वह विरजानन्द के पास पढ़ता रहा। उस समय शास्त्रों के अध्ययन के अतिरिक्त देश की दशा पर भी दोनों गुरु शिष्य का संवाद एकान्त में होता था जिसमें उन दोनों के सिवाय वहाँ तीसरा कोई व्यक्ति नहीं रहने पाता था। इस प्रकार ढाई बरस में अध्ययन समाप्त कर दयानन्द अपने गुरु की प्रेरणा से १८६३ में पहले पहल सार्वजनिक कार्य क्षेत्र में आया। विरजानन्द ने बिदाई के समय गुरु दक्षिणा के रूप में उससे यही मांगा था कि जो दान और दृष्टि उसे मिली है उसे वह अपने में ही सीमित न रख कर जन साधारण में लोक कल्याण के लिए

फैलाने में ही अपने जीवन की सारी शक्ति लगा देगा।

अपने सार्वजनिक जीवन के पहले दो साल उसने फिर राजस्थान में ही बिताये। मथुरा से आगरा गवालियर धौलपुर करौली और जयपुर होते हुए अनेक राजाओं ठाकुरों आदि से मिलता और उन्हें जगाने का प्रयत्न करता हुआ वह अजमेर और पुष्कर तक आया। परन्तु अपनी इस यात्रा में उसने अनुभव किया कि राजा रईसों और आम जनता पर जिन पौराणिक पंडितों की विद्वत्ता का असर है वे लोग सब मतलबी हैं, अतः जब तक उनके पाखंड की पोल वह जनता में अच्छी तरह खोल कर न रख देगा उसे यहाँ अपने कार्य में सफ-लता न मिल सकेगी। अतः १८६३ से ७३ तक वह गंगा तट पर भ्रमण कर मुख्यतः रुहेल खंड और दो आँख के (अर्थात् प्राचीन कुरु पंचायत और शूरसेन देश के जो प्राचीन काल से भारतीय सं-स्कृति का हृदय स्थल रहा है) तीर्थों में पंडितों की मांदों में जा जाकर उनसे वाग्युद्ध कर अपने विचारों का प्रतिपादन करता रहा। १८७३ में बनारस जाकर वहां के सभी चोटी के पौराणिक पण्डितों को उसने शास्त्रार्थ में हराया जिससे उसकी ख्याति सारे भारत में फैल गयी। कल-कत्ता बम्बई आदि प्रधान नगरों के अंगरेजीदाँ हिन्दुस्तानियों का ध्यान भी, जो युक्ति-तर्कवाद को यूरप की ही देन समझते थे, हुए निरे संस्कृत के पण्डित द्वारा सभी धर्मों के अन्धविश्वासों का खण्डन कर एक शुद्ध युक्तियुक्त धर्म का प्रतिपादन भारतीय शास्त्रों द्वारा करता सुन, उसकी तरफ बरबस आकृष्ट हुआ।

१८७३ से १८८१ तक दयानन्द उत्तर भारत के अनेक नगरों में घूमता और अपने विचारों का प्रचार करता रहा जिसके कारण भारत वासियों से अपने प्राचीन इतिहास और धर्म का गौरव फिर से जागने लगा। १८७३ से भारत में राजनीतिक पुनर्जागरण के लक्षण भी प्रायः सर्वत्र प्रकट होने लगे। १८७४ से दयानन्द ने संस्कृत के बजाय जनता

की भाषा लिखना बोलना आरम्भ कर दिया। उसका विचार था कि सारे भारत में "अपनी एक भाषा एक धर्म और एक संस्कृति हुए बिना कभी कार्य सिद्धि न होगी," अतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद दिलाने तथा अदालतों और उच्च शिक्षणालयों में भी उसकी प्रतिष्ठा कराने के लिए जोरदार मांग करने की प्रेरणा उसने अपने समय के अनेक प्रसिद्ध भारतवासियों को दी। १८७५ में उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश छप कर प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष राजकोट और बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना उसके विचारों के प्रचार के लिए की गई।

राजस्थान में १८७४ में मेवाड़ के महाराणा शंभुसिंह का देहान्त हो जाने से उसका दत्तक पुत्र सज्जनसिंह गद्दी पर बैठा। वह तब नाबालिग था, अतः शासन कार्य अंगरेज रेजीडेण्ट की देख भाल में पञ्चसरदारी (रीजेन्सी काउंसिल) द्वारा चलाया जाने लगा। १८७५ में अंगरेजों का युवराज एडवर्ड भारत भ्रमण के लिए आया तब सभी राजा महाराजा उसका स्वागत करने को बम्बई में इकट्ठे किये गये (सज्जनसिंह को भी वहां ले जाया गया। किन्तु टाड ने मेवाड़ के महाराणा को दिल्ली के बादशाह के मुकाबले में, जिसे उसने सिर्फ मुसलमानों का मुखिया कहा था, हिन्दुओं का सबसे बड़ा मुखिया और राजा व्यक्त किया था, और इस प्रकार हिन्दुओं की सहानुभूति महाराष्ट्र के पेशवा या सतारा के छत्रपति की अपेक्षा भी मेवाड़ के महाराणा की तरफ अधिक जगा कर तथा उसके प्रति अंगरेजों का सौहार्द प्रकट कर उसे मुगलों और मराठों से हटा अपने पक्ष में करने का जतन किया था। मेवाड़ में तब से यह भावना खूब पनप रही थी। महाराणा शंभुसिंह ने उससे प्रेरित हो कविराज श्यामलदास को १८७१ में मेवाड़ का एक बृहत् इतिहास तैयार करने को भी नियत किया था। सज्जनसिंह अंगरेज अधिकारियों के बहुत समझाने मनाने और यह कहने पर कि अंगरेजों का युवराज मेवाड़ के मित्र राज्य का लड़का होने से इस देश में आने पर

उसका अतिथि है, अतः उसके स्वागत में जाकर शामिल होने से महाराणा के महत्व में कोई फरक नहीं आवेगा, इस शर्त पर बम्बई जाकर युवराज का स्वागत करने को तैयार हुआ था कि उसकी कुरसी वहां दरबार में बाकी सब राजाओं नवाबों से आगे रक्खी जायगी। किन्तु वहां जब हैदराबाद के निजाम की कुरसी आगे रक्खी गयी तो सज्जनसिंह ने दरबार में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया और यों ही उदयपुर वापस लौट आया। अंगरेजों ने तब उसकी शिक्षा दीक्षा के लिए आबू के राजनीतिक दफ्तर के एक मुन्शी भरतपुर के रहने वाले नागर ब्राह्मण ज्ञानी बिहारीदास को जो मैट्रिक तक अंगरेजी भी पढ़ा था उसका शिक्षक बनाकर उदयपुर भेजा।

१८७६ में राणा सज्जनसिंह को मेवाड़ का शासनाधिकार सौंपा गया। उस वर्ष के अन्त में अंगरेजों की रानी विक्टोरिया ने भारत साम्राज्ञी का पद धारण किया जिसकी घोषणा के लिए १ जनवरी १८७७ को दिल्ली में एक विशाल दरबार बुलाया गया, जिसमें भारत के तमाम राजे महाराजे नवाब ऊँचे ऊँचे खिताबधारी लोग तथा प्रमुख भारतीय आमंत्रित किये गये, जिन्हें तब अंगरेज वहाँ अपने राज का स्तंभ समझते थे। राजाओं आदि में अपने विचारों का प्रचार करने के लिए महाराजा इन्दौर ने इस मौके पर दयानन्द को भी दिल्ली आने का निमंत्रण भेजा। अनेक राजा वहाँ व्यक्तिशः आकर उससे मिले भी, पर सबको एक जगह इकट्ठा कर संबोधन करने और उन्हें देशसुधार की अपनी योजनाएँ समझाने का अवसर उसे न मिल सका। दयानन्द ने वहाँ सब भारतीय धर्मसुधारकों को एकत्र कर देश के लिए धर्म के एक सर्वसम्मत रूप का निश्चय करने को भी आमंत्रित किया, पर दयानन्द जहाँ राष्ट्रवादी होने में भारतीय धर्मग्रन्थों को ही प्रमुखता देना चाहता था, वहाँ दूसरे लोग कुछ विदेशी धर्मों के ग्रन्थों को भी वही महत्व देने के पक्षपाती थे, जो उसके मत में देशवासियों में

हार मनोवृत्ति को प्रश्रय देना होता। यों कोई समझौता नहीं हो सका।

अंगरेज १८५७ के विद्रोह के बाद से भारतीय लोकमत को अपने साथ बनाये रखने के लिए कुछ सावधानी और नर्मी से बरतने मजबूर हुए थे। पर उसके बाद २० साल तक फिर जब कोई बड़ा राजनीतिक विस्फोट न हुआ तो उनकी धारणा भारतवासियों के प्रति फिर बदल कर तुच्छ होने लगी। उधर इस बीच यूरप वालों का आधिपत्य लगभग सारे विश्व में छा जाने की संम्भावना से यूरप की जातियों का गर्व भी बहुत बढ़ने लगा था। अंगरेजी साम्राज्य में मिलाये जाने वाले देशों और नये नये बसने वाले उपनिवेशों को जीतने बसाने का काम भारतीय सैनिकों और मजदूरों के खून पसीने से ही हो रहा था। उन्हें जीतने काबू रखने का आर्थिक बोझा भी भारतीय जनता पर डाला जा रहा था। भारत के शिल्प व्यवसाय सब नष्ट हो जाने से जनता की आर्थिक दशा यों भी दिन दिन गिरती जाने और बड़े बड़े दुर्भिक्षों आदि के कारण जनता में अब भीतर ही भीतर असन्तोष सुलग रहा था। दयानन्द जैसे धर्म सुधारकों द्वारा भारतवासियों के आत्मविश्वास को सहारा मिलने के कारण १८७८ तक यूरोप वालों के देसियों के प्रति किये जाने वाले वर्ताव और अंगरेजों द्वारा भारतीय सीमान्तों पर चलाये जाने वाले साम्राज्य विस्तार के युद्धों के प्रति रोष के लक्षण प्रायः सारे भारत में प्रकट होने लगे। देसी भाषाओं के अखबारों में तो बकौल लार्ड लिटन यह बात आम तौर पर व्यक्त की जाने लगी कि भारत के सभी वर्गों और धर्मों के लोगों को अपने आपसी मतभेद भुला कर अंगरेजों के खिलाफ उठ खड़ा होना चाहिए, अतः उन्हें दबाने के लिए मुद्रण कानून बनाये गये। उसी साल दयानन्द का ध्यान भारत के पिछड़े प्रदेशों और जातियों में विदेशी प्रचारकों द्वारा किये जाते ईसाइयत और उसके साथ ही साथ विजातीयता के प्रचार की तरफ भी विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। यूरपी प्रचारक उसके लिए

लाखों रुपया खर्च और अपने राजनीतिक प्रभाव का उपयोग कर रहे थे। अतः उसने राजस्थान के हिन्दू रजवाड़ों में प्रचार कर हिन्दुओं की जातपांत-कृत संकीर्णता में सुधार लाने और साथ ही ईसाइयत के राष्ट्रीयताविघातक प्रचार के प्रतिकार के लिए उसके साधनों को संहत करने में ही आगे अपनी सारी शक्ति लगा देने का निश्चय कर लिया। १८७६ में उसने इसके लिए अजमेर जयपुर रेवाड़ी आदि में जाकर आर्यसमाजों का संघटन किया और १८८०–८१ से फिर राजस्थान के दौरे को रवाना हुआ।

दयानन्द की दृष्टि सिर्फ धर्म और समाज सुधार तक ही सीमित न थी। वह भारतीय राष्ट्र को उन्नत स्वतंत्र स्वावलम्बी और बलवान् बनाना चाहता था। धर्म या समाज सुधार का कार्यक्रम उसकी दृष्टि में मुख्यतः इसीलिए आवश्यक था कि लागों का ज्ञान और अन्धविश्वास दूर हुए बिना यह मार्ग रुद्ध हो रहा था। इसीलिए राष्ट्रीय शिक्षा पर भी उसका ध्यान आरम्भ से गया और वह शिक्षा कैसी होनी चाहिए इसके लिए उसने अपने ग्रन्थों में काफी लिखा भी था। संस्कृत की शिक्षा में सुधार के लिए उसने फर्रुखाबाद कासगञ्ज और बनारस आदि में अपने विचारों के अनुसार पाठशालाएँ १८६८ में ही खोलनी आरम्भ कर दी थीं। पर सिर्फ पुरानी संस्कृत विद्या पढ़ने से ही देश का कार्य नहीं हो सकता इसे भी वह समझ गया था, और इसके लिए युरप के शिल्प और विज्ञान की शिक्षा भी अपने विद्यार्थियों को निज की भाषा या संस्कृत के माध्यम से सीधी दिलाने की उसकी अभिलाषा बड़ी तीव्र थी, साथ ही विदेशों में भारतीय प्रचार और सांस्कृतिक आदान प्रदान द्वारा सभ्य जगत में भारत को बराबरी का स्थान दिलाने के महत्व को भी वह जानता था, जिसके लिए १८७९ में उसने श्यामजी कृष्ण वर्मा नामक एक कच्छी युवक को जो संस्कृत में भी व्युत्पन्न था, इंगलैण्ड जाकर अध्ययन करने और वहां भारत सम्बन्धी प्रचार करने लिए प्रेरणा की और खर्चे

का प्रबन्ध आदि कराने में सहायता दी थी। यूरपी शिल्प और विज्ञान की शिक्षा अपनी पाठशालाओं के विद्यार्थियों को यूरप भेज कर दिलाने और उनके द्वारा भारत में फिर उसके अध्ययन पठन पाठन को आरम्भ कराने के लिए उसने इस समय (१८८०) जरमन विद्वान् वीस से पत्र व्यवहार किया।

१८८० के अन्त में दयानन्द फिर राजस्थान में प्रचार के लिए आया। भरतपुर जयपुर आदि होता हुआ वह अजमेर पहुँचा, जहां से मसूदा रायपुर बनेड़ा आदि के ठाकुरों में जागृति पैदा करता दिवाली के आस पास वह चित्तौड़ पहुँचा। १८७७ से अंगरेज महाराणी के भारत सम्राज्ञी का पद धारण करने के बाद से अंगरेजों ने भारत के राजा रईसों को उस साम्राज्य के प्रति भक्ति की डोर से बांधने के लिए उन्हें अपने साम्राज्य के सामन्तों के ऊंचे ऊंचे खिताब देना आरम्भ कर दिया था। १८८१ में उन्होंने मेवाड़ के महराणा सज्जनसिंह को भी भारतीय साम्राज्य के सामन्तों का सितारा (नाइट स्टार आफ इंडियन एम्पायर— के० सी० आई० ई०) की पदवी देने का प्रस्ताव किया। महाराणा जो हिन्दुओं का सूरज कहा जाता था, सितारे की पदवी स्वीकार करने में अपना अपमान अनुभव करता था, पर उसे बहुत अधिक समझाया और दबाया जाने पर वह इस शर्त पर उसे मानने को तैयार हुआ कि वायसराय लार्ड रिपन स्वयं मेवाड़ आकर वह पद उसे दे तो वह स्वीकार कर लेगा। उसी साल नसीराबाद से चित्तौड़ तक रेल लाइन भी बन कर तैयार थी अतः वायसराय लार्ड रिपन उसका उद्घाटन करने और महाराणा को खिताब देने के विचार से चित्तौड़ आने वाला था, जहां मेवाड़ तथा आस पास के राज्यों के दूसरे रईसों का एक दरबार भरने वाला था। सज्जनसिंह से दयानन्द की प्रथम भेंट वहीं हुई। दयानन्द सज्जनसिंह की शिष्टता और सादगी से बहुत अधिक प्रभावित हुआ तथा सज्जनसिंह भी दयानन्द की विद्वत्ता और व्यक्तित्व से आकृष्ट हुआ।

दयानन्द चित्तौड़ में एक मास ठहरा जहां मेवाड़ के ठाकुर जागीरदार आदि भी उसके सम्पर्क में आये। महाराणा ने उसे उदयपुर चलने का निमन्त्रण दिया, पर दयानन्द को तब बम्बई आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जाना था, अतः लौटते हुए यदि उसने बुलाया तो उदयपुर आने का वायदा कर वह रतलाम होता हुआ बम्बई चला गया। अंगरेजी छावनियों के लिए गौ आदि दुधारू पशुओं की हत्या से देश के पशुधन का ह्रास इस समय बड़ी तेजी हो रहा था। हिन्दुओं में गोवध के कारण अंगरेजों के प्रति असन्तोष काफी था। दयानन्द ने बम्बई में गो करुणा निधि नामक पुस्तक लिख इस प्रश्न के आर्थिक पहलू पर बल दे उसे एक देशव्यापी आन्दोलन बना दिया। ब्रिटिश सरकार से दुधारू पशुओं का कतल छावनियों में बन्द करने की मांग करने के लिए जनता की ओर से आवेदन पत्र बना सारे भारत में गांव गांव में जनता के हिन्दू मुसलमान आदि सभी फिरकों के लोगों के हस्ताक्षरों समेत उसे ब्रिटिश सरकार के पास भिजवाने की आयोजना कर उसने देश में वैध आन्दोलन की भी नींव डाली। उसका विचार उन हस्ताक्षरों समेत प्रार्थना पत्र को ले इंगलैण्ड जाकर ब्रिटिश महाराणी के भारतीय जनता की तरफ से गो वध बन्द करने की मांग सम्मुख रखने का था।

बम्बई में दयानन्द को अपने विचारों का प्रचार करने के लिए बंगाल विहार आगरा पंजाब गुजरात काठियावाड़ आदि अनेक स्थानों से लगातार निमन्त्रण मिल रहे थे। पर उसके मत में अपने अगले कार्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त क्षेत्र अब राजस्थान में ही था, जहां का प्रचीन ऐतिहासिक गौरव और स्वधीनता के लिए निरन्तर किये गये संघर्षों की कहानियां इस समय भारत भर में होने वाली नवजागृति के स्पन्दन की वाहिका बनी हुई थीं; और जहां भारतीय शासन के प्राचीनतम अवशेष बड़े बड़े भूखण्डों पर अब भी बचे होने के कारण जागृति

पैदा करने से वह भारत में नये युग का अवतरण आसानी से करा सकने की सम्भावना देख रहा था।

खास कर १८८१ की अपनी राजस्थान-यात्रा में अजमेर के आस पास मसूदा खरवा रायपुर आदि के ठाकुरों, बनेड़ा शाहपुरा आदि मेवाड़ के जागीरदारों तथा महाराणा सज्जनसिंह और उसके कविराज श्यामलदास, मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, कृष्णसिंह बारहट आदि प्रमुख मुसाहबों का परिचय पाने के बाद राजस्थान वासियों तथा यहां के देशी राज्यों के प्रति उसकी आस्था बढ़ गयी थी। वह सोचने लगा था कि यदि राजस्थान के ये "राजा महाराजा अपने यहां शासनसुधार और संशोधन करें, अपने लोगों में धर्म भाषा और भावों की एकता स्थापित कर दें" तो भारत का उद्धार होना बड़ा आसान हो सकता है। अतः इन्दौर के महाराजा और मेवाड़ के महाराणा का बार बार का आग्रहपूर्ण निमन्त्रण पाकर वह अगला चौमासा राजस्थान में ही करने के विचार से रवाना हुआ। इन्दौर रतलाम आदि होता हुआ जुलाई १८८२ को वह उदयपुर आन पहुँचा और गुलाब बाग के महलों में सात मास तक महाराणा का अतिथि बन यहीं ठहरा रहा। महाराणा ने उससे संस्कृत सीखी तथा वैशेषिक मनुस्मृति महाभारत राजधर्म विदुरनीति आदि के साथ व्यावहारिक राजनीति और शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी अनेक पाठ भी पढ़े तथा उसकी सहायता से अपने राज्य में अनेक प्रकार के शासन सुधार भी आरम्भ किये।

महाराणा सज्जनसिंह एक तीव्र बुद्धि का होनहार मेधावी नवयुवक था जिसे विद्या के प्रति आदर और अपने राज्य में आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए नई नई योजनाओं पर कार्य आरम्भ करने का विशेष रूप से शौक था। मेवाड़ का बृहद् संशोधित इतिहास लिखाने के लिए कविराजा श्यामलदास को उसके पिता शम्भुसिंह ने १८७१ में ही नियत किया था, पर १८७४ में शम्भुसिंह का अचानक देहान्त हो जाने

के बाद सज्जनसिंह की नाबालिगी में स्थापित पञ्चसरदारी का सदस्य होने से शासन व्यवस्था सम्बन्धी बहुत सा भार श्यामलदास पर आ जाने से वह कार्य बन्द हो गया था। १८७८ में मेवाड़ के तात्कालिक अंगरेज रेजीडेण्ट की प्रेरणा से सज्जनसिंह ने उसे समूचे राजस्थान का एक बृहद् इतिहास 'वीर विनोद' नाम से आधुनिक पुरातत्व खोजों का उपयोग और छान बीन करके तैयार करने के लिए पुष्कल धन सहायकों और साधनों समेत तैयार करने को फिर से नियत कर दिया था। दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का दूसरा संशोधित और परिवर्धित संस्करण भी उदयपुर रह के ही पूरा किया। उसके छठे राजधर्म सम्बन्धी समुल्लास में निबद्ध विचारों का चिन्तन सम्भवतः महाराणा सज्जनसिंह को दिये राजनीति और धर्म सम्बन्धी पाठों के सिलसिले में ही हुआ। देश की पराधीनता की कसक तो सम्भवतः उसके मन में पहले से थी, पर सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे संस्करण में लिखे ये वचन कि—

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है, अथवा पितामाता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुख दायी नहीं है"

संभवतः उसे उदयपुर में मेवाड़ के राजा प्रजा के उस उत्साहवर्धक रुख को देख कर ही सूझे होंगे।

मेवाड़ के अनुभवों से दयानन्द शाहपुरा जोधपुर आदि दूसरी रियासतों में भी जाकर वहां राजा प्रजा को जगाने के लिए उत्साहित हो उठा। शाहपुरा का राजा नाहरसिंह मेवाड़ का जागीरदार और उसी वंश का होने से मेवाड़ के ही आदर्शों से प्रेरित था, अतः शीघ्र ही दयानन्द का शिष्य बन गया, पर जोधपुर जाकर दयानन्द को गहरी निराशा हुई। वहीं सितम्बर १८८३ में उसकी स्वास्थ्य दशा एकाएक बिगड़ गई। महाराजा जोधपुर से नन्हींजान नामक एक वेश्या बहुत अधिक मुंहलगी थी। दयानन्द ने उसके लिए महाराजा की भर्त्सना की, जिससे चिढ़कर

कहते हैं उस वेश्या ने एक रात दयानन्द को दूध में विष मिलवा दिया था। बाद में उनका इलाज एक मुसलमान डाक्टर के जो अंगरेजी सरकार में भी काफी प्रभाव रखता था, सुपुर्द किया। गया पर उसके इलाज से उसकी हालत सुधरने के स्थान पर दिन प्रति दिन बिगड़ती ही गयी। अजमेर मसूदा उदयपुर आदि में इसकी सूचना पहुँचने पर बड़ी कठिनाई से उसे वहां से निकाल आबू और अजमेर लाया गया, जहां अक्टूबर १८८३ को दीवाली की सांझ उसका देहावसान हुआ।

§ १०. श्यामलदास ओझा और श्यामजी कृष्णावर्मा

महाराणा सज्जनसिंह भी इसके बाद अगले साल (१८८४ ई० में) २६ वर्ष की अवस्था में ही, चल बसा। वह होनहार राजा था जिससे मेवाड़ के प्राचीन गौरव के प्रति गहरी अनुभूति और भारत की उठती हुई राष्ट्रीयता के प्रति सहानुभूति थी। राजस्थान में अंगरेजी शासन के नमूने पर उसने सबसे पहले मेवाड़ में जमीन की पैमाइश करा खालसे में लगान का बन्दोबस्त शुरू कराया और पुरानी व्यवस्था में कुछ परिवर्तन कर उसे तात्कालिक दृष्टि से वैधानिक बनाने का जतन भी आरम्भ किया था। भारत की उठती हुई राष्ट्रीयता के प्रति भी उसमें सहानुभूति थी और दयानन्द की तरह हिंदी के प्रथम राष्ट्रीय कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा वैसे ही दूसरे लोगों को भी उसने मेवाड़ में अपने यहाँ बुला कर सम्मानित किया था। राजस्थान विशेषतः मेवाड़ इतिहास का उस समय के भारतीय नवजागरण और राष्ट्रवादी स्पन्दन के मूल निमित्तों में से होने से स्वाभावतः तब अनेक तरह की विवेचनाओं का विषय हो रहा था। पुरातत्व संबन्धी अनेक खोजों के कारण कर्नल टाड द्वारा निरूपित इतिहास की पुनः परीक्षा कर उसे फिर से निर्धारित करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी, जिसके लिए सज्जनसिंह ने कविराजा श्यामलदास को नियत किया तथा अनेक विद्वानों को उस

कार्य में सहायता करने को मेवाड़ में इकट्ठा किया था। वह कार्य सज्जनसिंह के निधन के बाद महाराणा फतहसिंह के राज्य काल में भी कुछ दिन जारी रहा।

स्वामी दयानन्द जैसे निर्भीक धर्मप्रचारकों के उपदेश और अपने पुराने ऐतिहासिक गौरव का परिचय पाने से जगे जातीय आत्माभिमान के कारण भारतीयों की पराधीनतावेदना तीव्रतर होती जाती थी जिसकी अभिव्यक्ति भारतीय भाषा के अखबारों में कह चुके हैं कि १८७४-७५ से ही होने लगी थी। अंगरेजों द्वारा प्रेस कानून आदि लगा कर उसे दबाने के सभी प्रयत्न व्यर्थ गये। १८८१ में मराठी के पत्र "केशरी" के संपादक पूना के एक नवयुवक बाळ गंगाधर टिळक को कोळ्हापुर रियासत के अंगरेज दीवान की अनैतिक कार्रवाइयों पर खुला प्रकाश डालने के लिए ४ मास कैद और भारी जुरमाने की सजा दी गयी। जनता की सहानुभूति उसमें टिळक के साथ थी। समझदार अंगरेज अधिकारी अब समझने लगे कि यदि जनता के इस उभरते हुइ असंतोष को प्रकट होने का कोई खुला मार्ग न मिला तो कभी भीतर ही भीतर सुलग कर १८५७ की तरह उसमें अचानक विस्फोट न हो जाय। अतः जनता की विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर राष्ट्रीय स्वाधीनता या स्वराज लेने की स्वभाविक ऊँची भावना और शक्ति को कम करने और उसे सुराज शासनसुधार या ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में औपनिवेशिक पद प्राप्ति के आन्दोलन मे बदल देने के लिए भारत के एक अंगरेज का कामदार (civilian) ह्यूम ने तात्कालिक गवर्नरजनरल लार्ड डफरिन की सलाह से १८८५ में भारत के अंगरेजी पढ़ेलिखे राष्ट्रीयमहत्वाकांक्षा से हीन और अंगरेजों से सिर्फ कुछ मोटे टुकड़े चाहने वाले लोगों को इकट्ठा कर "इण्डियन नेशनल कांग्रेस" (भारतीय राष्ट्रीय महासभा) नाम की संस्था खोली। कांग्रेस के इन 'भारतीय नेताओं के सामने" बकौल लार्ड डफरिन "यही आदर्श था कि भारत

की विदेशी हमलों से रक्षा बृटिश सेना ही करती रहे; पर भीतरी मामलों का प्रबन्ध उन्हें गोरों की दस्तंदाजी के बगैर सौंप दिया जाय।" उनका "अग्रगामी दल भी अधिक से अधिक प्रान्तीय काउन्सिलों का सुधार ही मांगता था।"*

मेवाड़ और सिरोही राज्य की सीमा पर स्थित रोहेड़ा गांव का रहने वाला एक राजस्थानी युवक गौरीशंकर हीराचंद ओझा, जिसने भारत की किसी अंगरेजी युनिवर्सिटी की ऊँची शिक्षा न पायी थी पर संस्कृत का अध्ययन पुरानी परिपाटी से अच्छी तरह किया था और अंगरेजी भी उसी क्रम से मैट्रिक और इंटर तक पढ़ ली थी, तभी बंबई में देश-विदेश के गौरवपूर्ण इतिहासों के पाठ से अनुप्राणित हो, एक सच्चे ब्राह्मण की तरह दूसरे समस्त आर्थिक और सांसारिक प्रलोभनों की तरफ से आंख मींच, अपने देश और अपनी मातृभूमि के इतिहास के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ। भारतीय पुरातत्व के कठिन से कठिन विषयों को उसने बिना किसी आर्थिक सुविधा के थोड़ी बहुत ट्यूशन से अपना पेट पालते हुए, केवल अपने अध्यवसाय से हस्तगत किया। कर्नल जेम्स टाड का ग्रन्थ पढ़कर उसे अपनी मातृभूमि सिरोही और मेवाड़ के दर्शन करने और उसके इतिहास का भी गम्भीर अध्ययन और मनन करने की उत्कट अभिलाषा हुई। १८८८ में वह अपनी पत्नी को साथ ले सिरोही से गोघून्दे के रास्ते पैदल चलता हुआ मेवाड़ के अनेक छिपे हुए और अप्रसिद्ध ऐतिहासिक और पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों को खोज खोज कर उनकी तीर्थ यात्रा करता उदयपुर आ पहुँचा। कविराजा श्यामलदास उसकी विद्वत्ता और लगन से इतना प्रभावित हुआ कि उसने बड़ा आग्रह कर उसे मेवाड़के इतिहास-

* इतिहास प्रवेश, पृ० ५५० ।

कारखाने में रहने और वीरविनोद की पूर्ति में मदद देने को मना लिया। १८६० में कविराजा के मेयोकालेज में प्रोफेसर बन कर चले जाने पर वह मेवाड़ में इतिहास विभाग का अध्यक्ष नियत हुआ। फिर विक्टोरिया स्मारक संग्रहालय खुलने पर उसका अध्यक्ष बना दिया गया। उदयपुर के एक महाराष्ट्र ज्योतिषी विनायक शास्त्री वेताल से ओझा को यह प्रेरणा मिली कि उसे अपनी भाषा हिन्दी में इतिहास पुरातत्व के ग्रन्थ लिखने चाहिए। इस प्रेरणा से १८६४ में उसने भारतीय प्रचीनलिपिमाला नामक ग्रन्थ हिन्दी में पहले-पहल निकाल कर भारत की राष्ट्र भाषा का गौरव विश्व भर की नज़रों में बढ़ाया और पुरातत्व जैसे विषय पर भारतीय भाषाओं में लिखने की परिपाटी डाली।

भारतीय जनता में अंगरेजी राज से पूर्णतः मुक्त होने की भावना बावजूद कांग्रेस के सुधारप्रार्थी राजनीतिजल्पकों की बहक के बुझी नहीं, बल्कि दयानन्द जैसे विद्वानों द्वारा अपने ऐतिहासिक महत्व का स्मरण दिलाने तथा टिळक (१८५६-१६२०) जैसे राष्ट्रवादियों के विचारों की हवा पाकर बढ़ती ही गयी। दयानन्द ने कह चुके हैं कि अपने एक शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को भारतीय धर्म के प्रचार और विद्याध्ययन के लिए १८७६ में ही इंगलैंड भेजा था। उसने वहां की रायल ओरियटल सोसाइटी (राजकीय प्राच्य परिषद्) में १८८१ में पहलेपहल प्राचीन भारत में लेखनकला विषयक एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध पढ़ प्राच्य विद्या विशारद रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। १८८२ में औक्सफर्ड विश्वविद्यालय का प्रथम भारतीय स्मारक होने के बाद दयानन्द का देहान्त होने पर १८८३ में वह भारत आया और अपनी पत्नी को भी इंगलैंड लेता गया। १८८५ में बैरिस्टर होने के बाद वह रतालम का दीवान बन कर राजस्थान आया १८८८ में रतलाम की नौकरी छोड़ अजमेर में वकालत करने लगा। अजमेर म्यूनीसिपल कमेटी का वह प्रथम भारतीय सभापति चुना गया। व्यापार में रुई के पेंच खोल कर

राजस्थान में आधुनिक शिल्पों का प्रवेश भी पहलेपहल उसी ने कराया। १८९२ में महाराणा फतहसिंह का सेक्रेटरी बन कर (दीवान का पद मेवाड़ से तब उठा दिया गया था) वह उदयपुर आया।

दयानन्द के समकालिक बंगाली संत रामकृष्ण का शिष्य स्वामी विवेकानन्द भी इसी समय राजस्थान आया और अलवर के राजा का अतिथि होकर बहुत दिन रहता रहा।

१८९३ में अलवर महाराज की प्रेरणा से अमरीका पहुँच उसने शिकागो नगर में होने वाले विश्वधर्म सम्मेलन में भारतीय वेदान्त की ऐसी सुन्दर व्याख्या की कि सारा विश्व उस पर मुग्ध हो गया। तभी जगदीशचन्द्र वसु ने भौतिक विज्ञान सम्बन्धी कई नई खोजें—छोटी विद्युत लहर, बेतार के तार आदि का सब से पहले आविष्कार कर (१८९४–९७) संसार के सामने यह भी सिद्ध कर दिया कि भारतीय जाति का मस्तिष्क किसी भी क्षेत्र में यूरप वालों से घटिया नहीं है। इससे विश्व की सभ्य जातियों की बिरादरी में भारतीयों का मान बढ़ा और अंगरेजों द्वारा अपने प्रति किया जाने वाला हीनतासूचक बरताव उन्हें अब और भी अखरने लगा। काठियावाड़ के एक नवयुवक मोहनदास कर्मचद गांधी ने तभी दक्खिन अफ्रीका पहुँच वहां यूरपियों द्वारा भारतीयों के प्रति किये जाने वाले अपमान जनक बरताव का तीव्र प्रतिवाद आरम्भ कर दिया, जिसकी खबरें भारत पहुचने पर भारत के अंगरेजीदां लोगों की आंखें भी कुछ खुलने लगीं।

श्यामजी कृष्णवर्मा मेवाड़ से अधिक तनखा मिलने पर १८९४ में जूनागढ़ का दीवान बन कर चला गया। महाराणा फतहसिंह ने, स्वाधीनता वृत्ति कुलाभिमान और तेजस्विता का गुण समान होने से जिसकी श्यामजी से घनिष्टता हो गयी थी, उसे जब कभी अवकाश हो उदयपुर आनेका स्थायी नियन्त्रण दे, बड़े अफसोस के साथ विदा किया। जूना गढ़ के भ्रष्टाचारी कर्मचारियों से श्यामजी की न पटी। उसकी

राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों की भनक अंगरेजों के राजनीतिक विभाग के कानों में पहुँचने लगी। उसने आक्सफर्ड के अपने एक अंगरेज सहपाठी मेकनाक को अपना मित्र समझकर जूनागढ़ बुला लिया था, उसीने उसका भेद खोला; जिससे श्यामजी को जूनागढ़ छोड़ १८९५ में वापस उदयपुर आना पड़ा। मेवाड़ के तात्कालिक रेज़िडेण्ट सर विलयम कर्जन वायली ने महाराणा पर दबाव डाला कि उसे मेवाड़ में न रक्खा जाय, तिसपर भी महाराणा ने उसे अपने पास रख लिया। श्यामजी ने लिखा पढ़ी कर राजनीतिक विभाग द्वारा अपने पर लगाये सब इलजामों का निराकरण किया और मेकनाक को बेईमान सिद्धकर जूनागढ़ से निकलवाया, पर राजनीतिक विभाग ने उसे अपने वहां नौकर रख लिया।

भारत की स्वाधीनता की महत्वाकांक्षा और आत्माभिमान श्यामजी में दयानन्द के सम्पर्क के कारण पहले से ही पर्याप्त था। अंगरेज सरकार से इस वैयक्तिक झगड़े ने उसमें अंगरेजों के प्रति घृणा भर दी। तभी टिलक ने उस सारे मामले को "केसरी" में प्रकाशित कराने के लिए श्यामजी से सम्पर्क कायम किया। यों श्यामजी का महाराष्ट्र के स्वाधीनतावादी युवक दलों से सम्बन्ध हुआ।

१८९६–९७ मे भारत में भारी अकाल था, तो भी अंगरेज करोड़ों का अनाज इंगलैण्ड ले गये और भारत के सामन्तों पर खर्चीले साम्राज्यवादी युद्ध चलाते रहे। इससे जनता में रोष उमड़ने लगा। तभी पूना में प्लेग फैला। अंगरेज अधिकारी संक्रान्त इलाका खाली कराने को जनता से बड़ी धृष्टता और असभ्यता से पेश आये; इससे खीझ कर पूना के एक स्वाभिमानी युवक ने दो अंगरेज अफसरों को मार डाला। टिलक ने उस घटना पर आलोचना करते हुए उसे अंगरेज अधिकारियों के जनता के प्रति चिढ़ाने वाले बरताव के विरुद्ध चेतावनी कह कर उसका समर्थन किया। टिलक को डेढ़ साल कैद की सजा मिली, ६ मराठा युवक पकड़ कर फांसी पर चढ़ा दिये गये और अनेकों को लम्बे अरसे के लिए जेल

में ठूंसा गया। श्यामजी कृष्ण वर्मा का भी हाथ इस काण्ड के पीछे था, अतः वह सपरिवार भारत से लन्दन खिसक गया। १६०५ तक वह प्रायः अज्ञात रहते हुए, वहां पढ़ने जाने वाले भारतीय युवकों में स्वाधीनता की भावना जगाने और भारत में स्वाधीनतावादी आन्दोलन को सघटित करने का जतन करता रहा। उस सिलसिले में वह प्रसिद्ध अंगरेज दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर तथा यूरप अमरीका के दूसरे क्रान्तिकारी विचारकों और नेताओं के सम्पर्क में भी आया, और उनके विचारों, क्रान्तिसम्बन्धी साहित्य तथा शस्त्रास्त्रसम्बन्धी ज्ञान और उपकरणों आदि को भारत में पहुँचाने का जतन करने लगा।

§ ११ स्वदेशी आन्दोलन

सन् १९०० में स्वामी दयानन्द के एक दूसरे शिष्य महात्मा मुन्शीराम ने अगरेजों से स्वतन्त्र अपनी एक राष्ट्रीय शिक्षाप्रणाली का विकास करने के लिए पंजाब में एक गुरुकुल की स्थापना की। १९०२ में वह गुरुकुल हरिद्वार के पास कांगड़ी गांव में स्थापित हो जाने से कांगड़ी गुरुकुल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १९०४ में वहां आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा भी भारतीय भाषा के माध्यम से दी जाने लगी। अपनी राष्ट्रीय मुक्ति के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षापद्धति का स्वय विकास करने और विदेशी शक्ति के आसरे पर निर्भर न रहने की भावना कांगड़ी गुरुकुल में आरम्भ से विद्यमान थी।

राष्ट्रीय स्वावलम्बन और राष्ट्रीय स्वाधीनता का भाव, जिसका बीजांकुर इस प्रकार पहले पहल पच्छिमी भारत—महाराष्ट्र काठियावाड़ राजस्थान—में ही, जहां भारतीय राज्यों के ध्वंसावशेष अभी तक बचे थे या उनकी स्मृति ताजी थी। उसे आरम्भ में स्वामी दयानन्द विवेकानन्द जैसे धर्मप्रचारकों का पोषण मिला। बीसवीं सदी का आरम्भ होते होते उसने एक भारतव्यापी आन्दोलन को जन्म दिया। बंगाल में जहां अंगरेजी

राज की जड़ें पहलेपहल जमीं थीं, उस आन्दोलन का पूरा जोर दिखाई दिया। बंगाल का राष्ट्रीय कवि बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय स्वामी दयानन्द का समकालिक था और जब दयानन्द ने राजस्थान में 'स्वदेशी राज अच्छे से अच्छे विदेशी राज से भी अच्छा होता है', इस मन्त्र का प्रवचन किया था, तभी (१८१८२-८३ मे) बंकिम ने 'आनन्द मठ' लिख कर वारेन हेस्टिंग्स के समय अंगरेजों से छापामार युद्ध करने वाले सन्यासियों को राष्ट्रीय योद्धाओं के रूप में अंकित कर उनके मुख से आराध्य देवी की अभ्यर्थना के मिस मातृभूमि की वन्दना करवा भारत के राष्ट्रीय गान की रचना की थी।

लार्ड कर्जन ने १८९९ में वाइसराय बनकर आते ही भारतीयों की इस उभरती हुई राष्ट्रीय भावना को कुचलने का प्रयत्न आरम्भ किया। उसने कलकत्ता बम्बई मद्रास आदि की नगर सभाओं के अधिकार कम करने की तजवीज की; युनिवर्सिटी शिक्षा को मंहगा बना उसपर सरकारी नियन्त्रण बढ़ाने और बंगाल को साम्प्रदायिक आधार पर दो भागों में बांट देने की योजना बनायी।

१८९९ से १९०३ तक के साल भारत में भीषण अकाल और संकट के थे। संवत् ५६ के अकाल के रूप में उसकी स्मृति आज भी राजस्थान वासियों के रोंगटे खड़े कर देती है। पर अंगरेजों द्वारा भारत से करोड़ों रुपयों का अन्न बाहर ले जाना और भारत के जन धन के खर्च पर सीमान्तों और दूर दूर विदेशों में अपने सम्राज्यविस्तार के खर्चीले युद्ध चलाना जारी रहा। मारवाड़ में जब लाखों मनुष्य अन्न के एक-दाने के लिए तरस कर कुत्ते बिल्लियों की तरह सड़कों पर तड़पकर दम तोड़ रहे थे, तब मारवाड़ के राजा के छोटे भाई कर्नल प्रतापसिंह की अध्यक्षता में मारवाड़ से जनता की गाढ़ी कमाई के पैसे पर एक बड़ी फौज चीन में चीनी देशभक्तों के विरुद्ध अंगरेजों के शिकारी कुत्तों का काम कर रजपूती की विडम्बना कराने को भेजी गयी थी। भारत में इससे अंगरेजी

राज के विरुद्ध असन्तोष बढ़ता गया। राष्ट्रवादियों के आन्दोलन को इससे बल मिला। बड़ौदा की शासन परिषद् के उपसभापति बंगाली दीवान अरविन्द घोष और उसके छोटे भाई वारीन्द्र बड़ौदा में रहते समय आर्यसमाज और महाराष्ट्र के स्वाधीनतावादियों के सम्पर्क में आये। १९०२ में वारीन्द्र ने सखाराम गणेश देउस्कर नामक एक मराठा युवक के साथ बंगाल जाकर वहां क्रान्ति की पौध लगाना आरम्भ किया।

१९०१ में अंगरेजों की रानी विक्टोरिया का देहान्त हुआ। लार्ड कर्जन ने उसके उत्तराधिकारी एडवर्ड ७म के राज्यारोहण-समारोह के लिए १९०३ के आरम्भ में दिल्ली में एक बड़ा दरबार रचा। उस दरबार में वह भारत भर के राजा, महाराजाओं और लोकनेताओं को एकत्र कर ब्रिटिश ताज के प्रति भारतवासियों की राजभक्ति का विराट् प्रदर्शन करना चाहता था। महाराणा उदयपुर को, जो अब फिर राष्ट्रीयता का प्रतीत बन चला था, वह उसमें विशेष रूप से सम्मिलित करना चाहता था, जिसके लिए १९०२ में उसने मेंवाड़ की यात्रा की। वह मेवाड़ में अंगरेज़ी सेना की संख्या अधिक बढ़ाने के लिए भी महाराणा पर दबाव डालना चाहता था। इसके लिए उसने भेंट के समय महाराणा के सम्मुख प्रस्तुत करने को एक नोट अपने सेक्रेटरी को पहले से तैयार करने की हिदायत कर रक्खी थी। पर महाराणा से मिलते समय वह उसके तेजस्वी व्यक्तित्व से, जैसा कि उसने बाद में अपने सेक्रेटरी के सम्मुख माना, इतना अभिभूत हो गया कि महाराणा की इच्छा के विपरीत उस विषय पर कोई चर्चा छेड़ ही न सका। कर्जन के अत्यधिक आग्रह से महाराणा फतहसिंह दिल्ली दरबार में जाने को तैयार हो गया था; पर राजस्थान के निवासियों को यह बात बहुत अधिक अखरी। स्वामी दयानन्द के शिष्य शाहपुरा के कृष्णसिंह बारहट ने, जो राजस्थान के क्रान्तिकारी स्वधीनतावादी दल का एक नेता था, इस पर एक चुभती हुई कविता लिख कर महाराणा के पास भिजवाई जो "चेतावणीरा चूंगट्य" नाम से

प्रसिद्ध है और इस युग के राजस्थानी साहित्य की एक जोरदार रचना है। केसरीसिंह ने लिखा—

> कठिण जमानो कौल बांधे नर हिम्मत विणा,
> (यौ) वीरां हन्दो बोल, पातळ सांगे पेखियो।
>
> \+ + +
>
> मान मोद सीसोद राजनीति बल राखणौ,
> (पण) गवरमिण्ट री गोद मीठा फल दीठा फतां।

अर्थात्, "जमाना कठिन है, ऐसा कौल (सिद्धान्त) मनुष्य बिना हिम्मत बांधता है" वीरों के इस वचन [के रहस्य] को प्रताप (पातळ) और सांगा ने पहचाना था।

सीसोदियों के मान का मजा राजनीति में बल रखने से था। परन्तु हे फतहसिंह! तुझे तो अब गवर्नमेण्ट (बरतानवी सरकार) की गोद में मीठे फल नजर आ रहे हैं।

कहते हैं यह कविता महाराणा फतहसिंह को चित्तौड़ से रेल में बैठकर दिल्ली रवाना हो जाने के बाद रास्ते में सरेरी स्टेशन पर मिली, उसे बड़ा पछतावा हुआ। दिल्ली पहुँच कर भी वह कर्जन के उस प्रदर्शन में सम्मिलित न हुआ और बीमारी का बहाना बनाकर उदयपुर वापिस लौट आया।

इन्दौर का राजा शिवाजीराव होळकर भी प्रबल अंगरेज-विरोधी था। होळकरवंश में जसवंतराव होळकर द्वारा दिखायी गयी स्वाधीन वृत्ति की परम्परा अभी चली आती थी। भारतीय राजाओं में स्वामी दयानन्द सरस्वती के उपदेशों का सब से प्रथम स्वागत होळकर ने ही किया था। १८७७ के दिल्ली दरबार के समय उसने दयानन्द को दिल्ली बुलाकर समस्त राजन्यवर्ग को उनसे मिलाने और उन्हें उनकी देशोन्नति की भावना समझाने का भी यत्न किया था सो कह चुके हैं। १८८१ में

दयानन्द राजस्थान आया। उसमें भी उसका उद्देश्य मुख्य तौर पर इन्दौर महाराज को भेंटना ही था। रानाडे, तिलक आदि मराठा विद्वानों के प्रयत्नों ने मराठा राज्यों में अपने पूर्व ऐतिहासिक गौरव और देश-भक्ति की भावना अब यों भी काफी चेता दी थी। महाराजा शिवाजी-राव होलकर यों भी एक प्रगतिशील और प्रजाप्रिय राजा था, जिसने गद्दी पर बैठने के बाद अपनी प्रजा की हालत सुधारने का काफी प्रयत्न किया था। वह अपने साथी दूसरे भारतीय नरेशों में देशभक्ति उभारने और उन्हें अपनी पराधीनता के प्रति अनुशोचना जगाने का भी अब बराबर जतन कर रहा था। वह अपनी दाढ़ी मूंछ मुड़ाकर रहता और पूछने पर कहता कि जिस मर्दानगी की ये निशानी होती है, अंगरेजों की गुलामी बरदाश्त करने वाले हम लोगों को उसका दावा करना अब शोभा नहीं देता। १८९२ के बाद उसने अपने राज्य में एकाएक सैनिक संघटन बढ़ाना, शस्त्रास्त्र एकत्र करना और भारतीय फौजों से गुप्त सम्पर्क कायम कर उनमें ब्रिटिश विरोधी प्रचार आरम्भ कर दिया। इनके लिए खर्च की तंगी होने पर उसने रानी अहल्याबाई द्वारा स्थापित रक्षित खजाने में से बहुत सा धन निकाल लिया, जिससे रियासत के कुछ पुराने लोग उसपर नाराज भी हुए। उसकी राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों और कार्यों की सूचनाएँ अंगरेजों को भी मिलने लगीं, जिनके कारण उसे आखिर गद्दी से उतरना पड़ा। अंगरेजों ने उसके नाबालिग लड़के को गद्दी पर बिठा दिल्ली के नानकचंद नामक एक कायस्थ को वहां का शासनाधिकारी बनाकर भेजा, जिसने इन्दौर राज से धीरे धीरे राष्ट्र-वादियों को निकाल कर वहाँ फिर अंगरेजों के मनानुकूल स्थिति पैदा कर दी।

१९०४ में लार्ड कर्जन ने बंगाल को हिन्दू मुसलमान साम्प्रदायिक आधार पर दो भागों में बांट देने की अपनी योजना को कानूनी रूप देने का कदम उठाया। बंगालियों ने उसका तीव्र प्रतिवाद किया; जिसका

समर्थन देश के प्रायः हर कोने से किया गया। १ जुलाई १९०५ को वह योजना लागू करने की घोषणा की गयी। बंगालियों ने उसके जवाब में बरतानवी माल के बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और उत्पादन बढ़ाने का एक जबरदस्त आन्दोलन उठाया। तभी जापान द्वारा रूस जैसे बड़े यूरपी राष्ट्र का पराभव कर दिया जाने से यूरप की विश्वप्रभुता के विचार को गहरी ठेस लगी। चीन से मिस्र तक सभी एशियाई देशों में उससे एक सनसनी सी फैल गई। भारत के पूर्ण स्वाधीनतावादी आन्दोलन को इससे गहरा प्रोत्साहन मिला और कांग्रेसी राजनीतिजल्पक सुधारवादियों में भी कुछ तेजी के लक्षण प्रकट होने लगे। १९०५ की बनारस कांग्रेस में बंगभंग का प्रायः सभी मत के लोगों द्वारा घोर विरोध किया गया। पर अंगरेजी कानून की परिभाषाओं से चिपके राष्ट्रीय-तेजहीन अधिकारप्रार्थी लोगों को बहिष्कार के सक्रिय कार्यक्रम के पोषण में अपनी राजभक्ति कलंकित होने की आशंका होने लगी। बहिष्कारवादियों के नेता बाळ गंगाधर टिळक, अरविन्द घोष और विपिनचन्द्र पाल थे। जनता ने कांग्रेसी सुधारार्थियों के लिए नरम दल नाम का प्रयोग आरम्भ किया; उनके मुकाबले में बहिष्कार-समर्थक लोग गरमदली कहलाने लगे।

लन्दन में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने इण्डियन सोश्योलोजिस्ट (भारतीय समाजतत्त्ववित्) नामक पत्र निकाला तथा होमरूल लीग आफ इण्डिया (भारतीय स्वराज सभा) नामक संघटन खड़ा कर अब प्रकट रूप से भारतीय स्वाधीन दल के लिए आन्दोलन आरम्भ कर दिया (जनवरी १९०५)। उसने वहां अपने खर्च पर ऐसे भारतीय विद्यार्थियों के लिए,जो अपना सारा जीवन भारत की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करने में लगाने का प्रण करें और अंगरेजों की कृपा पाने या नौकरी स्वीकार करने का कभी जतन न करने का व्रत लेने को तैयार हों, छः छात्रवृत्तियां देने की घोषणा की (दिसम्बर १९०१)। १९०६ में

लन्दन के एक अच्छे मुहल्ले में मकान बनवा भारतीय विद्यार्थियों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए वहां पचीस छात्रों के लिए निवास भोजन आदि का प्रबन्ध कर तथा पुस्तकालय वादविवाद व्याख्यान गोष्ठी आदि की सब सुविधा उपस्थित कर इण्डिया हाउस (भारत की हवेली) नाम से भारतीय स्वाधीनतावादियों* का एक केन्द्र कायम किया। विनायक दामोदर सावरकर और दिल्ली से हरदयाल जैसे अनेक देशभक्त युवक उसकी ये छात्रवृत्तियां पाकर वहां एकत्र होने और उससे देशभक्ति की शिक्षा पाने लगे।

पेरिस में श्यामजी कृष्ण वर्मा का मित्र सरदारसिंह राणा था। श्यामजी की प्रेरणा से उसने भी पेरिस से उसी की तरह की दो छात्र-वृत्तियाँ घोषित कीं। हेमचन्द्र नामक एक बंगाली युवक अपनी सारी जायदाद बेचकर पेरिस पहुँचा और विस्फोटक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने लगा। तभी उल्लासकर दत्त नामक एक दूसरा बंगाली भी बम बनाने के प्रयोग कर रहा था। वारीन्द्र घोष ने १६०४ में बड़ोदा से फिर बंगाल पहुँच सखाराम देउसकर और स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई भूपेन्द्र-नाथ दत्त से मिल "युगान्तर" नामक क्रान्तिवादी पत्र निकालना आरम्भ किया। पूरवी बंगाल में ढाका अनुशीलन-समिति और महा-राष्ट्र में अभिनव-भारतसमिति नामक क्रान्तिकारी संघटन शुरू हुए। अनुशीलन समिति की स्थापना स्वयं बाळ गंगाधर टिळक द्वारा बंगाल जाकर की गयी (जून १९०६) ।उसकी ५०० शाखाएँ अगले दो सालों में

---

* गरम और नरम दलों की विचारधाराओं को देखते हुए श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने नरम दल को अधिकारार्थी दल और उसके मुकाबले में गरम दल को राष्ट्रीय-स्वाधीनतावादी दल कहना पसंद किया है।

बंगाल और उत्तर भारत के प्रायः सभी मुख्य केन्द्रों में फैल गयीं। अभिनव-भारतसमिति की नींव अगम्य गुरु परमहंस नामक किसी अज्ञात रहस्यमय व्यक्ति द्वारा डाली गयी थी, जो कहते हैं १८५७-५८ में झांसी की महारानी के साथियों में से एक बंगाली ब्राह्मण विद्वान् था। उस संघटन का प्रसार दक्खिन भारत, गुजरात, राजस्थान, पच्छिमी युक्त प्रान्त, पंजाब और सीमाप्रान्त के अनेक स्थानों में हो गया। राजस्थान दिल्ली की शाखा का संघटन हरदयाल और मास्टर अमीरचंद की नायकता में स्थापित हुआ। राजस्थान में उस संघटन का संचालक व्रजमोहन माथुर नामक अमीरचंद का एक साथी और मित्र था जो तब जयपुर के सरकारी कलाप्रतिष्ठान के उपाध्यक्ष पद पर था। डा० लक्ष्मणराव नामक एक महाराष्ट्र और स्वामी दयानन्द के सहकारी मनीषी समर्थदान द्वारा 'युगान्तर', 'केसरी' आदि के नमूने पर राजस्थान में भी अजमेर से दो बार राष्ट्रीय पत्र निकालने का उद्योग किया गया, पर अंगरेजी पुलिस के हस्तक्षेप और त्रास के कारण वे सफल न हो सके। लक्ष्मणराव को अजमेर छोड़ जाना पड़ा।

बंगाल में उत्तर भारतीय क्रान्तिकारी दल के नाम से एक तीसरा संघटन भी खड़ा हुआ। उसका केन्द्र कलकत्ते के पास की फ्रांसीसी बस्ती चन्द्रनगर था। पूरब और पच्छिम के इन संघटनों का पारस्परिक सम्पर्क अनुशीलन समिति की बनारस शाखा द्वारा स्थापित हुआ।

यह समूचा आन्दोलन आत्मनिर्भरता के विचार पर उठा था। "हमें पूर्ण स्वाधीनता चाहिए। फिरंगी की कृपा से मिले अधिकारों पर हम थूकेंगे, हम अपनी मुक्ति आप करेंगे" यह उनका मूल मंत्र था।

कांग्रेस का वैधानिक आन्दोलन एक सुधारवादी आन्दोलन मात्र था जो अंगरेजों के शासनतंत्र में थोड़े बहुत सुधार कराने और अधिक से अधिक अंगरेजों की छत्रछाया में आन्तरिक शासन में स्वायत्तता या उपराज्य पद (डोमीनियन स्टेटस) पाने की ही माँग करता था। अतः

राजस्थानवासियों को, जिनके यहां एक प्रकार के उपराज्य ऊपर से देखने को ही सही पहले से विद्यमान थे, स्वभावतः ही उसमें कोई विशेष रुचि न हो सकती थी। आन्तरिक शासन में यहां की पुरानी राजसंस्था का ऊपरी ढांचा अभी वैसा ही बना था। उसके आभ्यन्तरिक राजनीतिक सामाजिक या आर्थिक जीवनक्रम में प्रकटतः कोई भारी परिवर्तन व्यतिक्रम या व्याघात न हो पाया था कि यहां कोई नवीन हलचल या उत्तेजना पैदा होती। अंगरेजों की छत्रच्छाया में उत्तरदायी शासन की मांग दूसरे प्रान्तों में मुख्यतः स्वतन्त्र और शक्तिशाली मध्यवर्ग के विकास का परिणाम थी। राजस्थान का राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक ढांचा अभी तक मध्ययुगीन कृषक-सामन्ती स्तर का बना था। बल्कि बरतानवी अधीनता के साथ स्वतंत्र जीविकोपार्जन के पुराने सभी रास्ते रुक जाने और स्वतंत्र प्रतिभा और पूंजी के विनियोग के प्रायः सब अवसर रुद्ध हो जाने से, पुराना जो मध्यवर्ग यहां था उसके भी अन्तर्धान हो जाने के कारण, यहां तब मुख्यतः दो ही वर्ग बच रहे थे—एक उच्च अभिजात विशेषाधिकार या भूसत्ता प्राप्त शासकों जागीरदारों आदि का वर्ग और दूसरा साधारण अशिक्षित गरीब जनता का—और उन दोनों के ऊपर विदेशी गुलामी का वेष्ठन समान रूप से लिपटा उन्हें हाथ पांव हिलाने का भी अवसर नहीं देता था। अतः राजा-प्रजा सरदारों जागीरदारों ठाकुरों आदि सभी को यदि कोई वेदना उस समय समान रूप से सताती या अनुभव होती थी, तो वह थी परदेसी की गुलामी की व्यथा,* जिसका प्रतिकार केवल पूर्ण स्वाधीनता प्राप्ति में ही हो सकता था। अतः यहां

---

*. जोधपुर के राजा के छोटे भाई कर्नल सर प्रताप का उल्लेख ऊपर हो चुका है, जो १८६६ में अंगरेजों की तरफ से चीनी देशभक्त घूसामारों (बौक्सरों) के विरुद्ध मारवाड़ की सेना लेकर लड़ने गया

के निवासियों का रुझान स्वभावतः ही पूर्ण स्वाधीनतावादियों की तरफ था। बल्कि सच कहा जाय तो जैसा कि हम कह आये हैं पूर्ण स्वाधीनतावाद का जन्म मूलतः राजस्थान या देशी राज्यों के वातावरण में ही हुआ था। स्वराज्य चाहे कितना ही फिसड्डी और गया बीता क्यों न हो, इसका बदला सुराज (अच्छा शासन) कभी नहीं हो सकता, यह विचार दयानन्द को भी परिनिष्ठित रूप से पहलेपहल मेवाड़ आकर ही फुरा था शिवाजीराव होल्कर, विवेकानन्द, श्यामजी कृष्ण वर्मा, अरविन्द घोष, वारीन्द्र आदि क्रान्ति आन्दोलन के प्रायः सभी प्रथम सूत्रधार किसी न किसी रूप में राजस्थान या उसके पड़ोस की किसी देसी रियासत से सम्बद्ध लोग ही थे। खास राजस्थान में इस आन्दोलन में आरम्भ से भाग लेने वालों में शाहपुरा का केसरीसिंह था, जो दयानन्द के शिष्य

था। उसने वहां जर्मनों रूसियों आदि के साथ साथ बराबरी से लड़कर बड़ा नाम कमाया था। चीन के बाद वह दक्षिण अफरीका में नेटाल के ओलन्देज़ (डच) वंशी गोरे उपनिवेशक बोअरों के खिलाफ अंगरेजों की तरफ से उनकी स्वतन्त्रता हरने के लिए लड़ने भी गया। इन दोनों युद्धों के अनुभवों से अंगरेजों और यूरपी लोगों की सैनिक वरिष्ठता की धाक उसके दिल से हट गयी थी। बोअर-युद्ध की समाप्ति पर बैठी यूरपी राष्ट्रों की सन्धिपरिषद् में जर्मन सम्राट् विलहैल्म कैसर द्वारा एक गुलाम देश के प्रतिनिधि को स्वतन्त्र लोगों की परिषद् में बराबरी का आसन देने पर आपत्ति उठाने पर अंगरेजों द्वारा उसे हटा दिया गया था। अंगरेजों ने उसकी सेवाओं के लिए बाद में उसे ईडर का राज दिलाया। पर वह अपने उस अपमान को न भूल सका। दूसरे राजाओं को भी इससे दुनिया में अपनी वास्तविक स्थिति का भान हो गया था; जिससे उनकी सहानुभूति क्रान्तिकारियों के साथ इस समय भीतर भीतर से थी

और महाराणा सज्जनसिंह तथा उस जमाने के दूसरे अनेक राजस्थानी राजाओं के विश्वासपात्र बारहट किशनसिंह का पुत्र था। उसके सारे परिवार ने—केसरीसिंह के छोटे भाई जोरावरसिंह, पत्नी माणककुंवर, बेटे प्रतापसिंह, लड़की चन्दमणी, जामाता ईश्वरीदान आदि ने—भी मातृभूमि के लिए कैसी आहुतियां दीं सो हम आगे देखेंगे। केसरीसिंह के अतिरिक्त खर्वा के ठाकुर राव गोपालसिंह, श्यामजी कृष्णवर्मा के व्यावसायिक साथी ब्यावर के सेठ दामोदरदास राठी तथा जयपुर के जैन विद्वान् अर्जुनलाल सेठी का भी उस आन्दोलन से आरम्भ से सम्बन्ध था।

दामोदरदास राठी ने ब्यावर में कृष्णा मिल्स नाम से राजस्थान में कपड़ा बुनने का पहला कारखाना खोला था। श्यामजी कृष्ण वर्मा उदयपुर छोड़ने के बाद कुछ दिन उस कारखाने का मैनेजर भी रहा था। १९०७-८ में अरविन्द जब राजस्थान के दौरे पर आया तो वह भी उसका मेहमान बना। स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में उसकी मिल की बनी धोतियां खूब बिकीं। राजस्थान के क्रान्तिकारियों की आर्थिक सहायता मुख्य रूप से तब दामोदरदास ही करता था। केसरीसिंह और गोपालसिंह राजाओं जागीरदारों आदि के वर्ग में तथा राजस्थान के राजपूतों के चारणों आदि में स्वदेश की स्वाधीनता की भावना जगाने तथा शस्त्रास्त्रों के संग्रह, शिक्षण तथा दूसरे प्रान्तों से भाग कर आने वाले क्रान्तिकारियों को राजस्थान में छिपाने पनाह दिलाने आदि का कार्य करते थे। सर्वसाधारण पढ़े लिखे मध्यवर्गी नवयुवकों में देशभक्ति जगाने और बलिदान की भावना विकसाने का कार्य अर्जुनलाल सेठी के जिम्मे था, जो जयपुर कालेज के प्रथम स्नातकों में से होने और दिगम्बर जैनकुल में जन्म लेने एवं जैन धर्मग्रन्थों का प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण कश्मीर से कर्णाटक और बिहार बुंदेलखंड तक फैले जैन समाज के युवकों के आकर्षण का विषय बना हुआ था। बाळ गंगाधर टिळक के साथ 'केसरी' में काम करने से उसे प्रथम दीक्षा मिली थी। उसने अब जय-

पुर में श्रीवर्धमान जैन पाठशाला नामक संस्था खोल जैन समाज ने जो राजस्थान का सबसे अधिक और साधनसम्पन्न वर्ग है, नवजागृ के बीज बोने आरम्भ किये।

स्वदेशी आन्दोलन का ज़ोर १६०४ से १९०८ तक बहुत रहा राजस्थान के मध्य-दक्खिनी-अञ्चल—सिरोही ईडर दक्खिनी मेवा वागड़ तथा मालवा गुजरात के बीच के तमाम पहाड़ी प्रदेशों—ं जहां आबादी मुख्यतः भील मीणा आदि लोगों की है, उस आन्दोल की प्रतिध्वनि में स्वामी गोविन्द नामक एक सन्यासी ने 'सम्पसभा' ना से एक संघटन उन्हीं दिनों (१९०५ में) खड़ा किया, जो भीलों आ उस इलाके की समूची जनता में परस्पर ऐक्य कायम कर उन्हें माद द्रव्यों का परित्याग करने और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कर स्वदेश ही बरतने और अपने पुराने स्थानीय उद्योगधन्धों को जिलाने प्रचार करता, एवं अपनी पंचायतों को पुनर्जीवित कर स्थानीय शास से शासन सुधार की मांगें करता था। आरम्भ में उन प्रदेशों के छोटे मो ठाकुरों जागीरदारों तथा छोटे रियासती कर्मचारियों की भी सहानुभू उक्त संघटन के साथ थी। पर अंगरेजी सरकार द्वारा दबाव पड़ने १६०८ के बाद, सैनिक कार्रवाई द्वारा उसे पूरी तरह कुचल दिया गया बांसवाड़े के महारावल शम्भूसिंह को इसी सिलसिले में प्रबन्ध करने अयोग्यता का दोष लगाकर गद्दी से उतार दिया गया और उ समूचे प्रदेश का शासन कुछ समय के लिए अंगरेजों के राजनीति विभाग ने अपने अधिकार में ले लिया।

स्वदेशी और क्रान्तिकारी आन्दोलनों से होने वाली जागृति प्रभाव भारतीय जीवन के सभी अंगों पहलुओं और वर्गों पर हुआ। रा स्थान के राज्यों में भी आर्थिक सामाजिक और शासनसंबन्धी सुधा की लहर चली। इन्दौर के महाराजा शिवाजीराव होल्कर का उल्ले हो चुका है, उसके शासनसुधार संबन्धी प्रयत्न दीवान नानकचंद के सम

भी जारी रहे। ग्वालियर के महाराजा माधवराव शिन्दे २य या माधव महाराज को, ग्वालियर राज्य की प्रजा, उसके जमीन सम्बन्धी सुधारों, दृढ़ अर्थनीति, यातायात के साधनों की उन्नति और राज्याधिकारियों और पुलिस का बरताव जनता के प्रति सुधारने के प्रयत्नों के लिए आज भी बड़ी कृतज्ञता और भक्तिपूर्वक याद करती है। कोटा के महाराव उम्मेद सिंह को भी वहां की प्रजा उसी रूप में स्मरण करती है। उदयपुर जोधपुर जयपुर और बीकानेर में भी यह युग उन्नति प्रगति और शासन-संबन्धी सुधारों का गिना जाता है। खासकर बीकानेर के महाराजा गंगासिंह ने अपने राज्य की उन्नति करने और उसकी आमदनी बढ़ाने में बड़े अध्यवसाय योग्यता और सूझबूझ का प्रदर्शन किया। उसे १६ दिसम्बर १८६८ को शासनाधिकार मिला था। उस समय उसके राज की आमदनी मुश्किल से १७ लाख वार्षिक बैठती थी। शासनाधिकार पाते ही उसने जमीन का राज्य भर में, जागीरों और ठिकानों में भी, एक सा बन्दोबस्त करा सिंचाई आदि के लिए नये नये निवान—कुएँ तालाब आदि—बनवाने और नहरें लाने की व्यवस्था की तरफ ध्यान दिया; उद्योगधन्धों व्यापार-व्यवसायों को प्रोत्साहित करने के लिए रेल सड़क आदि यातायात के साधनों को उन्नत किया; और पुलिस और न्याय की व्यवस्था एक सी कर कानूनी शासन का विकास करने के लिए जागीरदारों ठाकुरों आदि के दीवानी फौजदारी और माली अधिकारों का अन्त कर एक केन्द्रग्रथित सचिवायतन (सेक्रेटेरियट) और नौकरतंत्र पर स्थित शासनव्यवस्था बनाने का उद्योग भी आरम्भ किया। बड़े बड़े शहरों और कस्बों में नगरप्रबन्धक सभाएँ (म्यूनिसिपैलिटियां) बनायीं। १ नवम्बर १६१३ को अंगरेजी भारत के तात्कालिक विधान के नमूने पर परिमित क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित एक व्यवस्थापिका सभा (लेजिस्लेटिव एसेम्बली) स्थापित करने की घोषणा कर उसने अपने राज्य में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की ओर भी

एक कदम बढ़ाने का जतन किया। किन्तु बाद के घटनाचक्रवश उसका अधिक विकास न हो सका और वह अन्त में एक खिलौनामात्र बन कर रह गया।

महाराजा गंगासिंह पिछले दिनों में भारतीय राष्ट्रवाद और लोकतंत्र शासन के विकास का विरोधी निरंकुश और स्वेच्छाचारी राजा समझा जाता रहा है। परन्तु अपनी राजनीतिक बातों को छोड़, जिसमें कि अंगरेजों की कृपा पाने के लिए उसे अपनी राजभक्ति का बहुत सा कृत्रिम और ऊपरी प्रदर्शन भी करना होता, अपने देश और जनता को वह सच्चे दिल से प्यार करता था और उसकी आर्थिक दशा सुधारने और अपने राज्य की प्रतिष्ठा और श्रीवृद्धि करने का कोई अवसर न चूकता था। उसकी बनवाई गंगनहर तथा राजधानी में उसकी सूझ-बूझ और देखरेख में बने बहुत से सुन्दर सार्वजनिक भवन, महल, बगीचे, चिकित्सालय दरिद्रशालाएँ आदि राजस्थानियों को उसकी स्मृति चिरकाल तक दिलाते रहेंगे। १६४३ में उसकी मृत्यु के समय उसके राज्य की आमदनी २॥ करोड़ वार्षिक होने लगी थी।

§ १२. क्रान्तिकारी आतंकवादी प्रतिरोध

स्वदेशी आन्दोलन की तीव्रता के कारण लार्ड कर्जन को बंगविभाजन लागू करने के बाद एक महीने में ही भारत छोड़ना पड़ा। उसके उत्तराधिकारी लार्ड मिंटो ने १६०६ में आते ही "दायें हाथ से दमन और बायें से शमन" तथा भेद की नीति ग्रहण की। कांग्रेसी अधिकारलोलुप नरम दलियों को उसने शीघ्र ही शासनाधिकारों के टुकड़े देने का प्रलोभन देकर आन्दोलन से फोड़ लिया। साथ ही मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व की तथा व्यापार-व्यवसायों के स्वामियों और जमींदारों आदि के वर्गों को विशेष प्रतिनिधित्व की मांग करने को उकसा उसने कांग्रेसियों की शक्ति विभक्त करने का भी जतन आरम्भ किया। कांग्रेस के गरम और नरम दलों में १६०७ के सूरत अधिवेशन पर परस्पर का

विवाद मारपीट की हद तक जा पहुँचा। राष्ट्रीयतावादी गरमदल वालों को सूरत में कांग्रेस से निकल जाना पड़ा।

अंगरेजों ने अब गरमदली राष्ट्रवादियों और क्रान्तिकारियों का घोर दमन आरम्भ किया। स्वाधीनतावादी क्रान्तिकारियों ने उस विदेशी आतंक और त्रासवाद का जवाब त्रासवादी उपायों से ही देना आरम्भ किया। कलकत्ते के एक अत्याचारी अंगरेज मैजिस्ट्रेट को जिसकी बदली कलकत्ता से बिहार में मुजफ्फरपुर कर दी गयी थी, मुजफ्फरपुर में खुदीराम वसु और प्रफुल्ल चाकी नामक दो बंगाली युवकों द्वारा २० अप्रैल १९०८ के दिन बम फेंककर मृत्युदण्ड देने का जतन किया गया। टिळक ने २२ जून के 'केसरी' में उस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखा "सरकार की सैनिक शक्ति बमों से तोड़ी नहीं जा सकती। पर बम से सरकार का ध्यान उस अन्धेरखाते की तरफ अवश्य खींचा जा सकता है जो सैनिक शक्ति के कारण उपस्थित है।" "शासन पद्धति बुरी है, पर अधिकारियों को व्यक्तिशः चुनकर त्रास न दिया जायगा तो वे पद्धति को न बदलेंगे।" खुदीराम वसु को फांसी हुई और टिळक को उस लेख के लिए ६ साल का देशनिकाला और कारावास दिया गया। दमन जारी रहा। अरविन्द, वारीन्द्र आदि को पकड़ कर कलकत्ते में अलीपुर षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया गया। श्यामजी कृष्ण वर्मा, अरविन्द आदि से सम्बन्ध रखने और उन्हें अपने यहां टिकाने के लिए राजस्थान में दामोदरदास राठी के घर की भी तलाशी ली गयी। बंगाल की अनुशीलन समितियां गैरकानूनी करार दी जाने पर गुप्त संस्थाओं के रूप में कार्य करने लगीं।

लन्दन में उसी साल (१९०८) इन्डिया हाउस में ११ मई को १८५७ के प्रथम भारतीय स्वाधीनता समर की बरसी मनायी गयी। विनायक दामोदर सावरकर ने '१८५७ का स्वातंत्र्य समर' नामक ग्रन्थ लिखा था जो वहां पढ़कर सुनाया जाता रहा। उसकी अनेक प्रतियां

गुप्त रूप से सभाओं में प्रचार के लिए भारत भेजी गयीं। हरदयाल १९०७ में भारत लौट आया था और दिल्ली राजस्थान पंजाब सीमा-प्रान्त तथा पच्छिमी युक्त-प्रान्त में संघटन फैलाने और मजबूत करने में लगा था। एक साल बाद वह फिर भारत से वापिस यूरप चला गया। तभी लन्दन में मेवाड़ के भूतपूर्व रेज़ीडेंट सर विलियम कर्जन वायली को, जिसने १८९५ में श्यामजी को मेवाड़ से निकालने का जतन किया था और जो अब लंदन में अंगरेजों के भारतमन्त्री के दफ्तर में उसके प्रधान सहकार के पद पर रह कर भारतीय विद्यार्थियों से हिल मिल कर उनके भेद लेने का जतन करता था, मदनलाल धींगड़ा नामक एक पंजाबी युवक द्वारा, जो कि इण्डिया हाउस का ही एक छात्र और सावरकर हरदयाल की अभिनव-भारत-समिति का सदस्य था, प्राणदण्ड दिया गया। १ जुलाई १९०९। अंगरेजों का सन्देह स्वभावतः श्यामजी कृष्ण वर्मा पर गया। पर श्यामजी पहले से ही लन्दन छोड़ पेरिस जा बसा था। विनायक सावरकर को पकड़कर दो आजन्म कारावासों की सजा दी गई। उसके बड़े भाई गणेश सावरकर को पहले ही वैसी सजा दी जा चुकी थी। राजस्थान में गवालियर राज में अभिनव-भारत-समितियों के अनेक सदस्य पकड़े गये। उनपर गवालियर राजनीतिक षड्यंत्र नाम से दो मुकदमे चले और बहुतों को लंबी लंबी सजाएँ दी गयीं।

राजपूताने में केसरीसिंह बारहट आदि जिनकी पहुँच बारहट होने से सब जगह राजदरबारों में थी, राजपूतों में, देश की आज़ादी प्राप्त करने में क्रान्तिकारियों का साथ दे भारत में फिर से अपना राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा जगाने का प्रयत्न कर रहे थे। किशन-गढ़ में पंडित जगदीश नामक अजमेर का रहनेवाला एक व्यक्ति उन्हीं दिनों वहां के नाबालिग राजा मानसिंह का शिक्षक था। उसके सम्पर्क से मानसिंह का संबन्ध भी क्रान्तिकारियों से हो गया था। राजस्थान गुजरात के दूसरे अनेक राजाओं और ठिकानेदारों से भी उसका सम्पर्क

था, जिसकी भनक अंगरेजों को मिल गयी। किशनगढ़ में किसी मामले पर जनता ने एक जोरदार अंगरेज़-विरोधी प्रदर्शन किया। पंडित जगदीश पर वारंट निकाला गया। वह भाग कर बड़ौदा के शिवपुर ठिकाने के सरदार के पास जा छुपा, और पीछे पकड़ा जाकर किशनगढ़ भेजा जा रहा था जब क्रान्तिकारियों ने रास्ते में उसे भगा लिया। अन्त में वह फिर अजमेर में पकड़ा गया। किशनगढ़ में उसपर मुकदमा चला। राजा मानसिंह ने मुखबरी की और संकेत लिपि में उसकी लिखी अनेक चिट्ठियां आदि पढ़कर अपनी गुरुदक्षिणा चुकायी। किशनगढ़ जेल में उसे विष देने के भी कई जतन किये गये। उसका देहान्त वहीं जेल में हुआ।

हरदयाल भारत से जाने के बाद कुछ दिन मिसर में रह वहां के तरुणों में देशभक्ति और बरतानवी आधिपत्य के विरुद्ध जागृति पैदा करता रहा। वहां से १६१० में इटली फ्रान्स जर्मनी आदिमें स्थित भारतीय देशभक्तों और क्रान्तिकारियों से मिलता रहा। कुछ भारतीय देशभक्तों और जर्मनों ने उसे सलाह दी कि अमरीका में जीविकोपार्जनार्थ बड़ी संख्या में गये हुए पंजाबी सिक्खों में जो कि अंगरेजों की हिन्दुस्तानी सेना के मुख्य घटक होते थे, जागृति पैदा करने के लिए जाय। इन सिक्खों में भी कुछ क्रान्तिकारी स्वयं पैदा हो चुके थे जिन्होंने सानफ्रांसिसको में एक 'युगान्तर आश्रम' स्थापित कर 'गदर' नामक अखबार निकालना आरम्भ किया था। करतारसिंह नामक एक तरुण क्रान्तिकारी ने हरदयाल को उसके सम्पादन के लिए बुलाया। 'गदर' शीघ्र ही भारत की विभिन्न भाषाओं में छपकर हजारों की संख्या में भारत पहुँचने लगा।

भारत में वातावरण को कुछ शान्त करने के लिए अंगरेजों ने २५ मई १६०६ को मार्ले-मिण्टो शासन सुधार योजना को स्वीकार कर उसे शीघ्र ही लागू करने की घोषणा कर दी। मई १६१० में अंगरेजों

का सम्राट् एडवर्ड ७वां चल बसा और उसका लड़का जार्ज ५ वां गद्दी पर बैठा। लार्ड मिंटो अपनी दमन और भेदनीति के कारण भारत में काफी बदनाम हो चुका था, अतः लार्ड हार्डिंज को भारत का नया वायसराय बनाकर भेजा गया। भारत के वातावरण की क्षुब्धता को शान्त करने और लोगों की राजभक्ति की भावना को उभार कर क्रान्तिकारियों के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिये अगले साल सम्राट् जार्ज पंचम स्वयं भारत आया। अंगरेजों ने भारत में उसका राज्यारोहण समारोह मनाने के लिए १२ दिसंबर को दिल्ली में एक बड़ा राजदरबार रच भारतीय प्रजा की राजभक्ति का बृहत् प्रदर्शन करने की योजना की। मेवाड़ का महाराणा फतहसिंह ऐन मौके पर लड़के की बीमारी का बहाना बना उस प्रदर्शन में सम्मिलित होने से टरक गया और बड़ोदा के सयाजीराव गायकवाड़ ने दरबार के समय निर्धारित शिष्टता के व्यवहार की अवहेलना कर अंगरेज़ सम्राट् के प्रति अवज्ञा दिखाकर उस प्रदर्शन की महत्ता किरकरी कर दी। अंगरेजी अमला-दल इस पर बहुत बिगड़ा, पर भारतीय जनता ने अपने इन दोनों राजाओं के उस व्यवहार से एक तरह का राष्ट्रीय गर्व का सा अनुभव किया। चारों तरफ की स्थिति की विकटता को देख अंगरेज शासकों ने उन मामलों को अधिक तूल न पकड़ने दिया।

बंगभङ्ग की योजना शाही फरमान द्वारा रद्द की गयी। राजधानी कलकत्ते से जहां आये दिन क्रान्तिकारियों के उपद्रवों के मारे अंगरेजों को अपना साधारण शासनकार्य चलाना भी दूभर होता जाता था, बदल कर भारत की पुरातन राजधानी दिल्ली में ले आने की घोषणा की गयी। इस प्रकार सर्वसाधारण जनता के मन पर यह विचार जमाने का भी जतन किया गया कि बरतानवी साम्राज्य अब भारत के मुगल साम्राज्य का ही स्थानापन्न है। देश के सार्वजनिक जीवन में इसके बाद फिर मुर्दनी सी छाती दिखायी दी।

पर पूर्ण-स्वाधीनतावादियों के दिल पर इस सबका कोई असर न पड़ा। इन्होंने अब अपना संघटन और दृढ़ और व्यापक आधारों पर करने का जतन किया। बंगाल के विभिन्न संघटनों में परस्पर एकता कायम करने और पूरब और पच्छिमी भारत के संघटनों में परस्पर घनिष्ठता और संबन्ध बनाने की चेष्टाएँ हुईं। बनारस में शचीन्द्रनाथ सान्याल नामक युवक अनुशीलन-समिति का केन्द्र चलाता था। उसका सम्पर्क चन्द्रनगर वाले उत्तर भारतीय क्रान्तिदल के एक नेता रासबिहारी वसु से हुआ जो उन दिनों अंगरेजों के देहरादून स्थित वन खोज-प्रतिष्ठान (फौरेस्ट रिसर्च इंस्टिट्यूट) में मुख्य लेखक के पद पर कार्य करता था। उनके प्रयत्नों से बंगाल के दलों का आपस में और पच्छिमी भारत के—पच्छिमी युक्तप्रान्त, राजस्थान, पंजाब और सीमा प्रान्त आदि के—अभिनवभारत सभा आदि संघटनों से संबन्ध जुड़ा। राजस्थान में वीर भारत सभा नाम का एक नया गुप्त सैनिक संघटन भी खड़ा किया गया जिसमें राजस्थानवासियों को, खासकर राजपूतों तथा दूसरे अधिकारप्राप्त शासकों और सैनिकों के वर्ग को, अपने पूर्व गौरव का स्मरण दिला बड़े पैमाने पर भरती करने का जतन किया जाने लगा।

२३ दिसम्बर १९१२ को लार्ड हार्डिंज ने बड़ी सजधज के साथ अपनी नयी राजधानी में प्रवेश किया। क्रान्तिकारियों ने रासबिहारी वसु की नायकता में बीच चांदनी चौक उसकी सवारी के हाथी पर बम फैंक कर अंगरेजों के उस रौब को गहरा आघात पहुँचाया और अंगरेजों को मानो यह सूचना दी कि बंगभंग रद्द करने से वे शान्त होने वाले नहीं हैं। रासबिहारी और उसके साथी उस कांड के बाद दिल्ली से बावजूद अंगरेजों की पुलिस और फौज के कड़े घेरे और गहरी छानबीन के, बेलाग निकल गये और साल भर तक पुलिस लाख कोशिश करके भी उनका कोई सुराख न पा सकी। इससे उनके संघटन

की धाक और बढ़ी।

उधर दक्खिन अफरीका में मोहनदास कर्मचन्द गांधी तभी वहां के गोरे अधिवासियों द्वारा वहां जाकर बसने वाले भारतीयों के प्रति जातिभेदमूलक अपमानकारक अन्यायपूर्ण बरताव के विरुद्ध सविनय अवज्ञा या सत्याग्रह का युद्ध सफलता पूर्वक चला रहा था, जिसकी खबरें पहुँचने से भारतीयों का आत्मविश्वास काफ़ी जगने लगा।

क्रान्तिकारियों ने अब देश में सशस्त्र राजक्रान्ति की तैयारियां आरम्भ कर दीं। हार्डिंज पर बम फेंकने के महत्त्व को समझाने वाले परचे देश में सर्वत्र व्यापक रूप से बाँटे गये। उन परचों में राजस्थान, महाराष्ट्र आदि के निवासियों को, जो भारत की पूर्ण स्वाधीनता के नारे को पहले पहल बुलन्द करके, १९०९-१० के बाद ढीले पड़ चुके थे, फिर से चेतन होकर बंगालियों के साथ मिलकर मातृभूमि की बेड़ियां काटने को उकसाया गया था।

विलायत में इस बीच एक समय में एक कारतूस भर कर चलाने वाली पुरानी तोड़ेदार हैड्री मार्टिन बन्दूकों की जगह एक ही बार तीन चार कारतूस भर कर एक के बाद एक चला सकने वाली नई बन्दूकों की ईजाद हुई थी। अंगरेजों ने भारत में अपनी फौज और सशस्त्र पुलिस को भी यही अस्त्र दिया। अपनी पुरानी उतरी हैड्री मार्टिन बन्दूकें उन्होंने राजस्थान में जहां अभी शस्त्र कानून लागू न था, अच्छे दामों पर बाज़ारों में बेच दीं। किन्तु उसमें चालाकी यह की कि सौ से अधिक कारतूस एक बन्दूक के साथ किसी को न दिये। बाद में उन कारतूसों का बेचना बिलकुल बंद कर दिया जिससे बेकार होकर वे बन्दूकें यहां बहुत सस्ते दामों पर दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह रुपयों में बड़ी संख्या में मिलने लगीं। क्रान्तिकारियों ने उनका संग्रह करने के लिए भोपसिंह नामक युवक को, जो बाद में विजयसिंह पथिक नाम से प्रसिद्ध हुआ, अजमेर भेजा। कारतूसों की कमी को पूरा करने के लिए भोपसिंह पुराने कारतूसों

फिर भरने और नये कारतूस बनाने तथा पुरानी टूटी बन्दूकों की
मत का काम सीखने को अजमेर के रेलवे कारखाने में भरती हो
। । उसकी सहायता से क्रान्तिकारियों ने उन कारतूसों के बनाने
ने और बन्दूकों की मरम्मत के कई गुप्त कारखाने भी राजस्थान में
ठ लिये ।

भोपसिंह के पूर्वज व्रज के जिला बुलंदशहर के पास मालागढ़ के
ने वाले थे । उसके दादा मालागढ़ के नवाब एक पठान सरदार के
ान थे । १८५७ के स्वाधीनता-युद्ध में नवाब लखनऊ को अंगरेजी
से छुड़ाने के लिए गया, तब मालागढ़ की अँगरेजी आक्रान्ताओं
क्षा का काम उनके दादा पर छोड़ गया था । उसकी रक्षा उन्होंने
ते दम तक वीरता से की थी । युद्ध की विफलता के बाद अंगरेजों ने
ाब को पकड़ कर फांसी लटका दिया और उसकी जागीर जायदाद
त कर उसके गद्दार नौकरों में जागीरदारियोंकेरूप में बांट दी थी, जिनमें
दो गांव एक गुठावली कला और गुठावली खुर्द-सैय्यद मुस्ताक अली
वंशजों के पास अभी तक विद्यमान हैं । भोपसिंह के पिता और परि-
र के दूसरे लोगों को १८५७ के बाद बहुत दिन तक फरार जीवन
ताना पड़ा था और अन्त में आम मुआफी की घोषणा के बाद
। वे अपने गांव में वापिस जाकर आबाद हुए तब भी अंगरेजी
लेस और उन देशद्रोही जमींदारों की वजह से बहुत दिन तक उन्हें
स भोगना पड़ा था । भोपसिंह के पिता का देहान्त उसकी छोटी उमर
इन सब कठिनाइयों की दशा में हुआ था और उसके चाचा आदि
भी उस त्रास से मुक्ति अंगरेजों की फौज में नौकरी स्वीकार करने
ही मिली थी । भोपसिंह का एक चाचा बलदेवसिंह इस प्रकार मऊ
। छावनी में सूबेदार था, जब इन्दौर के महाराजा शिवाजीराव होल्कर ने
८९२ के बाद अंगरेजों के विरुद्ध सैनिक विप्लव खड़ा करने की चेष्टा
ारम्भ की थी और महाराजा के साथ उस षड़यन्त्र में बलदेवसिंह का

मुख्य हाथ था । मऊ की छावनी की फौजों का सम्पर्क महाराजा के साथ उसी के जरिये था। बालक भोपसिंह का लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा सब अपने इसी चचा के पास मऊ और इन्दौर में हुई थी। १९१०-११ में इन्दौर में पढ़ते समय ही अपने एक साथी द्वारा उसका शचीन्द्र सन्याल से सम्पर्क हुआ और वह शचीन्द्र के दल में शामिल हो गया। १९११ में उसे शस्त्रास्त्रसंग्रह और राजपूतों आदि से सम्पर्क बनाने के लिए रास-बिहारी वसु द्वारा राजस्थान भेजा गया।

क्रान्तिकारियों को जनता सेना आदि में प्रचार और देश-विदेशों में शस्त्रास्त्र संग्रह के लिये चल रही इस प्रकार की अपनी अनेक योज-नाओं के लिए इस समय धन की बड़ी आवश्यकता थी। राजस्थानी रियासतों के राजाओं आदि से भी उन्हें उसके लिये कुछ सहायता मिलती थी। जोधपुर, ईडर का शासक कर्नल सर प्रताप, बीकानेर का गंगासिंह और बड़ोदा का सयाजीराव आदि कुछ तो उनकी वीर-भारत-समिति के सदस्य हो गये थे। उदयपुर के महाराणा फतहसिंह, कोटा के राव उमेदसिंह आदि की भी उनसे छिपी सहानुभूति थी। फिर भी वह सहायता एक तो पर्याप्त नहीं थी, दूसरे क्रान्तिकारी जहाँ स्वराज्यप्राप्ति के बाद देश में सब लोगों का एक जनसत्तापरक राष्ट्रीय राज्य स्थापित करना चाहते थे, वहाँ राजा लोग अधिकांश में—गायक-वाड़ जैसे किसी-किसी शासक को छोड़ जो कि सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता और जनसत्ता स्थापित करने की भावना से प्रेरित थे—अभी तक अपने मध्यकालिक सामन्ती आदर्शों से ऊपर न उठ पाये थे, और सिर्फ अपने निजी विशेषाधिकारों का दायरा बढ़ाने के लिए ही अंगरेजी नियंत्रण से मुक्त होने को आतुर थे। अच्छे शस्त्रास्त्र और साधनों पर वे अपना कब्जा रखना और उन्हें क्रान्तिकारियों के हाथ न पड़ने देना चाहते थे। वे, खास कर जोधपुर बीकानेर आदि के राठौड़, आपस में प्रायः चर्चा करते कि यदि क्रान्ति सफल हो गयी, जिसके कि सफल

होने की उस समय चारों तरफ चल रही गुप्त तैयारियों को देखते हुए बहुत कुछ आशा थी, तो क्रान्तिकारियों में अधिकांश तो उनमें खप चुके होंगे और जो बाकी रहेंगे उन्हें वे अपने वरिष्ठ शस्त्रास्त्रों और साधनों की बदौलत आसानी से अपने वश में कर अधिकार हथिया लेने में शीघ्र ही सफल होंगे। क्रान्तिकारी भी उनकी इस मनोवृत्ति को शीघ्र भाँप गये थे। भोपसिंह ने जो अपने को उन दिनों राठौड़ कहता और उनके संघटनों में खूब हिलता मिलता था, उसकी सूचना रासबिहारी आदि को दे दी।

बंगाल के क्रान्किारीत अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति राजनीतिक डाके डालकर करते थे *। कुछ राजस्थानियों ने भी उनकी देखादेखी उस मार्ग का अनुसरण करने की चेष्टा की।

---

* अपने जिन देशवासियों की स्वतंत्रता के लिए ये क्रान्तिकारी जतन कर रहे थे, उन्हीं पर इनका इस तरह डाके डालना क्या उचित था? क्रान्तिकारियों का उत्तर था कि देश में जो समुदाय अपनी अधिकांश जनता का शोषण कर सिर्फ पैसा इकट्ठा करना ही अपना उद्देश्य बनाये था, देश की पराधीनता और दुर्दशा का जिसको कुछ भी दर्द न था, उससे उनका इस प्रकार इस धन का कुछ अंश देश की स्वाधीनता के प्रयत्नों के लिये ले लेना ठीक वैसा ही कार्य समझा जाना चाहिए जैसा एक शल्यचिकित्सक द्वारा किसी रोगी को नश्तर देना। इसके लिए वे गीता और उपनिषदों से यह प्रमाण उद्धृत करते थे कि "हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।" "न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते। न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया।" अर्जुनलाल सेठी, जो जैनशास्त्रों के एक प्रकाण्ड मर्मज्ञ विद्वान् थे, कहा करते थे कि जैनशास्त्रों के अनुसार हिंसा का तत्त्व द्वेषमूलक आचरण है, वधात्मक कर्म को हिंसा नहीं कहते।

अर्जुनलाल सेठी की जैन पाठशाला में, जो कश्मीर से कर्णाटक और बिहार बुन्देलखंड तक के युवकों को क्रान्तिदीक्षा देने का उन दिनों एक बड़ा केन्द्र था, विष्णुदत्त नामक एक मिर्जापुरी ब्राह्मण युवक उन दिनों अध्यापक का काम करता था। उसका संभवतः बंगाल की अनुशीलनसमिति से सम्बन्ध था, और उसी की तरफ से कार्य करने को राजस्थान भेजा गया था। वह खर्वा के ठाकुर गोपालसिंह के पास भी, जो क्रान्तिकारियों और रियासती दलों के बीच उन दिनों मुख्य कड़ी का काम करता था, आया जाया करता था। दिल्ली बमकांड के तीन महीने बाद, उसने सेठी की पाठशाला के चार विद्यार्थियों को—जिनमें से दो मोतीचन्द और माणिकचन्द महाराष्ट्र में शोलापुर के रहने वाले जैन युवक थे, तीसरा जयचन्द कश्मीर के पुंच ठिकाने के छुटभइयों में से था और चौथा जोरावरसिंह केसरीसिंह बारहट का छोटा भाई था—साथ लेकर बिहार के आरा जिले में स्थित नीमेज़ गाँव के जैन उपासरे पर छापा मारा (२० मार्च १९१३ ई०)। वहाँ काफी धन समझा जाता था। महन्त तो मारा गया, पर चाबियां न मिल सकने से रुपया हाथ न लग सका। तभी कोटा के दल ने भी, जिसमें केसरीसिंह बारहट, हीरालाल जालोरी, गुरुकुल काङ्गड़ी के संस्थापक महात्मा मुंशीराम की पोषित पुत्री के पति डा० गुरुदत्त और कोटा राज्य का प्रमुख जागीरदार और उच्च पदाधिकारी आबजी, जो बाद में अरसे तक कोटा राज्य का दीवान भी रहा, आदि अनेक लोग शामिल थे, जोधपुर के एक प्रसिद्ध दुश्चरित्र धनी महन्त से समझा-बुझाकर क्रान्ति के लिए सहायता पाने का जतन किया। वह महन्त अपनी एक पोली लाठी में बहुत से कीमती जवाहरात भरे रखता था। उसके स्वेच्छा से कुछ न देने पर क्रान्तिकारियों ने वह लाठी ले लेने चेष्टा की। महन्त उस प्रसङ्ग में मारा गया, पर उस लाठी को खोलने पर उसमें सिर्फ कोयले निकले, क्योंकि महन्त अपने जवाहरात उससे पहले ही कहीं छिपा चुका

था, जिसका पता नहीं लगा। कोटा के दल को इस समय इस रकम की जरूरत पंजाब के क्रान्तिकारी नेता बाबा गुरदितसिंह की कोमागातामारू योजना में सहायता देने के लिए थी। कैनाडा में उस समय भारतीय श्रमियों का आना रोकने के लिए ऐसा कानून बनाया गया था कि वही श्रमी वहां दाखिल हो सकें जो अपने देश के जहाज में आयें। गुरदितसिंह एक जापानी जहाज कोमागातामारू को भाड़े पर लेकर उसमें पंजाबी मजदूरों को ले गया। वह यह देखना और पंजाबी मजदूरों को दिखा देना चाहता था कि बरतानवी साम्राज्य के उपनिवेशों में भारतीयों की क्या हैसियत है।

अर्जुनलाल सेठी की जैन पाठशाला की ओर जनता का ध्यान उन दिनों यों भी बहुत खिंच रहा था। शेखावाटी का रहने वाला रामनारायण चौधरी अपने एक छोटे भाई को उसमें भरती कराने जाकर, उन्हीं दिनों सेठी के सम्पर्क में आया (जुलाई १९१३) और धीरे-धीरे क्रान्तिकारियों के दल में सम्मिलित हो गया। उसकी तरह राजस्थान के दूसरे पिछले अनेक सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की शिक्षा-दीक्षा भी पहलेपहल उसी पाठशाला में हुई थी। किन्तु इन कांडों के बाद पुलिस की निगाहें भी उस पाठशाला पर पड़ने लगीं। अतः सेठी को जयपुर के सेठ कल्याणमल आदि की सलाह से, जो उस पाठशाला का सारा खर्चा उठाते थे, उसके बाद शीघ्र ही उसे उठाकर इन्दौर चले जाना पड़ा। इसी समय खर्वा के ठाकुर गोपालसिंह पर भी अंगरेजों की दृष्टि पड़ी। उससे कैफ़ियत तलब की गयी। दूसरी रियासतों से भी पूछताछ आरम्भ हो गयी। राजा लोग अपने सामान्य रियासती कर्मचारियों पर इस प्रकार के पत्रव्यवहार का भेद प्रकट होने देना न चाहते थे। उन्होंने क्रान्तिकारियों से इसके लिये अपने विश्वस्त आदमी माँगे। इस अवसर का लाभ क्रान्तिकारियों ने, राजा लोग समय पर कोई विपरीत कार्य न

कर सकें, इसके लिए उनपर भी नज़र रखने को अपने आदमी रियासतों में रखा लेने में उठाया। भोपसिंह खर्वा के ठाकुर राव गोपालसिंह का उपस्थापक (प्राइवेट सेक्रेटरी) नियत हुआ। भाई बालमुकुन्द नामक एक पंजाबी युवक को जोधपुर महाराज कुमार के शिक्षक रूप में नियुक्त किया गया। बीकानेर में इसी प्रकार बा०मुक्ताप्रसाद आदि अनेक लोग नियत हुए। राजनीतिक विभाग और रियासतों के बीच का गुप्त पत्र-व्यवहार इस प्रकार अब क्रान्तिकारियों की आँखों से गुजरने लगा।

उधर अमेरिका में गदर दल का प्रचार इस समय जोरों पर चल रहा था। १९१३ में उस दल ने तीन सिक्खों के एक मंडल को प्रकट रूप से भारत में जनता को वहां के पंजाबी व प्रवासियों की कठिनाइयों से परिचित कराने तथा भीतर भीतर क्रान्ति की इन तैयारियों से संपर्क कायम करने और देश की भीतरी हालत को अच्छी तरह देख समझ आने को भेजा।

नीमेज़ और कोटा कांडों के बाद १७ मई १९१३ को लाहौर के लारेन्स बाग के फाटक पर एक बम फटा। उसकी तहकीकात के सिलसिले में पुलिस को दिल्ली बम कांड का भी कुछ सूराख शुरू १९१४ तक मिल गया। दिल्ली में मास्टर अमीरचन्द आदि पकड़े गये। अर्जुनलाल सेठी पर भी संदेह गया। इन्दौर में उसकी तलाशी के समय शिवनारायण नामक उसकी जयपुर पाठशाला का एक पुराना छात्र वहां ठहरा था, जिसकी जेब से कुछ सन्देह जनक कागज़ मिले। उसके बयानों से नीमेज और कोटा कांडों के रहस्य भी खुल गये। नीमेज कांड के विष्णुदत्त, और मोतीचन्द पकड़े गये, बाकी माणिकचन्द, जयचन्द्र और जोरावरसिंह फरार हो गये। कोटा में केसरीसिंह, हीरालाल जालोरी आदि पर महन्त की हत्या का लंबा मुकदमा चला। उनकी तमाम संपत्ति जब्त कर ली गयी, यही नहीं, शाहपुरा में केसरीसिंह के भाई बन्दों की, जिनका कि राजनीति से कोई घुणाक्षर सम्बन्ध भी न था, जागीरें भी जब्त हो गयीं।

दिल्ली षड्यंत्र के सिलसिले में कश्मीर से कन्याकुमारी तक कोई डेढ़ सौ दो सौ आदमी गिरफ्तार किये गये। राजस्थान से केसरीसिंह का बड़ा लड़का प्रतापसिंह, जंवाई ईश्वरीदान, छोटेलाल जैन आदि भी गिरफ्तार किये गये, पर कोई सबूत न मिलने से छोड़ दिये गये। लंबी तफतीश के बाद और बहुत से लोग भी छूट गये, सिर्फ १३ आदमियों पर अन्त में मुकदमा चला। दीनानाथ नाम का एक अभियुक्त मुखबिर हो गया था। उसके बयान से हरदयाल के देश विदेश में किये कारनामों और संघटन चेष्टाओं का पता पुलिस को मिला। वह उन दिनों अमरीका में वहां के जरमन दूत से मिल भारत में विप्लव होने की दशा में सहायता और अन्य तरह की सैनिक सहायता प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था। ६ मार्च १९१४ को जर्मन अखबार टागेब्लाट में भारत की स्थिति पर एक लेख छपा, जिसमें दिखाया गया कि भारत विप्लव के लिए तैयार है। अंगरेजों ने हरदयाल को पकड़कर अपने सुपुर्द कर देने के लिए अमरीकियों को मनाया। पर १६ मार्च १९१४ को वह अमरीकियों की गिरफ्त से निकल भागा।

४ अप्रेल को बाबा गुरुदत्तसिंह का कोमागातामारू जहाज को किराये पर लेने का सौदा हाङकाङ में एक जर्मन की मदद से पटा और २३ मई को वह अपने साथियों समेत कनाडा के पूर्वी बन्दरगाह बंकोवर पर जा पहुँचा। कनाडा सरकार ने उन्हें वहां उतरने न दिया, अतः दो मास तक वे अपने जहाज ले उसी बंदरगाह पर अड़े रहे। पुलिस ने उन्हें वहां से भगाना चाहा पर उन्होंने डट कर उसका मुकाबला किया। तब जंगी जहाज की मदद से वे वहां से मुश्किल से भगाये गये।

§ १३. पहला विश्वयुद्ध, भारत में विप्लवचेष्टा

भारत में हार्डिंज बमकांड तथा नीमेज और कोटा कांडों की तफतीश

अभी हो ही रही थी कि ४ अगस्त १९१४ को यूरप में अंगरेजों का जरमनी से युद्ध छिड़ गया। भारतीय क्रान्तिकारियों को भी अपनी विप्लव की तैयारियों की रफ्तार एकदम तेज कर देनी पड़ी। अमरीका में भारत की आजादी के लिए लड़ने वाले स्वयंसेवकों की भरती गदर दल में खुले आम होने लगी और झुण्ड के झुण्ड सिक्ख इस मौके का लाभ उठा आजादी का जंग छेड़ देने का स्वदेश पहुँचने की तैयारियें करने लगे। कलकत्ते में क्रान्तिकारियों ने रौड्डा कम्पनी नामक एक यूरो शस्त्रविक्रेताओं के सामान में से ९-१० पेटी मोज़र पिस्तौलें और दूसरा सामान उड़ा लिया (२६-८-१९१४)।

राजस्थान में बीकानेर का राजा गंगासिंह अंगरेजों की मदद के नाम पर अपनी रियासत से २५ हजार सेना भरती कर लेना चाहता था, पर उसे इजाजत न मिली। उलटा उसकी सेना का सर्वोत्तम भाग गंगा रिसाला अंग्रेजी सरकार ने उससे लेकर स्वेज के क्षेत्र में पहरा देने को भेज दिया (अगस्त, १९१४)। महाराजा ने चाहा कि उसे भी अपनी सेना के साथ रहकर युद्ध का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिले, पर अगरेजों को भारत में किसी तरह का उच्चकुलीन सैनिक नेतृत्व बनने का मौका देना अभीष्ट न था। इसके अलावा केसरीसिंह के सामान की तलाशी में वीर भारत सभा के सदस्यों की गुप्त सूचियां उन्हें मिल चुकी थीं। जोधपुर में भाई बालमुकुन्द जो महाराजकुमार का शिक्षक रहा था, दिल्ली षड्यन्त्र का अभियुक्त बन चुका था, और मास्टर विष्णुदत्त आदि से इन राजपूतों की घनिष्ठता के बारे में राजनीतिक विभाग की ओर से पूछताछ पहले से चल रही थी। इस सबसे अंगरेज इन रियासतों से चौकन्ने थे। अतः गंगासिंह को अपनी फौज के साथ रहने की इजाजत देने के बजाय उसका अपनी रियासत में रहना भी खतरनाक समझ सम्राट् का अंगरक्षक नियुक्त करने के बहाने उसे इंग्लैण्ड जाने को बाधित किया गया। दूसरी रियासतों के राजा भी अपनी राजभक्ति

के लंबे बयान देकर और क्रान्तिकारियों से अपने पिछले संपर्कों की सफाई में तरह तरह के उत्तर देकर क्रान्ति आरंभ होने की प्रतीक्षा में लम्बे पत्रव्यवहार द्वारा समय निकालने का जतन करते रहे। जोधपुर के शासक सर प्रताप ने, बालमुकुन्द आदि से सम्पर्क होने का सारा दोष अपने भतीजे महाराज सरदारसिंह के मत्थे मढ़ किसी तरह अपनी जान बचाई। महाराजा को गद्दी से उतार कुछ दिन के लिए पचमढ़ी में नजरबन्द कर दिया गया और वहाँ का शासन सर प्रताप के नेतृत्व में बनी एक शासन-समिति के हाथ में रख दिया गया।

उधर हरदयाल अमरीका से भागकर जरमनी चला गया था और वहाँ भारतीय देशभक्तों का ज्यूरिख की 'भारत-मित्र-सभा' के अधीन संघटित कर जरमन सरकार से संपर्क बनाने का जतन कर रहा था। जरमनों ने युद्ध छिड़ते ही फ्रांस पर एकाएक जोरदार हमला कर उसके प्रदेश में धँसना आरम्भ कर दिया। अगस्त १९१४ के अन्त तक वे फ्रांस की राजधानी पेरिस से ६० मील की दूरी तक जा पहुँचे। पर वहाँ फ्रांसीसियों ने अपनी सारी शक्ति खींचकर अंगरेजी साम्राज्य की शक्ति की मदद से उनकी प्रगति रोक दी। एक जरमन लेखक के अनुसार "फ्रांस की खंदकों में बालू से भरे जो बोरे थे, वे भारत की जूट (पाट) के बने हुए थे और उनके पीछे जो सिपाही गोली दागते थे वे भी सब भारतीय थे।"

इधर अंगरेजों ने युद्ध शुरू होते ही अफ्रीका में भारत से बहुत बड़ी फौज ले जा जरमनों के तमाम उपनिवेशों का सफाया करना आरंभ कर दिया। इस दशा में जरमन नेताओं का ध्यान स्वभावतः भारतीय क्रांतिकारी देशभक्तों की तरफ गया। तुर्की को युद्ध में अपनी अपनी तरफ खींचने के लिये जरमनी और बरतानिया दोनों की तरफ से दांव-पेंच चले जा रहे थे। शुरू सितम्बर में जरमनी से हरदयाल भी इस्ताम्बूल पहुँचा। वहाँ उसका संपर्क राष्ट्रवादी तरुण तुर्कों के दल से हुआ।

भारतीय क्रांतिकारियों की तरह उस दल का उत्थान भी १६०५ में रूस-जापान युद्ध के बाद हुआ था और उन्हीं की तरह वह भी अपने देश को, जो "यूरप का बीमार आदमी" कहलाता था, मध्यकालिक मज़हबी अन्ध विश्वास के बन्धनों से छुड़ाकर शुद्ध राष्ट्रीय आधार पर खड़ा करना और आधुनिक विज्ञान की सहायता से एक शक्ति-शाली राष्ट्र बनाना चाहता था। तुर्की से तब भारतीय मुस्लिमों का भी एक दल था जो १९११-१२ में यूरप के कुछ राष्ट्रों द्वारा तुर्कों को यूरप की धरती से निकाल देने के लिए छेड़े गये युद्ध में, एकमात्र स्वतंत्र मुस्लिम राष्ट्र होने से उसके प्रति सहानुभूति रखने के कारण घायल सैनिकों की सेवा शुश्रूषा के लिए भारत से तुर्की गये व्यक्तियों का बना था। तरुण तुर्कों के सम्पर्क के कारण वह भी अब भारत के लिए उन्हीं आदर्शों से प्रभावित था। भारत के मुसलमानों को, भारत के दूसरे लोगों से पृथक् कर जनता की राष्ट्रीय एकता को ध्वस्त करने के लिए अंगरेज अपने को उनका सबसे बड़ा हितू बनाने का जतन करते थे। अतः भारतीय मुस्लिमों को आशा थी कि तुर्की के मामले में भी उनकी इच्छा के मुताबिक दूसरी यूरपी ईसाई शक्तियों के मुकाबले में अंग्रेज़ तुर्कों की ही मदद करेंगे। पर अंगरेजों की दुरंगी चालें देखकर उनका यह भ्रम दूर हो गया था। तरुण तुर्कों के प्रभाव से ये भारतीय मुस्लिम राष्ट्रवादी बनकर अपने देश के दूसरे मुस्लिमों में भी अपने देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने की भावना जगाना चाहते थे। १६१३ में हरदयाल ने जब अमरीका से तीन सिक्खों का दूतमंडल पंजाब में लोगों से सम्पर्क बनाने को भेजा था, तभी तरुण-तुर्कदल ने तुर्की गये हुए एक भारतीय मुस्लिम को रंगून में तुर्की के दूत पद पर नियुक्त करवा के इस प्रयोजन से भेजा था कि वह भारतीय मुस्लिमों में अपने देश की स्वाधीनता के भाव जगाय। मई १९१४ से तरुण तुर्क दल का एक पत्र 'जहाने इस्लाम' कुस्तुनतुनिया से निकलता था, जो तुर्की के अति-

रिक्त अरबी और उर्दू में भी रहता। उसके उर्दू विभाग का सम्पादन एक पंजाबी मुसलमान के हाथों में था जो भारतीय मुसलमानों में राष्ट्रवाद का प्रबल प्रचारक था। तरुण तुर्कों के जरिये हरदयाल का भी सम्पर्क अब इन राष्ट्रवादी मुस्लिमों से हुआ और उसके जरिये भारत में दूसरे क्रान्तिकारी भी अब भारतीय राष्ट्रवादी मुस्लिमों के सम्पर्क में आये। राजस्थान में भी बीकानेर के रहने वाले शौकत उस्मानी और अजमेर के मौलाना मुइनुद्दीन चिश्ती जैसे अनेक मुस्लिमों का सम्पर्क क्रान्तकारियों से इसी सिलसिले में हुआ।

उधर फ्रान्स में प्रगति रुकती देख जरमनों ने अक्तूबर में एका-एक इंगलिश चैनल (अंगरेजों के द्वीप को यूरप के मुख्य स्थल भाग से पृथक् करनेवाली समुद्र की नाली) की तरफ प्रयाण आरम्भ किया। किन्तु उनके आक्रमण को रोकनेवाली फौज वहां भी सब प्रायः भारतीय थी, जिसने तट से २० मील पहले ही उनकी गति रोक दी। जरमन राजनेताओं को भी तब अंग्रेजों के इन भाड़ेत भारतीय सैनिकों का महत्त्व समझ में आया और उनके उस महास्त्र को तोड़ने के लिए जानेवाले भारतीय देशभक्तों के प्रयत्नों में वे अधिक रुचि लेने लगे।

तुर्की से हरदयाल के लौटकर अक्तूबर १९१४ में जरमनी पहुँचने पर, जरमन युद्ध विभाग के सहयोग से वहां एक 'भारतीय राष्ट्रवादी दल' की स्थापना की गयी, जिसमें हरदयाल के अतिरिक्त ज्यूरिख की भारत-मित्र-सभा के मंत्री चम्पक रामन् पिलै, तारकनाथ दास और बरकतुल्ला आदि प्रमुख कार्यकर्त्ता थे। इन्होंने युद्ध में जरमनों द्वारा पकड़े गये भारतीय सैनिकों में राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार कर उनकी एक आजाद-हिन्द-फौज भी संघटित की। २६ अक्तूबर को तुर्की ने भी अंगरेजों के विरुद्ध जरमनों की तरफ से शस्त्र उठा लिये।

इधर अमरीका से भारतीय गदर दल वाले भारत में क्रांति आरंभ करने के लिए सैकड़ों की संख्या में आ रहे थे। वे लोग रास्ते में चीन,

हिन्दचीनी प्रायद्वीप, हिन्द द्वीपावली, सिंगापुर, मलाया आदि में बसे भारतीयों और वहाँ अंगरेजों की पड़ी हिन्दुस्तानी फौजों में इसके लिए खुला प्रचार करते आते थे। सब से पहले आने वाले दल में कर्त्तारसिंह नामक एक तेजस्वी और कर्मठ पंजाबी युवक था जिसने पंजाब की क्रांति की तैयारी में प्रमुख भाग लिया। अंगरेजों ने ५ सितम्बर १९१४ को भारत प्रवेश आर्डिनांस निकाल कर इन आगन्तुकों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, तो भी उनमें से बहुत से जान हथेली पर लिये पंजाब तक पहुँच ही जाते रहे। २६ सितम्बर को कोमागाता-मारू जहाज कनाडा में न उतरने देने से भग्नप्रयास सिक्खों का दल लेकर भारत पहुँचा। क्रांतिकारियों को भारत में उनसे संपर्क बनाने का आदेश पहले से था। अंगरेजों ने भारत-प्रवेश फरमान (आर्डिनान्स) के अनुसार घरों पर ही नज़रबन्द कर देने के लिए उन्हें जहाज से उतरते ही गाड़ी पर बिठाकर पंजाब भेज देना चाहा, किन्तु उन्होंने मुकाबला किया, अनेक आदमी मारे गए, कुछ, जिनमें उनका नेता बाबा गुरदित सिंह भी था भाग गए, बाकी घरों पर ले जाकर नज़रबन्द कर दिये गये।

कर्तारसिंह और उसके साथियों ने बनारस में रासबिहारी बसु से और उनके द्वारा बंगाल के क्रान्तिकारियों से शीघ्र सम्पर्क कर लिया। दिसम्बर में बनारस में, जहां रासबिहारी वसु छिपा हुआ था, भारत के समस्त क्रान्तिदलों के नेताओं का एक सम्मेलन हुआ। क्रान्ति की एक पूरी योजना बना ली गयी। क्रान्तिकारियों के कारिन्दे बन्नू पेशावर से सिंगापुर तक सब अंगरेजी छावनियों में पहुँच भीतर घुस-पैठकर उनकी सैनिक स्थिति का पूरा तखमीना लगा चुके थे। उस समय कुल १५ हजार गोरी फौज भारत की सब छावनियों में मिलाकर मौजूद थी। अधिकांश हिन्दुस्तानी फौजें आह्वान होने पर देश की आजादी के लिये शस्त्र उठाने को तैयार थीं। क्रान्तिकारियों की योजना थी कि पहले लाहौर रावलपिंडी और फीरोजपुर की छावनियों की सेनाएँ विद्रोह कर कुछ

क्रान्तिकारियों और पास पड़ोस की जनताके सहयोग से वहां के शस्त्रागारों पर, जो कि तब भारत के सबसे बड़े सैनिक शस्त्रागार थे, रक्षा के लिये नियुक्त हिन्दुस्तानी पहरेदारों की मदद से कब्जा करलें। देश की दूसरी छावनियों की सेनाएँ उस संकेत को पाते ही उठने को तैयार रक्खी जाँय और स्थानीय क्रान्तिकारियों की मदद से अपने अपने इलाकों के अंग्रेज शासकों को गिरफ्तार कर लें। अजमेर आदि में राजस्थान के क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों के खानसामों चपरासियों आदि को पहले ही अपने साथ मिलाकर यह तय कर लिया था कि निश्चित तिथि का संकेत पाते ही वे उन्हें साते में पकड़कर चुपचाप क्रान्तिकारियों के हवाले कर देंगे। यों जहां तक बने खून खराबी से बचते हुए मुल्क के शासन पर कब्जा कर लेना और उसे इसके लिए सब जगह पहले से आरजी तौर पर बनायी गयी क्रान्तिकारी शासन समितियों के हाथ सौंप देना था। देश के आन्तरिक शासन पर एक बार कब्जा पा लेने के बाद अंगरेजों के शत्रुदेशों से विधिवत् संबंध जोड़, जिसके लिए कि प्रवासी भारतीय क्रान्तिकारी जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, पहले से प्रयत्न कर रहे थे, उनसे शस्त्रास्त्र और सैनिक नेतृत्व की सहायता पा कर फिर अगरेजों द्वारा किये जाने वाले जवाबी हमलों का उत्तर देने की तैयारी की जाती।

इसी समय अर्थात् दिसम्बर १९१४ में वृन्दावन के रहने वाले राजा महेन्द्र प्रताप जिसका कि राजस्थान और उत्तर भारत के बहुत से राजाओं आदि से बराबरी का सम्बन्ध और घनिष्ठता थी, यूरप गये। वहां वे स्विट्जरलैण्ड जाकर जिनेवा में हरदयाल से मिले। वहां से वे हरदयाल के साथ बरलिन गये और जर्मन सम्राट् से जाकर मिले। मार्च १९१५ में बर्लिन से एक हिन्द-जर्मन-तुर्क दूतमंडल काबुल भेजा गया जिसमें हिन्द के प्रतिनिधि महेन्द्रप्रताप और बरकतुल्ला थे। उनके पास भारतीय राजाओं के नाम जर्मन सम्राट् के हस्ताक्षरयुक्त पत्र थे, जिनमें के जर्मन सम्राट् ने भारतीय क्रान्तिदल को अपनी पूरी सहायता देने

का भरोसा दिलाया था। सिन्ध का मौलवी ओबेदुल्ला और देवबन्द के मुस्लिम मदरसे का एक आचार्य भी वहां भारत से सीमान्त पार कर उससे मिले। इन्होंने वहां आजाद-हिन्द सरकार स्थापित कर उसकी तरफ से भारतीय राजाओं तथा दूसरे प्रमुख भारतीयों के पास देश की आजादी के लिए शस्त्र उठाने का गुप्त आमन्त्रण भेजे। अगस्त १६१६ में रेशमी रूमालों पर लिखे ऐसे कई पत्र अंगरेजों की पुलिस द्वारा भारत में पकड़े गये।

काबुल की तरह तिब्बत, श्याम, हिन्दचीन, मनीला और हिन्दी द्वीप समूहों को भी भारतीय दूतमंडल गये जो वहां से क्रान्तिकारियों को भारत में शस्त्रास्त्र और सैनिक सहायता पहुँचाने के प्रयत्न बराबर करते रहे।

दिल्ली षड्यंत्र का मुकदमा १९१४ के अन्त तक समाप्त हो गया था। १३ अभियुक्तों में से सात को सजा हुई और पांच अपराधी साबित न होने या मुखबिर बन जाने के कारण छूट गये थे। मास्टर अमीरचन्द, अवधबिहारी, बसन्त कुमार विश्वास और भाई बालमुकुन्द इन चारों को फांसी की सजा दी गई और बाकी तीन को जिसमें एक लाहौर दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालिज के प्रसिद्ध संस्थापक लाला हंसराज का पुत्र बलराज था, आजन्म कारावास का दंड मिला था। उनकी अपीलें लाहौर हाईकोर्ट में चल रहीं थीं। एक अभियुक्त अर्जुनलाल सेठी का नाम दिल्ली और नीमेज दोनों कांडों के मुकदमों में लिया गया था। पर उसके खिलाफ अपराध कोई न बन पाया था। फिर भी अंगरेजों ने उसे नजरबन्द कर जयपुर जेल में रखा था। क्रान्तिकारियों की योजना थी कि जेलों पर आक्रमण कर अपने इन साथियों को छुड़ाया जाय। दिल्ली षड्यन्त्र के अभियोग से मुक्ति पाने के बाद छोटेलाल जैन ने सेठी को छुड़ाने के लिए जयपुर में एक मंडली जुटाने का जतन किया, पर शक्ति पूरी न होने से अन्त में इन्हें हिम्मत छोड़नी पड़ी।

क्रान्ति की सब तैयारियाँ इस प्रकार पूरी हो जाने पर उसका आरम्भ

ठीक से स्वयं अपने निरीक्षण में कराने को रासबिहारी वसु शुरू जनवरी १९१५ में बनारस से उठ लाहौर चला गया। दिल्ली राजस्थान की तरफ इन्तजाम करने के लिए शचीन्द्रनाथ सान्याल को भेजा गया। २१ फरवरी १९१५ क्रान्ति आरम्भ करने की निश्चित तिथि थी। उस दिन कर्तारसिंह अपने दल के साथ फीरोजपूर के शास्त्रागार पर जो भारतवर्ष में सबसे बड़ा था, करनेवाला था। उसकी सफलता की सूचना मिलते ही और सब दल अपना अपना काम आरम्भ करने को थे। राजस्थान में ठाकुरगोपालसिंह को दामोदरदास राठी से मिलकर ब्यावर पर और भोपसिंह को अजमेर नसीराबाद पर कब्जा करने का काम सौंपा गया था। जनवरी के अन्त तक यह सारी व्यवस्था कर शचीन्द्र बनारस लौट गया जहां क्रान्ति की बागडोर स्वयं उसके हाथ में रहने को थी।

यह सब तैयारी भारत में बड़े गुप्त तरीके पर की जा रही थी, किन्तु यूरप आदि देशों के भारतीय मन्त्रगोपन में इतनी सावधानी न बरत सके। फ्रांस की पुलिस ने युद्ध शुरू होने के कुछ मास बाद अंगरेजों को सूचना दी कि यूरप के भारतीय हलकों में हिन्दुस्तान में शीघ्र ही फूटने वाले किसी सैनिक विप्लव की चर्चा बड़े जोरों से है। अतः भारत में भी पुलिस अब बड़ी चौकन्नी हो उठी और शुरू फरवरी १९१५ में अपने एक भेदिये को वह क्रांतिकारियों के भीतरी गोल के अन्तरंग तक पहुँचाने में सफल हो गयी। उसकी अपने बीच इस प्रकार की उपस्थिति का आभास कुछ ही दिनों बाद क्रांतिकारियों को भी मिल गया और वे उसपर कड़ी निगाह रखने और उसे समाप्त कर देने के उपयुक्त अवसर की तलाश में ही थे कि कार्यारम्भ की नियत तिथि से तीन चार दिन पूर्व वह किसी तरह से नज़र बचाकर उस फूटने वाले महा-विप्लव की कुछ खबरें लाहौर में अँगरेजों तक पहुँचाने में सफल हो गया। क्रांतिकारियों ने इस पर अपना कार्यक्रम दो दिन पहले ही १९ फरवरी को एकाएक आरंभ कर देने का निश्चय किया, पर इस भेद को भी उस

देशद्रोही ही से छिपाकर न रक्खा जा सका और उसने इसकी खबर भी पुलिस को एक दिन पहले पहुँचा दी। फलतः अंगरेजों ने इस बीच आत्म-रक्षा की पूरी तैयारी कर ली; शस्त्रागारों के हिन्दुस्तानी पहरेदारों को बदल कर गोरों को उनपर नियत किया और छावनियों की हिन्दुस्तानी फौजों को एकाएक इधर से उधर स्थानांतरित कर उनके परस्पर के तथा क्रांति-कारियों के बीच के सब संपर्क विच्छिन्न करने की कोशिश आरंभ कर दी। १६ फरवरी को सुबह ही पुलिस ने एकाएक छापे मार लाहौर, अमृतसर में क्रांतिकारियों के अनेक छिपे अड्डे पकड़ लिए और वहाँ इस दिन के कार्य-क्रम को पूरा करने के लिए इकट्ठे बहुत से कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार कर क्रांतिकारी तिरंगे राष्ट्रीय झण्डे और ऐलाने जंग आदि गुप्त कागज़ात बरामद किये। अनेकों क्रांतिकारी देशभक्त शस्त्रागारों पर हमला करने के व्यर्थ प्रयास में गोलियों के शिकार बने।

राजस्थान में गोपालसिंह, भोपसिंह आदि क्रांतिकारी उस सारी रात खरवा के स्टेशन के निकट जंगल में अपने दो हजार साथी स्वयंसेवकों का दल लिए कार्य को सन्नद्ध होकर संकेत पाने की प्रतीक्षा कर रहे थे। रात को दस बजे अजमेर से अहमदाबाद जानेवाली जो रेलगाड़ी वहाँ से गुजर रही थी उससे खर्वा स्टेशन के निकट जंगल में एक बम का धमाका, कार्यारंभ का संकेत था। पर वह हुआ नहीं। अगले दिन संदेशवाहक ने आकर लाहौर में घटी घटनाओं की सूचना उन्हें दी। शस्त्रास्त्र जिनमें ३० हजार के करीब पुरानी हेन्रीमार्टिन बन्दूकें और बहुत सा दूसरा गोला बारूद आदि था, सब तुरंत ठिकाने कर दिए गये और स्वयंसेवक सैनिक दल बिखर गये। भोपसिंह दिल्ली के रहने वाले अपने एक साथी रलियाराम के साथ इसके बाद बड़ौदा तक जा कर अपने सब साथियों को भी सावधान कर आया। सात आठ दिन बाद ही पुलिस ने खरवा पर छापा मार के गोपालसिंह भोपसिंह आदि को गिरफ्तार करने की तैयारी की, जिसकी खबर क्रान्ति-

कारी भेदियों द्वारा उन्हें मिल गयी। भोपसिंह के कहने पर चुपचाप आत्मसमर्पण कर अंगरेजों की जेल में अनिश्चित काल तक सड़ने या साधारण चोर डाकुओं और खूनियों की तरह फांसी पर लटकाये जाने की अपेक्षा उन सबने लड़कर मरने का निश्चय किया। साधारण दूसरे सदस्यों को खरवा से हटा दिया गया। इसके बाद ठाकुर गोपालसिंह, उसके चाचा मोडसिंह, भोपसिंह रलियाराम और सवाईसिंह नामक पांच साथी बहुतसा शस्त्रास्त्र और खाने पीने का ८-१० दिन के लायक काफी सामान आदि लेकर खर्वा के गढ़ से निकल रातोंरात पास के जंगल में बनी एक ओहदी (शिकारी बुर्ज) में मोर्चाबन्दी कर जा डटे। अगले रोज अजमेर का अंगरेज कमिश्नर खुद ५०० सैनिकों की टुकड़ी समेत उन्हें खोजता हुआ वहां पहुँचा और उन्हें चारों तरफ से घेर आत्मसमर्पण के लिए बाधित करने लगा। किन्तु उन्हें मरने मारने के लिए आमादा देख उसे भय हुआ कि कहीं सचमुच ही उन्हें दो चार दिन उनसे लड़ना पड़ा तो चारों तरफ की जनता उनकी मदद को उसके खिलाफ उलट न पड़े। फिर साथ की हिन्दुस्तानी टुकड़ी की राजभक्ति पर भी उसे भरोसा न था। ऐसी दशा में यदि मुकाबला जम जाता तो सारे राजस्थान में आग भड़क उठना भी असम्भव न था। अतः जहां तक हो सके गोली चलने देने की नौबत न आने देने का आदेश उसे ऊपर से भी था। उसने समझाया कि अभी तो ऊपर कोई विशेष अभियोग या दोषारोपण भी नहीं है, सिर्फ जाचितें के लिए सन्देह में ही उनकी गिरफ्तारी की जा रही है यह भी सम्भव है कि उनमें किसी पर कोई अपराध साबित ही न हो, ऐसी दशा में सरकार से खामखा मुकाबला कर अपने से अपराध ओढ़ने में कोई बुद्धिमानी नहीं होगी। बहुत से बहस मुबाहसे के बाद यह समझौता हुआ कि उन्हें किसी हवालात या जेल में बन्द न कर किसी ऐसी जगह नजरबन्द किया जायगा जहां आसपास जंगल में शिकार की पूरी सुविधा हो, क्योंकि वे सभी रोज शिकार करके ही

मांस खाने के आदी हैं। शिकार के लिए बन्दूक तलवार आदि शस्त्र और सवारी के लिए घोड़े उन्हें सदा मिलते रहेंगे और उनके आस पास जहां तक दृष्टि पड़े कोई फौज पुलिस आदि का पहरा उस रूप में न रखा जायगा जिससे उन्हें अपने कैदी होने का भान हो।

तदनुसार उन्हें मेवाड़, मेरवाड़ा की सीमा पर स्थित टाडगढ के किले में नजरबन्द किया गया जहां आसपास तीन-तीन मील तक जंगल में उन्हें शिकार आदि के लिए जाने की खुली उन्हें छूट थी। किन्तु इसके १५ दिन बाद ही रामदत्त नामक एक व्यक्ति के मुखबिर हो जाने से लाहौर षडयंत्र के मामले की जांच में भोपसिंह का नाम भी लिया गया जिससे उसे गिरफ्तार कर तुरन्त लाहौर भेजने का हुक्म टाड्गढ़ पहुँचा। भोपसिंह तब टाड्गढ़ से भाग खड़ा हुआ और मेवाड़ के महाराणा फतहसिंह की चश्मपोशी तथा अनेक सरदारों और जनता के सहयोग और मदद के कारण दुबारा पकड़ा न जा सका। ठाकुर गोपालसिंह, मोडसिंह आदि उसके दूसरे साथी भी उसके बाद भोपसिंह के बाहर जाकर सवारी आदि का सब इन्तजाम कर देने से अगले ही दिन टाड्गढ से निकल गये।

§१४ अमर शहीद प्रतापसिंह बारहट

२१ फरवरी की विप्लव चेष्टाएँ इस प्रकार विफल हो गयीं पर क्रान्तिकारी उससे हताश न हुए। उनके रासबिहारी आदि अनेक नेता, बावजूद पुलिस के सब प्रयत्नों के, पंजाब से बेलाग निकल गये और फिर बनारस जा पहुँचे। अपने बचे खुचे साधनों को एकत्र कर उन्होंने एक मास के भीतर भीतर विप्लव की एक दूसरी योजना पकाई। कर्तारसिंह का एक साथी विष्णु गणेश पिंगले लाहौर से लौटते हुए मेरठ की छावनी में उतर पड़ा और वहां की फौजों से नया सम्पर्क बनाने में सफल हुआ। उसे आवश्यक शस्त्रास्त्र और अति भीषण विस्फोटक बम आदि दे मेरठ भेजा गया। उधर शचीन्द्र

सान्याल को केसरीसिंह बारहट के पुत्र प्रताप सिंह के साथ दिल्ली इस लिए भेजा गया कि राजस्थानियों से मिल केन्द्र को फिर से संघटित और मजबूत किया जाय। भारत सरकार का गृहसदस्य सर. रेजिनाल्ड क्रैडाक था जो पंजाब में क्रान्तिकारियों के भीषण दमन के लिए उत्तरदायी था। पंजाब के आतंक और त्रास को कुछ हलका करने के लिए उसे प्राण दंड देना आवश्यक था। उसकी मृत्यु क्रान्ति दुबारा आरम्भ करने का संकेत माना गया। उसकी खबर मिलते ही मेरठ की फौजें विद्रोह आरम्भ कर दिल्ली पर अधिकार को आने वाली थीं। क्रान्तिकारियों को आशा थी कि उस समाचार के फैलते ही भारत की दूसरी छावनियों की सेनाएँ भी, जिनके परस्पर के संपर्क उनके एकाएक इधर से उधर स्थानान्तरित कर दिया जाने से टूट गये थे, अपने आप अपने अपने स्थानों पर उठने को उत्साहित होंगी और तब क्रान्तिकारियों को भी उनसे दुबारा संपर्क कायम कर लेना कठिन न होगा।

शचीन्द्र सान्याल को, दिल्ली छोड़, प्रताप राजस्थान आया। क्रैडाक को प्राणदंड देने के लिए सबसे उपयुक्त व्यक्ति नीमेज-कांड का फरार अभियुक्त जयचन्द समझा गया, जिसे निशाना आदि मारने का पूरा अभ्यास था। वह तब ऋषिकेश में बाबा काली कम्बली वाले के यहाँ रह रहा था। उसे वहाँ से बुलाकर ले आने का काम चौधरी रामनारायण को सौंपा गया। प्रताप उसे साथ ले दिल्ली शचीन्द्र के पास लौट गया। एक मारवाड़ी बनिये के वेश में (दुर्भाग्य से मारवाड़ी बनिया भारत में सबसे कम राजनीतिक चेतना-वाली जमात समझी जाती रही है, और शायद आज भी है) चौधरी पुलिस की नजर बचाकर ऋषिकेश पहुँचा और जयचन्द से मिला। पर जयचन्द ने उस समय इस जिम्मेदारी को लेना स्वीकार न किया। प्रताप ने उस कार्य का भार तब स्वयं ग्रहण किया। पर उन्हीं दिनों क्रैडाक के अचानक बीमार पड़ जाने से बाहर आना जाना बन्द रहने के कारण उसकी जान

बच गयी। उधर मेरठ में एक हवलदार की गद्दारी से पिंगले पकड़ा गया। भेद खुल जाने से यह दूसरी योजना भी विफल गयी।

क्रांतिकारियों में से अनेक ने तब शत्रु पर छुटपुट हमले कर आतंक पैदा करने और उनके शासन-कार्य का इस प्रकार साधारण रीति से शान्तिपूर्वक चलना असम्भव कर जनता के साहस और संघर्ष भावना को तबतक बनाये रखने का जबतक कि शस्त्रास्त्रों या सैनिकों के रूप में कोई नई अच्छी सहायता भीतर या बाहर किसी भी दिशा से प्राप्त करने का कोई दूसरा अवसर न मिले, मार्ग पकड़ा। पर उसके लिए भी उनके पास अब पर्याप्त शस्त्रास्त्र न थे। राजस्थानी राज्यों से उनके प्राप्त होने का मार्ग तो अब बन्द ही था। खास कर केसरीसिंह के यहां से वीर-भारत-समिति की सूचियां मिलने और गोपालसिंह आदि का क्रान्तिकारियों से स्पष्ट सम्बन्ध होने की सूचना मिलने के बाद राजस्थानी राज्यों की गरदन भीतर ही भीतर अब ऐसी दबी थी कि वे अब क्रान्तिकारियों की तरफ देखने का साहस भी न कर सकते थे। अंगरेजों ने उनके ऐसे तमाम सैनिक अधिकारियों और दूसरे लोगों को जिनका कि क्रान्ति के साथ सम्बन्ध होने का उन्हें जरा भी संदेह हुआ, रियासतों से चुनचुन कर उत्तरी अफ्रीका में लड़ाई के मैदान पर भेजवा दिया या किसी बहाने अपदस्थ कर उन पर कड़ी नजर रखना आरम्भ कर दिया था। दूसरे उन्होंने भारत में गोरी सेनाओं की संख्या भी इसके बाद तुरन्त बढ़ा दी और भारतीय सेनाओं को युद्ध के मोरचों पर बाहर भेज दिया था। ऐसी दशा में विदेशों से जाकर शस्त्रास्त्र भेजने का नये सिरे से प्रबन्ध करने के सिवाय भारत के क्रान्तिकारियों के लिए अब कोई चारा न बचा। अप्रेल १९१५ में स्वयं रासबिहारी को भी इसके लिए भारत से बाहर चला जाना पड़ा।

भारत में क्रान्ति के लिए वातावरण और संघटन को बनाये रखने का काम उसके पीछे शचीन्द्र सान्याल पर पड़ा शचीन्द्र का विचार

प्रताप के साथ राजस्थान जाकर अपना संगठन वहां फिर से फैलाने का था। किन्तु उनका स्वास्थ्य दिल्ली में रहते हुए ही बहुत खराब हो गया था। उसे कुछ दिन विश्राम की आवश्यकता थी। प्रताप उसे इस लिए कलकत्ते में छोड़ अकेला ही राजस्थान आया। पर तब तक उसकी मांग लाहौर, दिल्ली, बनारस आदि के षडयंत्रों के मुकदमों में हो चुकी थी और उसके नाम वारंट था। अतः उसे कुछ समय के लिए राजस्थान से बाहर सिन्ध हैदराबाद जाकर रहना पड़ा। किन्तु पुलिस को उसके हैदराबाद होने की बात की भनक मिल गयी। हालां कि यह निश्चय न हुआ कि हैदराबाद दक्खिन कि सिन्ध। किन्तु उस दशा में भी उसका हैदराबाद रहना तब सुरक्षित न था। अतः चौधरी रामनारायण को उसे वहां से बीकानेर ला अपने एक निकट रिश्तेदार के पास, जो राज में काफी ऊँचे पद पर था, छिपा रखने को भेजा गया।

प्रताप हैदराबाद में उन दिनों एक डाक्टर के अस्पताल में कम्पौण्डर बनकर कार्य करता और सिन्धी युवकों में क्रान्ति के बीज फैला वहां एक नया संघटन खड़ा करने का जतन कर रहा था। चौधरी उसे वहां से राजस्थान लिवा लाया। किन्तु जोधपुर से बीकानेर जाते समय रास्ते में आशानाडा स्टेशन पर वह अपने एक मित्र और दल के पुराने सदस्य स्टेशन मास्टर से मिलकर कुछ जानकारी हासिल करने को उतरा। उस विश्वासघाती ने कुछ तो पुलिस से डर कर और कुछ प्रलोभनों में फँस उसे धोखे से पुलिस के हवाले कर दिया।

आशानाडा से पकड़ कर पुलिस द्वारा वह बनारस ले जाया गया, जहां शचीन्द्र सान्याल आदि के साथ उस पर भी बनारस षडयंत्र का मुकदमा चलता था। (फरवरी १६१६)। पुलिस ने भेद खोलने के लिए उस पर अनेक तरह से दबाव डाला और अमानुषिक अत्याचार भी किये। उसकी माता की दुर्दशा का, जो पति पुत्र आदि के जेल चले जाने और सब संपत्ति जब्त हो जाने के बाद निराश्रित होकर उन दिनों

अपने रिश्तेदारों के पास भटकती फिरती थी, किन्तु पुलिस के आतंक के कारण जिसे कोई अपने यहां आश्रय देने की भी हिम्मत नहीं करता था, हृदयद्रावक वर्णन उसे सुनाया गया। एवं भेद खोल देने पर न सिर्फ उसे बल्कि उसके पिता केसरीसिंह को भी छोड़ देने, चाचा जोरावरसिंह का वारण्ट रद्द करने, उसकी तथा अन्य रिश्तेदारों आदि की जब्तशुदा सारी जमीन जायदाद और जागीरें वापस दिलवा देने तथा और भी अच्छी नयी जागीर पद और सम्मान आदि दिलाने के प्रलोभन दिये गये। पर उस वीर को अपने व्रत से डिगाया न जा सका। उसने दृढ़ता से जवाब दिया "अभी तो सिर्फ एक मेरी ही माता यह दुःख भोग रही है, यदि मैं तुम्हें भेद बता दूं तो न जाने उस जैसी और कितनी माताओं को वैसा ही दुस्सह कष्ट भोगना पड़ेगा। एक मां के सुख के लिए मैं सैकड़ों माताओं को विपत्ति में डालना नहीं चाहता, चाहे जो हो मैं हर्गिज तुम्हें कुछ न बताऊँगा।"

बनारस षडयन्त्र के मामले में शचीन्द्र सान्याल आदि के साथ उसे भी कठोर और दीर्घ कारावास का दण्ड दिया गया (४ फरवरी १९१६)। वह बरेली जेल में रक्खा गया। जो कि उन दिनों भारत के सब से बदनाम जेलों में से था। वहां उसका सुख में पला २३ वर्ष का सुकुमार शरीर विदेशी शासकों के नृशंस अत्याचार को सहने में उसके अदम्य आत्मा का साथ अधिक दिन न दे सका। और स्वतंत्रता की वेदी पर बलि चढ़ गया।

§ १५. बीजोल्यां का कृषक-संघर्ष

राजस्थान के मध्य कृष-दाक्खनी अंचल—दक्खिनी मेवाड़, सिरोही, बागड़ और पच्छिमी मालवा--में उठे १९०५-८ के 'सम्प सभा' आन्दोलन का उल्लेख ऊपर हो चुका है, जिसे अंगरेजों ने सैनिक शक्ति के बल पर दबा दिया था। १९१३ से मेवाड़ के पूरबी अंचल में भी कृषक अशान्ति के लक्षण प्रकट होने लगे। राजस्थान के इस मध्य अंचल की,

जो कि प्राचीन मालव देश का अंश है, जनता, जैसा कि हम ऊपर कई बार देख चुके हैं, हमेशा से अत्यधिक स्वाधीनता-प्रिय और अपनी अधिकार-रक्षा अर्थात् विदेशी आधिपत्य या स्थानीय शासकों की निरंकुशता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए समुद्यत रही है। जसवन्तराव होलकर से युद्ध, पिण्डारियों की कशमकश और तांत्या टोपे के संघर्ष में हम उसकी इस सहज प्रवृत्ति का परिचय अच्छी तरह पा चुके हैं। उसी प्रदेश में अब मेवाड़ के बीजोल्यां ठिकाने के किसानों ने ठिकाने द्वारा वसूल की जाती अनुचित लाग बेगारों और जोरजुल्मों के विरुद्ध सिर उठाया और १९१३ में साल भर अपनी जमीनों का जोतना बोना बन्द रक्खा जिससे ठिकाने को लगान मिलना बन्द हो गया। इस संघर्ष का पहला नेता साधु सीताराम था।

१९१४-१५ में वहाँ मुन्सरमात थी अर्थात् ठिकानेदार के नाबालिग होने से ठिकाना राजकीय मुन्सरिम के प्रबन्ध में था। महाराणा फतहसिंहने केसरीसिंह बारहट के जवांई ईसरीदान को जो मेवाड़ में एक छोटा जागीरदार था और उन्हीं दिनों दिल्ली बमकांड के मामले से छुटकारा पा कर आया था, रियासत की तरफ से वहां के इन्तजाम पर नियत कर भेजा था।

मेवाड़ में उन दिनों ठाकुर गोपालसिंह, उसके चचा मोडसिंह आदि के टाडगढ़ की जेल तोड़ भागने से बड़ी सनसनी और उत्सुकता का वातावरण था। अंगरेजों के गुप्तचर और सशस्त्र पुलिस दल जगह जगह उनकी खोज तलाश में घूम रहे थे। मेवाड़ दरबार को भी ऊपरी दबाव के कारण उनकी गिरफ्तारी के लिए जगह जगह पुलिस और फौजी दस्ते नियत करने पड़े थे। पर जनता और सरदारों की सहज सहानुभूति क्रान्तिकारियों के साथ थी। भोपसिंह जब टाडगढ से भागा था तो रात को जंगल में रास्ता भटक जाने से थक कर एक चट्टान पर सुस्ताते समय किसी जंगली जानवर द्वारा पांव पकड़ कर घसीटे जाने से घायल

हो गया और अन्त में पास की पिस्तौल दागने से ही प्राणरक्षा कर पाया था। उस जंगल के बाहर वह अगले दिन प्रकाश होने पर बड़ी मुश्किल से निकल पाया। खुली सड़क पर आकर उसने देखा कि सड़क के एक तरफ गांव बसा था, दूसरी तरफ एक अकेली झोपड़ी। भोपसिंह को गांव से बचकर झोंपड़ी की तरफ से चुपचाप गुजरते हुए उस झोपड़ी के बाहर बैठी एक ६० बरस की बुढ़ियाने देखा, और अपनी सहज बुद्धि से टाड्गढ से भागा अंगरेजों का कोई विद्रोही भांप बड़े आग्रह से अपनी झोपड़ी के भीतर ले जाकर छिपा लिया। बाद में उसकी मरहम पट्टी कर अपने लड़के द्वारा गांव के धोबी का घोड़ा चरने के स्थान से चुपचाप पकड़वाकर उसने उसे अपने लड़के के साथ उसके गन्तव्य स्थान तक सुरक्षित पहुँचाने का सारा प्रबंध किया था। इसी तरह मेवाड़ के उसी इलाके के एक जागीरदार ने उसे अंगरेजों द्वारा अपने स्थान की तलाशी होने का पूरा खतरा रहते भी अपने गढ़ में महल के जनाने भाग का एक हिस्सा खाली करा एक महीने तक अपने यहां छिपाये रक्खा था। ठाकुर गोपालसिंह आदि को टाड्गढ से निकलने और फरार जीवन बिताने में भी मेवाड़ के लोगों का इसी प्रकार गहरा और सहानुभूतिपूर्ण सहयोग बराबर मिलता रहा था। महाराणा फतहसिंह का भी भीतरी आदेश अपने अनुचरों को उन्हें न गिरफ्तार करने और गुप्त रूपसे भरसक उनकी सब तरह से सहायता करते रहने का था।

मेवाड़ में लोगों ने इस समय जगह जगह पर क्रान्तिकारियों के नमूने पर अपने छोटे छोटे समूह और दल बना रक्खे थे, जिनमें देशभक्ति की चर्चा रहती थी और किसी ऐसे साहस पूर्ण कार्य के लिए अवसर की उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती थी। भोपसिंह से कांकरोली में ऐसे ही एक दल ने कुछ दिन अपने यहां रहकर पथप्रदर्शन करने की प्रार्थना की थी। इस दल का नायक वहां का दाणी (चुंगी अधिकारी) पुरोहित किशनसिंह था और आस पास के अनेक युवक राजपूत जागीर-

दार चारण आदि इसके सदस्य थे। उन लोगों के प्रबन्ध से भोपसिंह वहां राजसमुद्र तालाब के उस पार भाणा नामक गांव में एक धनिक सेठ डालचंद के मकान पर रह बी० एस० पथिक के नाम से बहुत दिनों तक एक पाठशाला चलाता रहा। उन्हीं दिनों ठाकुर गोपालसिंह, मोडसिंह आदि सलीमाबाद नामक स्थान पर एक मंदिर में पहचाने और अंगरेजी पुलिस द्वारा घेर लिये गये। इसकी खबर कांकरोली पहुँची तब उस मंडली ने पथिक के नेतृत्व में ऊंटों पर जाकर उन्हें मदद देने का प्रयत्न किया। परं उनके वहां पहुँचने से पूर्व ही गोपालसिंह आदि कुछ शर्तों पर आत्मसमर्पण कर चुके थे।

इस के कुछ ही दिनों बाद भाणा गाँव में भी सरकारी गुप्तचरों का आना जाना शुरू हो गया, अतः पथिक को वहां से एकाएक हट कर चित्तौड़ की तरफ चला आना पड़ा था जहाँ वह कुछ दिन ओछड़ी (चित्तौड़ के पास ही एक गाँव) के ठिकनेदार का मेहमान रहा। बीजोल्यां के कृषक नेताओं का प्रथम सम्पर्क पथिक से ओछड़ी और चित्तौड़ में ही हुआ।

१९१५ के अंत में ओछड़ी से वह अपने मित्र ईश्वरीदान के पास बीजोल्यां ही जाकर रहने लगे। रियासत की तरफ से एक भाटी राजपूत उन दिनों बीजोल्यां में मुन्सिफ था। पथिक का डेरा उसी के यहाँ लगा और शीघ्र ही बीजोल्यां के सब सरकारी कागजों और मामलों मुकदमों की मिसलें मुन्सिफ के नाम से वह ही निपटाने लगा। रियासत की सरकार से लिखापढ़ी कर उसने शीघ्र ही वहाँ एक पाठशाला भी खोली। और युवकों की एक सेवासमिति बना उस इलाके में नवीन जागृति और संघटन का सूत्रपात कर दिया।

ठिकाने के लोग जागीरदार महाजन आदि इससे घबराये। रियासती अमला १९१६ की उन्हालू (रबी) की फसल के लगान की उगाही के साथ उन्हीं दिनों सरकारी युद्ध ऋण का चंदा भी किसानों से जबरदस्ती वसूल रहा था। पथिक की सलाह से किसानों ने उसे देने से इनकार किया।

इससे रियासत के कर्मचारी भी अड़चन में पड़े। ठिकाने के कुछ आदमियों ने इसकी शिकायत उदयपुर में अंगरेज़ रेजीडेन्सी में पहुँचायी और उसकी वहाँ की दूसरी कार्यप्रवृत्तियों का भी पता रेज़िडेन्ट को दिया। उसे पकड़ कर तुरत उदयपुर रवाना करने का हुकुम मुन्सिफ के पास पहुँचा। पथिक को तब सात मास के निवास के बाद एकाएक बीजोल्यां छोड़कर भाग जाना पड़ा। वहाँ की पाठशाला और युवकों तथा किसानों के संघटन का काम पथिक ने अपने पीछे माणिकलाल वर्मा नामक एक युवक को सौंपा।

पथिक के शिष्यों में घनश्याम जोशी, जयसिंह धाकड़ आदि कुछ दूसरे युवक कृषक कार्यकर्त्ता भी थे, जिन्होंने उस समूचे संघर्ष में आगे महत्त्व का भाग लिया।

बीजोल्यां से भागकर पथिक खेराड़ (जहाजपुर-देवाली) के रास्ते बूँदी होते हुए कोटा पहुँचा, जहाँ केसरीसिंह बारहट के श्वसुर कोटड़ी के जागीरदार कविराजा दुर्गादान ने जो अभिनव-भारत सभा के आर्थिक सहायता देनेवाला सहयोगी था, उसे अपने यहाँ प्रश्रय दिया।

इधर बीजोल्यां में १९१६ के साल वर्षा कम होने से सियाळू (खरीफ) की फसल नष्ट हो गयी थी, पर लगान की दरें ठिकाने की तरफ से ऊँची कायम हुईं, लाग बेगार और युद्ध का चंदा आदि भी बदस्तूर वसूल किया जाता रहा जिससे किसानों का असन्तोष बहुत बढ़ गया। उनके नेता कोटा में पथिक से जाकर मिले और नेतृत्व की प्रार्थना की। जमीन पड़ती रखने में तो किसान और ठिकाने दोनों को नुकसान था। अतः उसने उन्हें अनुचित लाग बेगार और युद्ध का जबरन चंदा देने से दृढ़तापूर्वक इन्कार करने और लगान में कमी के लिए महाराणा के पास लिखकर पुकार करने की सलाह दी। किसानों को इस पर खूब डराया धमकाया और तरह तरह के ज़ुल्म कर दबाने का प्रयत्न किया गया। पर वे शान्त रहे और अपने पक्ष की न्याय्यता

पर अड़े रहे। पथिक का मेवाड़ की हद में घुसना खतरे से खाली न था, अतः वह कोटा की तरफ से आ मेवाड़ की पूर्वी सीमा पर गुप्त रूप से बैठा यह सारा आंदोलन संघटित करता रहा।

महाराणा फतहसिंह बीजोल्यां के मामले में प्रजा के साथ न्याय करना चाहता था, पर राजनीतिक विभाग के भेजे कारिन्दों—राज्य के दीवान और अन्य उच्च राजकर्मचारियों—ने उसे इससे जनता के अधिक सरकश हो जाने का खतरा बता कुछ भी न करने दिया। जनता पर तरह तरह के अमानुषिक अत्याचार कर आतंक पैदा करने का जतन किया गया। पुलिस ने जनता की चोरी डकैती तक की शिकायतें सुनना बन्द कर इन समाजविरोधी तत्त्वों को खुली छूटें देदीं। किन्तु बीजोल्यां के किसान इससे घबराये नहीं; उन्होंने गांवों में अपनी पंचायतों द्वारा रखवाली के लिए स्वयंसेवक पहरेदारों का प्रबंध कर लिया और मामलों मुकदमों का सारा निपटारा जहाँ तक हो सके पंचायतों द्वारा आपस में खुद ही कर रियासत की अदालतों में जाना बहुत कम कर दिया। गाँव गाँव में चर्खे और कर्घे आदि चला गृह-उद्योगों को पुनरुज्जीवित करने का भी प्रयास कर उन्होंने अपनी आत्मनिर्भरता और संघटनक्षमता का भी नमूना पेश किया। यह संघर्ष इसी तरह सन् १९२२ तक चलता रहा। बीजोल्यां के किसानों का संघर्ष भारत के नव जागरण में कृषक जनता के सबसे पहले सामूहिक प्रतिरोधों में से था।

सन् १९१६ में ग्वालियर राज्य में शाजापुर में भी लीलाधर जोशी के नेतृत्व में एक "किसान संघ" स्थापित हुआ।

§१६. महात्मा गांधी का अवतरण

अंगरेजों ने फरवरी १९१५ के बाद अपनी गोरी फौजों की संख्या भारत में बढ़ा दी और भारतीय फ़ौजों को लड़ाई के मोर्चों पर बाहर दुश्मन की तोपों का चारा बनने के लिए अधिकाधिक भेजना शुरू किया।

क्रान्तिकारियों की विप्लव योजनाएँ १९१५के अन्त तक प्राय: सब एक एक कर विफल हो गयीं, पर क्रान्तिकारियों के त्याग तपस्या और बलिदानों ने जनता में इतनी गहरी पीड़ा जगा दी थी कि अंगरेजों ने समझ लिया कि अब कुछ न कुछ शासनाधिकार और सुधार उन्हें भारतवासियों को शीघ्र देने होंगे और उनकी प्रारम्भिक रूपरेखा, जैसा कि इसके तुरत बाद बने भारतमंत्री मांटेगू की डायरी से प्रकट हुआ, इङ्गलैंड में मार्च १९१६ तक ही बन कर तैयार थी।

इधर भारत में अपने को लोकमत का नेता कहलाने वाले लोगों में भी, जनता की बढ़ती हुई बेचैनी और अशान्ति के कारण कुछ न कुछ करने की प्रेरणा जागी। २३ अप्रैल १९१६ को बाळ गंगाधर टिळक ने जो ६ वर्ष की लंबी जेल काटने के बाद जून १९१४ में छूट आये थे, पूना में होमरूल लीग की स्थापना कर भारत में उत्तरदायी शासन की तुरत स्थापना का आन्दोलन जोरों से उठाया। कांग्रेसी नरमदलियों को भी तब जनता का नेतृत्व अपने हाथ से फिसलता देख मैदान में उतरना पड़ा।

भारतीय मुस्लिमलीग की स्थापना अंगरेजों के पिट्ठुओं द्वारा१९०८में लार्ड मिण्टोके इशारे पर "मुसलमानोंमें अंगरेजी राजके प्रति राजभक्ति बढ़ाने" और राष्ट्रीयता के नाम पर देश की उन्नति और शासन-सुधारों के लिए आन्दोलन करने वाले कांग्रेसी हिन्दुओं के प्रभाव से उन्हें बचा साम्प्रदायिक आधार पर पृथक रूप से अंगरेजों से कृपा की भिक्षा मांगने के लिए की गयी थी। किन्तु अब एक तो तुर्की जैसे मुस्लिम राष्ट्र के, जहां के सुल्तान को भारत के मुसलमान मुगल साम्राज्य की समाप्ति के बाद दुनियां में सब से बड़ा मुस्लिम शासक होने के कारण इसलाम का खलीफा (मुखिया) मानते थे, अंगरेजों के खिलाफ शस्त्र उठा लेने के कारण, और दूसरे अनेक देशभक्त मुस्लिम युवकों के भी भारतीय क्रान्ति आन्दोलन में सम्मिलित होने के कारण आम मुस्लिम जनता में अंगरेज-

विरोधी भावनाओं की प्रधानता होने से उसे भी जनमत के दबाव से अब स्वराज और शासन-सुधारों की मांग में शामिल होने को विवश होना पड़ा।

१९१६के अन्त में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ जिसमें नरम और गरम दोनों दल फिर शामिल हुए। मुस्लिम लीग का भी अधिवेशन उसी समय वहाँ बुलाया गया। केन्द्र और प्रान्तों की विधान-सभाओं में मुसलमानों का आबादी के अनुपात से अधिक पृथक् प्रतिनिधित्व देने के आधार पर दोनों संस्थाओं में समझौता हो स्वराज की मांग की एक रूपरेखा निश्चित की गयी, और उसके आधार पर देश की सर्वसम्मत मांगों का मसविदा बना अंगरेज शासकों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। महात्मा गांधी दक्खिन अफ्रीका से १९१५ के आरम्भ में ही भारत लौट आये थे। वे लखनऊ में पहली बार कांग्रेस में बाकायदा शामिल हुए। चुनाव में टिळक के राष्ट्रवादी दल का पूरा कब्जा कांग्रेस पर हो गया और सिवाय महात्मा गांधी के जिनका कि अफ्रीका के संघर्षों के कारण सभी दलों के लोगों में आदर था दूसरा कोई नरमदली वहां किसी पद पर न चुना जा सका। गांधी भी टिळक के हस्तक्षेप करने पर ही चुने गये।

१९१७ में साल भर लखनऊ कांग्रेस द्वारा उपस्थित की गयी स्वराज की मांगों की चर्चा देश में जोरों के साथ जारी रही। २० अगस्त १९१७ को नये पदारूढ़ भारत मन्त्री माण्टेगू ने बरतानवी राजसभा (पार्लियामेन्ट) में घोषणा की कि भारत में बरतानवी आधिपत्य का चरम लक्ष्य धीरे धीरे पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करना है, जिसकी कि प्राप्ति भारतवासियों के सहयोग से जैसे जैसे वे अपनी योग्यता दिखाते जायंगे उसी क्रम से सम्हल सोचकर उठाये गये कदमों द्वारा ही होगी और कि वह नया कदम उठाने की उपयुक्त वेला कब आगयी है इसका निर्णय अन्तिम रूप से करने का पूर्ण अधिकार सदा अंगरेज शासकों को ही रहेगा।

इसके बाद सर्दियों में मांटेगू भारत के तात्कालिक वायसराय चेम्स फोर्ड के साथ भारतीय लोकमत के विभिन्न नेताओं से मिल यह जांच के लिए कि उनमें से कौन लोग-यदि शक्ति उनके हाथ में दे दी जाय-तो भारत में अंगरेजों के हाथ की कठपुतली बन कर अधिक आसानी से नाच सकेंगे, ताकि अंगरेज आगे से उन्हीं लोगों को भारत में आगे बढायें, भारत का दौरा करने आया। साथ ही नये प्रस्तावित शासन सुधारों द्वारा कहीं उन उग्र राष्ट्रवादियों और क्रान्तिकारियों के हाथ में शक्ति न चला जाय-जो कि युद्धजन्य विशेष परिस्थितियों के कारण लगाये गये भारत-रक्षा कानून की वजह से, इस समय तो अधिकांश में जेल के भीतर नजरबन्द थे, पर युद्ध समाप्त होते ही, उन कानूनों की अवधि समाप्त हो जाने से छूट जाते और जनसाधारण पर अधिक प्रभाव रखने के कारण स्वभावतः चुने जाते और शक्ति हथिया लेते-इसके लिए आवश्यकता होने पर उन्हें फिर से पकड़ कर नजरबन्द करने की शक्ति अपने हाथ में रखने के उपाय सुझाने को बरतानिया के सर्वोच्च न्यायालय के विचारपति सर सिडनी राउलट की अध्यक्षता में चार दूसरे व्यक्तियों की एक जांचसमिति नियुक्त की गयी, जिसमें दो सदस्य भारतीय भी थे।

कांग्रेस के अधिकारप्रार्थी पदलोलुप विधानवादियों का रुख मांटेगू की उस घोषणा और अधिकारप्राप्ति का प्रलोभन मिलते ही बदल गया। लखनऊ के बाद कलकत्ते में १९१८ के अंत में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन में सब तरह का राजनीतिक आन्दोलन स्थगित कर बरतानी हुकूमत के प्रति राजभक्ति और कृतज्ञता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। मुद्रण प्रतिबन्ध और भारत-रक्षा कानून को उठाने और राजनीतिक बंदियों की रिहाई की भी प्रार्थना की गयी। एक प्रस्ताव द्वारा राजस्थानी नेता अर्जुनलाल सेठी के, जो वेल्लूर जेल में अपनी धार्मिक सुविधा पाने के लिए तब भूख हड़ताल कर रहे थे प्राण बचाने का अनुरोध भी किया गया।

महात्मा गांधी, कह चुके हैं, कांग्रेस में लखनऊ अधिवेशन पर ही सम्मिलित हो चुके और उसकी महासमिति का सदस्य चुने जा चुके थे, पर देश की राजनीति में वे अभी सीधे न उतरे थे। उनके अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के तरीकों की प्रसिद्धि दक्खिन अफ्रीका में निहत्थे हिन्दुस्तानियों द्वारा अपनी सम्मान रक्षा के लिए किए गए संघर्षों में हो चुकी थी। किन्तु उनकी प्रभावकारिता भारत में सुप्रतिष्ठित विश्व की सबसे सुसंघटित साम्राज्य सरकार के साथ होनेवाले राष्ट्रीय संघर्ष में अभी प्रयोग द्वारा सिद्ध न हुई थी। दर असल उन्हें अभी इस देश के सार्वजनिक जीवन में कोई ठीक से जानता पहचानता भी न था न अभी उनके कोई साथी सहयोगी या कार्यकर्ता बन पाये थे। १६१६-१८ में गांधी ने सत्याग्रह का प्रयोग करके अथवा उसके प्रयोग की धमकी देकर बिहार में चम्पारन के नील के गोरे ठेकेदारों के विरुद्ध वहां के किसानों के शिकायतों के मामले में सरकार को ठीक से जाँच के लिए मजबूर कर, फिजी आदि अंगरेजी उपनिवेशों में भारत से शर्तबन्द कुली भेजने की अत्यंत लज्जाजनक और राष्ट्रीय अपमानकारी प्रथा का अन्त कराने में सफलता प्राप्त कर तथा गुजरात में खेड़ा जिले के किसानों और अहमदाबाद के मिल मजदूरों को न्याय दिलाकर भारत के वातावरण में भी अपनी सत्याग्रह पद्धति की प्रभावकारिता सिद्ध कर दिखायी, जिससे सर्वसाधारण में उनका प्रभाव बढ़ने लगा।

उधर यूरप के युद्ध मोर्चों पर इसी बीच बड़ी बड़ी घटनाएँ घटीं। अमरीका जो पहले, दोनों पक्षों को युद्ध सामग्री रसद आदि देता रहा था, पर समुद्र में जरमनों की शक्ति कम होने से जिसके माल के ग्राहक मुख्यरूप से अंगरेज ही थे, जिनके नामे कि तब उसकी बड़ी बड़ी रकमें उधार खाते चढ़ गई थीं, युद्ध में अंगरेजों को जरमनों से हारता देख, अपनी रकमें डूब जाने के डर से अंगरेजों के पक्ष में मैदान में उतर आया।

(अप्रैल१९१७ई०)। पच्छिमी एशिया के मोर्चे पर अंगरेज षड्यंत्रियों के प्रयत्न से अरब जातियां उनके सहयोग में जर्मनों के साथी तुर्की के साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। अंगरेजों ने भारत से बड़ी संख्या में फौजें उस मोर्चे पर ले जा उसके अनेक अंशों पर दखल कर लिया। उधर अंगरेजों के साथी रूस में राजक्रांति का उफान आ जाने और जनता के पुरानी जर्जर सामन्तशाही प्रणाली के विरुद्ध क्रांतिकारी नेता लेनिन के नेतृत्व में अपनी सदियों की गुलामी के बंधनों को एकाएक झटक कर उठ खड़े होने (७ नवम्बर १९१७) के बाद नयी स्थापित बहुपक्षी (बोलशेविक) समूह वादी (कम्यूनिस्ट) पंचायती (सोवियत) सरकार द्वारा अंगरेजों का साथ छोड़ जर्मनों से पृथक् संधि कर लेने के परिणाम स्वरूप जर्मन लोग पूरबी यूरप में उक्रेन (दक्षिण पच्छिमी रूस) दखल कर सहसा काले सागर और काकेशस तक आ पहुँचे (१८ मार्च १९१८) और तुर्क ईरान के रास्ते भारत की ओर तेजी से बढ़ने का जतन करने लगे। इससे अंगरेजों के लिए इधर भारी खतरा उपस्थित हो गया; जिसके मुकाबले के लिए अगरेजों को भारत से बड़ी से बड़ी संख्या में फौजें भरती कर पच्छिमी एशिया और ईरान के फंटे (फ्रंट) पर भेजने की आवश्यकता हुई। सैनिकों की भरती और युद्ध के लिए चंदा और कर्जा उगाहने में बहुत जोर जबरदस्ती भी की गयी।

अंगरेजों को अपनी फौजी भरती के लिए भारतीय लोकमत का नैतिक बल पाना और जरमनों के निकटतर आते जाने से भारत में विद्रोह न फूट पड़े इसके लिए उन्हें अपने विश्वास में लेना अनिवार्य हो उठा। टिळक जैसे राष्ट्रीय नेता इस अवसर का लाभ भारतीय युवकों को अधिक से अधिक भरती करा सेना में उन्हें ऊँचे पद दिलवा कर उसके भारतीयकरण में उठाना चाहते थे। पर अंगरेज टिळक जैसे तपे हुए राष्ट्रवादी को इस प्रकार सहयोग द्वारा भी भारत के सार्वजनिक जीवन

में ऊपर उठाने का खतरा मोल लेने को तैयार न थे। उन्होंने टिळक के पजाब और दिल्ली प्रवेश पर निषेधाज्ञाएँ निकाल, एवं सार्वजनिक रूप से उनके भाषणों पर प्रतिबन्ध लगा उन्हें पीछे ठेलना और गांधी को उनके मुकाबले में आगे बढ़ाना शुरू किया, जो वैसे ही लोकसंग्राहक होने पर भी स्वभाव के कोमल और समझौता-पसन्द व्यक्ति थे।

अंगरेजों ने दिल्ली में भारतीय राजा-महाराजाओं और लोकमत के मनोनीत प्रमुख नेताओं की एक परिषद् रंगरूटों की भरती की रोक थाम के लिए उपाय सोचने को दिल्ली में बुलाई (२७—४—१९१८)। उसमें टिळक की बजाय गांधी को ही भारतीय लोकमत का प्रतिनिधित्व करने बुलाया गया। गान्धी ने जतन किया कि टिळक भी उस परिषद् में शामिल हों, पर अंग्रेज अधिकारी उन्हें किसी भी रूप में दिल्ली आने देने को तैयार न थे। राजस्थान से भारतीय राजाओं के प्रतिनिधि रूप में महाराजा बीकानेर ने उस सम्मेलन में प्रमुख भाग लिया। वह अंगरेजों की युद्ध परिषद् का भी सदस्य था और माण्टेगू सुधार घोषणा में भी उसकी सलाह विशेष रूप से ली गयी थी। गान्धी ने रंगरूट भरती में अपना पूरा सहयोग देना स्वीकार किया।

टिळक ने उन्हें पत्र लिखा कि गान्धी कम से कम अंगरेजों से सेना में उच्च पदों पर आधे भारतीय युवकों की भरती की शर्त ही मनवा लें तो अकेले महाराष्ट्र से वे पचास हजार युवकों को भरती कराने का जिम्मा उठा लेंगे। किन्तु गान्धी ने उनके प्रस्ताव को यह कहकर न माना कि इसमें सौदे की गन्ध आती है, जब कि वे अपने अंगरेज प्रभुओं की मदद इस विपत्ति के समय बिना किसी शर्त के कर उनकी कृतज्ञता के फलस्वरूप भारत के लिये उनसे वांछित अधिकार उपहार रूप में पा जाने की आशा करते थे। गांधी और उनके साथी इसके लिये अब अंगरेजों के रंगरूट भरती कराने वाले अवैतनिक सैनिक

पदाधिकारियों का रूप धर गांव गांव घूमने लगे। पर अधिकांश भारतीय जनता अपनी सहज बुद्धि से समझती थी कि उसकी मुक्ति का मार्ग बरतानवी साम्राज्य की जीत के बजाय उसकी हार और ध्वंस में है। वह अपने युवकों को उनकी सेना में कटने के लिए स्वेच्छा से भेजने को तो कभी तैयार न थी। इसलिए गांधी और उनके साथियों द्वारा अपनी सारी शक्ति लगा कर किये गये धुआँधार प्रचार का भी जनता पर कोई प्रभाव न पड़ा। महात्मा गान्धी और बिहार के बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्म-कथाओं में लिखा है कि खेड़ा और चम्पारन की उस जनता ने भी, जिसके संघर्ष का वे कुछ ही मास पहले नेतृत्व कर चुके थे, अंग्रेजों की फौज में भरती होने की उनकी बात तक न सुनी।

जून १६१८ में माण्टेगू चेम्स फोर्ड सुधार योजना का मसविदा प्रकट कर दिया गया। उसमें सुझाये गये शासन सुधार राष्ट्रवादियों और नरमदलियों की कम से कम मांगों से भी कम थे। साथ ही राउलट समिति की जांच द्वारा प्रस्तुत की गयी नये दमनकानूनों की सिफारिशें भी प्रकाश में आईं। इससे देश भर में असंतोष की भारी लहर फूटने लगी। नये सुधारों को उस रूप में स्वीकारा जाय या नहीं यह विवाद अभी चल ही रहा था कि यूरप में लाखों अमरीकी फौजों के मैदान में पहुँच जाने से जरमनों को हथियार डाल देने पड़े (नवम्बर १९१८)। इन सारी परिस्थितियों पर विचार के लिए दिसम्बर १६१८ में कांग्रेस का अधिवेशन दिल्ली बुलाया गया।

बरतानवी भारत में नये शासनसुधार और उत्तरदायी शासन की स्थापना की सम्भावना देख राजस्थान के व्यापारी समाज में भी, जिसकी कि स्थिति युद्ध-कालीन मंहगाई का लाभ उठाने से अब काफी मजबूत हो गयी थी,—विशेषकर प्रान्त से बाहर अपना कारबार फैलाने वाले मारवाड़ी व्यापारी वर्ग में, जिसकी नव-अर्जित पूंजी की शक्ति पुराने जर्जर सामन्ती समाज के खण्डहरों के बीच अपना स्थान प्रशस्त बनाने

और प्रतिष्ठा पाने के लिए मचलने लगी थी—एवं नये अंगरेजी पढ़े लिखों के पेशे करने वाले वर्गों में भी अब कुछ चेतना के लक्षण प्रकट होने लगे थे। अंगरेजी भारत की तरह राजस्थान में भी वे अब किसी तरह के नये सार्वजनिक मध्यवर्गी राजनीतिक जीवन के विकास और अपनी पितृभूमियों के शासन में हाथ बटाने के लिए बेचैन होने लगे थे। प्रान्त के निकट होने से कांग्रेस के उस अधिवेशन पर राजस्थान की विभिन्न रियासतों से भी बहुत से लोग दिल्ली में इकट्ठे हुए। चम्पारन और खेड़ा में चलाए हुए किसानों के संघर्षों में गांधी की सफलता से आकृष्ट बीजोल्यां के किसान नेता विजयसिंह पथिक ने उनसे संपर्क कर लिया था। पथिक अब अपने साथियों सहित दिल्ली कांग्रेस में उपस्थित थे। ग्वालियर राज्य के उत्तरी भाग भदौर के रहने वाले गणेशशंकर विद्यार्थी ने सन् १६१३ में उत्तर भारतमें मारवाड़ी पूँजीपतियों ओर मजदूरों के सब से बड़े केन्द्र कानपुर से 'प्रताप' नाम का साप्ताहिक हिन्दी पत्र निकाला था, जो युक्त प्रान्त, मध्यभारत और राजस्थान में राष्ट्रीयता का प्रबल प्रचारक था। पथिक, गणेश शंकर विद्यार्थी, चांदकरण सारडा आदि के प्रयत्न से दिल्ली कांग्रेस के अवसर पर 'राजपूताना मध्यभारत सभा' नामक एक सार्वजनिक संस्था की स्थापना हुई, जिसके सभापति वर्धा में रहने वाले शेखावाटी के युवक सेठ राय बहादुर जमनालाल बजाज और उपसभापति गणेश शंकर विद्यार्थी चुने गये। युक्त प्रान्त और राजस्थान के आरम्भिक सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन के निर्माण में गणेश शकर विद्यार्थी के 'प्रताप' का बहुत बड़ा भाग था। इस प्रकार राजपूताना मध्यभारत सभा का कार्यालय भी उस समय कानपुर में ही रहा।

राउलट समिति की रिपोर्ट को लेकर उस समय देश में गहरा असन्तोष था। पर अंगरेजों ने उसकी परवाह न कर जनवरी १६१६ में उसके आधार पर दो दमन कानूनों के मसविदे वायसराय की बड़ी

विधान सभा में पेश कर दिये। एक मसविदा स्वीकृत हो कर शीघ्र ह
कानून का रूप भी धारण कर लिया। दूसरे पर विचार शुरू ह
हुआ था कि गांधी ने उन दोनों कानूनों को सरकार के वापस न ले
की दशा में उन्हें न मानने और सत्याग्रह आरम्भ करने की धमकी दी
उन्होंने उसके लिए प्रतिवाद स्वरूप जनता से देश में सर्वत्र एक सा
उपवास करने और हड़ताल सभाएँ जलूस आदि निकाल कर एक जोर
दार प्रदर्शन करने की दुहाई फेरी। दिल्ली और पंजाब में, जहां जनत
युद्धकालीन दमन के कारण अंगरेजों से पहले ही चिढ़ी हुई थी, जबरदस्त ज
आंदोलन शुरू हो गया। ८ अप्रैल को गांधी को दिल्ली आते समय गिरफ्ता
कर वापिस बम्बई भेज दिया गया। उनकी गिरफ्तारी के समाचारों
बम्बई तथा अहमदाबाद आदि गुजरात के अनेक शहरों में अंगरेज
विरोधी प्रदर्शन और दंगे भी हुए जिनमें कुछ अंगरेज अधिकारी मा
गये। गांधी ने तब आन्दोलन को एकाएक उस रूप में आरम्भ करने
लिए सरकार के सामने अपनी भारी भूल स्वीकार की और सत्याग्र
अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया।

पर पंजाब की परिस्थिति ने इस बीच विकट रूप धारण
कर लिया। १३ अप्रैल को अमृतसर में जलियां वाला बाग में सैकड़
लोग गोलियों से भून दिये गये। सारे पंजाब पर फौजी कानून घोषित क
दो महीने तक भीषण आतंक और अत्याचार का दौर चलाया गया
इस दशा में अंगरेजों के प्रति गहरे विद्वेष की लहर दौड़ी, पर जनता क
कुछ करने का रास्ता न दिखाई दिया। कांग्रेस ने इस काण्ड की जांच
और पीड़ितों की सहायता का आयोजन किया इसी बीच मांटेगू चेम्स
फोर्ड योजना के आधार पर कानून बना कर सरकार ने भारत के शास
में कुछ सुधार करने और भारतीयों को छोटे मोटे अधिकार देने क
घोषणा की।

दिसम्बर १९१९ में कांग्रेस का साधारण अधिवेशन अमृतसर में ह

किया गया। वहीं 'राजपूताना मध्य भारत सभा' का दूसरा अधिवेशन भी हुआ। अमृतसर में कांग्रेस सिर्फ थोड़े से अंगरेजी पढ़े ऊंची कक्षा के लोगों की साल ब साल इकट्ठा हो कर राजनीति की शौकिया चर्चा करने की गोष्ठी मात्र न रह कर जनता के सभी वर्गों की इच्छा आकांक्षाओं का प्रतीक और उनके आकर्षण का प्रधान राजनीतिक केन्द्र बन चली थी। उसके संघटन को व्यापक रूप देने और उसे अधिक लोक-प्रतिनिध्यात्मक और कार्यक्षम बनाने के लिए उसका नया विधान बनाने का काम महात्मा गांधी को सौंपा गया।

देश के वातावरण को शान्त करने के लिये अंगरेजी सरकार ने अधिकांश राजबन्दियों और कुछ क्रांतिकारियों को भी फरवरी १६२० तक छोड़ दिया। राजस्थान के अर्जुन लाल सेठी, केसरीसिंह बारहट, ठाकुर गोपालसिंह आदि भी छूट कर आये। भोपसिंह की गिरफ्तारी का वारंट भी रद्द किया गया। इन लोगों के आने पर मार्च १६२० में राजपूताना मध्यभारत सभा का एक अधिवेशन अजमेर में सेठ जमनालाल की अध्यक्षता में हुआ। विजय-सिंह पथिक ने जब वहां यह घोषणा की कि भोपसिंह उन्हीं का नाम था, तब अनेक खुफिया विभाग के अधिकारी भी जो विजयसिंह पथिक को बराबर देखते थे, हैरान रह गये। राजपूताना मध्य भारत के बढ़ते हुए जनवादी और कृषक आन्दोलनों को ठीक से चलाने के लिए अब एक अखबार अजमेर से निकालना आवश्यक था। पथिक, केसरीसिंह बारहट, अर्जुनलाल सेठी आदि मिलकर इसकी योजना कर ही रहे थे कि महात्मा गान्धी ने राजस्थान की परिस्थिति को ठीक से समझने के लिए उन्हें वर्धा बुलाया।

बराड-नागपुर प्रदेश में राजस्थानी ("मारवाड़ी") व्यापारियों का एक बड़ा केन्द्र अंगरेजी राज के आरंभ से बन गया था, जहां

मराठा राज्य के अन्त होने से हुए राज्य-विपर्यय तथा अंगरेजों की भारतीय उद्योग धन्धों को नष्ट कर इस देश को अपने देश के कारखानों के लिए कच्चा माल पैदा करने और अपने कारखानों के बने पक्के माल की खपत के लिए औपनिवेशिक बाजार में बदल देने की नीति के कारण पुरानी अर्थव्यवस्था के अस्तव्यस्त हो जाने के बाद अंगरेजों द्वारा जमायी जाती नयी अर्थव्यवस्था और पुनर्वास-योजनाओं में योग देने अर्थात्, अंगरेजों के शोषणयन्त्र के कल पुर्जों के रूप में काम के लिए उन व्यापारियों ने राजस्थान से वहां जाकर काफी धन और ऐश्वर्य जमा कर लिया था ; और अब वहां के समूचे सामाजिक आर्थिक जीवन पर छा जाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनकी इच्छा थी कि राजस्थान के मामलों पर प्रकाश डालने वाला पत्र वर्धा या वहां के किसी दूसरे केन्द्र से निकले ताकि वे राज्यस्थान के जीवन में भी अपना प्रभाव बढ़ा सकें। महाराष्ट्रों के टिळक द्वारा सम्पादित केसरी के नमूने पर मारवाड़ियों की ओर से 'राजस्थान केसरी' निकालने के लिए प्रेस आदि खरीदने को जमनालाल बजाज ने पथिक को पांच हजार रुपया तुरन्त निकाल कर दे दिया। किन्तु बीजोल्यां का आन्दोलन तब जोरों से चल रहा था, अतः वर्धा में अखबार निकालने का काम केसरीसिंह बारहट और अर्जुन लाल सेठी को सौंप पथिक राजस्थान लौट आये। पर केसरीसिंह और सेठी को संपादकीय जीवन का अनुभव न था। अतः पथिक ने फिर वर्धा जाकर उस पत्र का सम्पादन अपने हाथ में लिया। सेठी के शिष्य रामनारायण चौधरी ने १६१६-१७ के बाद वर्धा जमनालाल बजाज के पास चले गये थे, उन दिनों वर्धा में एक पाठशाला चलाते थे। पथिक ने उन्हें भी अपने साथ ले अखबार का कार्य जोर शोर से आरंभ कर दिया।

§ १७. असहयोग आन्दोलन का ज्वार

अमृतसर कांग्रेस के अवसर पर टिळक और चितरञ्जन दास आदि

पुराने राष्ट्रवादियों ने मॉण्ट-फोर्ड शासन सुधारों की घोषणा को अपर्याप्त और असंतोषजनक कहा था। तो भी सरकार से सहयोग या असहयोग करने के विषय में टिळक का मत था कि राष्ट्रवादियों को वैध या अवैध सब उपायों से सरकार के भीतर पैठकर या बाहर रहकर शक्ति हथियाने के हर मौके का लाभ उठा अपनी संघर्ष शक्ति बढ़ाने और राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति और राष्ट्र के विकास में जहां सहयोग से काम निकले सहयोग का वरना असहयोग या अडंगा सभी नीतियों का आवश्यकतानुसार आश्रय लेने को तत्पर रहना चाहिए। किन्तु महात्मा गांधी ने तब शासन सुधारों की घोषणा को असन्तोषजनक कहने पर आपत्ति उठा उसे अंगरेजों की भारत के साथ न्याय करने की इच्छा का प्रमाण कह अंगरेज सरकार को उसके लिए धन्यवाद देने, सरकार से सहयोग करने और उसके प्रति अपनी राजभक्ति प्रकट करने पर बल दिया था।

किन्तु १६२० का साल चढ़ने के साथ वातावरण बदलने पर गांधी ने भी अपने को बदला और पूरे असहयोग की बात उठाई। तुर्की के खलीफ़ा का साम्राज्य अंगरेजों ने तोड़ डाला। इससे भारतीय मुस्लिमों में गहरा असन्तोष फैला। मजहबी मुसलमानों ने यहां खिलाफत सभा बना आन्दोलन आरम्भ कर दिया।

करीब १८ हजार मुसलमान अंगरेज ईसाइयों की गैर-इसलामी सल्तनत में रहना हराम और कुफ्र बता भारत से अफ़गानिस्तान में हिजरत कर गये। इनमें कुछ भारतीय क्रान्तिकारी युवक भी थे, जो इस आड़ में भारत से निकल विदेशों में, खासकर रूस में, जहां राज-क्रान्ति होकर श्रमिकों का एक नये तरह का समूहवादी (कम्यूनिस्ट) राष्ट्र खड़ा हुआ था, जाकर वहां की नया परिस्थिति का अध्ययन करना चाहते थे। राजस्थान से भी बीकानेर के युवक क्रान्तिकारी शौकत उस्मानी उनके साथ इस समय इसी विचार से गये। गांधी ने

इस मौके पर जगी मुसलमानों की अंगरेज-विरोधी भावनाओं का उपयोग उन्हें राष्ट्रीय संघर्ष में अपने साथ लेने में करने को खिलाफत के मामले में दिलचस्पी लेनी शुरू की।

अप्रैल १९२० में पूना में होने वाली स्वराज सभा (होमरूललीग) के सभापति पद से बोलते हुए गांधी ने भारत-वासियों का ध्यान अंगरेज सरकार द्वारा किये गये सुधारों की तरफ से हटाने और उनमें आत्म-विश्वास जगाने के लिए कहा "मेरी राय में स्वराज के शीघ्र प्राप्त करने का उपाय है स्वदेशी का प्रचार, हिन्दू-मुस्लिम एकता, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना और प्रान्तों का निर्माण भाषा के आधार पर पुनः करना। ...यदि राष्ट्र की सारी शक्ति इसमें लग जाय तो हम में से अति से अतिवादी भी जैसे शासन सुधार चाहते हैं वे सब स्वतः ही हमें मिल जायंगे।"

खिलाफती मुसलमानों को गांधी ने असहयोग की सलाह दी। २८ मई को बम्बई में हुई खिलाफत सभा ने उसकी सलाह मान अंगरेजी सरकार से असहयोग की घोषणा कर दी। कांग्रेस महासमिति की बैठक इस प्रश्न पर विचार करने के लिए ३० मई को बनारस में बुलाई गई। टिळक आदि पुराने राष्ट्रवादी नेता स्वाधीनता आन्दोलन को विशुद्ध राष्ट्रीय आधारों पर जनता का राजनीतिक शिक्षण करते हुए चलाना चाहते थे। उन्हें गांधी का इस प्रकार लोगों की सिर्फ भावना उभाड़ कर उसका लाभ उठाने का तरीका पसन्द न था। खासकर मुसलमानों के धार्मिक कट्टरपन के उफान का लाभ उठाने के लिए खिलाफत जैसे मजहबी मामले का, भारत की स्वाधीनता के शुद्ध राष्ट्रवादी राजनीतिक आन्दोलन के साथ गठजोड़ा कर, उनकी साम्प्रदायिकता की भावना को इस प्रकार राष्ट्रवाद की बराबरी में ला बैठाने का यह जतन उन्हें बिलकुल नापसन्द था। किन्तु टिळक गांधी की लोकसंग्रह की वृत्ति को जानते थे। दूसरे वे अपनी वृद्धावस्था के कारण अब यों भी इतनी शक्ति अनु-

भव नहीं करते थे कि देश को कोई नया कार्यक्रम देकर, निरन्तर उसका मार्ग-प्रदर्शन कराते रहने का उत्तरदायित्व स्वयं अपने कन्धों पर उठाये रह सकें। अतः उन्होंने गांधी के रूप में उठते हुए सर्व-साधारण के उस नये शक्तिशाली नेतृत्व से बहुत मतभेद प्रकट कर उसकी शक्ति कम करने की अपेक्षा चुप रहना ही उचित समझा। तीसरे, खिलाफत का प्रश्न एक बार उस रूप में उठ जाने पर उसका विरोध करने में जनता में अनेक तरह का भ्रम फैलने की भी आशंका थी जिससे राष्ट्र के हित की अपेक्षा हानि होने की संभावना उस समय अधिक थी। अतः टिळक ने उन्हीं तिथियों में कलकत्ता से पूना जाते समय बनारस से होकर गुजरने पर भी उस विवाद में पड़ने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि महासमिति का जो भी निर्णय हो मुझे स्वीकार होगा।

असहयोग का कार्यक्रम, सिवाय नये संविधान के आधार पर होने वाले केन्द्रिक और प्रान्तीय विधानसभाओं तथा स्थानीय स्वराज्य संस्थाओंके चुनावों के बहिष्कार के, सब प्रायः वही था जो १९०५-८ के स्वदेशी आंदोलन के समय पहले भी आजमाया जा चुका था, अर्थात्, विदेशी वस्तुओं, खासकर विदेशी वस्त्र का बहिष्कार, स्वदेशी प्रचार, सरकारी नौकरियों और पद मान प्रतिष्ठा आदि छोड़ना, अंगरेजी स्कूल कालेजों और अदालतों का त्याग, अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का देशी भाषाओं के माध्यम से अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विकास, ग्रामों और शहरों में अपनी पंचायतें और सालिसी अदालतें कायम करना और इस प्रकार अपनी एक समानान्तर राष्ट्रीय सरकार स्थापित कर बरतानवी शासन यन्त्र को देश में स्वेच्छा से बेकार बना देना।

३१ जुलाई की रात बम्बई में टिळक का अचानक देहान्त हो गया। उसके अन्तिम समय गांधी उनकी रोगशय्या के पास मौजूद थे। १ अगस्त से ही असहयोग शुरू कर दिया गया। महात्मा गांधी उसका

प्रचार और संघटन करने के लिए खिलाफती नेता मुहम्मद अली और शौकत अली को साथ ले सारे देश में घूमे। उसमें वे राजस्थान में अजमेर भी आये। वहां आन्दोलन का एक जबरदस्त केन्द्र आरम्भ से बनने लगा। शुरू सितबर में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन आन्दोलन को अपनाने न अपनाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए लाला लाजपत राय के सभापतित्व में कलकत्ते में हुआ। बड़े बहस मुबाहसे के बाद कांग्रेस ने भी असहयोग प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। प्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव नवम्बर १९२० में हुए, जिसमें जनता ने आन्दोलन का पूरा साथ दिया और अनेक स्थानों पर ८० परसेंट से भी कम लोग मत देने गये।

कलकत्ता कांग्रेस के प्रस्ताव की पुष्टि साल के अन्त में होने वाले नागपुर अधिवेशन में हुई। गांधी का बनाया कांग्रेस का नया विधान भी नागपुर में स्वीकृत हुआ जिसमें भाषावार प्रान्तों का पुनर्निर्माण का सिद्धान्त, जिस पर लोकमान्य टिळक भी बल देते रहे थे, कांग्रेस ने स्वीकृत कर लिया। गांधी ने उसे भारतीय राष्ट्र की आधारशिला माना और स्वराज्य अर्थात् जनता का अपना सच्चा राज पाने का उसे मुख्य साधन कहा। राजपूताना मध्यभारत को भी ज्हां बोली मुख्यतः राजस्थानी है, इसके अनुसार भारत का प्रान्त माना गया, पर क्यों कि यह प्रान्त समूचा छोटी बड़ी अनेक रियासतों में बंटा था और कांग्रेस अभी तक मुख्यतः बरतानवी भारत को ही अपना कार्यक्षेत्र मानती थी; अतः उसके यहाँ अजमेर-मरवाड़ा के छोटे ब्रिटिश प्रान्त का ही प्रतिनिधित्व मुख्य रूप से रहा। तो भी राजपूताना मध्य भारत सभा वालों के प्रयत्न से, जिसका चौथा अधिवेशन उसी समय नागपुर में कांग्रेस के साथ साथ हो रहा था, और राजपूताना मध्य भारत के अतिरिक्त पंजाब हिमालय गुजरात महाराष्ट्र और दक्खिन की दूसरी रियासतों से भी करीब ४ हजार प्रतिनिधि जिसमें शामिल थे, देसी राज्यों के प्रतिनिधि भी कांग्रेस

ने अपने यहां लेना स्वीकार कर लिया;जिसके अनुसार विभिन्न प्रान्तों में स्थित रियासतों को उन उन प्रान्तों का अंग माना गया। राजस्थान मध्यभारत की सभी रियासतें उसके अनुसार अजमेर-मेरवाड़ा प्रान्त के अन्दर मानी गयीं। राजपूताना मध्य भारत सभा ने नागपुर में, देसी राज्यों में चल रहे जन-आन्दोलन और वहां साम्राज्यशाही के कारिन्दों और सामन्ती शासनतंत्र के कल पुर्जों द्वारा जनता पर किये जाने वाले जुल्मों की एक प्रदर्शनी संघटित कर राजस्थान के जन जागरण के लिए एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। सेठ जमनालाल के अतिरिक्त विजयसिंह पथिक, अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट, गणेश शंकर विद्यार्थी, और मध्य प्रान्त के सेठ गोविन्द दास इस सभा के उपसभापति तथा चाँदकरण सारडा प्रधानमंत्री और चौधरी रामनारायण और स्वामी नृसिंह देव सहकारी मंत्री चुने गये।

नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष जमनालाल बजाज थे, जो राजपूताना मध्य भारत सभा के भी संचालक थे। असहयोग प्रस्ताव के कांग्रेस द्वारा अन्तिम रूप से स्वीकार होते ही जमनालाल बजाज ने जनवरी १९२१ में अपनी रायबहादुरी का खिताब छोड़ दिया और देश की पुकार पर अपना पेशा छोड़ आन्दोलन में भाग लेने को आगे आने वाले वकीलों की आर्थिक सहायता के लिए एक लाख रुपया टिळक स्वराज कोष में एक मुश्त दान दिया। जमनालाल बजाज राजस्थान के प्रतिनिधि रूप में कांग्रेस के नये विधान के अनुसार बनने वाली १५ आदमियों की कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी बनाये गये और तब से एक तरह कांग्रेस का स्थायी कोषाध्यक्ष भी नियत हुए।

आन्दोलन की प्रगति का सिंहावलोकन करने और नये आदेश जारी करने के लिए कार्यकारिणी समिति की बैठकें इसके बाद महीने महीने होने लगीं। व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव नागपुर अधिवेशन से पूर्व नवंबर १९२० में हो हो चुके थे। जनता ने गांधी के कहने से

उनके बहिष्कार में कांग्रेस का साथ असाधारण रूप से दिया था, पर उससे दूसरे राष्ट्रविरोधी तत्त्वों का वहां पहुँचने का मार्ग सहल ही हुआ। स्कूलों-कालिजों के बहिष्कार में भी कांग्रेसी काफी सफल हुए और राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना देश में प्रायः हर प्रान्त में बड़ी तेजी से की गयी। अदालत का पूर्ण बहिष्कार न हो सका, पर उनका रोब प्रायः जाता रहा। असहयोग का अन्तिम रूप देहातों में पंचायतें कायम कर अपना समानान्तर शासन खड़ा करना और करबन्दी शुरू करना था। उसकी तैयारी के लिए, ३० जून तक कांग्रेस के एक करोड़ साधारण सदस्य देश भर में बनाना, टिळक स्वराज्य कोष में एक करोड़ रुपया इकट्ठा करना और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को सफल बनाने के लिए–देशी मिलों का बना कपड़ा विदेशी कपड़े के अभाव में देश में पूरा पड़ने वाला न था, अतः हाथ की कताई बुनाई के धन्धे को प्रोत्साहित करने के लिए—२० लाख चर्खे चालू कर देने का लक्ष्य स्थिर किया गया इसके लिए जमनालाल बजाज को टिळक स्वराज फंड से कुल संग्रह का परसेंट लगा देने का अधिकार भी दिया गया।

सेठ जमनालाल बजाज के प्रयत्न से और उनकी देखादेखी राजस्थान के दूसरे 'मारवाड़ी' व्यापारियों ने भी उस आन्दोलन में कांग्रेस का साथ जी खोल कर दिया। महायुद्ध के समय अंगरेजों को रसद आदि के रूप में भारत से काफी मदद मिली थी; पर उनकी भारत को शिल्प और उद्योगहीन बनाये रखने की नीति के कारण लोहे की कील पेंच, कमानियां और तार जैसी साधारण चीजें भी तब यहां तैयार न होती थीं; इससे युद्ध जैसे मौके पर उन्हें अपनी उस नीति की घातकता अनुभव होने लगी थी, इससे भारतीय पूंजी को साथ ले युद्धोपरान्त यहां कुछ उद्योग धन्धों के विकास की नयी नीति अपनायी जाने लगी थी, मारवाड़ियों की भी दिलचस्पी उसमें बढ़ रही थी। स्वदेशी के प्रचार और स्वराज्य की स्थापना में उन्हें अपनी नवार्जित पूंजी के

विनियोग द्वारा अपने नये उद्योग धन्धे स्थापित करने और पनपाने का नया सुयोग मिलने और आन्दोलन में चंदा दे अपनी पूंजी के बल पर समाज में ऊँचा सम्मान प्रतिष्ठा पाने का अवसर मिल रहा था; जो वैसे उन्हें पुराने सामन्ती समाजढांचे में, जहां ऊंचे कुल में जन्म और अभिजातता या राजशक्ति का विचार धन या पूंजी की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखता था, प्राप्य होना प्रायः दुष्कर होता।

जुलाई १९२१ के अन्त तक टिळक स्वराज कोष में चंदा एक करोड़ से कुछ ऊपर ही जमा हो गया और २० लाख चरखे भी चालू हो गये। पर कांग्रेस की सदस्य संख्या ५० लाख से ऊपर न पहुँचायी जा सकी। स्कूलों, काळेजों के बहिष्कार से कांग्रेस के पास स्वयसेवक कार्यकर्त्ताओं की एक अच्छी जमात इकट्ठी हो गयी और विदेशी कपड़ों के बहिष्कार ने जोर पकड़ा। स्वयंसेवकों के दल घर घर जाकर विदेशी कपड़े मांगने और बाजारों में खुले आम उनकी बड़ी बड़ी होलियाँ जलाने लगे (सितंबर १९२१)।

अंग्रेजों ने धर पकड़ मारपीट और दमन आरंभ कर दिया। खिलाफत सभा ने ८ जुलाई को करांची में एक प्रस्ताव द्वारा मुसलमानों का अंगरेजी सेना या पुलिस में काम करना हराम करार दिया था। उसके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। उत्तर में कांग्रेस ने सारे देश में जगह जगह सभाएँ कर उस प्रस्ताव को इस रूप में दोहराया कि कभी भी भारतीय का बरतानवी सरकार की नौकरी करना राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रहितों के विरुद्ध है और कि जनता को हर सरकारी नौकर फौज और पुलिस को शांतिमय तरीके से उस सरकार की नौकरी छोड़ देने के लिए कहने और प्रचार करने का स्वयंसिद्ध अधिकार है, जो अपना विश्वास जनता की नज़रों में खो चुकी है।

राजस्थान में भी उस आन्दोलन की गूंज सर्वत्र सुनाई दी। राजपूताना मध्यभारत सभा के प्रायः सभी कार्यकर्ता कांग्रेस में शामिल हो

गये। विजयसिंह पथिक, रामनारायण चौधरी आदि'राजस्थान केसरी' का काम छोड़कर वर्धासे १६२०का अन्त होते होते राजस्थान वापिस आ गये थे। राजस्थान केसरी की किसान मजदूरों विषयक नीति को लेकर उनकी वर्धा के मारवाड़ी पूंजीपतियों और उस प्रदेश के जमींदार जागीरदारों से जो कि कांग्रेस पर भी हावी थे, न निभ सकी थी। राजस्थान के जनान्दोलन में नीति और नेतृत्व के प्रश्नों पर भी, जमनालाल बजाज आदि पूँजीपतियों से जो—जनता में इन पुराने कार्यकर्त्ताओं के तरीकों पर वास्तविक जागृति और संघटन पैदा करने की बजाय उसकी आड़ में, यहां के जनधन और समाज पर यह पुरानी राजाश्रित सामन्ती कुलीनता की जकड़ ढीली कर अपनी नवअर्जित पूंजी के बल पर अपना प्रभाव जमाना और उसके लिए इन तपे हुए पुराने राष्ट्रकर्मियों को कुछ चांदी के टुकड़ों पर खरीदना चाहते थे—उनकी न बन सकी थी। इन पुराने कर्मियों ने अजमेर से "नया राजस्थान" नाम से अपना एक स्वतत्र पत्र निकालना आरम्भ कर दिया। बाद में इसी पत्र का नाम "तरुण-राजस्थान" हुआ। राजस्थान में अपना सारा समय सार्वजनिक सेवा में देने का व्रत लेने वालों के लिए "राजस्थान सेवा संघ" नामक कर्मी संघटन की स्थापना भी पथिक की अध्यक्षता में तभी स्वतंत्र रूप से की गयी। पथिक के अतिरिक्त रामनारायण चौधरी, उनकी पत्नी, माणिकलाल वर्मा, हरि भाई किंकर, नानूराम व्यास, शोभालाल गुप्त, लादूराम जोशी आदि राजस्थान के अनेक कर्मठ और लगन वाले कार्यकर्ता इसमें शामिल हुए। अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट आदि भी मध्यप्रांत के मारवाड़ी पूंजीपतियों से निराश हो १६२१ के साल के शुरू में राजस्थान वापिस आगये। बीजोल्यां का आन्दोलन बदस्तूर चल रहा था। असहयोग आन्दोलन का असर उस पर भी पड़ा।

अजमेर में अर्जुनलाल सेठी, चांदकरण सारडा, मौलाना मुइनुद्दीन चिश्ती, अब्दुल कादर बेग, प्यारे मियां आदि नागरिकों के प्रयत्न से

असहयोग और विदेशी वस्तु बहिष्कार ने काफी जोर पकड़ा। इन्दौर, उज्जैन, जयपुर, ब्यावर आदि राजस्थान के दूसरे व्यापार और शिल्प-केन्द्रों में भी, जहां स्वतंत्र मध्यवर्गी समाज अपेक्षाकृत सशक्त था, नागरिक जीवन में कुछ चेतना प्रकट हुई। इन्दौर से टिळक स्वतंत्र कोष में वहां की एक सार्वजनिक संस्था 'इन्दौर राज प्रजा परिषद्' द्वारा काफी चंदा उगाह कर भेजा गया। जयपुर, जोधपुर, खेतड़ी आदि में सेवा समितियाँ स्थापित हुईं। मारवाड़ में राजस्थान सेवा संघ के नमूने पर मारवाड़ सेवा संघ नामक संघटन तभी खड़ा हुआ, जो राजस्थान सेवा संघ से भी संबद्ध कर दिया गया। नागरिक आन्दोलन के लिए वहां "मारवाड़ हितैषी सभा" की स्थापना हुई। उसके एक रूपया वार्षिक चंदा देने वाले कई हजार सदस्य अकेले जोधपुर शहर में ही भरती हो गये। मारवाड़ के आज के लोकनायक जयनारायण व्यास इस सभा के मंत्री रूप में ही पहले पहल सार्वजनिक क्षेत्र में सामने आये।

हम देख चुके हैं कि राजस्थान के राजाओं, राजपूत जागीरदारों आदि का रुख राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रति महायुद्ध से पूर्व १९१४-१५ के क्रान्ति आन्दोलन तक प्रायः सहानुभूति पूर्ण था। अंगरेज उस समय तक उन पर भी विश्वास न करते थे और उनके प्रति प्रायः घमंड और अभिमानभरा बरताव करते थे। किन्तु महायुद्ध के जमाने में उन्होंने इसके खतरे को अनुभव किया और राजाओं और राजपूत जागीरदारों आदि को उन्होंने अपने विश्वास में लेना आरम्भ कर दिया था। युद्ध के बाद भारतीय जनता को शासन सुधार देने को मजबूर होने पर उन्हों ने राजामहाराजाओं को भी नरेन्द्र मंडल के रूप में संघटित कर केन्द्र में वायसराय के नीचे रक्खा और भारतीय जनता के राष्ट्रवाद में मध्यवर्गी लोगों और किसानों, मजदूरों आदि जनता के निचले स्तरों की बढ़ती हुई शक्ति और अशान्ति की तरफ संकेत कर, और रूसी राज्य-क्रान्ति की सी विभीषिका पैदा करके उन्हें भारतीय जनता से फोड़कर

आन्दोलन के मुकाबले में अपने हथियार बनाने का जतन आरम्भ कर दिया था। अंगरेज अफसरों ने मेवाड़ के बीजोल्यां परगने के किसानों की पंचायतों की स्थापना और आत्मनिर्भरता की तुलना रूसी सोवियतों से की और पथिक आदि उनके संघटनकर्ताओं को समूहवादी (कम्यूनिस्ट) कहना शुरू किया। जोधपुर राज्य के शासक कर्नल सर प्रताप जैसे कुछ राजपूत तो इससे यहाँ तक बौखला गये कि स्वदेशी वस्त्र और खादी प्रचार जैसे आन्दोलनों पर भी, जिनका कि सूत्रपात मारवाड़ में कभी उन्होंने स्वयं स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आने के बाद किया था, रोक लगाने और विदेशी माल के व्यापार को अपनी रियासतों में जानबूझ कर प्रोत्साहित करने तक को उतारू हो गये। कर्नल प्रताप ने तो उत्तेजित होकर एक बार यहाँ तक भी घोषणा कर दी कि यदि अंगरेज अनुमति दे दें तो महात्मा गांधी का सिर वह स्वयं अपने हाथों काटने को प्रस्तुत है।

कांग्रेस कार्यसमिति ने दमन के जवाब में ५ नवम्बर १९२१ को प्रान्तीय समितियों को, जिलों या तहसीलों में, जहाँ उन्हें तसल्ली हो कि तैयारी पूरी हो चुकी है, सामूहिक सत्याग्रह के रूप में करबन्दी आन्दोलन तक शुरू कर देने का अधिकार दे दिया। अंगरेजों ने इस बीच इस आशा से कि शायद शाही परिवार के किसी आदमी को बुलाने से १९११ की तरह अब के भी भारतीयों की राजभक्ति जगायी जा सके, अपने राजकुमार को भारत-भ्रमण के लिये बुलवा भेजा था। १७ नवम्बर को वह बम्बई में जहाज से उतरा, पर भारत भर ने उसका स्वागत पूरी हड़ताल मना कर किया। बम्बई में उस मौके पर दंगा हो गया। गांधी ने सत्याग्रह आन्दोलन फिर से बंद कर दिया। किन्तु अंगरेजी सरकार ने अपना दमनचक्र जोरों से आरंभ किया। १९ नवम्बर को बंगाल, युक्तप्रांत आदि के कांग्रेस कार्य करनेवाले स्वयंसेवक दलों के तमाम संघटनों को गैरकानूनी करार दिया गया। दिसम्बर तक कुल मिलाकर ३० हजार आदमी जेलों में बंद कर दिये गये। गांधी ने

तब सत्याग्रह का फिर से निश्चय किया। लड़ाई को आगे चलाने के लिए कांग्रेस ने अहमदाबाद अधिवेशन में महात्मा गांधी को अपना अधिनायक चुना (दिसम्बर १९२१)। सत्याग्रह और करबन्दी आन्दोलन के सामूहिक रूप का एक नमूना देश के सम्मुख पेश करने को कांग्रेसियों ने गांधी की देखरेख में सूरत जिले के बारडोली तालुके में तैयारी आरम्भ कर दी। मद्रास प्रांत के गुन्तूर जिले में करबन्दी आन्दोलन जारी भी हो गया। गांधी ने बारडोली में आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व भारत के तात्कालिक वायसराय लार्ड रीडिंग को अपनी दमन नीति में परिवर्तन करने के लिए सात दिन की मोहलत देते हुए, १ फरवरी को लिखा कि "वैसा कर देने पर मैं अपनी जिम्मेदारी पर सत्याग्रह को तब तक के लिए मुल्तवी कर दूँगा जब तक कि दूसरे सब लोग जेलों से छूट-कर सारी स्थिति पर आकर नये सिरे से विचार न कर लें।"

पर अंगरेज भला अपने खिलाफ की जानेवाली उस सारी तैयारी के प्रति तटस्थ कैसे रहते? वह भी उस दशा में जब कि वे यह अच्छी तरह जानते थे कि थोड़ी सी ज्यादतियाँ करके—खास कर स्त्रियां पर जोर-जबरदस्ती करवा के—उनके अपने गुप्त कारिन्दों द्वारा जनता को हिंसात्मक कार्यों के लिए भड़का देने पर, गांधी को, जो थोड़ी भी हिंसात्मक उत्तेजना के खतरे की दशा में जिम्मेदारी उठाने से सदा कतराते थे, सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित करने के लिए वे कितनी आसानी से विवश कर सकते थे। और वैसा ही हुआ भी। ५ फरवरी को युक्तप्रांत के गोरख-पुर जिले के चौरा और चौरी गाँवों में पुलिस ने ज्यादती की और स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार किया। जनता ने क्रुद्ध होकर एक थानेदार और २१ सिपाहियों को थाने में खदेड़ उसमें आग लगा दी। इसकी खबर मिलते ही गांधी ने १२ फरवरी को आन्दोलन को अनिश्चित काल के लिए एकाएक स्थगित कर लोगों को रचनात्मक कार्य में लग जाने की सलाह दी। २४-२५ फरवरी को कांग्रेस महासमिति ने भी दिल्ली

में उस निर्णय की पुष्टि कर दी।

दर असल सामूहिक रूप से कानून तोड़ने और करबन्दी आन्दोलन करने की बात को सिद्धांत रूप में कहना और धमकी के रूप में बरतना एक बात थी और वास्तविक रूप से चरितार्थ करना दूसरी बात। उसके लिए जैसी हिम्मत, जिम्मेवारी उठाने की क्षमता और व्यापक संघटन की देश में आवश्यकता थी उनकी आशा कांग्रेस के तात्कालिक वकील-वर्गी नेतृत्व से की ही न जा सकती थी, जिसके भरोसे गांधी अपना आंदोलन चला रहे थे। अतः लार्ड रीडिंग के शब्दों में वे "अपने कार्य-क्रम की सफलता के एक इंच भर की दूरी तक पहुँच कर" घबड़ा जाने से, एकाएक पीछे हट गये। कांग्रेस के एक बार इस प्रकार कदम पीछे हटाते ही अंगरेजों ने एकाएक उस पर हमला बोल दिया।

१३ मार्च १९२२ को महात्मा गांधी को भी पकड़ा और ६ साल की सजा दे जेल में बंद कर दिया गया। किंतु जनता का साहस, उत्साह और आत्मचैतन्य जो उस आंदोलन के कारण जग उठे थे, इससे दबे नहीं। उसने अनेक स्थानों पर छोटे-छोटे प्रश्नों और अन्यायों को ले महात्मा-गांधी के बताये रास्ते पर अधिकारियों से संघर्ष लेना जारी रक्खा।

राजस्थान में बीजोल्यां आंदोलन इस बीच बराबर जारी रहा और लोग सब तरह की जोर-जबरदस्तियाँ सहकर भी अपने नेताओं की संचाल-कता में बड़े संयमपूर्वक अपनी माँगों पर दृढ़ता से अड़े रहे थे। बीजोल्यां की छूत समूचे मेवाड़, हाड़ौती, बागड़, सिरोही, दांता और पालनपुर तक फैलने लगी, जिससे अंगरेजों के राजनीतिक विभाग को मजबूर हो बीच में पड़ बीजोल्यां के किसानों और जागीरदारों में मेल करा देना पड़ा।

मेवाड़ का महाराणा फतहसिंह जो एक पुराने ढंग का तेजस्वी और सदाचारी राजा था, अपनी प्रजा और ठिकानेदारों के बीच के उस विवाद को बहुत पहले ही मिटा देना चाहता था; पर राजनीतिक विभाग के कारिन्दों के बहकाने और दबाने के कारण ही अब तक उस मामले में

चुप रहा था। उसे देश पर विदेशी नियंत्रण के प्रति आंतरिक ग्लानि थी, पिछले तमाम राष्ट्रीय और क्रांति आन्दोलनों के प्रति उसकी प्रच्छन्न सहानुभूति और सहायता रही थी, सो हम देख चुके हैं। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन के प्रति भी उसकी सहानुभूति वैसी ही थी। और वह राजनीतिक विभाग के इशारों पर नाचने को तैयार न होता था। अतः अंगरेजों ने उसे अब गद्दी से उतार देने का भी जतन किया; पर जनता में उसके प्रति असाधारण अनुरक्ति और सच्चरित्रता के लिए उसकी सारे भारत में प्रसिद्धि के कारण वैसा न किया जा सका। तो भी उसपर दबाव डालकर अपने सब शासनाधिकार उसे शीघ्र ही अपने महाराजकुमार (युवराज) को सौंप देने को विवश किया गया, जो उसकी अपेक्षा राजनीतिक विभाग के कारिन्दों को अपने यहाँ मंत्रि-मंडल में रख उनके हाथ में खेलते रहने को अधिक सुगमता से तैयार हो गया। मंत्रिमंडल में परिवर्तन किया गया और माल अधिकारी (रेवेन्यू आफिसर) के पद पर ट्रेंच नामक एक अंगरेज कामदार (सिविलियन) को विशेष रूप से रखवाया गया।

राजस्थान की दूसरी रियासतों, सिरोही, बूंदी, मारवाड़, जयपुर, आदि में भी अंगरेज मंत्री या पुलिस विभाग के अध्यक्षों के रूप में नियुक्त हुए और शासन की शक्ति जहाँ तक बने पुराने राजभक्त देसी कर्मचारियों और मुत्सद्दियों के हाथों से ले, या तो कुछ नये अंगरेजी तर्ज के पढ़े लिखे लोगों के हाथों में देने की कोशिश की गयी, जो अपनी उस शिक्षा के कारण देशी विचार, रहन, सहन, भाषा रुचि और व्यसनों आदि में अपनी जनता से बिलकुल भिन्न से बन जाने के कारण उसके संपर्क में न रह अंगरेजी रहन-सहन और व्यसन-विनोदों के आदी होने से अंगरेज अधिकारियों से ही अधिक निकट सामाजिक संबंध बनाते और उनके प्रभाव से राजा-प्रजा दोनों पर अपना रोब जमाने तथा टूटे-फूटे सुधारों की बातें बना नये मध्य-वर्ग पर भी अपना

प्रभाव रखने का जतन करते; पर असल में राजनीतिक विभाग द्वारा चढ़ाये गये होने से पूरी तरह उसके इशारों पर खेलने को तैयार रहते; या फिर देशी लोगों को बिलकुल अलहदा कर बाहरी लोगों की ही भरती शासन में की जाने लगी, जो रियासत की प्रजा या राजा से कोई हित-संबंध न होने से जनता के दमन करने और इस प्रकार राजा-प्रजा के बीच के संबंधों को बिगाड़े रखने में राजनीतिक विभाग के इशारों पर पूरी तरह नाचने को सदा तत्पर रहते; उन्हें तो अपनी तनखा और लूट से जेबें भरने भर से मतलब था। अधिकांश राजाओं से तो—जयपुर, बूंदी, सिरोही आदि में—उनके सभी शासनाधिकार छीन कर उनके इन नये दीवानों और निरंकुश नौकर-तंत्रों के हाथ में रख दिये गये थे, जो अपने कार्यों के लिए न राजा के प्रति उत्तरदायी थे, न प्रजा के प्रति। राजनीतिक विभाग या अंगरेजों को भी उनके कार्यों की तब तक कोई चिंता न थी जब तक कि वे जनता की राजनीतिक हलचलों को दबा रखने में उनके हाथ की कठपुतली बने थे। अतः देशी राज्यों की शासन-व्यवस्था दिन प्रति-दिन अत्याचारपूर्ण होती और बिगड़ती गयी।

बीजोल्यां आन्दोलन की सफलता के कारण पथिक और उनके सेवासंघ के कार्यकर्ताओं की संघटन शक्ति की धाक इस समय राजस्थान के जनसाधारण, शासकों और ठिकानेदारों आदि पर सब जगह बैठ गयी थी। संघ की नीति ठिकानों और राज्यों की ज्यादती पर जनता का पक्षग्रहण करने और बरतानवी राज्य के मुकाबले राजाओं और ठिकानेदारों के न्याय्य हितों का समर्थन कर राजा और प्रजा में अधिक मैत्रीपूर्ण संबंध बनाये रखने और इस प्रकार अंगरेजी आधिपत्य के खिलाफ राजस्थान में संघटित मोरचा कायम रखने की थी। अतः मेवाड़ के दूसरे इलाकों, सिरोही, मारवाड़, हाड़ौती आदि की जनता, शासक और ठिकानेदार भी आपसी झगड़ों के सुलझाने में अब उनकी बिचवानी चाहने लगे। राजनीतिक विभाग यह देखकर चौंका। उसके दबाव से

सब रियासतों में किये गये प्रजा, राजा और ठिकानेदारों के समझौते तोड़े गये और जनता का दमन आरम्भ किया गया। मेवाड़ के दक्खिन-पच्छिमी अंश भोमट, सिरोही आदि में पथिक के एक शिष्य मोतीलाल तेजावत ने संघटन किया था। सिरोही में जहाँ उन दिनों बनारस हिंदू-विश्वविद्यालय के संस्थापक पं० मदनमोहन मालवीय के बड़े लड़के रमाकांत मालवीय दीवान थे, वहाँ के जागीरी जुल्मों के खिलाफ आंदोलन ने १९२२ के आरम्भ में बहुत जोर पकड़ा। रियासत के कुछ अंशों पर तो जनता के आपसी संघटन के कारण रियासती शासन एक तरह स्थगित हो जनता का पंचायती स्वराज्य सा कायम हो गया। बीजोल्यां के बाद राजपूताने के एजेंट टु दी गवर्नरजनरल के कहने और मालवीय के आग्रह पर पथिक ने बीच में पड़ बीजोल्यां के नमूने पर वहाँ भी समझौता करा दिया, पर उसके तुरत बाद ही शासन द्वारा वह तोड़ दिया गया। मई १९२२ को सिरोही की रोहेड़ा तहसील में आंदोलन कारियों के दो गाँव वहाँ के अंगरेज पुलिस अधिकारी के नेतृत्व में पूरी तरह घेर कर जला दिये गये। बचकर भागने वाले लोगों और मवेशियों को भी गोली का शिकार बनाया गया। राजस्थान-सेवा-संघ वालों की जाँच के अनुसार, जिसे बाद में अधिकारियों ने भी माना, कुल १८०० आदमी मारे गये, ६४० घर जलाये गये, ७०८५ मन गल्ला और ६०० गाड़ी घास जलाया या लूटा गया और १८५ पशुओं का नुकसान हुआ।

मेवाड़ में भी भील आंदोलन का दमन किया गया और मोतीलाल तेजावत को आठ बरस फरार जिंदगी बितानी पड़ी। अन्त में १९३० में उन्हें पकड़ कर नजरबन्द कर दिया गया और १९४७ में जाकर छोड़ा गया।

इस सम्बन्ध में सरकारी हलकों से पूछताछ करने पर प्रकट हुआ कि समझौता तोड़ने और दमन का आश्रय लेने के लिए राजपूताने के एजेंट टु दी गवर्नर जनरल पर बंबई के गवर्नर द्वारा दबाव डाला

गया था। एक मनोरञ्जक बात उसी प्रसंग में यह भी मालूम हुई कि एक पूँजीपति नेता जो गांधीवादी बन गये थे, उस सम्बन्ध में बम्बई-गवर्नर से जाकर उन्हीं दिनों मिले और चेतावनी दी कि पथिक जैसे क्रान्तिकारियों की मारफत किये गये इस तरह के समझौतों को स्वीकार करने से राजपूताने के उन क्षेत्रों में क्रान्तिकारियों की ताकत बढ़ने और उसके भीषण परिणाम होने का खतरा है। अंगरेज शासकों ने जब देखा कि कांग्रेस के नेता उनसे स्वयं जनता के प्रतिनिधियों के साथ किये गये समझौते को तोड़ कर दमन करने को कह रहे हैं तब उन्हें वैसा करने का बढ़ावा मिला। प्रकट है कि महात्मा गांधी के अनुयायी बनकर जो नरमदली और पूँजीपति राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हो गये थे, उन्हें देश के सार्वजनिक जीवन से क्रान्तिकारियों को हटाकर उनका स्थान स्वयं लेने की खातिर देश के शत्रुओं से मिल जाने में भी संकोच न था, और न इस बात की परवा थी कि उनके विश्वासघात से जनता की क्या हालत होती है।

जून १९२२ में बूंदी के देहातों में भी सिरोही की सी घटनाएँ घटीं। वहाँ पुलिस ने जगह-जगह गोलियाँ चलाईं। उसके प्रतिवाद में मर्दों के साथ वहाँ की देहाती स्त्रियों ने भी खुल कर भाग लिया। पुलिस ने उनकी भीड़ों पर भी गोलियाँ चलाईं और भालों से स्त्रियों की छातियों पर निर्दयतापूर्वक प्रहार किये। मेवाड़ में बीजोल्याँ की देखादेखी उठे, पास के बेगूँ ठिकाने के कृषक आन्दोलन को कुचलने में तो तात्कालिक अंगरेज माल अधिकारी ट्रेंच ने अपनी दगाबाजी और नीचता की हद कर दी।

वहाँ आन्दोलनकारियों को देहातों में जगह-जगह खुले आम नंगा कर पेड़ों से उलटा लटका बेतों, कोड़ों और जरबों (सवा हाथ लंबा एक मोटा जूता) से पीटा गया, चौपालों और मंडावियों में शान्त बैठे लोगों पर गोलियों की बौछारें की गयी थीं। एक ठिकाने-

दार ने लोगों के खड़े खेत जलवा दिये थे। लोगों ने उसकी जमीनें जोतनी छोड़ दीं, तो ठिकानेदार ने उनके घरों में घुस खाने पीने का सारा समान लुटवा लिया था। किसानों की महाराणा के पास पुकार जाने पर महाराणा ने अपने पुराने विश्वासपात्र मुत्सद्दियों को भेज राजस्थान-सेवा-संघ वालों की मार्फत, ठिकानेदार और किसानों में समझौता करा दिया था। पर अब अंगरेज रेजिडेंट और महाराजकुमार की सरकार के नये मंत्रिमंडल ने हस्तक्षेप कर वह समझौता तुड़वा दिया।

आन्दोलन बढ़ा। उसे दबाने के लिए मेवाड़ का अंगरेज माल अधिकारी ट्रेंच फौज और पुलिस साथ ले स्वयं बेगूँ पहुँचा। गावों के सरपंच और नवयुवक कार्यकर्ता अगली परिस्थिति पर विचार करने को गोविन्दपुरा नाम के गाँव में एकत्र थे। ट्रेंच बेगूँ से रियासत के कामदार लाला अमृतलाल पंचोली समेत गाँव जलाने को मिट्टी के तेल के पीपे, फौज, पुलिस, रिसाला आदि ले, स्वयं गाँव में जा धमका। गाँव को घेर कर आग लगा दी गयी। किसानों की सभा पर गोलियों की बौछार की गयी। बन्दूकें छूटने की आवाज सुन आस-पास के गाँवों से किसान स्त्रियों की भीड़ अपने आदमियों की खोज-खबर लेने को उमड़ पड़ी। उस पर भी आक्रमण किया गया। स्वयं ट्रेंच के आदेश से स्त्रियों के लहँगों के नाड़े काट-काट कर उनकी लज्जा हरण की जाने लगी। स्त्रियाँ इसपर उलटे पाँव भागीं तो पीछे से घुड़सवार छोड़े गये, जिन्होंने बन्दूकों के कुन्दों, भालों और तलवारों का खुला प्रयोग कर अनेकों भागती हुई किसान महिलाओं को घायल करके गिरा दिया और उन्हें बिलकुल नंगा करके छोड़ दिया। सभा से ५०० आदमी पकड़ कर, जिनमें करीब १०० बच्चे थे, पुलिस द्वारा रास्ते भर जलील और परेशान किये जाते हुए बेगूँ ले जाये गये, जहाँ उन्हें खूब पीटा और सताया गया तथा अपने नेताओं और सरपंचों के नाम बताने को कहा गया। उसमें जब सफलता न मिली तो लोगों की स्त्रियों

और माताओं को सूचना दी गयी कि तमाम लोग बेगारें तुरत जमा कर दें नहीं तो उनके ये आदमी मार डाले जायेंगे। परंतु किसान इतने पर भी दबे नहीं। वह आन्दोलन बेगूँ के बाद आग की तरह लगभग सारे मेवाड़ में फैल गया; जिसमें मेवाड़ के करीब ६० हजार किसान परिवारों ने दृढ़तापूर्वक भाग लिया। गांव-गांव में पंचायतें संघटित की जाने लगीं; शिक्षा, स्वदेशी वस्त्रों और खादी का प्रचार तथा विदेशी माल का बहिष्कार किया गया, ग्राम रक्षादल बने और सब तरह आत्मनिर्भरता प्राप्त करने का जतन हुआ। उसकी तपिश बूँदी, कोटा, सिरोही, दांता, ईडर और पालनपुर तक अनुभव की गयी। करीब ३ लाख से ऊपर मनुष्यों ने उस समूचे इलाके में इस आंदोलन में सक्रिय भाग लिया जिन के संचालन और मार्गदर्शन का काम विजयसिंह पथिक और उनके सेवासंघ के साथियों द्वारा किया गया।

§ १८. असहयोग आन्दोलन का भाटा

गांधी की गिरफ्तारी के बाद असहयोग का ज्वार समाप्त होते ही भाटे के रूप में आन्दोलन की प्रतिक्रियाएँ होनी शुरू हुईं।

अ. हिन्दू-मुस्लिम तनातनी

खिलाफत सभा जैसी मजहबी जमात को कांग्रेस के साथ बराबरी के दर्जे पर रखने और खिलाफत के प्रश्न को राष्ट्रीय संघर्ष का एक मुद्दा बनाने से मुसलमानों की साम्प्रदायिकता देश की सामान्य राष्ट्रीयता में बिला जाने की अपेक्षा उलटे बढ़ी ही। मलबार के मोपला मुसलमानों ने इस्लाम के खिलाफती धर्मराज कायम करने के जोश में उन्मत्त हो कर, अंगरेजों के साथ-साथ दूसरा मजहब मानने वाले अपने पड़ोसी स्वदेशवासी हिन्दुओं के खिलाफ भी, अगस्त १९२१ में ही, जिहाद बोल दिया था। पर उस समय देश में आन्दोलन का पूरा जोर होने से

देश के दूसरे भागों पर उसका प्रभाव अधिक न दिखायी दिया था।

अक्तूबर १९२२ में मुलतान में भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ। कोई खिलाफती नेता उसे शान्त करने न पहुँचा, चाहे उस मुस्लिम प्रधान स्थान में दंगे का दायित्व सब मुसलमानों पर ही था। मुस्लिम-लीग और खिलाफत सभा के समानान्तर हिन्दुओं ने भी अपनी हिन्दू-महासभा खड़ी की, जिसका अधिवेशन गया में मुस्लिम-लीग और खिलाफत सभा की तरह कांग्रेस अधिवेशन के साथ-साथ १९२२ के अन्तमें हुआ। कांग्रेस और खिलाफत सभा की तरह उसके भी स्वागताध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद ही थे। दंगों में अधिक नुकसान जान और माल, दोनों दृष्टियों से स्वभावतः हिन्दुओं का हुआ; जो अपनी जात-बिरादरियों, ऊँच-नीच, छुआछूत के विचारों में जकड़े और विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों में बटे रहने के कारण ठीक अर्थों में एक संम्प्रदाय थे ही नहीं। लोगों ने कहा जब तक वे असंघटित और कमजोर रहेंगे हिन्दू मुस्लिम एकता सच्चे मानों में हो ही नहीं सकेगी। उन्होंने "हिन्दू संघटन" का आन्दोलन उठाया। मुसलमानों ने उसके जवाब में "तंजीम" चलाई। अपने-अपने सम्प्रदायको संघटित करने और अपनी-अपनी संख्या बढ़ाने का विचार दोनों ओर जोर पकड़ने लगा। मुसलमान, ईसाई आदि बाहरी मजहबों के लोग तो दूसरे धर्मों के लोगों में प्रचार कर उन्हें अपने मजहब और समाज में सम्मिलित करने का जतन हमेशा से करते आये थे। पर हिन्दुओं के धर्म और विश्वास भी उनकी जात-पाँत और बिरादरियों की तरह पथरा कर उन्हीं में सीमित रहते चले आये थे। बाहर वालों को उनके यहाँ घुसने की कोई गुंजायश न थी। कुछ राजनीतिक चेतना वाले हिन्दू, जिनमें आर्यसमाजी मुख्य थे, "शुद्धि" की प्रथा हिन्दुओं में भी १९ वीं सदी के अन्तिम समय से चलाने का जतन कर रहे थे। उन्होंने अब शुद्धि का आन्दोलन भी चलाया।

राजस्थान में मेरवाड़ा, मेवात और उसके पास-पड़ोस (ब्रज और हरियाने) में ऐसी कई बड़ी बिरादरियाँ बसती थीं, * जो बिलकुल हाल के जमाने तक हिंदू थीं और बाहरी दबाव या हिंदुओं की संकुचित सामाजिक पद्धति के कारण नाममात्र को मुस्लिम कहलाने पर भी अपना रहन-सहन, खान-पान, रीति-व्यवहार और विश्वास सब पुराना हिंदुओं का सा बनाये हुए थीं। हिन्दुओं ने उन्हें अब सामूहिक रूप से बड़े परिमाण में 'शुद्ध" कर अपने में मिलाने का जतन आरम्भ किया। पर जब तक पहले हिंदुओं की जात-पाँत छूत-छात मिट एक सामान्य सामाजिक जीवन का विकास न हो, किसी भी नवागंतुक के लिए उनमें बाहर से आकर समाने को स्थान कहाँ था? हिंदू यदि अपनी इस आन्तरिक बीमारी का इलाज कर सकते और मनुष्यता के इस प्रारम्भिक अधिकार पर से कुसंस्कार का यह पुराना बंधन हटा देते तो फिर शायद उन्हें 'शुद्धि' की आवश्यकता ही न होती। "शुद्ध" होकर जो लोग हिंदुओं में शामिल हुए वे भी कुछ दिनों बाद अकेले पड़ जाने और हिंदुओं की छुआछूत और ऊँचनीच के अपमानपूर्ण व्यवहार से चिढ़कर फिर से मुसलमान होते गये। इस प्रकार बिना आन्तरिक सामाजिक क्रांति लाये हिंदुओं का शुद्धि का वह नारा मुसलमानों को और चिढ़ाने और कट्टर बनाने वाला ही सिद्ध हुआ। शुद्धि के उत्तर में मुसलमानों ने भी अपनी "तबलीग" शुरू कर दी। साम्प्रदायिक वैमनस्य, झगड़े और तनातनी यों बढ़ती गयी।

शासन विधान में अंगरेजों ने मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व और अनुपात से अधिक मताधिकार दिया था। सन् १९२३ में विधान-सभाओं और स्थानीय शासन संस्थाओं के नये चुनाव होने वाले थे,

* १९४७ में देश के बटवारे और मारकाट के और बड़ी संख्या में हुए आबादियों के परिवर्तन के बाद अब उनकी स्थिति क्या है, सो अभी नहीं कहा जा सकता।

जिन में सम्प्रदाय के नाम पर दोनों ओर से प्रचार किया गया। साम्प्रदायिक उन्माद उससे और बढ़ा। उस साल सहारनपुर में जोरदार हिंदू मुस्लिम दंगा हुआ।

इस बीच खिलाफत का प्रश्न तुर्की में दूसरी तरह हल हो गया। वहाँ तरुण तुर्क दल ने राजक्रान्ति कर शक्ति हथिया ली, खलीफा भाग कर अंगरेजों की शरण गया, तुर्क राज्यपरिषद् ने तब उसके भतीजे को खलीफा बनाया, पर शक्ति उसके हाथ में कुछ न रक्खी और कुछ समय बाद उसे भी निकाल खलीफा का पद ही अपने यहाँ से उठा दिया। खलीफा के अंगरेजों की शरण चले आने से भारतीय मुसलमानों का खिलाफत को लेकर पैदा हुआ अंगरेजविरोधी भाव ठण्डा पड़ने लगा। बल्कि उनके कुछ सरकार-परस्त नेता उन्हें उलटा अब अंगरेजों से दोस्ती कर अपने देश के राष्ट्रवादियों और हिंदुओं का साथ छोड़ने को बरगलाने लगे।

हिंदू मुस्लिम दंगे इसके बाद बढ़ते ही गये। अगले वर्षों में कोहाट, बन्नू, मुलतान, लाहौर, गुजरात, दिल्ली, अजमेर, बम्बई, गुलबर्गा, नागपुर, कलकत्ता आदि अनेक स्थानों पर वैसे ही भीषण हिंदू मुस्लिम दंगे होते रहे।

कांग्रेस ने समझौतों द्वारा इस तनाव का प्रतिकार करना चाहा, पर विफल रही। क्योंकि विद्वेष और झगड़े के मूल कारण तो थे—(१) हिंदुओं की जाँत-पाँत, छूत-छात और ऊँच-नीच की भावना, जो मनुष्य को मनुष्य से एक समान स्तर पर मिलने और स्वतंत्रतापूर्वक किसी सामाजिक संबंध की स्थापना में सब से बड़ी बाधा थी; (२) उच्च और मध्यम श्रेणी के मुसलमानों की अपनी एक कृत्रिम और पृथक् संस्कृति जो उन्हें अपने को, इस देश का निवासी होने पर भी, विदेशी अनुभव करने और देश के सामान्य नागरिक जीवन में सदा विसम्वाद पैदा करने की प्रेरणा देती थी; (३) पृथक् निर्वाचन और (४) इतिहास की मिथ्या शिक्षा, जो हिंदू और मुसलमान को आपस में हमेशा लड़ाये रखकर विदेशियों

द्वारा अपना स्वार्थ सीधा करने का इस समय मुख्य साधन थी। अतः बिना इन कारणों के निवारण का कोई प्रभावकारी प्रयत्न किये, मध्यवर्गी और ऊँचे तबके के शिक्षित लोगों से, जिनका कि निजी स्वार्थ भी उन्हें बढ़ाने और जनता को बराबर बेवकूफ़ बना कर लड़ाते रखने में था, समझौता करने के सब प्रयत्न विफल होते और दंगे-फ़िसाद बराबर बढ़ते ही गये।

६. छिटपुट सत्याग्रह

जनता की गुलामी से संघर्ष की भावना, कांग्रेस के सत्याग्रह स्थगित कर नेतृत्व से हाथ खींच लेने के बावजूद जगी थी, जो अब जहाँ तहाँ धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों को लेकर चलाये गये छोटे मोटे अहिंसात्मक सत्याग्रह संघर्षों से प्रकट होने लगी। पञ्जाब में १९१४-१५ में जिन देशभक्त क्रान्तिकारी सिक्खों को विप्लव की विफल चेष्टाओं में भाग लेने के कारण सरकार की जेलों में बन्द होना या फ़रार जीवन बिताने को मजबूर होना पड़ा था, गुरुद्वारों के कुछ अंगरेज-भक्त दुश्चरित्र महन्तों ने उन्हें उनकी अनुपस्थिति में पन्थ से भ्रष्ट कहकर गिराने की कमीनी हरकतें की थीं। १९२० में राजनीतिक कैदियों की आम रिहाई के बाद उनमें से जो सिक्ख जेलों से या फ़रार जीवन से लौटे, उन्होंने अपना अकाली दल संघटित किया और उन महन्तों के खिलाफ़ आन्दोलन चलाने के लिए शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति नाम की एक सार्वजनिक संस्था बना गुरुद्वारों का प्रबन्ध जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ में रखने का आन्दोलन उठाया। १९२१ से १९२४ तक इस प्रश्न को लेकर महन्तों और सरकार के विरुद्ध उनके कई सत्याग्रह सफलतापूर्वक चलते रहे, जिनमें लाठियों की मार और गोलियों की बौछार के बावजूद उनके सत्याग्रही दोस्तों ने शान्ति के साथ वीरतापूर्वक अड़कर अपनी संघटन-शक्ति का अद्भुत परिचय दिया। १९२५ में सरकार को एक गुरुद्वारा

कानून बनाकर सब गुरुद्वारों का प्रबन्ध सिक्खों की एक निर्वाचित प्रतिनिधि सभा के हाथ में सौंप देना पड़ा।

सिक्खों के सत्याग्रह की देखादेखी कुछ धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों को लेकर बंगाल में तारकेश्वर और पटुआखाली के सत्याग्रह चले। नागपुर में राष्ट्रीय झंडा सत्याग्रह शुद्ध राजनीतिक प्रश्न को लेकर चलाया गया। राजस्थान में बीजोल्यां के सत्याग्रह और कृषक-आन्दोलनों का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। १९२७-२९ में वहाँ किसानों ने फिर सत्याग्रह किया जिसके विषय में हम आगे देखेंगे। १९२८ में गुजरात के बारडोली तालुके में सरकार द्वारा लगान बढ़ाने का प्रयत्न होने पर बल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में लगानबन्दी का सफल सत्याग्रह चला। तथा नागपुर में १९२६ में आवारी ने शस्त्र-सत्याग्रह छेड़ जनता की संघर्ष-भावना का अच्छा परिचय दिया।

३. विधान सभाओं में "स्वराजी" दल

सत्याग्रह के अनिश्चित काल तक स्थगित कर दिये जाने और महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद विधान सभाओं के बहिष्कार के प्रश्न को लेकर कांग्रेस के भीतर दो दल बन गये। चित्तरञ्जनदास तथा टिळक दल के पुराने राष्ट्रवादी विधान-सभाओं के अन्धाधुन्ध बहिष्कार के १९२० में भी विरोधी थे। उनका विचार बाहरी आन्दोलन के साथ-साथ इन सरकारी संस्थाओं के भीतर जाकर सरकार द्वारा किये जाने वाले दमनकारी कार्यों और कानूनों का निरन्तर विरोध करने और जब कोई अवसर मिले शक्ति हथिया कर अपने रचनात्मक कार्यों को सहायता पहुँचाने की नीति अपनाने का था। आन्दोलन का ज्वार उतरने और सत्याग्रह संघर्ष के अनिश्चित काल के लिए स्थगित होने से जब बाहर खुले रूप में संघर्ष का कोई कार्यक्रम न रहा तो चित्तरञ्जन दास आदि ने नवंबर १९२३ में होने वाले अगले चुनावों में कांग्रेस की तरफ से भाग लेने और इस प्रकार विधान-सभाओं पर

राष्ट्रवादियों का कब्जा कर लेने का आन्दोलन फिर से उठाया। सितंबर १६२३ में दिल्ली में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में उनके दल का गांधीभक्त दल के साथ यह समझौता हुआ कि कांग्रेसी व्यक्तिगत रूप में विधान-सभाओं में सम्मिलित हो सकेंगे, पर कांग्रेस संस्था रूपमें अपने असहयोग सिद्धान्त पर स्थिर रहेगी।

इ. क्रान्ति-संघटन का पुनरुज्जीवन

क्रान्तिमार्गियों की शक्ति १६१५–१८ के दमन और अत्याचारों के कारण बहुत कुछ कुचली जा चुकी थी, और १६२० में, जब महात्मा गांधी ने भारत की राजनीतिक बागडोर अपने हाथ में पकड़ी, वे तब प्रायः जेलों से छूटकर आये ही थे और नयी परिस्थिति और वातावरण के अनुसार अपनी अगली कार्यरेखा निश्चित न कर पाये थे। उनके वीरतापूर्ण संघर्ष से देश के जनसाधारण की मनोवृत्ति इतनी बदल गयी थी कि एक तरफ जहाँ पुरानी नरमदली अधिकार प्रार्थिनी राजनीति के लिए अब कोई गुञ्जाइश न रही थी, वहाँ दूसरी तरफ उनके अपने पुराने तरीकों – त्रासकार्य – पर लौट जाने में भी कोई औचित्य न था। वे यह भी अनुभव करते थे कि बिना पर्याप्त जनसम्पर्क और किसी खुले कार्यक्रम के द्वारा देशवासियों में व्यापक चेतना जगाये एवं जनता की सहानुभूति समर्थन और सहयोग खुले रूप में प्राप्त किये सशस्त्र क्रान्ति का उनका छिपा प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकता। गांधी का कार्यक्रम जनता द्वारा किसी खुले साहसपूर्ण कदम की माँग को अनेक अंशों में पूरा करता था। जनता को जाग्रत और संघटित करने की उसमें पूरी सामर्थ्य थी, अतः उसे चलानेमें उन्होंने पूरा सहयोग किया था। तो भी महात्मा गांधी अपने अहिंसावाद को जिस रहस्यपूर्ण ढंग से इस आन्दोलन के साथ जोड़ रहे थे, उससे विफलता मिलने पर देश में कमजोरी आने का अंदेशा भी क्रान्तिकारियों को पहले से था।

अत: बंगाल में अनेक लोग अपना पृथक् संघटन भी समानान्तर रूप से पुनः स्थापित और उज्जीवित करने और उसे व्यापक रूप से जनता में फैलाने का जतन इस बीच बराबर कर रहे थे। कलकत्ते के कुछ बड़े अंगरेज व्यापारियों ने यह सोचकर कि क्रान्तिकारी यदि बेकार रहे तो सरकार के विरुद्ध उग्र कार्यों में प्रवृत्त होंगे, उन्हें आर्थिक सहायता दे समाज-सेवा के कार्यों में लगाये रखने का जतन किया था। वह धन बंगाली क्रान्तिकारियों ने अपने संघटन को मजबूत करने फैलाने में व्यय किया। चित्तरञ्जन दास ने सितम्बर १६२१ में कांग्रेस महासमिति की बैठक के समय कलकत्ते में उनकी इन कार्रवाइयों और अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के प्रति आशंकाओं की सूचना महात्मा गांधी को दी थी। तब वे दोनों जाकर उनके नेताओं से मिले और अहिंसा से देश के कमजोर हो जाने की उनकी आशंकाओं का निराकरण कर ३१ दिसम्बर १६२१ तक उनसे प्रतीक्षा करने को कहा था। गांधी ने उनसे कहा था कि प्रान्तिक स्वराज्य और केन्द्र में दुराज अर्थात् कुछ निर्धारित विषयों को छोड़ कर सब विषयों में जन-प्रतिनिधियों का पूरा नियंत्रण तो वे माँगते ही प्राप्त कर सकते थे, पर उन्हें उपराज्य पद से कम नहीं लेना था, और कि ३१ दिसम्बर १६२१ के बाद बिना स्वराज्य पाये वे जीने की भी आशा नहीं करते, अत: इतने समय के लिये क्रान्तिकारियों को उन्हें अवसर देना चाहिए।

किन्तु अब जब ३१ दिसम्बर बीत गया और स्वराज्य या उपराज्य पद मिलना तो दूर, सत्याग्रह संघर्ष भी अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गया, गांधी को पकड़ कर अंगरेजों ने लंबी अवधि के लिए जेल में ठूस दिया, तथा अंगरेजी दमन और भेद नीति का जनता की राजनीतिक चेतना और ऐक्य-भावना पर भी प्रभाव पड़ने लगा तो क्रान्तिमार्गी अधिक दिन चुप बैठे न रहे। उन्होंने अपना संघटन पुनर्जीवित करना प्रारम्भ किया। शचीन्द्रनाथ सान्याल, भूपेन्द्रनाथ दत्त आदि

क्रान्तिकारियों ने अपने पिछले जीवन और कार्यों के संस्मरण—"बन्दी जीवन", "अप्रकाशित राजनीतिक इतिहास" आदि—लिख जनता को क्रान्तिवाद, उसके उद्देश्य, कार्य और प्रणाली का परिचय कराते हुए उनके महत्त्व की ओर उसका ध्यान खींचने का जतन किया (१६२१–२२)।

१६२३ में शचीन्द्रनाथ सान्याल ने उत्तर भारत में अपना संघटन फिर से खड़ा करना प्रारम्भ किया। उन्होंने युक्तप्रान्त में पुराने क्रान्तिकारी योगेशचन्द्र चटर्जी को, जो अनुशीलन-समिति के पुराने सदस्य थे और युद्धकाल में राजनीतिक बन्दी रह चुके थे, मुख्य संघटनकर्त्ता नियत किया। पंजाब और सीमान्तों में संघटन फैलाने का कार्य उन्होंने लाहौर के कौमी महाविद्यालय में इतिहास के अध्यापक जयचन्द्र विद्यालंकार को सौंपा, जो अपने ऐतिहासिक और राजनीतिक लेखों की मौलिकता के कारण हिन्दी जगत् में एकाएक प्रसिद्धि में आ रहे थे।*

शचीन्द्र और उनके साथियों के प्रयत्नों से उत्तर भारत के पुराने क्रान्ति-संघटन के बचे-खुचे अंशों को नये संघटन के साथ एक में

*"बन्दी जीवन" द्वितीय भाग, चतुर्थ संस्करण की १९३८ की लिखी भूमिका में शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा था कि सन् १६२० के बाद के क्रान्तिकारी आन्दोलन में इन इतिहास के प्रसिद्ध अध्यापक श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के महत्त्वपूर्ण कार्य के विषय में वे आगे चल कर लिखेंगे। किन्तु वे अपने इस संकल्प को पूरा कर पाने के पूर्व ही १६४१ में फिर जेल में डाल दिये गये जहाँ से कुछ समय बाद "मौतखलास" किये गये। किसी कैदी को जेल में रख ऐसी बीमारी लगा कर कि जिससे उसकी मृत्यु निश्चित हो जाए, मृत्यु से पहले छोड़ देने की पद्धति भारत के अंग्रेजी शासन में सुपरिचित थी। भारतीय क्रान्तिकारी उसे मौतखलास करना कहते थे।

मिला कर बंगाल से पंजाब तक के क्रान्तिकारी संघटन फिर एक सू में जुड़ गये। पंजाब के पुराने सिक्ख गदर दल वालों और बंगाल के अनुशीलन दल से सम्पर्क में आने के बाद शचीन्द्र ने पंजाब युक्तप्रां के नये संघटन का नाम "हिंदुस्तान प्रजातंत्र-मंडल" रक्खा। उस मण्डल का उद्देश्य भारत को एक "पूर्णतः स्वाधीन सहोदर-जनपदों का संयुक्त संघ प्रजातन्त्र" बनाना रक्खा गया।

जयचन्द्र ने शचीन्द्र के सामने यह स्थापना रक्खी कि अंगरेजी साम्राज की बुनियाद भाड़ैत भारतीय सेना पर है, और १८५७ तथ १९१५ की विफल क्रान्तियों के समान आगे जब कभी भारत में क्रान्ति होगी, वह उस सेना के जनता के सहयोग से अंगरेजी राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने से ही शुरू होगी, अतः उसे सफल बनाने के लिए सबसे पहले उच्चतम आधुनिक सामरिक शिक्षाप्राप्त संचालकों की अनिवार्यत आवश्यकता होगी, जो क्रान्तियुद्ध में सेना का संचालन कर सकें, औ उन्हें तैयार करने का जतन अंगरेजों को पता लगने दिये बिना अभी किया जाना चाहिए। दूसरे, जनता के प्रकट आन्दोलन को भी पू स्वतन्त्रता और आर्थिक सामाजिक क्रान्ति के ध्येय तक दृढ़तापूर्वक चलने के लिए क्रान्तिकारियों को उसे अपने हाथ लेना होगा। शचीन्द्र ने यह स्थापना स्वीकार की और इसीलिए गुप्त संघटन को ताजा करने के साथ-साथ अपने प्रयत्न उन्होंने इन दोनों दिशाओं में भी आरम्भ कर दिये। सामरिक शिक्षा के प्रबन्ध के लिए जर्मनी, रूस और जापान में स्थित अपने पुराने क्रान्तिकारी साथियों के पास उन्होंने दूत भेजे जर्मनी की अवस्था तो उस समय स्वयं बड़ी खराब थी। रूस में उस समय शचीन्द्र के १९१४–१५ के साथी नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य उर्फ मान वेन्द्रनाथ राय मौजूद थे। या तो वे स्वयम् रूसी क्रान्ति से इतने अधि चौंधिया गये थे कि उन्हें वहाँ की दशाओं के अनुसार भारत में भी मज दूर संघटन के सिवाय और किसी बात की आवश्यकता तब दिखाई

न देती थी, और या वे रूसी नेताओं का ध्यान भारत की विशेष अवस्थाओं और आवश्यकताओं की ओर खींच न सके। जापान में रासबिहारी बसु स्वयं उपस्थित थे। उन्होंने भारत से सन्देश पाकर जापान सरकार से बात की। जापान सरकार इस बात के लिए तैयार हो गयी कि भारत का क्रान्तिकारी दल उनके यहाँ अपने जितने भी युवक भेजे वह उन्हें सामरिक शिक्षा-दीक्षा देने का सारा भार उठा लेगी।

सन् १९२४ की शरद् ऋतु तक एक तरफ तो जापान से यह सन्देश आया, दूसरी तरफ अपने युवकों को भारत से बाहर छिपे-छिपे भेजने के कई रास्ते "हिन्दुस्तान प्रजातंत्र मण्डल" वालों ने बना कर उन्हें परखना शुरू किया। सन् १९२५ में एक दर्जन युवकों की जो पहली मंडली सामरिक शिक्षा के लिए जापान भेजी जाने वाली थी उसमें बाद में सुप्रसिद्ध भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त और यतीन्द्रनाथ दास भी जाने को थे। यह बना बनाया खेल कैसे बिगड़ गया सो हम आगे देखेंगे।

राजस्थान से 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र मंडल" का सम्पर्क १९२४-२५ में नहीं हुआ। सेठी, पथिक आदि पुराने क्रान्तिकारी नेता यहाँ अपने जन-सम्पर्क और संघर्ष के कामों में स्वतंत्र रूप से व्यस्त रहे। बीजोल्यां में तो १९२२ के समझौते के बाद प्रायः शान्ति थी, पर शेष मेवाड़, हाड़ौती, सिरोही आदि में कृषक-आन्दोलन का दमन निर्मम हाथों से हो रहा था, जिसके लिए राजस्थान-सेवा-संघ की तरफ से अखबारों और मंचों पर से निरन्तर जोरदार प्रतिवाद चलाया जा रहा था। रियासतों में इस बाहरी हस्तक्षेप को रोकने के लिए अंगरेजों ने सितम्बर १९२२ में 'भारतीय राज्यों में असन्तोष विरोधी रक्षा कानून' (इण्डियन स्टेट्स प्रोटेक्शन अगेन्स्ट डिसअफेक्शन ऐक्ट) बनाया। इङ्गलैण्ड का उप-प्रधानमंत्री लार्ड विण्टरटन रियासतों के सम्बन्ध में अपनी नयी नीति सरकार को समझाने के लिए स्वयं भारत भेजा गया। राजस्थान सेवा-संघ के प्रायः सभी कार्यकर्ता दिसम्बर १९२३ तक मेवाड़ में गिरफ्तार

कर लिये गये, और कुछ दिन मुकदमा चलाने के बाद मेवाड़-प्रवेश-निषेध आज्ञा लगाकर वहाँ से बाहर निकाल दिये गये। पथिक को राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर उनपर मेवाड़ में साढ़े तीन साल तक मुकदमे का नाटक बराबर चलाया जाता रहा।

ऌ. समूहवाद का उदय

महायुद्ध की समाप्ति पर जो भारतीय क्रान्तिकारी १६२० में रूस की राजक्रान्ति से आकृष्ट होकर रूस गये थे, जिनमें राजस्थान के शौकत उस्मानी जैसे व्यक्ति भी थे, १६२३-२४ तक उनमें से कुछ लोग भारत लौट आये, उनके सम्पर्क से समूहवादी (कम्यूनिस्ट)* क्रान्ति की विचार-धारा का प्रवेश भारत में भी होने लगा। बम्बई, कानपुर आदि उद्योगप्रधान श्रमिक केन्द्रों में उनके अनेक अध्ययन-केन्द्र १६२३ से ही आरम्भ हो गये। १६२४ में कुछ समूहवादियों पर कानपुर में समूहवादी प्रचारक होने के लिए षड्यन्त्र का एक मुकदमा चला। १६२७ तक भारत में समूहवादी (कम्यूनिस्ट) दल की स्थापना बाकायदा हो गयी।

पर पहले अपने देश को विदेशी के पंजे से छुड़ाये बिना देश में समूहवादी, श्रमिक या किसी भी खास तरह का राज्य कायम करने की बात करना और उस विवाद में देश की आजादी के मूलभूत प्रश्न की उपेक्षा कर स्वपक्ष प्रचार में अपनी सारी शक्ति लगा देना, मानो घोड़े के आगे गाड़ी जोतने का सा प्रयत्न था। भारत की ऐतिहासिक परिस्थिति में विदेशी का साधन बनी हुई अपने देश की भाड़ैत सेना को अपनी तरफ मिलाये और सशस्त्र विप्लव में उसके सफल संचालन के लिए योग्य नेतृत्व

---

* कम्यूनिज्म का मूल सिद्धान्त यह है कि उत्पत्ति के सब साधन व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के बजाय समूह (कम्यून) की सम्पत्ति हों, अतः उसे समूहवाद कहना चाहिए। हिन्दी में कुछ लोग इस अर्थ में साम्यवाद या वर्गवाद भी लिखते हैं, पर वे शब्द उस अर्थ को ठीक से प्रकट नहीं करते।

तैयार किये बिना केवल मजदूरों के संघटन से स्वतंत्रता न मिल सकती थी। मजदूर-संघटन जनता में राजनीतिक चेतना जगाने के लिए आवश्यक था, पर केवल उसी से भारत को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी यह सोचना सिर्फ दिलबहलाव था। इस प्रकार का दिलबहलाव हमारे देश के अनेकों अंगरेजी पढ़े लोग अपना महत्त्व दिखाने के लिए, बिना उस नारे का अर्थ ठीक-ठीक समझे, उसे दोहरा कर करने का जतन करने लगे।

ए. गांधी-स्वराजी समझौता

महात्मा गांधी इस बीच स्वास्थ्य खराब होने से ४ फरवरी १९२४ को जेल से छोड़ दिये गये। स्वराजी १९२३ के चुनावों में सर्वत्र काफी संख्या में चुने जाकर विधान-सभाओं में जिच पर जिच पैदा करने के अपने कार्यक्रम में जुटे थे, कांग्रेस पर उनका धीरे-धीरे पूरा कब्जा हो गया और गांधी-मार्गी एक तरह से उनसे रूठकर कांग्रेस से उदासीन हो अपने रचनात्मक कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में लगे थे, जिसमें हाथ के कते-बुने कपड़े (खद्दर) का उत्पादन बढ़ाना और राष्ट्रीय शिक्षा का कार्यक्रम मुख्य थे। महात्मा गांधी ने बाहर आने पर स्वराजी कार्यक्रम पर अपना अविश्वास प्रकट किया, पर उनके पास भी देश को देने के लिए कोई खास सक्रिय कार्यक्रम न था, अतः उन्हें कांग्रेस की बागडोर अब पूर्णतः स्वराजियों के ही हाथ में छोड़ देनी पड़ी। अपने अनुयायियों के लिए उन्होंने चर्खा-संघ को कांग्रेस से अलग बिल्कुल एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में लेकर अलग से कार्यक्षेत्र बनाया।

ऐ. आतंकवादी प्रतिरोध

सन् १९२० के बाद छूटे कुछ पुराने क्रान्तिवादियों ने १९१४-१५ के आन्दोलन के गद्दार देशद्रोहियों से प्रतिशोध लेना भी आरम्भ किया। पंजाब में जिन देशद्रोहियों ने १९१५ में मुखबरी कर उन्हें जेलों में

भिजवाया था उनसे बदला लेने को कुछ सिक्खों ने एक बब्बर अकाली दल बनाया और गद्दारी के लिए इनाम पाने वाले मुखबिरों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर सजा देना आरम्भ कर दिया। बंगाल में भी कुछ छोटे दलों ने त्रासवादी प्रतिशोध का कार्यक्रम अपनाया। कलकत्ते का पुलिस सार्जेण्ट टेगार्ट राष्ट्रवादियों का पीछा करने में बड़ा बदनाम था। जनवरी १९२४ में गोपीनाथ साहा नामक एक क्रान्तिकारी युवक द्वारा उसे दण्ड देने के प्रयत्न में गलती से अर्नेस्ट-डे नामक एक अंगरेज व्यापारी गोली का निशाना बन गया। अप्रैल तक बंगाल में उस तरह की और घटनाएँ भी घटीं। भारत के दो पुराने सबसे बड़े क्रान्तिदल—बंगाल की अनुशीलन-समिति और पंजाब का गदर दल—इस समय त्रास कार्यों के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि बड़े जन-विप्लव की चुपचाप तैयारियों में ऐसे कार्यों से बाधा पड़ेगी। तो भी जनता द्वारा, जो अंगरेजी दमन से पिस रही थी पर प्रतिरोध का कोई सीधा मार्ग न देख पा रही थी, उसका अभिनन्दन ही हुआ। अप्रैल १९२४ में कांग्रेस द्वारा बुलाये गये बंगाल प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन में डे की हत्या के लिए दुःख प्रकट करते हुए भी गोपीनाथ साहा की देशभक्ति की प्रशंसा की गयी। महात्मा गांधी इस पर क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने कड़े शब्दों में साहा की निन्दा की। पर चित्तरंजन दास आदि पुराने राष्ट्रवादी नेता उनके प्रतिवाद को उठ खड़े हुए। कांग्रेस महासमिति के अहमदाबाद अधिवेशन में महात्मा गांधी का साहा की निन्दा विषयक प्रस्ताव उनके अपना पूरा जोर लगा देने पर बहुत थोड़े मतों से स्वीकृत हो सका।

किन्तु बरतानवी सरकार को इन घटनाओं से ही बंगाल में अपना बड़ा जाल डालने का बहाना मिल गया। अक्टूबर १९२४ में हावड़ा स्टेशन पर योगेश चटर्जी गिरफ्तार हुए। उनकी जेब से निकले एक कागज से पुलिस को यह भनक मिली कि युक्तप्रान्त में भी क्रान्तिकारी अपना व्यापक संगठन बना रहे हैं। इसके एक सप्ताह बाद ही सरकार ने बंगाल

आर्डिनेन्स निकाल क्रान्तिकारी होने के सन्देह में युवकों की आम गिरफ्तारी शुरू कर दी। इनमें सुभाषचन्द्र वसु भी एक थे, जो १९२० में गांधी आन्दोलन के आरम्भ होने के ठीक बाद ही यूरप से भारतीय दीवानी सेवा (इण्डियन सिविल सर्विस) की परीक्षा उत्तीर्ण कर लौटे थे और उस गुलामी का परित्याग कर चित्तरंजन दास के सहकारी रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे। उन्हीं दिनों वे कलकत्ता कारपोरेशन के प्रधान कार्याधिकारी (एक्जीक्यूटिव औफिसर) भी नियुक्त हुए थे। शचीन्द्र सान्याल जनान्दोलन को सहायता देने के लिए त्रासवाद के अंशतः समर्थक थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक क्रान्तिवादी पर्चा बँटवाया। अप्रैल १९२६ तक शचीन्द्र भी पकड़े गये। युक्तप्रान्त में हिन्दुस्तान-प्रजातंत्र-मंडल वालों ने उसके बाद आर्थिक कठिनाई के निवारण के लिए राजनीतिक डाकों का आश्रय लिया। लखनऊ के पास काकोरी स्टेशन के करीब उन्होंने एक रेलगाड़ी रोक कर उसमें जाता हुआ रेलवे का एक खजाना लूट लिया। कुल ५०००) उनके हाथ लगा, जिसके पीछे युक्तप्रान्त में उनके सब मुख्य कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिए गए और उनका संघटन बहुत कुछ तितर-बितर हो गया। हिन्दुस्तान-प्रजातंत्र-मण्डल के जो सदस्य इसके बाद बचे रहे उनकी सारी शक्ति बाद के दो साल तक अपनी इस कमी को पूरा करने और काकोरी के साथियों को छुड़ाने आदि के प्रयत्नों में लगी रही, जिससे युवकों को विदेश भेजने की उनकी सारी योजनाएँ स्थगित और अस्तव्यस्त हो गईं।

ओ. पूँजीवादी क्रान्तिकारी संघर्ष

खुले सार्वजनिक जीवन में क्रान्तिकारी कांग्रेस के पूर्ण स्वराज्य उद्देश्य को न अपनाने, प्रत्येक सशस्त्र प्रतिरोध की निन्दा करने, शत्रु से झट समझौता करने को तैयार हो जाने तथा हिन्दू मुसलिम समस्या को सुलझाने के नाम पर देशद्रोहियों से समझौता करने की नीति को

पसंद न करते थे। इसलिए गांधीवादियों और क्रान्ति-मनोवृत्ति के लोगों में इस समय भीतर-भीतर भी गहरा संघर्ष चल रहा था।

१९२४ के अन्त में कांग्रेस का अधिवेशन बेलगाँव में हुआ था। महात्मा गांधी उसके सभापति थे। उन्होंने वहाँ क्रान्ति-मार्गियों पर कुछ भीषण आरोप किये। शचीन्द्र सान्याल ने जो तब फरार जीवन बिता रहे थे, उसका उत्तर उन्हें पत्र द्वारा दिया, जिसे गांधी ने अपने अखबार 'यंग इंडिया' (तरुण भारत) में अपने प्रत्युत्तर समेत छपवाया।

राजस्थान का सार्वजनिक राजनीतिक जीवन जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, आरम्भ से अर्जुनलाल सेठी, विजयसिंह पथिक आदि पुराने क्रान्तिकारियों के प्रयत्नों से बना और अभी तक प्रधानतः उस पर उन्हींका अधिकार था। असहयोग आन्दोलन उठने पर अजमेर में कुछ वकील लोग भी वकालतें छोड़कर शीघ्र नेता बन खड़े हुए थे। पर उनमें से एक ने प्रान्तीय कांग्रेस का मुख्य अधिकारी रहते समय टिळक स्वराज कोश की ४०–५० हजार की रकम गायब कर दी थी, जिसका कोई हिसाब कांग्रेस दल को नहीं मिला था। उस मामले को लेकर आपस की तनातनी और तू तू मैं मैं ने १९२२ में राजस्थान कांग्रेस को देश भर में बदनाम और अजमेर के सार्वजनिक जीवन को बहुत कुछ चौपट कर दिया था। पथिक का राजस्थान-सेवा-संघ उसके बाद राजस्थान की एकमात्र जानदार राजनीतिक संस्था थी। पर १९२४ में पथिक की गिरफ्तारी के बाद उसमें मन्दता आने लगी। मारवाड़ी पूँजीपतिवर्ग, जिसकी कि उन लोगों से यहाँ के सार्वजनिक जीवन पर कब्जा करने के लिए १९२० से प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी, गांधीवाद की आड़ में उन्हें अब किसी तरह गिराने और अपने नुमाइन्दों का नया और कृत्रिम नेतृत्व खड़ा करने के लिए पैसा पानी की तरह बहाने लगा था, जिसके जोर पर पुराने कार्यकर्ताओं का प्रत्येक सार्वजनिक मंच पर मुकाबला करने और उन्हें आर्थिक संकटों में डाल कर

सब तरह से मजबूर करने के अनेकों षड्यंत्र यहाँ चलने लगे। पथिक के राजस्थान-सेवा-संघ को उनकी अनुपस्थिति में तोड़ने और उसके कार्यकर्ताओं को पैसे से खरीदने के प्रयत्न हुए और उनमें आपसी झगड़े पैदा किये गये।

विधान सभाओं में स्वराजदल की शक्ति इस बीच बहुत कुछ बढ़ी। कांग्रेस पर भी उसी का प्रभुत्व था। उसका नेतृत्व तब चित्तरञ्जन दास जैसे पुराने राष्ट्रवादी के हाथ में था, जो क्रान्तिमार्गियों और दूसरे सभी राष्ट्रीय संघर्षवादी तत्त्वों से अपना संपर्क बनाये रखने के कारण सब दलों में परस्पर सामंजस्य बनाये, उन्हें राष्ट्रवादी आदर्शों की तरफ ले चलने का जतन करते थे। स्वराजदल उस समय तक एक तरह से क्रान्ति-मार्गियों का ही प्रकट दल माना जाता था। अंगरेजों को भी उसका लोहा मानना पड़ा। चित्तरंजन दास की मार्फत उन्होंने कांग्रेस और राष्ट्रवादियों से सन्धि की बात चलाई। अप्रैल १६२५ में बंगाल आर्डिनेंस की अवधि समाप्त हो रही थी। अंगरेज बंगाल की विधान-सभा में एक दमनकारी कानून का मसविदा लाये। स्वराजियों की संख्या अल्पमत में रहते भी वह कानून गिर गया, इससे क्रान्तिकारियों के लिए सर्वसाधारण में सहानुभूति दिखाई दी। देश में क्रान्तिमार्गी सर्वत्र पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव जनता के सामने लाने का जतन कर रहे थे। फरीदपुर में हुए बंगाल प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन में उन्होंने उस प्रस्ताव को लाने में बड़ा जोर लगाया। चित्तरंजन दास के उसे दबाने को अपने प्रभाव का पूरा उपयोग करने तथा यह घोषित करने पर कि अंगरेजी सरकार से समझौते के लिए उनकी भीतर ही भीतर बातचीत चल रही है उसे गिराया जा सका। इससे अंगरेजों को क्रान्तिमार्गियों की जनता में बढ़ती शक्ति और चित्तरंजन दास के प्रभाव का पूरा अन्दाज मिल गया, अतः लार्ड रीडिंग इसके तुरत बाद ही भारतमंत्री लार्ड बर्कनहैड से मिलने इंगलैंड गया। सरकारी हलकों

में यह बात प्रकट की गयी कि उससे सलाह करने के बाद अंगरेजी पार्लियामेंट में भारत-सम्बंधी कोई नयी घोषणा शीघ्र की जाएगी। पर ६ जून १६२५ को चित्तरंजन दास का अचानक देहान्त हो गया। अंगरेजों ने यह जानने के लिए कि भारत में सार्वजनिक जीवन की दिशा अब किधर जाती है, उस घोषणा का बना बनाया मसविदा दबा, एक साधारण सी घोषणा से ही काम निकाला।

देश का राजनीतिक नेतृत्व चित्तरञ्जन दास के बाद मोतीलाल नेहरू के हाथ आया। दास जहाँ एक सच्चे राष्ट्रवादी व्यावहारिक नेता थे, जो अपनी ऊँची सांसारिक हैसियत के कारण नरमदली प्रवृत्तिवालों और देश की सब प्रगतिशील शक्तियों के सम्पर्क में रहने से क्रान्तिमार्गियों के भी विश्वासपात्र थे, वहाँ मोतीलाल उनके मुकाबले में एक निरे वकील, धनगर्वित आत्मगौरवलिप्त महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति थे, जो युद्धोपरांत की बदली हुई परिस्थिति में अपनी पुरानी अधिकारप्रार्थिनी या अंगरेजों से मिल-जुल कर पद प्राप्त करने वाली राजनीति में अधिक गुंजायश न देख, जनता में मान-प्रतिष्ठा पाने और अपना गौरव बढ़ाने की वृत्ति को तुष्ट करने की प्रेरणा से गान्धी-आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे। उनका राष्टीय आन्दोलन के पीछे जनता की इन शक्तियों से कोई पुराना परिचय या सीधा संपर्क नहीं था। वे सिर्फ अपने व्यक्तिगत महत्त्व और कानूनी चतुराई को ही अपनी शक्ति मानते थे। उन्होंने चाहा कि दास के साथ चल रही बातचीत को रीडिंग का स्थानापन्न वायसराय लार्ड लिटन उनसे भी फिर चलाये। पर, सरकार का रुख अब बदल चुका था। वह जिन क्रान्तिकारियों की बढ़ती हुई शक्ति से घबराकर समझौता करना चाहती थी, उनपर मोतीलाल का कोई प्रभाव या सम्पर्क न था। दूसरे, चित्तरञ्जन दास जैसे उनके समर्थक किसी सार्वजनिक नेता के न रहने से जनता द्वारा खुले रूप में उनका समर्थन करने वाला कोई मंच उनके हाथ न रहा। तीसरे, काकोरी-कांड करके युक्तप्रान्त में क्रान्तिकारियों

ने अपना सारा संघटन कुचलवा दिया। इस दशा में अंगरेज सरकार उनसे बहुत कुछ निःशंक हो चुकी थी, वह अब स्वराजियों की गरज क्यों करती?

स्वराजी दल के भीतर भी अब झगड़े शीघ्र आरम्भ हो गये। मोतीलाल ने स्वराज दल की घोषित नीति के प्रतिकूल अंगरेजों द्वारा सेना के भारतीयकरण की प्रक्रिया पर विचार करने को स्कीन नामक एक अंगरेज की अध्यक्षता में नियुक्त होने वाली समिति की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। टिळक के प्रतिसहयोगवाद-समर्थक पहले भी हर बात में सिर्फ अड़ंगा डालने और जिच पैदा करते रहने की नीति के विरुद्ध थे। उन्होंने अब कहा कि सिर्फ सतत सरकार-विरोध ही लाभप्रद नहीं, अतः विवेकपूर्ण विरोध अर्थात्, जहाँ अपनी हानि हो विरोध, लाभ हो सहयोग, स्वराजदल की नीति हो। उधर पंजाब में अंगरेजों के एक पिट्ठू मुसलमान सर फज़्ले-हुसेन ने १९२३ के बाद मन्त्रित्व ग्रहण कर प्रत्यक्ष मुस्लिम पक्षपात की नीति से शासन चलाना आरम्भ कर दिया था। अतः लाजपतराय तथा मदनमोहन मालवीय आदि हिन्दू हित-समर्थक नेता भी सरकार से एकतरफा असहयोग की स्वराजी नीति के विरुद्ध थे। १९२५ के अन्त में होनेवाली कानपुर कांग्रेस पर यही विवाद का मुख्य मुद्दा था। मोतीलाल ने अपने स्वाभाविक अहंकार के आवेश में आकर कहा, स्वराजदल का सड़ा अंग काटना होगा। टिळक के साथियों ने इसपर अलग होकर अपना प्रतिसहयोगी दल अलग बनाया। लाजपतराय और मालवीय ने स्वतंत्र स्वराजदल नाम से एक दूसरा दल खड़ा किया। १९२६ के नवम्बर में फिर चुनाव थे, अतः सरकार ने हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों को बढ़ावा दिया। स्वराजी नेताओं ने भारत को तत्काल उपराज्य पद देने और उसके लिए सब भारतीय दलों और अंगरेज सरकार के प्रतिनिधियों की परस्पर एक गोलमेज के चारों तरफ बराबरी में बैठ बातचीत चलाने के लिए सम्मिलनी बुलाने की

राष्ट्रीय माँग की थी, जिसे सरकार ने सितम्बर १६२५ में ही ठुकरा दिया था। मोतीलाल मई १६२६ में उस विषय पर अपना एक वक्तव्य दे केन्द्रीय विधान सभा से अपने दल समेत निकल आये। प्रान्तों में भी स्वराजियों ने उनका अनुसरण किया। पर सरकार जानती थी कि उनके पीछे अब कोई शक्ति नहीं है, अतः उसने उनकी कोई परवाह न की। कांग्रेस ने तब व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति उदासीनता की नीति बदली। १६२६ के चुनावों में स्वराज्य दल की बजाय खुद कांग्रेस के नाम पर चुनाव लड़े गये, जिनमें उसे सफलता भी मिली।

गांधीवादी और कांग्रेसी पूर्ण स्वराज्य के उद्देश्य को टालने का जतन इस बीच बराबर करते आये थे। अत: क्रान्तिकारियों ने अपना स्वतंत्र सार्वजनिक संघटन बनाने की आवश्यकता तीव्र रूप में अनुभव की। तदनुसार १६२५ में कानपुर कांग्रेस के अवसर पर भूतपूर्व क्रान्तिकारी राजनीतिक कष्टभोगियों की एक सम्मिलनी कर स्वाधीन-भारत-संघ नामक एक नया सार्वजनिक संघटन खड़ा किया गया। इसके आयोजकों और भाग लेने वालों में जयचन्द्र विद्यालंकार, उनकी बहन पार्वती देवी जो १९२१-२२ में पंजाब सीमाप्रान्त और पश्चिमी युक्तप्रान्त के गाँव-गाँव में कांग्रेस संघटन फैलाने और जागृति पैदा करने के कारण राजद्रोह के अपराध में दो साल की सजा भुगत कर उन्हीं दिनों जेल से छूटी थीं, कोमागातामारू काण्ड में बाबा गुरदित्तसिंह के प्रमुख साथी कराची के स्वामी गोविन्दानन्द, गणेशशंकर विद्यार्थी, १६१३ के दिल्ली षड्यंत्र में सजा पाये हनुमन्तसहाय, जो हरदयाल के साथी थे, डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त, तथा राजस्थान के अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट आदि थे।

स्वाधीन भारत-संघ का अधिवेशन इसके बाद १९२९ तक कांग्रेस के अधिवेशन के साथ होता रहा। जवाहरलाल नेहरू १६२७ में रूस से लौटकर मद्रास कांग्रेस में सीधे आये थे, विदेशों में रहते समय खास कर रूस में उन्होंने अनुभव किया था कि कांग्रेस की बरतानवी साम्राज्य के

भीतर अंगरेजों का एक उपनिवेश या उपराज्य बनकर रहने की नीति के कारण दूसरे देशों के लोग उन्हें कितनी नीची निगाह से देखते थे। जवाहरलाल मद्रास में स्वाधीन-भारत-संघ के प्रधान चुने गये। संघ के जोर लगाने पर मद्रास में पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य का प्रस्ताव कांग्रेस में भी अचानक स्वीकृत हो गया। पर गांधीवादी नेतृत्व उसे मानने को तब भी तैयार न हुआ। देश के युवकों में उसके लिए आन्दोलन बढ़ रहा था। जवाहरलाल आदि ने स्वाधीन-भारत-संघ के द्वारा देश का नेतृत्व क्रान्तिमार्गियों के हाथ में जाता देख, अगस्त १९२७ में 'इण्डियन इण्डिपैं०डैन्स लीग' नाम से एक नयी संस्था अलग से खड़ी कर ली, जिसमें नेतृत्व सब उनके तबके के हैसियत वाले अंगरेजी रंगढंग के लोगों के हाथ रहे। किन्तु इण्डियन-इण्डिपैण्डेन्स लीग के सामने पूर्ण स्वाधीनता के नारे के सिवाय कोई दूसरा कार्यक्रम न था, अतः १९२८ में कलकत्ता कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव को अगले वर्ष स्वीकृति मिलने का वायदा मिल जाने पर उसकी कोई आवश्यकता न रहने से वह स्वयं विलीन हो गयी। स्वाधीन-भारत-संघ का कार्यक्रम मुख्यत: क्रान्तिकारियों और राजनीतिक कष्टभोगियों का संघटन कर उन्हें एक मंच पर जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना और राजकीय बंदियों के साथ जेलों में होनेवाले बरताव को सुधारने के लिए जनता में आन्दोलन करना था। उसके कर्मियों के पास आर्थिक साधन कम थे, फिर भी वह १९३० तक अपने कार्यक्रम को चलाता रहा।

१९२६ में हिन्दुस्तान-प्रजातंत्र-संघ के सदस्य भगतसिंह ने पंजाब के युवकों को अपने संघटन की तरफ आकृष्ट करने के लिए नौजवान भारत-सभा नाम की एक प्रकट संस्था स्थापित की जिसकी देखादेखी देश के प्रायः हर केन्द्र में युवक-संघटनों की स्थापना हुई। नागपुर में आवारी ने १९२३ में राष्ट्रीय झण्डा सत्याग्रह चलाया था, १९२६ में उन्होंने शस्त्र कानून के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ किया।

बङ्गाल के नजरबन्द कैदी सुभाषचन्द्र वसु आदि मई १९२७ तक छोड़े गये। उसी साल के अन्त तक विजयसिंह पथिक भी, जो मेवाड़ में राजद्रोह के मुकदमें में साढ़े तीन साल फँसे रह कर बरी होने के बाद नजरबन्द किये गये थे, छोड़ दिये गये।

राजस्थानी राज्यों में १९२४ के बाद से दमन का एक नया दौर शुरू था। रियासतों की आर्थिक दशा, जमाने की मंदी के कारण अच्छी न थी। राजाओं और रियासती प्रबन्ध के खर्चे जमाने की जरूरतों के अनुसार बढ़ गये थे, उन्हें सन्तुलित कर अपना आय-व्यय का तलपट बराबर करने को जमीनों के लगान बढ़ाने और राज्यों से पशु-धन की निकासी आदि के जतन किये गये, इससे किसानों की कठिनाइयाँ, असंतोष और आन्दोलन बढ़ा। उसे दबाने को निरंकुश दमन का आश्रय लिया गया। अलवर में किसानों और छोटे राजपूत जागीरदारों (बिस्वेदारों) ने १९२५ में लगान-वृद्धि का विरोध और जगह-जगह प्रदर्शन किया। रियासत की फौज ने प्रदर्शनकारियों को कुचलने के लिए नमूचाणा गाँव को जहाँ वे एक सभा के लिए एकत्र थे, चारों तरफ से घेरकर करीब पौन घंटे तक मशीनगनों और लुईगनों से निरन्तर खुला वार किया। सैकड़ों पुरुष-स्त्री बच्चे और पशु हताहत हुए। गाँव में आग लगा दी गयी और बाद में सेवा-सहायता आदि का भी कोई प्रबन्ध न किया गया। रियासत और अंगरेजी सरकार दोनों ने उस घटना पर परदा डालना चाहा, पर कानपुर के 'प्रताप' और राजस्थान-सेवा-संघ के पत्र 'तरुण राजस्थान' के प्रतिनिधियों ने किसी तरह घटनास्थल पर चुपचाप पहुँच घायलों और भुक्तभोगियों आदि से मिलकर उस घटना का ठीक-ठीक विवरण जाँच कर प्रकाशित कर दिया, जिससे सारे देश में सनसनी फैली। रियासती सरकार ने तब जाँच बैठाकर उस पर लीपापोती करने की कोशिश की।

जयपुर में १६२२ से नाबालगी थी। शासनाधिकार अंगरेज प्रधान मंत्री और दूसरे अनेक अंगरेज उच्च पदाधिकारियों द्वारा चलाया जा रहा था। वहाँ भी १६२४–२५ में लगान-वृद्धि पर शेखावाटी, खेतड़ी आदि इलाकों में कृषकों में बेचैनी और प्रदर्शन हुए, जिनका दमन निर्मम हाथों से किया गया। कृषकों और १६२१–२२ की बनी स्वयं-सेवक समितियों के कार्यकर्ताओं पर जुल्म किये गये। उन्हें घोड़ों की पूंछ में बाँध मीलों दौड़ाया गया। राजस्थान-सेवा-संघ के कार्यकर्ता रामनारायण चौधरी को रियासत में घुसने से मना कर दिया गया। पर मई १६२६ में रामनारायण चौधरी ने प्रवेश-निषेध आज्ञा का उल्लंघन कर सत्याग्रह किया। उन्हें गिरफ्तार कर मुकदमा चलाया गया। पर रियासत की पुलिस स्थानीय देशी पदाधिकारी आदि की सहानुभूति उनके साथ थी। उन्हें ६ मास की सजा दी गयी, पर बाद में अपील होने पर ३ मास बाद छोड़ दिया गया।

१६२४ में महाराजा जोधपुर के अपनी रानी के साथ विलायत को रवाना होने पर मारवाड़ में उसके विरुद्ध प्रजा का बड़ा आन्दोलन उठा, जयनारायण व्यास आदि जननेता मारवाड़ से निर्वासित कर दिये गये। १९२६ में मादा जानवरों की निकासी के प्रश्न को लेकर उसी तरह जनता में बेचैनी फैली। लोगों ने पशु लेकर अहमदाबाद और बम्बई की तरफ जाने वाली रेलगाड़ियों के सामने लेट-लेट कर सत्याग्रह किये, जिसमें अनेक लोगों को पकड़ कर लम्बी-लम्बी कैद की सजाएँ दी गयीं; पर अन्त में निकासी बंद होने पर ही वह हलचल शान्त की जा सकी।

मेवाड़ में १६१२ के बीजोल्याँ आन्दोलन में वहाँ की सरकार और उसकी आड़ में स्थित अंगरेजों के राजनीतिक विभाग को राजस्थान-सेवा-संघ वालों के संघटन और नेतृत्व के कारण किसानों के सामने काफी झुकना पड़ा था। १६२४ के बाद पथिक के जेल में बन्द रहते समय

गांधीवादी पूँजीशाही नेतृत्व के कुचक्रों की बदौलत संघ में पैदा हुए आपसी कलह के कारण उसकी शक्ति अब क्षीण पड़ने पर रियासत अपनी पहली हार का बदला चुकाने को अपने वायदों पर कायम न रही। १९२७ में नये बन्दोबस्त में लगान वहाँ अनुचित रूप से बढ़ाये गए और पुरानी लाग बेगारें आदि सब पहले की तरह बदस्तूर वसूल की जाने लगीं। किसानों ने इस पर १९२८ में लगान की अदायगी बन्द कर लगभग ८००० जमीनों पर से अपने इस्तीफे दे दिये। रियासत ने जमीनें दूसरों को नीलाम कर दीं। किसानों ने इसपर सत्याग्रह आरम्भ किया। पर उन्हें अब के घोर दमन का सामना करना पड़ा। राजस्थान-सेवा-संघ भीतरी मतभेद पैदा हो जाने के कारण १९२८ में समाप्त हो गया। उसकी संपत्ति कागज पत्र, प्रेस, अखबार आदि सब पंच-फैसले को नियुक्त गुजरात के रियासती कार्यकर्ता मणिलाल कोठारी के सुपुर्द किये गये। राजस्थान कांग्रेस अब अर्जुनलाल सेठी आदि पुराने कार्यकर्ताओं के बजाय गांधीवादी दल के हाथ में थी। पथिक तथा उनके साथी कार्यकर्त्ताओं पर मेवाड़ सरकार ने उनके जेल से निकलते ही मेवाड़-प्रवेश-निषेधाज्ञा जारी कर दी थी। अतः १९२९ में राजस्थानी कांग्रेस के प्रमुख नेता के रूप में हरिभाऊ उपाध्याय ने मेवाड़ सरकार से मिल बीच में पड़ समझौता कराया जिसके अनुसार किसानों ने बकाया लगान देना माना, और रियासत ने अनुचित लाग बेगार बन्द करने, जिनकी जमीन नीलाम न हुई थी उन्हें उसे तुरत वापिस देने और नीलाम हुई जमीन को भी खरीदारों से वापिस खरीद कर शीघ्र दिला देने का वायदा किया।

उसी साल २४ मई को मेवाड़ के प्रजाप्रिय महाराणा फतहसिंह का देहान्त हो गया और २५ मई १९२९ को महाराणा भूपालसिंह का शासन शुरू हुआ जिसमें नौकरतन्त्र अधिक निरंकुश होने से जनता की कठिनाइयाँ बढ़ती गईं।

राजस्थान में चर्खा-संघ की शाखा उन्हीं दिनों संघटित हो रही थी;

उसका प्रथम खादी उत्पत्ति-केन्द्र स्वभावतः बीजोल्यां ही बना, जहाँ पथिक के उद्योग से उस कार्य की नींव १९२२–२३ में ही पड़ चुकी थी। १९२९ के समझौते के बाद वहाँ के कुछ युवक खादी कार्यकर्त्ता सहसा गिरफ्तार कर लिये गए। चर्खा-संघ का खादी-उत्पत्ति-केन्द्र उसके बाद वहाँ से हटा कर जयपुर रियासत के अन्तर्गत गोविन्दगढ़ में स्थापित हुआ। इस सम्बन्ध में मेवाड़ के उच्च अधिकारि-वर्ग से यह भेदभरी बात विदित हुई कि कांग्रेस के एक बड़े गांधीवादी पूँजीपति नेता की प्रेरणा से ही ये गिरफ्तारियाँ की गई थीं। वास्तव में पूँजीपति-नेतृत्व क्रान्तिमार्गियों की शक्ति से इतना ईर्ष्यालु था कि खादी-उत्पादन और गृहोद्योग-पुनरुज्जीवन जैसे रचनात्मक कार्यों में भी उनकी उपस्थिति को सहने के लिए तैयार न था और इसके लिए देश के शत्रु से हाथ मिलाने में भी उसे संकोच न था। राजस्थान की तरह बंगाल, बिहार आदि कई प्रांतों में खादी-उत्पादन का कार्य सफलतापूर्वक पहले-पहल क्रान्तिमार्गियों द्वारा चलाया गया था पर गांधीवादियों द्वारा अपनी पूँजी की शक्ति से उन्हें गिराने के प्रयत्न इन्हीं दिनों हुए। बंगाल में कुछ क्रान्तिमार्गी खादी-कार्यकर्ताओं के विषय में बंगाल सरकार से गुप्त पूछताछ भी की गई, मानो अपने सहकर्मी से मतभेद होने पर इस प्रकार उसे देश के समान शत्रु के हाथ सौंप देने का विश्वासघातक कार्य भी सत्य और अहिंसा का पोषक था!

औ. नये ज्वार की भूमिका

लार्ड रीडिंग भारत से अप्रैल १९२६ में जा चुका था; उसकी जगह लार्ड इरविन भारत का वायसराय बना कर भेजा गया था। उसने आते ही देश का ध्यान कृषि, सिंचाई के साधनों की उन्नति तथा गाँवों की हालत सुधारने जैसे कामों की ओर खींच भारतवासियों को बहलाना चाहा। बीकानेर के राजा ने अपनी रियासत के उत्तरी हिस्से में सिंचाई

के लिए १९२४ में सतलज से एक नहर काट कर लाने का प्रयत्न किया था। इरविन ने भारत आते ही उस कार्य में बड़ा उत्साह दिखाना शुरू किया। १९२७ में वह दो बार इसके लिए बीकानेर गया, जहाँ उसने बीकानेर के राजा से, जो भारतीय राजाओं के नरेन्द्र-मंडल का भी उस समय चुना हुआ मुखिया था, इस बहाने अपनी घनिष्ठता पैदा कर उससे भारतीय राजाओं को भारत के राष्ट्रवाद के विरुद्ध एक समूह रूप में खड़ा करने की नीति पकाई। १ अक्तूबर १९२७ को सतलज की इस नहर का उद्घाटन कर उसने उसका महाराजा गङ्गासिंह के नाम पर गंगनहर नामकरण किया।

जयचन्द्र विद्यालंकार सामरिक क्रान्ति के मार्ग पर चलने के अपने कार्यक्रम में कहीं से सहायता न पाने से निराश हो, १९२७ में पंजाब छोड़ बिहार चले गये और वहाँ तन्मय होकर इतिहास अध्ययन के कार्य में लग गये। किन्तु उनका खड़ा किया हुआ संघटन उनके पीछे उनके शिष्य सुखदेव के प्रयत्नों से खूब बढ़ा। सुखदेव और उनके साथियों ने राजस्थान में भी अपने सम्बन्ध जोड़े। अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट, पथिक आदि के जरिये अजमेर, ब्यावर, मेवाड़, जयपुर, जोधपुर, कोटा, रतलाम, धार, उज्जैन, इन्दौर, भोपाल आदि राजस्थान के प्रायः सभी मुख्य केन्द्रों में युवकों से उनके सम्पर्क बने। कांग्रेसी गांधीवादी स्वराजदली नेतृत्व की, जो तब मुख्यतः विधान-सभाओं में अपने कानूनी दाँव-पेचों और देशद्रोही साम्प्रदायिकतावादी मुस्लिम-लीगियों और हैसियत वाले सरकार-परस्त लोगों से रोज-रोज टूटने वाले समझौतों की मोलभाव करने की राजनीति या अहिंसा के विषय में रहस्यवादी उबा देने वाले प्रवचनों के सिवाय किसी संघर्ष की दिशा में सोचने की कल्पना भी न करता था, पूरी उपेक्षा के बावजूद देश में युवक-आन्दोलन की बाढ़ आने लगी।

दो बरस पहले स्वराजदल द्वारा शासन-सुधारों के विषय में नयी जाँच बिठाने की 'राष्ट्रीय माँग' का अंगरेजों ने निरादर कर दिया था।

विधान की धाराओं के अनुसार नयी जाँच-समिति की नियुक्ति में अभी दो बरस की देर थी। पर अब अंगरेजों ने देश में नई बाढ़ आती देख दो बरस पहले ही शासन-सुधारों की जाँच करने को साइमन नामक एक अंगरेज वकील की अध्यक्षता में एक राजकीय समिति बैठायी (नव० १९२७)। तभी भारतीय रियासतों की स्थिति भावी शासन में क्या रहे, इसकी जाँच के लिए सर हार्कोर्ट बटलर की अध्यक्षता में दूसरी जाँच-समिति बैठायी गयी। जाँच-समितियों के सदस्य सब अंगरेज थे, अतः विधान-सभाओं के भारतीय दलों ने इसे अस्वीकार किया और कहा कि शासन-सुधार का ठीक तरीका यह है कि भारत और इंगलैण्ड के प्रतिनिधि बराबरी से एक गोल मेज के चारों तरफ बैठ इस सम्बन्ध में परस्पर बात-चीत कर समझौता करें, पर अंगरेजों ने उनकी परवाह न की। देश में असन्तोष बढ़ा। युवकों ने पूर्ण स्वाधीनता को अपना उद्देश्य बताने वाले प्रस्ताव जगह-जगह किये। लखनऊ में चल रहे काकोरी षड्यन्त्र के मुक-दमे में चार अभियुक्तों रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनसिंह, अशफाकुल्ला और राजेन्द्र लाहिड़ी को फाँसी और शेष शचीन्द्र सान्याल, योगेश चटर्जी आदि को लम्बे कारावासों की सजाएँ सुनायीं गयी थीं। फाँसी की सजा पाने वाले अभियुक्तों के अन्तिम समय के शहीदाना बयानों से नौजवानों में उत्साह की लहर उठी। साल के आरम्भ में लाहौर आदि में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए थे, जिससे साम्प्रदायिक वैमनस्य बहुत था और अक्तूबर में कांग्रेस महासमिति ने कलकत्ता में एकता-सम्मेलन बुलाया था। अब लोकमत के दबाव के कारण मुस्लिम लीग जैसी साम्प्रदायिकता को भड़काने वाली संस्था ने भी दिसम्बर १९२७ में अपने कलकत्ता अधिवेशन में उक्त एकता-सम्मेलन के सुझावों को मान, रक्षित स्थानों के आधार पर सम्मिलित चुनाव स्वीकार किया और दूसरे दलों के सहयोग में साइमन समिति के बहिष्कार का निश्चय किया। मद्रास में काँग्रेस ने अपना विधान आप तैयार करने को सर्वदल-सम्मेलन बुलाने के प्रस्ताव

के अतिरिक्त पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव भी अचानक ही स्वीकार कर दिया ।

रियासतों में भी सार्वजनिक जागृति के चिह्न सर्वत्र प्रकट होने लगे । जयपुर में नाबालगी शासन में अंगरेज प्रधानमंत्री और विभागीय अध्यक्षों की बनी मंत्रिसभा (स्टेट काउंसिल) के शासन और उसके द्वारा राज्य की तमाम नौकरियों में स्थानीय लोगों की बजाय बाहरी भाड़ैत लोगों की भर्ती को अधिक तरजीह दी जाने के कारण जनता बहुत असंतुष्ट थी । १ सितम्बर १९२७ को वहाँ एक ताँगे वाले और पुलिस सिपाही में खटपट हो जाने की एक साधारण सी घटना को लेकर जनता द्वारा भारी प्रदर्शन किया गया । जनता पर लाठियों और गोलियों के वार हुए, तो भी उसने पाँच दिन तक नगर में बराबर हड़ताल रक्खी और बड़ी-बड़ी सभायें कर पुलिस अपराधियों को सजा देने, राजमंत्रिसभा में प्रजा के दो प्रतिनिधि लेने तथा नाबालगी शासन की अर्थनीति की जाँच के लिए एक समिति बैठाने की माँग की ।

जोधपुर, उदयपुर, इन्दौर आदि दूसरी रियासतों में भी इसी तरह की घटनायें घटीं और जनता कोई न कोई बहाना खोज संघर्ष पैदा कर अपना असंतोष प्रकट करने लगी । उसकी सबसे बड़ी शिकायत उस नीति के खिलाफ थी जिसके अनुसार रियासतों के नाबालिग राजाओं या राज-कुमारों को शिक्षा के नाम पर राजनीतिक विभाग द्वारा दबाव डाल कर कच्ची उमर में मेयो कालिज अजमेर या यूरप आदि में भेज दिया जाता था, जहाँ उन्हें विदेशी रहन-सहन और व्यसनों का चसका डाल अपनी जनता और रियासत की परम्पराओं से अपरिचित और अलग कर दिया जाता था, जिससे वे अपनी प्रजा के प्रति सहानुभूति गँवा कर अधिक निरंकुश और बेपरवाह हो जाते थे ।

१९२९ में जयनारायण व्यास आदि ने जोधपुर-मारवाड़-प्रजापरिषद् नाम से एक सार्वजनिक राजनीतिक सम्मेलन बुलाने का यत्न किया,

पर रियासत ने उसपर प्रतिबन्ध लगा कर, भंवरलाल सर्राफ और आनन्द-राज सुराणा पर नागौर में राजद्रोह का मुकदमा चलाया और क्रमशः उन्हें सात और साढ़े तीन वर्ष के कठोर कारावास की सजायें दी गईं। मेवाड़ में बीजोल्यां और दक्खिनी भील क्षेत्रों में भी बेचैनी के लक्षण फिर से प्रकट होने लगे।

रियासतों के इस प्रजा आन्दोलन को संघटित कर उसका एक अपना अखिल भारतीय मंच बनाने की भी योजनाएँ और चर्चाएँ १९२६ में ही आरम्भ हो गईं थीं। कानपुर में होनेवाले स्वाधीन-भारत-संघ के अधिवेशन में राजस्थान से अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहट आदि सम्मिलित हुए थे। भारत के स्वायत्त प्रान्तों या राज्यों के एक संयुक्त संघ प्रजातंत्र का विचार राजस्थानी कार्यकर्त्ताओं को सम्भवतः पहलेपहल वहीं से मिला। साइमन और बटलर जाँच-समितियों के, क्रमशः अंगरेजी आधिपत्य के भारत के भावी शासन-सुधार और देशी राज्यों के संधिपत्र आदि की जाँच कर उनका सम्राट् की सरकार से क्या सम्बन्ध हो आदि बातों की जाँच करने के लिए, नियत होने की घोषणा होने पर राजस्थान सेवा-संघ के रामनारायण चौधरी ने जो १९२४ में पथिक की गिरफ्तारी के बाद रियासती मामलों में भाग लेने वाले प्रमुख कार्यकर्त्ता थे, महाराष्ट्र आदि के कुछ दूसरे रियासती कार्यकर्त्ताओं से मिल अखिल भारतीय देशी-राज्य-लोक-परिषद् नाम की एक संस्था स्थापित की। १६-१७ दिसंबर १९२७ को इसका प्रथम अधिवेशन बंबई में किया गया, जिसमें भारत के प्रान्तों और देशी रियासतों को मिला कर एक भारतीय संघ-राज्य की स्थापना की आवश्यकता पर स्वागताध्यक्ष और सभापति के भाषणों में जोर दिया गया और इस तरह बनने वाली संघ-परिषद् में रियासती प्रजा के निर्वाचित प्रतिनिधियों को लेने की जोरदार माँग की गई।

देशी राज्य प्रजापरिषद् नाम का एक सम्मेलन कांग्रेस के अधिवेशन के साथ दिसम्बर के अन्त में भी किया गया और उसमें भी अंगरेजी

भारत और देशी राज्यों को एक में मिला, एक संघ-राज्य स्थापित करने की माँग की गई।

साइमन समिति तीन फरवरी १९२८ को अपनी जाँच करने के लिए भारत दौरे पर आई। भारत के गरम नरम और सांप्रदायिक मुसलिम लीगी आदि सभी दलों ने उसके साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया। वह जहाँ भी गई लोगों ने काले झंडे दिखा 'साइमन लौट जाओ' के नारों से उसके विरोध में प्रदर्शन किये। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर जगह-जगह लाठियाँ बरसाई। लाहौर में लाजपत-राय जैसे वयोवृद्ध और प्रतिष्ठित नेता पर एक गोरे ने जानबूझ कर लाठी का वार किया। लाजपतराय का देहान्त इस अपमान से दिल पर लगे गहरे धक्के के कारण शीघ्र ही हो गया। भगतसिंह और सुखदेव के दल ने पंजाब के इस अपमान का बदला लाहौर के अंगरेज पुलिस अधि-कारी को अपनी गोली का शिकार बना कर चुकाया (दिसंबर १९२८)। सुखदेव और भगतसिंह के सामने भी १९२३-२४ से सामरिक क्रान्ति का ही ध्येय था। पर अब जब वे उसे पूरा न कर सके, तो देश में छाई मुर्दनी को हटाने के लिए उन्होंने त्रास का मार्ग पकड़ा। 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र मंडल' के बचे-खुचे टुकड़े एकत्र कर उन्होंने हिन्दुस्तान प्रजातंत्र सेना नाम का एक त्रासवादी नया संघटन बना लिया जिसके नेता काकोरी षड्यंत्र के फरार अभियुक्त चन्द्रशेखर आजाद थे।

नागपुर में आचारी द्वारा चलाए गए शस्त्र-सत्याग्रह और बाद में जेल के दुर्व्यवहार पर उनके ७५ दिन के लंबे उपवास तथा १९२८ में गुजरात के बारडोली तालुके में की गई लगान-वृद्धि के खिलाफ वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में किसानों के सफल सत्याग्रह ने भी जनता में उत्साह और जागृति पैदा की। महात्मा गांधी के चर्खा संघ द्वारा खादी-उत्पादन के केन्द्रों की जगह-जगह स्थापना के कारण कांग्रेस अब देहातों तक भी पहुँच चुकी थी।

जनता संघर्ष के लिए अब फिर उत्सुक थी। पर नेता लोग अभी तक उसके लिए तैयार न थे, क्योंकि वे क्रान्ति नहीं सुधार मात्र चाहते थे। १६२७ में मद्रास कांग्रेस पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकृत होने पर भी उन्हीं नेताओं ने उसे जल्दबाजी में हुआ बता मानने से इन्कार कर दिया था, और उस अधिवेशन के प्रस्ताव द्वारा जो सर्वदल-सम्मेलन भारत का विधान-मसौदा बनाने के लिए बुलाया गया, उसके द्वारा नियुक्त मोतीलाल नेहरू समिति ने भी फिर उपराज्य पद को ही अपना ध्येय मान कर उसी के आधार पर अपनी विवरणी बनायी थी।

अंगरेजों ने परिस्थिति के तनाव को हलका करने के लिए १९२४ के बंगाल के नजरबन्द कैदी सब छोड़ दिये। फलतः १६२८ के दिसम्बर में होने वाले कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में पूर्णस्वाधीनतावादियों और गांधीवादियों के बीच गहरी खींचतान हुई। अन्त में यह तय पाया कि एक साल तक और देखा जाय, यदि उस बीच अंगरेज नेहरू-समिति की सिफारिशों को न मानें और उपराज्य पद देने को भी तैयार न हों तो अगले साल पूर्ण स्वाधीनता ध्येय का प्रस्ताव सभी दलों द्वारा स्वीकार किया जाय। इस प्रकार अब अगले संघर्ष की भूमिका बँधी।

१९२९ में साल भर देश में पूर्ण स्वाधीनता प्रस्ताव की स्वीकृति और सत्याग्रह की तैयारियाँ होती रहीं। अंगरेजों ने फिर दमन का मार्ग पकड़ा। २० मार्च को ३१ समूहवादियों को पकड़ कर मेरठ में भारतीय समूहवादी षड्यन्त्र का एक मुकदमा चलाया गया। राजस्थान के शौकत उस्मानी भी उनमें से एक थे। सार्वजनिक सुरक्षा के नाम पर क्रान्तिकारियों और मजदूर-संघटन के विरोधी दो कानूनों का मसविदा विधानसभा में विचारार्थ पेश हुआ। विट्ठलभाई पटेल ने जो उस समय विधानसभा के निर्वाचित सभापति थे, मेरठ षड्यन्त्र मामले में अदालती कार्रवाई को ठीक से चलाने में उन कानूनों पर विचार करते समय हुई बहस का असर पड़ने की सम्भावना बता उन्हें पेश होने देने से इन्कार

कर दिया। यह प्रक्रिया अभी चल ही रही थी कि भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने वकीलों की कभी न खत्म होने वाली उस कानूनी बहस का अन्त कर उनका ध्यान देशवासियों की प्रतिरोध-भावना की तरफ आकर्षित करने के लिए विधान-सभा में एक बम फेंका। इससे सारे देश में एक सनसनी और तहलका सा मच गया। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने अपने को वहीं गिरफ्तार करा दिया। बम फेंकने के अपराध में उन्हें कालेपानी की सजाएँ दी गयीं। पर तभी उत्तर भारत में एक व्यापक त्रासवादी संगठन के प्रमाण अंगरेजों को मिल चुके थे, अतः उस दल के अनेक युवकों की गिरफ्तारी कर उनपर लाहौर षड्यन्त्र का मुकदमा चलाया गया।

भगतसिंह आदि ने जेलखानों में सरकार द्वारा राजनीतिक कैदियों के साथ साधारण कैदियों का सा बरताव किया जाने के विरुद्ध भूख-हड़ताल शुरू कर दी। सरकार उनके साथ विशेष बरताव करने को तैयार थी, पर उनका आग्रह पंजाब की जेलों में पड़े १९१४-१५ वाले और १९१९ के फौजी कानून वाले कैदियों के साथ भी बरताव ठीक करने पर था, जिसे सरकार ने न माना। उन्हें कमजोरी की हालत में जबरदस्ती भोजन देने का जतन किया गया। फलतः यतीन्द्रनाथ दास की जिन्होंने कि उस बलात्कार का अपनी पूरी शक्ति के साथ दृढ़तापूर्वक मुकाबला किया, हालत बहुत खराब हो गयी। १३ सितम्बर १९२९ को ६४ दिन के अनशन के बाद जतीन दास का देहान्त हो गया। *

---

* जतीन दास के इस बलिदान की तुलना आयरलैण्ड के स्वाधीनतावादी टेरेन्स मेक्स्विनी के बलिदान से की जाती थी, जिन्होंने आयरलैंड की स्वतंत्रता के लिए १९२१ में बरतानवी साम्राज्य की जेल में अनशन कर अपनी आहुति दी थी। जतीन को भारत का मेक्स्विनी कहा गया, इस विश्वास के आधार पर कि अंगरेजी जेल में

भगतसिंह, सुखदेव, जतीन आदि की गिरफ्तारी से शुरू में देश में ऐसा आतंक छा गया कि लोग उनसे अपना किसी तरह का सम्बन्ध जताने या उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करने को तैयार न थे। उनके उपवास आरम्भ करने पर उनकी प्राणरक्षा के लिए सबसे पहले स्वाधीन-भारत-संघ की संस्थापिका और संचालिका पार्वतीदेवी ने स्वयं लाहौर के बाजारों में भण्डा हाथ में ले नारे लगा कर आन्दोलन शुरू किया। उनकी देखादेखी दूसरे लोगों की भी हिम्मत बँधी और बाद में तो वह हवा देश भर में ऐसी बही कि जो लोग पहले उस मार्ग पर चलने वालों के विरुद्ध थे, वे भी उसमें सम्मिलित हो सबसे आगे बढ़कर भाग लेने लगे। जतीन की मृत्यु पर देश के सभी बड़े लोगों ने अपने वक्तव्य दिये, पर महात्मा गांधी ने एक शब्द भी न कहा और लोगों के पूछने पर जवाब दिया कि उन्होंने जानबूझ कर वैसा किया था, क्योंकि यदि कुछ लिखते तो विरुद्ध ही लिखना पड़ता। किन्तु जतीन का शव जब लाहौर से कलकत्ता ले जाया गया तब रास्ते में हर स्टेशन पर उसके अन्तिम दर्शनों को जनता की इतनी भीड़ उमड़ पड़ी और कलकत्ते में तो जनता ने ऐसा दृश्य उपस्थित किया कि उससे महात्मा गांधी और उनके साथी नेताओं की भी आँखें खुल गयीं। उन्होंने देख लिया कि क्रान्तिमार्गियों की उन्होंने बरसों तक जो निन्दा की उसे सुनकर भी जनता अनसुनी करती रही है, और साथ ही वह इस समय अंगरेजी शासन से संघर्ष के लिए आतुर हो चुकी है।

इस प्रकार अपना बलिदान करने वाला पहला व्यक्ति मेक्स्विनी था। पर वास्तव में मेक्स्विनी का भी पूर्वगामी पंजाबी क्रान्तिकारी रामरक्खा बाली था, जिसने १९१५ के लाहौर षड्यन्त्र मामले में आजन्म कारावास पाने के बाद अण्डमान जेल में अपने मानव गौरव की रक्षा के लिए लम्बा अनशन कर प्राणों की आहुति दी थी।

§ १६. सत्याग्रह आन्दोलन और प्रजामंडलों का उदय
(१९३०-४२)

महात्मा गांधी १६२४ के बाद से देश की परिस्थिति से निराश होने के कारण १९२६ में यूरप या अमरीका में अपने अहिंसावाद के प्रचार के लिए जाने का इरादा कर रहे थे, पर परिस्थिति को इस प्रकार पलटा खाता देख रुक गये। सारे देश का उन्होंने दौरा किया; जनता में अद्भुत उत्साह और प्रतिरोध-भावना उठती हुई दिखाई दी। दिसम्बर में लाहौर कांग्रेस पर पूर्ण स्वाधीनता को अपना ध्येय मानने का प्रस्ताव उन्होंने स्वयं ही उपस्थित किया। २६ जनवरी १९३० को पूर्ण स्वाधीनता दिवस मनाने का निश्चय हुआ। उस दिन देश में सर्वत्र सामूहिक रूप से पढ़ी जाने के लिए प्रतिज्ञा का लेख महात्मा गांधी ने स्वयं तैयार किया, जिसमें अंगरेजी आधिपत्य से होने वाली अपने देश और जनता की विविध हानियों का परिगणन कराते हुए यह भी कहा गया था कि जनता को निरस्त्र कर अंगरेजों ने उन्हें आध्यात्मिक रूप से नपुंसकों की जाति बना दिया।

सत्याग्रह का आरम्भ देश में सर्वत्र एक साथ करने को गांधी ने पहलेपहल नमक कानून तोड़ने की बात कही। इसके लिए वे १२ मार्च को अहमदाबाद में अपने आश्रम से चुने हुए कुछ साथियों समेत, समुद्रतट पर स्थित दाण्डी स्थान के लिए जहाँ सामुद्रिक नमक स्वाभाविक रूप से बनता है, पैदल प्रस्थान कर, रास्ते में ग्रामीण जनता को अपने सत्याग्रह संघर्ष का उद्देश्य बताते हुए, ५ अप्रैल को वहाँ जा पहुंचे। ६ को जालियाँवाला बाग हत्याकाण्ड की स्मृति में हर साल मनाये जाने वाले राष्ट्रीय सप्ताह का पहला दिन था। गांधी ने सुबह ही समुद्र-स्नान कर तट पर पका नमक गैरकानूनी रूप में उठा सत्याग्रह

का श्रीगणेश किया। उन्होंने १० अप्रैल को अपने यंग इण्डिया अखबार में एक लेख द्वारा स्त्रियों को भी संघर्ष में आगे आने और बरतानवी माल और शराब आदि मादक द्रव्यों की दुकानों पर धरना देने आदि के कार्य सम्हालने की जोरदार प्रेरणा दी।

तभी बंगाल में क्रान्तिमार्गियों ने भारत के पूर्वी सीमान्त पर चटगांव में १८ अप्रैल को सरकारी शस्त्रागार पर धावा मारा। अंगरेजों ने रातों-रात बंगाल आर्डिनेन्स जारी किया, और सुबह होते बंगाल के अधिकांश क्रान्तिकारी नेताओं ने जो १९२४ के बाद १९२८ में ही जेलों से छूट कर आये थे, अपने आपको फिर से जेलों में नजरबन्द पाया।

उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर पठानों के देश में खुदाई खिदमतगारों का आन्दोलन फूटा। अंगरेजों ने गढ़वाली हिन्दुओं की दो पलटनों को उन्हें दबाने भेजा। पर वहाँ उन्होंने अपने उन निरस्त्र देश-भाइयों पर गोली चलाने से साफ इन्कार कर दिया। उन्हें फौजी कानून के मातहत लंबी और कठोर सजायें दी गई। बाद में पेशावर शहर को गोरी फौज के हाथों में सौंप दिया गया।

गांधी ने भी इस बार चटगाँव को चौरी-चौरा बना आन्दोलन स्थगित करने के बजाय उसे उलटा और जोर से आगे बढ़ाया। उन्होंने अब दाण्डी के बाद चटगाँव के ही शस्त्रागार की तरह सूरत जिले में स्थित धरासना के सरकारी नमक गोदाम पर निःशस्त्र खुला धावा मारना तय किया। ५ मई को धरासना जाते समय मार्ग में ही पकड़ कर उन्हें पूना के पास यरवडा की जेल में बन्द कर दिया गया। आन्दोलन ने जोर पकड़ा। नमक कानून के साथ दूसरे दूसरे कानूनों को भी तोड़ा जाने लगा।

राजस्थान में सत्याग्रह का केन्द्र अजमेर था। राजपूताना और मध्यभारत की तमाम रियासतों से राष्ट्रवादी युवक आ आ कर वहाँ सत्याग्रह कर जेल जाते रहे। अर्जुनलाल सेठी, पथिक आदि पुराने राष्ट्रकर्मियों

के जो १९२८-२९ में गांधीवादी पूँजीपति षड्यन्त्रों के कारण खिन्न होकर प्रायः सार्वजनिक जीवन से विरत होने लगे थे, संघर्ष आरम्भ होते ही मैदान में फिर से उतर आने के कारण अजमेर शहर की स्थानीय जनता में उत्साह का स्रोत फिर उमड़ पड़ा। मुसलमानों के महात्मा गांधी के १९२०-२२ के साथी मुहम्मदअली, शौकतअली आदि खिलाफती और साम्प्रदायिक मुस्लिम लीगी नेता इस बार आरंभ से आन्दोलन में शामिल न होने का निश्चय कर रहे थे। अजमेर ब्यावर आदि में उसके बावजूद अर्जुनलाल सेठी आदि पुराने राष्ट्रवादियों का प्रभाव उनकी सच्ची सुलझी हुई दृष्टि के कारण मुसलमानों पर भी भरपूर था; और उनके प्रभाव और सम्पर्क के कारण यहाँ वे काफी अच्छी संख्या में आन्दोलन में सम्मिलित हुए। नमक कानून तोड़ने तथा दूसरे प्रदर्शनों में स्त्रियों ने भी यहाँ अच्छा भाग लिया और अनेक पर्दानशीन भले घरों की महिलाओं ने भी पर्दा छोड़ निर्भयतापूर्वक आन्दोलन में भाग लेने का साहस दिखाया। अजेमर के अतिरिक्त ब्यावर, इन्दौर, उज्जैन आदि में जहाँ व्यापार व्यवसाय की उन्नति होने से मध्यवर्गी स्वतंत्र सार्वजनिक जीवन अधिक विकसित था, आन्दोलन-संबंधी प्रदर्शन और विदेशी वस्त्रों आदि की दुकानों पर धरना देने के कार्य हुए। अकेले इन्दौर शहर से करीब साठ सत्तर व्यक्ति अजमेर आकर सत्याग्रह में सम्मिलित हुए और जेल गये।

आन्दोलन का पूर छः सात महीने तक खूब जोर से बहा। अंगरेजों ने दबाने में आरम्भ से ही कोई कसर न छोड़ी। बंगाल में सुभाषचन्द्र वसु आदि राष्ट्रीय नेता २३ जनवरी १९३० को ही गिरफ्तार कर लिये गये थे। शेष क्रान्तिकारी १८ अप्रैल को इकट्ठे ही पकड़ कर नजरबन्द कर दिये गये। इधर गांधी के बाद सरोजिनी नायडू, अब्बास तैय्यबजी, जवाहरलाल, मोतीलाल नेहरू आदि भी पकड़कर जेलों में भेज दिये गये। राजस्थान में अर्जुनलाल सेठी, पथिक, हरिभाऊ उपाध्याय, जीतमल

लुधियाना आदि सभी प्रमुख कांग्रेस कर्मी राष्ट्रवादी एक एक कर पकड़े गये। कांग्रेस कार्यसमिति गैरकानूनी घोषित हो गयी। भारत भर में लगभग ६० हजार स्त्री पुरुष पकड़कर जेलों में बन्द कर दिये गये। पर आन्दोलन दबा नहीं, उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। जून तक ९५ प्रतिशत विदेशी कपड़ा बंगाल में कम आया। इंगलैंड में लंकाशायर और मांचेस्टर के कपड़ों के कारखाने बंद होने लगे और वहाँ बेकारी फैलने लगी। अंगरेजी सरकार ने कांग्रेस सभाओं को सर्वत्र गैरकानूनी करार दे उनकी संपत्ति आदि सब जब्त करने का आर्डिनेन्स निकाला, पर आन्दोलन का जोर बढ़ता ही गया।

साइमन और बटलर समितियों ने जून में अपनी जाँच पड़ताल समाप्त कर अपनी सिफारिशें प्रकाशित कीं, पर भारत के सभी दलों ने एक स्वर से उनका विरोध किया। अंगरेजों ने अब सन्धिचर्चा के लिए कांग्रेस-नेताओं का मन लेने का भी प्रयत्न फिर प्रारम्भ किया। पर अभी जनता की शक्ति काफी थी, इसलिए समझौता न हो सका। सितम्बर में मोतीलाल नेहरू स्वास्थ्य खराब होने से छोड़ दिये गये। अक्तूबर में लाहौर षड्यंत्र का मामला समाप्त हुआ, भगतसिंह आदि तीन अभियुक्तों को फाँसी की सजा सुनायी गयी। आन्दोलन में इससे जोश अधिक बढ़ा; दमन भी बढ़ता गया। अंगरेजों ने अब साइमन समिति की सिफारिशों के आधार पर भारत का नया शासन-संविधान बनाने के लिए अपनी पार्लिमेण्ट के १६ सदस्यों की नियुक्ति कर भारत के विभिन्न प्रांतों और रियासतों से अपनी पसंद के ७३ लोगों को भारत का प्रतिनिधि बना लंदन के राजप्रासाद में बराबरी की खुली बातचीत का एक नाटक रचा। वे लोग वहाँ यूरप में इस तरह की बराबरी की बातचीत की प्रथा के अनुसार एक गोल मेज के चारों तरफ बैठते थे, अतः इसे उन्होंने गोल-मेज-सम्मिलनी नाम दिया। भारतीय विधानवादी कांग्रेसी तथा दूसरे नरमदली भी इस तरह की सम्मिलनी की मांग १६१५ से कर रहे थे

सो अंगरेजों ने यों उसका यह स्वाँग बनाया। १३ नवंबर से १९ जनवरी १९३१ तक अंगरेजों और भारत के इन भांड प्रतिनिधियों के बीच की यह रामलीला चलती रही। अंत में १९ जनवरी को उसके प्रथम अंक की समाप्ति पर सभा विसर्जित करने से पूर्व अंगरेज प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डानल्ड ने नये शासन-संविधान की भावी योजना की रूपरेखा यों खोली—"भारत का भावी केन्द्रीय शासन एक संघीय विधान-सभा के प्रति जिसमें प्रांतों और रियासतों के भी प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे, अंशतः जिम्मेदार होगा, अंशतः इसलिए कि सामरिक, वैदेशिक और अर्थनीतिक सात्त्व के मामलों में संघ-सभा का नियंत्रण न चलेगा; प्रान्तों को शासन के भीतरी मामलों में पूरी स्वतंत्रता दी जायगी।" भारत को स्वाधीन सहोदर जनपद राष्ट्रों (भाषाप्रान्तों) का संघ प्रजातंत्र बनाने का ध्येय १९२४-२५ में 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र मण्डल' और 'स्वाधीन भारत संघ' का भी था। अंगरेजों का अंगरेजी भारत के प्रान्तों और रियासतों को स्वायत्त इकाइयाँ मानकर भारत का संघराज्य कायम करने का विचार उसी का व्यङ्ग्य रूप था। मैक्डानल्ड ने कहा भारत के जिन दलों के प्रतिनिधि उस बैठक में शामिल न थे अगली बैठक में उनका सहयोग प्राप्त करने का जतन किया जायगा।

भारत में अंगरेजी पार्लिमेंट की एक भूतपूर्व सदस्या कुमारी एलेन विल्किन्सन उन दिनों भारत आयी हुई थी और जेलों में नेताओं से मिल-जुल उनके विचार जानने और भारतीय जनता की प्रतिरोध शक्ति की गहराई भाँपने का जतन कर रही थी। उसने लिखा "गांधी भारत में अंगरेजों का सबसे अच्छा चौकीदार (पुलिस मैन) है।" उससे समझौते का प्रयत्न किया जाय। मैक्डानल्ड के भाषण के ६ दिन बाद अंगरेजों ने कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों को छोड़ दिया।

मोतीलाल नेहरू अब प्रयाग में मृत्युशय्या पर थे, अतः कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक उनकी इच्छानुसार वहीं बुलाई गयी। कांग्रेस

नेता वहाँ से दिल्ली गये, जहाँ महात्मा गांधी ने १४ फरवरी को वायसराय लार्ड इरविन से मुलाकात की। दोनों में समझौता तय हो गया, पर उसके अनुसार भारत को जो मिलने का आश्वासन दिया गया वह उपराज्य पद से भी बहुत कम था, अर्थात् केन्द्रीय शासन में कुछ रक्षित विषयों को छोड़ आंशिक उत्तरदायी शासन और प्रान्तों में प्रायः उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन।

५ मार्च को गांधी इरविन के बीच एक समझौतापत्र पर बराबरी के हस्ताक्षर हुए जिसमें गांधी ने सत्याग्रह और अंगरेजी माल का बहिष्कार बन्द करना और गोलमेज-सम्मिलनी में जाकर शासनसुधारों के लिए होने वाली बातचीत में योग देना माना, बशर्ते कि सत्याग्रह-विरोधी सब फरमान, मुकद्मे और सजाएँ रद्द कर दी जायँ और कांग्रेस के सत्याग्रही कैदी सब तुरत छोड़ दिये जायँ। पर उसमें क्रान्तिमार्गी या दूसरे राज-बन्दियों की रिहाई के लिए महात्मा गांधी ने कोई बात न की, यहाँ तक कि उन गढ़वाली सैनिकों के लिए भी—जिन्होंने उन्हीं के बताये मार्ग का अनुसरण कर सच्चे अर्थों में असहयोग और सत्याग्रह का आदर्श उपस्थित करने का साहस दिखाया था और उसके लिए अपनी जान की बाजी लगाकर भी विदेशी आततायी का हथियार बन अपने देश-बन्धुओं पर गोली चलाने से इन्कार किया था—समझौते के समय महात्मा गांधी के मुँह से एक शब्द न निकला। यह तो पूरा विश्वासघात था। मजदूर आन्दोलन के सम्बन्ध में गिरफ्तार और सजा पाये लोगों तथा मेरठ षड्यन्त्र के अभियुक्तों की मुक्ति के विषय में भी कोई चर्चा उन्होंने न की। इस प्रकार अंगरेजों से उनका यह समझौता राष्ट्र के नायक या प्रतिनिधि के अनुरूप न होकर सिर्फ अपने दल की दृष्टि से और उसी के लाभ के लिए किया गया ठहराव मात्र था। जहाँ तक गढ़वाली सैनिकों का प्रश्न था, वहाँ तक तो अपने अनुयायियों के प्रति भी इसमें विश्वास को निभाया न गया था। इस प्रकार सच्चे राष्ट्रवादियों और

दूसरे समस्त प्रगतिशील दलों का विश्वास महात्मा गांधी ने अपने ऊपर से गँवा दिया। राष्ट्रकर्मियों और युवकों में इससे उनके नेतृत्व के प्रति गहरा असंतोष पैदा हुआ।

देश की सारी जनता इस समय भगतसिंह, सुखदेव आदि लाहौर षड्यन्त्र में फाँसी पाये अभियुक्तों के प्राण बचाने को बेचैन थी। भगतसिंह का नाम जनता में उस समय उतना ही प्रसिद्ध प्रिय और प्रेरणादायक हो रहा था जितना स्वयं गांधी का। सुभाष वसु ने ८ मार्च को नजरबन्दी से छूटते ही सीधे बंगाल से बम्बई जाकर गांधी से, जो दिल्ली समझौते के बाद वहाँ गये हुए थे, भेंट की और युवकों तथा क्रान्तिवादियों की इस प्रतिक्रिया से उन्हें परिचित किया। गांधी ने तब उनकी भी मुक्ति के लिए प्रयत्न करने का आश्वासन उन्हें दिया। वे यदि इस मामले पर अड़ जाते तो अंगरेजों को जनता की उस संघटित शक्ति के सम्मुख झुकना पड़ता, पर गान्धी ने उनके प्रश्न को वह महत्त्व देकर अपने समझौते को बाजी पर चढ़ाना स्वीकार न किया। जनता के हजारों लोगों के हस्ताक्षरों समेत पत्र उस बीच वायसराय के पास भी पहुँच चुके थे। वायसराय ने गांधी को उनकी सजा मुल्तवी करने का आश्वासन दिया, पर किया कुछ भी नहीं।

गोलमेज सभा द्वारा स्वीकृत भारतीय प्रान्तों और रियासतों को मिला कर एक संघराज्य बनाने का सिद्धान्त समझौते की बातचीत का मूल आधार मान लिया जाने पर भारतीय रियासती प्रजा के प्रतिनिधियों ने महात्मा गांधी से रियासतों में उससे पूर्व उत्तरदायी शासन स्थापित करा सिर्फ उनके प्रतिनिधियों को ही संघ-परिषद् में आने देने को भी समझौते के मुद्दों में रखने की प्रार्थना की थी, पर गांधी ने उसकी खातिर भी समझौते के समय कोई विघ्न पैदा करना स्वीकार न किया। इसी समय गोलमेज सभा के अगले अधिवेशन पर मुख्य रूप से प्रस्तुत होनेवाले

सलमानों और अन्य अल्पमतों के प्रश्न के बारे में भी गांधी ने भारी भूल । उन्होंने कहा, गोलमेज सभा में उनके जाने का प्रश्न हिन्दू मुसल-नों में पारस्परिक समझौता होने पर निर्भर है। इस संबन्ध में यदि अपना रुख राष्ट्रवादियों के बीच ही स्थिर कर उसी को दृढतापूर्वक ागे लाने का जतन करते और उसपर सांप्रदायिक हिन्दुओं के आक्षेपों ा उत्तर देने का भार राष्ट्रीय हिन्दुओं पर, और सांप्रदायिक मुसलमानों निपटने का भार राष्ट्रवादी मुसलमानों पर डाल देते, तो अंगरेजों से ोहा लेने की शक्ति राष्ट्रवादियों की ही होने से अंगरेज उन्हीं का निर्णय ानने को बाधित होते। पर, उसके बजाय गांधी ने स्वयं सांप्रदायिक सलिमों से समझौता करने का प्रयत्न कर उनका महत्त्व बढ़ा दिया ौर राष्ट्रवादी मुसलमानों की शक्ति तोड़ दी। दूसरे, समस्त हिन्दुओं की रफ से जब वे सांप्रदायिक मुसलिमों से शर्तें तय करने गये तब राष्ट्रवादी न्दुओं को मुसलमानों के सम्मुख सांप्रदायिक हिन्दुओं के साथ एक । गाड़ी में जोत कर उन्हें भी गलत स्थिति में डाल दिया।

गांधी ने कहा, सब मुसलमान मिलकर परस्पर के समझौते से ापनी कोई एक माँग प्रस्तुत करें तो वे हिन्दुओं की तरफ से उसपर ाँख मूँद कर दस्तखत करने को तैयार हैं। पर, गांधी आखिर राष्ट्रीय ल के प्रतिनिधि होकर भी साम्प्रदायिक हिन्दुओं की तरफ से उस कार दस्तखत करने वाले होते कौन थे? दूसरी ओर, 'सब मुसल-ान मिल कर' का मतलब था राष्ट्रवादी मुसलमान साम्प्रदायिक ुस्लिमों से मिलकर; किन्तु राष्ट्रवादियों का साम्प्रदायिकों से समझौता ाने का मतलब था कि या तो राष्ट्रवादी अपना राष्ट्रीय दृष्टिकोण छोड़ ाम्प्रदायिक दृष्टि अपनाते या सब साम्प्रदायिकों को अपने में बदल कते। पहली स्थापना अवाञ्छित और दूसरी असम्भव थी। फिर ाम्प्रदायिक मुसलमान स्वयं सच्चे भी तो न थे। उनमें से अधिकांश ो एक तीसरी शक्ति (अंगरेज) के खरीदे या भड़काये लोग थे।

राष्ट्रवादी समझौते द्वारा उन्हें अधिक से अधिक जितना देने को राजी होते, अंगरेज—जिसके हाथ में कि असल लेने-देने की शक्ति थी—उसके अगले क्षण उन्हें उससे भी अधिक देने का प्रलोभन दे अपने साथ फोड़ लेने में समर्थ था। वही हुआ भी। गांधी ने दिल्ली में राष्ट्रीय मुस्लिमों की उपेक्षा कर अराष्ट्रवादियों और साम्प्रदायिकों से समझौता करने की चेष्टा की, पर उनकी बढ़ी हुई अनुचित और असम्भव माँगों के कारण उन्हें सर्वथा निराश होना पड़ा। सुभाष वसु ने अपने ग्रन्थ "भारतीय संघर्ष" (दि इण्डियन स्ट्रगल) में लिखा है कि उस मौके पर उन्होंने महात्मा गांधी को सुझाया कि केवल राष्ट्रवादी योद्धा दल के मुस्लिमों को ही अपने साथ ले निर्णय करें, अराष्ट्रवादियों की बिलकुल उपेक्षा कर दें, उनसे बात भी न करें। डा० अन्सारी और तसद्दुक अहमद शेरवानी आदि राष्ट्रीय मुस्लिमों ने भी गांधी से कहा कि यदि वे पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन के आधार पर साम्प्रदायिक मुस्लिमों से कोई समझौता करेंगे तो राष्ट्रवादी मुस्लिम को दोनों—गांधी और साम्प्रदायिक मुस्लिमों—का विरोध करना पड़ेगा।

पर, गांधी दुर्भाग्य से इस प्रश्न को ठीक से कभी समझ न सके; उनकी राष्ट्रकल्पना की अस्पष्टता ही इसका एकमात्र कारण थी। वे विभिन्न सम्प्रदायों की पृथक् और स्थायी सत्ता मान राष्ट्र को उनके समझौते से बनी इकाई कल्पित करते, जड़ की एकता की कल्पना न कर पाते थे। वे राष्ट्रीयता के इस बुनियादी सिद्धान्त की अनुभूति ठीक से कभी न कर पाते कि एक स्थान में या प्रदेश में पीढ़ियों से रहने वाली जनता के आर्थिक और राजनीतिक हित समान होने से उसमें अपनी संहत एकता की भावना ही राष्ट्रीयता है, उसी के विकास के आधार पर राष्ट्र की दृढ बुनियाद पड़ सकती है। धर्मों या सम्प्रदायों की ऐक्यभावना का सामाजिक इकाई का रूप ले लेना राष्ट्रीयता के लिए सबसे अधिक घातक वस्तु है। सम्प्रदायों को सामू-

हिक जीवन की इकाई बनाना वैसे भी एक अत्यन्त प्रगतिविरोधी बात थी; क्योंकि सम्प्रदायों या जातों की सामूहिक एकता की कल्पना मध्यकालीन अन्धविश्वासों पर स्थित है; उन्हें सामूहिक जीवन की स्थायी इकाइयों के रूप में स्वीकार करना उन अन्धविश्वासों को स्थायी रूप देना था।

गांधी ने सुभाष से पूछा कि पृथक् निर्वाचन मानने पर उन्हें आपत्ति क्या थी, उन्हें भड़का कर लड़ाने वाली तीसरी शक्ति (अंगरेज) किसी तरह चली जाय तो विभिन्न सम्प्रदाय परस्पर मेलजोल से रह सकेंगे। सुभाष ने जवाब दिया—"यह राष्ट्रीयता के बुनियादी सिद्धान्तों के विरुद्ध है, इसके साथ तो यदि स्वराज्य मिलता हो तो भी न लेना चाहिए।" डा० अन्सारी और शेरवानी ने, जो तभी वहाँ आये थे, कहा—पृथक् निर्वाचन न सिर्फ राष्ट्र के लिए अपि तु उस सम्प्रदाय के अपने हितों के लिए भी घातक है। तब गांधी ने उनके कहने और सुभाष वसु के दबाव डालने पर पृथक् निर्वाचन का सिद्धान्त उस समय स्वीकार न किया। पर आगे वे सदा उस स्थिति पर स्थिर रह सम्प्रदायवादियों के मुकाबले में राष्ट्रवादी मुसलमानों को दृढतापूर्वक आगे बढ़ाने की नीति को न बरत सके, क्योंकि उनकी और उनके चारों ओर जिस तरह के लोग प्रायः जमा रहते थे उन सब की प्रेरणा और दृष्टि मध्यकालिक रहस्यवादी धार्मिक संत-सुधारकों वाली थी। वे जनता की मौलिक रासायनिक एकता के विकास पर कभी बल न दे सम्प्रदायों के पारस्परिक समझौतों पर निर्भर यान्त्रिक मिश्रण की सी एकता पर राष्ट्र को खड़ा करने की दिशा में प्रयत्न कर रहे थे; इससे समस्या सुलझने के बजाय उलटा उलझी ही। इसके मुकाबले में यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रवादी क्रान्तिकारियों को साम्प्रदायिकों का भी विश्वास गांधीवादियों की अपेक्षा सदा अधिक और स्थायी भाव से मिलता रहा, जैसा कि हम ऊपर अर्जुनलाल सेठी

के उदाहरण में देख चुके हैं। स्वयं मौलाना मुहम्मद अली, शौकत अली आदि पुराने खिलाफती और बाद के कट्टर साम्प्रदायिक मुस्लिमों का सम्बन्ध भी गांधी के बजाय अर्जुनलाल सेठी आदि से अन्त तक अधिक अच्छा और घनिष्ठ बना रहा था।

मार्च के अन्त में कराची में कांग्रेस अधिवेशन होने वाला था; जहाँ गांधी-इरविन-समझौते की अन्तिम स्वीकृति और पुष्टि की जाती। अंगरेजी सरकार ने उससे ठीक पहले, जब गांधी वायसराय से आश्वासन प्राप्त करने के बाद कराची जाने को रवाना हो चुके थे, २३ मार्च को भगतसिंह, सुखदेव आदि को एकदम चुपचाप फाँसी पर लटकवा दिया और उनकी लाशें अन्त्येष्टि क्रिया के लिए भी उनके रिश्तेदारों को न सौंप किसी गुप्त तरीके से नष्ट करवा दीं। उन लाशों के साथ अन्तिम समय उनको नष्ट करने के लिए किये गये घिनौने बर्ताव के समाचारों से जनता में अत्यधिक रोष और अपनी असहाय अवस्था का विचार फैला। अनेक युवकदलों ने गांधी का स्वागत कराची पहुँचने पर उन्हें काले फूल और काली मालाएँ भेंट कर किया। अधिकांश राष्ट्रवादियों और क्रान्तिकारियों ने यह स्पष्ट अनुभव किया कि कांग्रेस का गांधीवादी नेतृत्व समूचे राष्ट्र का नहीं, सिर्फ एक दल विशेष का, अपने दल के हितों की ही चिन्ता करने वाला है।

कांग्रेस के भीतर गांधी-इरविन-समझौता बिना किसी विशेष विरोध के स्वीकृत हो गया। गांधी को गोलमेज-सभा में भारत के राष्ट्रीय पक्ष का एकमात्र प्रतिनिधि नियत किया गया। कुछ युवक गान्धी से असंतुष्ट हो अपना अलग संघटन खड़ा करने की सोचने लगे, पर सुभाषचन्द्र वसु ने उन्हें समझाया कि ऐसे समय विरोध करने से लाभ अंगरेजों का होगा, जिन्होंने कि राष्ट्रीय दल में फूट डालने को जान-बूझकर ऐन उसी मौके पर भगतसिंह आदि को फाँसी दे उनके शवों के साथ वैसा घृणित अमानुषिक बर्ताव किया था। देसी राज्य प्रजा-परिषद् ने भी गोल मेज

सम्मेलन के लिए इस समय अपनी तरफ से रियासती प्रजा का भी प्रति
निधि गांधी को ही बनाकर भेजा।

किन्तु बंगाल की जेलों में नजरबन्द क्रान्तिकारियों ने उस सम
झौते को मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने वायसराय लार्ड इरविन
पत्र लिखा कि गांधी के साथ हुए उनके समझौते को मानने के लि
क्रान्तिकारी बाधित नहीं हैं। अंगरेजों ने बंगाल के गवर्नर की माप
उनसे भी बातचीत चलाई, पर पुलिस के कारिन्दों की मार्फत ही, जिन
बात करना क्रान्तिकारियों ने अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा। अतः व
चर्चा अधिक दूर तक न बढ़ सकी।

भगतसिंह की मृत्यु के समाचार से देश में सब जगह व्यापक हड़ता
हुई। कानपुर में उसी सिलसिले को लेकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया
उसे शान्त करने के प्रयत्न में "प्रताप" के यशस्वी सम्पादक और युक्तप्रा
व राजस्थान आदि के सच्चे राष्ट्रीय नेता गणेशशंकर विद्यार्थी ने अप
आहुति दी।

अप्रैल में लार्ड इरविन का कार्यकाल समाप्त हुआ, और विलिंगड
ने आकर भारत के वायसराय का काम सम्हाला। उसने आते ही गांध
इरविन-समझौते की शर्तें तोड़नी आरम्भ कर दीं। भारत की राष्ट्रीय द
से उस समझौते में अनेक त्रुटियाँ रहते हुए भी उससे बरतानवी राज व
प्रतिष्ठा में काफ़ी बट्टा लगा था। भारत के एक नेता का अंगरे
वायसराय के साथ बराबरी का समझौता करना ही एक ऐसी बात
जिससे भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी थी। पर गांधी जब सब राष्ट्रीय दलों व
अपने साथ न रख कर स्वयं एक दल के प्रतिनिधि बन गये तब अंगरेज
ने देखा वे उन्हें दबा सकते और उस समझौते को तोड़ सकते हैं। गांध
ने मामला सालिस-सुपुर्द करना चाहा, पर आखिर उनके पास अंगरेज
के मुकाबले में समझौते की शर्तें पालन कराने को शक्ति क्या थी
विलिंगडन ने मामला सालिस सुपुर्द करने की बात न मानी; गांधी

गोलमेज सम्मेलन में शामिल होने से इन्कार कर रूठने का सा नाटक किया। विलिंगडन ने थोड़ा आँसू पोंछने जैसा आश्वासन दे, सम्मेलन की तिथि तक इंग्लैण्ड पहुँचाने वाले अन्तिम जहाज को रोक किसी तरह उन्हें रवाना कर दिया। समझौता पीछे टूटता ही गया। उधर गांधी गोलमेज सम्मिलनी में जाकर भी कोई मतलब की बात वहाँ न कर सके। वे वहाँ अकेले गये, जब कि अंगरेजों ने उनके मुकाबले पर भारत की समस्त प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जमात वहाँ पहले से इकट्ठी कर रक्खी थी। गांधी वहाँ यदि देश में राष्ट्रवादियों की वास्तविक शक्ति के अनुपात में अपने दूसरे साथियों और सलाहकारों के पूरे दलबल के साथ तैयार होकर गये होते तो अंगरेजों द्वारा इकट्ठे किये गये उस भानमती के कुनबे की आवाज दबा सकते। पर अकेले वहाँ जाकर उन्होंने अपने को अंगरेजों के उस जाल में जिसे उन्होंने साम्प्रदायिक और विशेष हितों के हामियों और पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग करने वालों को बड़ी संख्या में एकत्र कर बिछाया था, चारों ओर से फँसा पाया। साथ में अपना कोई अच्छा सलाहकार दल न रहने से वहाँ उनके व्यक्तिगत प्रशंसकों और निरर्थक बातों में उनकी चाटुकारिता करने वाले अंगरेज स्त्री-पुरुष-दल ने उन्हें घेर लिया। वही उनकी बहुत सी बातों में अब सलाहकार का काम भी देने लगा और उनकी शक्ति बाहरी कार्यक्रमों में इतनी उलझाये रखने लगा कि राजनीतिक बातचीत में दूसरे के घात-प्रतिघातों को समझने और उनका काट पहले से सोच रखने के लिए अपने दूसरे देशवासियों से सलाह-मशविरा करने आदि का उन्हें समय ही न मिल पाता।

उधर अंगरेजों ने अपनी पसन्द के जिन हिन्दुस्तानियों को वहाँ इकट्ठा कर रक्खा था, उन्होंने अपने-अपने सम्प्रदाय के हितों की सुरक्षा के नाम पर आपस में एक दूसरे के खिलाफ वहाँ ऐसी किचकिच मचाये रक्खी कि गांधी स्वराज्य के किसी दूसरे मामले पर अपने या राष्ट्रीय पक्ष

के विचार दृढतापूर्वक रखने का कोई अवसर ही न पा सके। अल्पमत का प्रश्न आपस में न सुलझा तो अंगरेज प्रधान मंत्री रैम्जे मैकडानल्ड ने बन्दरबाँट नीति के अनुसार अपने आप को उनके बीच समझौता कराने वाले स्वयम्भू पंच के रूप में प्रस्तुत कर भारतीय जनता के हर सम्प्रदाय और फिरके को पृथक् निर्वाचन और विशेष प्रतिनिधित्व के तोहफे बाँटने की तजवीज की। अछूतों को भी पृथक् निर्वाचन दिया गया। गांधी ने इसे जिन्दा लाश चीरना कहा और उसमें अपना सहयोग देने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा, अछूत हिन्दू समाज के वास्तविक और अविभाज्य अंग हैं; एक मुसलमान, ईसाई या सिक्ख हमेशा मुसलमान ईसाई या सिक्ख बनकर रह सकता है, पर अछूत का सदा अछूत बनकर रहना सर्वथा अवांछित है; अतः अछूत को भी उनके समान पृथक् निर्वाचन का अधिकार देने का अर्थ होगा अछूतपन को समाज में स्थिर करना; इसकी अपेक्षा तो मैं हिन्दू समाज का सर्वथा मर जाना पसन्द करूँगा; मैं आवश्यक हुआ तो इसके लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी इस तरह के किसी प्रयत्न का विरोध करूँगा।

रियासती प्रजा के अधिकारों के प्रश्न पर भी गांधी को सबसे बड़ी बाधा का सामना करना पड़ा। बीकानेर महाराजा आदि राजाओं के प्रतिनिधियों ने अपने आपको अपनी प्रजाओं का एकमात्र प्रतिनिधि कह संघ-परिषद् में प्रजाओं के चुने हुए प्रतिनिधियों की माँग का उग्रतम विरोध किया और इसके लिए बरतानवी सम्राट् के साथ हुए अपने समझौतों और सन्धियों की दुहाइयाँ दीं। पहली गोलमेज-सभा में राजाओं ने बड़ी देशभक्तिपूर्ण बातें की थीं, पर अब जनपक्ष के सम्मुख आते ही वे अपने परम्परागत विशेषाधिकारों की, जिन्हें उन्होंने १८१८ में अपनी प्रजा की स्वाधीनता बेच विश्वासघात के रूप में अंगरेजों से खरीदा था, दुहाई देना आरम्भ किया।

गोलमेज-सम्मिलनी का द्वितीय अधिवेशन इस प्रकार भारतीयों की आपस की इस फूट का प्रदर्शन चार मास तक कराने के बाद असफलता में ही समाप्त हो गया। गांधी वहाँ से निराश होकर २८ दिस० १९३१ के दिन वापिस भारत पहुँचे। पर उनके यहाँ पहुँचने के पूर्व ही यहाँ जनता का अंगरेजों से फिर संघर्ष ठन चुका था। गांधी ने बम्बई पहुँचते ही वायसराय से मिलने का प्रयत्न किया, पर लार्ड विलिंगडन ने उसे बिल्कुल अस्वीकार कर दिया। १९३० में आन्दोलन एकाएक शुरू होने पर अंगरेज तैयार न थे, अतः १९३१ के शुरू में गांधी से समझौता कर एक तरह से समय लिया था। इस बीच उन्होंने दमन की पूरी तैयारी कर अब स्वयं अपने से ही कांग्रेस को युद्धदान दिया था। १९३२ का साल शुरू होते ही दमनकारी चार आर्डिनेंसों का उपहार उन्होंने भारत को भेंट किया और कांग्रेस कार्यसमिति को शुरू में ही एक गैरकानूनी संस्था करार दे गांधी आदि सब नेताओं को एकदम पकड़ कर यरवडा जेल में वापिस भेज दिया। जनता के जान और माल पर पूरा अधिकार उन्होंने अब स्थानीय शासकों और उच्च पुलिस अधिकारियों की इच्छा पर छोड़, सत्याग्रही और कांग्रेस में भाग लेने या उनकी सहायता करनेवालों की सम्पत्ति की जब्ती आदि के फरमान निकाल आन्दोलन को एक महीने के भीतर-भीतर कुचल कर रख दिया। आन्दोलन तब गुप्त रूप से चलाया जाने लगा।

राजस्थान में भी आन्दोलन शुरू होते ही अजमेर, ब्यावर आदि में कांग्रेस तथा उससे सम्बद्ध नौजवान-भारत-सभा, हिन्दुस्तानी सेवादल आदि तमाम संस्थाओं के कार्यकर्ताओं, सेठी, पथिक, हरिभाऊ उपाध्याय आदि सब सार्वजनिक और राजनीतिक नेताओं को एकदम गिरफ्तार कर उन संस्थाओं की सम्पत्ति आदि सब एक साथ जब्त कर ली गयी। आन्दोलन का संचालन तब मुख्यतः हिन्दुस्तानी-सेवादल और नौजवान-भारत-सभा

के युवक सदस्यों, वीरसिंह महता, धर्मेन्द्र, शिवहरे आदि द्वारा गुप्त रूप से संघटित होकर चलाया जाता रहा।

आन्दोलन की गूँज इस बार देशी रियासतों में भी सर्वत्र हुई। १९३० के आन्दोलन में जो अनेक युवक रियासतों से आ आकर अजमेर में जेल गये थे, १९३१ में हुए गांधी-इरविन समझौते के कारण छूट कर उन्होंने अपने घरों पर जाकर वहाँ जागृति के बीज बिखेरने शुरू किये थे। गोलमेज-सम्मिलनी के दूसरे अधिवेशन की विफलता के बाद अंगरेजों ने रियासतों के राजाओं को उनकी संधियों की रक्षा का पूरा आश्वासन दे अपनी तरफ फोड़ने का जतन किया था। दूसरी तरफ, जनता अपने स्वाभाविक अधिकारों को राजाओं द्वारा इस प्रकार विदेशी से मिल ठुकराने और कुचलने के ये प्रत्यक्ष षड्यंत्र देख राजाओं के प्रति अपनी परम्परागत श्रद्धा-भावना खो अब उनके विरुद्ध सीधा-सीधा प्रचार करने लगी और उत्तरदायी शासन की स्पष्ट माँग रखने लगी थी। मेवाड़ में १९२६ का समझौता रियासत द्वारा पालन न होने के कारण १९३१ में फिर बीजोल्यां का सत्याग्रह शुरु हो गया था। १९३२ के अप्रैल-मई में उदयपुर की जनता ने रियासत द्वारा लगाये कुछ नये करों तथा रियासत के तात्कालिक शासनाधिकारियों के जनता के साथ किये जाते दुर्व्यवहार के प्रति क्षुब्ध होकर एक जोरदार प्रदर्शन किया। लोग हजारों की संख्या में महाराणा के महलों के सामने एकत्र हो गये। दीवान सुखदेवप्रसाद, धर्मनारायण आदि मंत्री जनता पर गोली चलवाने को उत्सुक थे, पर महाराणा ने परिस्थिति की विकटता समझ रियासत के पुराने मुत्सद्दी वर्ग की सहायता से समझदारी से काम लिया। जनता पर लाठी चली। तब नगर वालों ने स्वयं सात दिन तक नगर में पूरी हड़ताल रख अपनी संघटित शक्ति का परिचय दिया। अन्त में रियासत को झुकना पड़ा। जोधपुर में गांधी-इरविन-समझौता होने पर जयनारायण व्यास आदि भी १९३१ में जेल से छूट आये थे। उन लोगों के प्रयत्न से जोधपुर में १९३१ में युवक-संघ

और बालभारत-सभाएँ स्थापित हुईं, जो शीघ्र ही मारवाड़ के कस्बे-कस्बे में फैल गईं। तभी अक्टूबर में पुष्कर में चांदकरण सारडा के सभापतित्व में मारवाड़-राज्य-प्रजा-परिषद् का अधिवेशन हुआ। अभयमल महता नामक एक युवक जो सरकारी नौकर थे, उस परिषद् में दर्शक के रूप में गये थे। उन्हें तुरत नौकरी से बरखास्त कर दिया गया। आन्दोलन आरम्भ होते ही जयनारायण और गणेशलाल व्यास, मानमल और अभयमल महता आदि अनेक युवक कार्यकर्ता फिर अजमेर आकर सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए। छगनलाल चौपासनीवाला को २६ जनवरी को स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर जोधपुर में राष्ट्रीय झण्डा फहराने पर पकड़ा और बुरी तरह पीटा गया। अचलेश्वर शर्मा को नजरबन्द किया गया।

१९३१ में जयपुर में भी प्रजामंडल कायम हुआ। जैसलमेर में भी रघुनाथसिंह महता नामक युवक को जो राजनीतिक चेतना फैलाते थे, गिरफ्तार कर नजरबन्द किया गया। बीकानेर में सीताराम सर्राफ आदि आठ युवकों पर कांग्रेसी नेताओं से बाहर जाकर सम्पर्क रखने के अपराध में १९३२ में राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया जो दो साल चला और अन्त में सात को ६ मास से लेकर ३ बरस तक की कठोर जेल की सजा दी गयी।

मई में बम्बई में हिन्दू-मुसलिम दंगा हुआ। तभी अलवर में भी मेव उपद्रव शुरू हुआ जिसने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया। मेवों को दबाने को रियासत में अंगरेजी फौजें बुलाई गयीं, पर महाराजा जो कुछ स्वतन्त्र वृत्ति का था, अंगरेजों की शर्तों पर रियासत का नियन्त्रण अंगरेज अधिकारियों को सौंपने के लिए तैयार न हुआ। पर अगले वर्ष ही वहाँ पर कृषक-विद्रोह समस्या उठ खड़ी हुई और महाराजा को तख्त गद्दी से सदा के लिए हाथ धोना पड़ा।

जून १६३२ तक अजमेर में वीरसिंह महता आदि युवक भी गिरफ्तार हो गये और आन्दोलन का वेग सरकारी दमन के सामने धीरे-धीरे बिलकुल ठंडा पड़ गया।

अंगरेज प्रधानमंत्री मैक्डानल्ड जो साम्प्रदायिक निर्णय देने वाला था, उसमें अछूतों को भी १० वर्ष तक पृथक् निर्वाचन के आधार पर विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया था। गांधी ने १८ अगस्त को जेल में रहते भी इस प्रश्न को लेकर आमरण भूखहड़ताल की धमकी दी और अछूतों से सम्मिलित निर्वाचन के आधार पर १० वर्ष के लिए विशेष प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर समझौता कर साम्प्रदायिक निर्णय के मसविदे में संशोधन कराया। अछूतों के लिए उन्होंने हरिजन शब्द का प्रयोग चलाया जो अन्धे को प्रज्ञाचक्षु कहने के समान था। देश में छुआछूत-निवारण और हरिजनों की उन्नति के लिए हरिजन-सेवा-संघ की स्थापना की गयी। इसके बाद ८ मई को २१ दिन का उपवास आरम्भ कर गांधी जेल से छूटे। उन्होंने कांग्रेस से तीन महीने के लिए सत्याग्रह स्थगित करा वायसराय लार्ड विलिंगडन से समझौते की बातचीत फिर से चलाने का जतन किया, पर विलिंगडन ने बात करने से इन्कार किया। तब गांधी ने सामूहिक सत्याग्रह रोककर आवश्यकता हुई तो सिर्फ व्यक्तिगत सत्याग्रह का ही आश्रय लेने की बात की। पर विलिंगडन अब उनसे पूरा आत्म-समर्पण कराना चाहता था।

सुभाषचन्द्र वसु ने जो उन दिनों १४ मास की जेल काटने के बाद स्वास्थ्य खराब होने के कारण जेल से छोड़ यूरोप में निर्वासित कर दिये गये थे, वहाँ विट्ठलभाई पटेल से मिल एक सम्मिलित वक्तव्य निकाला कि गांधी का नेतृत्व पूर्णतः असफल रहा, अतः देश को अब अधिक युक्तिसंगत मार्ग ग्रहण करने की आवश्यकता है। तभी भारत में कांग्रेस-समाजवादी-दल के नाम से एक दल लगभग उन्हीं कारणों को लेकर कांग्रेस के भीतर ही अलग से बना।

संधि-चर्चा का प्रयत्न असफल होने पर गांधी व्यक्तिगत सत्याग्रह कर फिर जेल गये। उन्हें एक साल की सजा दी गई। पर उन्होंने अब हरिजन-कार्य के लिए जेल में भी सुविधा पाने के लिए भूख-हड़ताल आरम्भ कर दी। आन्दोलन क्षीण पड़ चुका था। अंगरेजों ने अब गांधी की भूख-हड़ताल से व्यर्थ खतरा न उठाना चाहा, अतः २३ अगस्त १९३३ को उन्हें छोड़ दिया। गांधी ने साल भर सिर्फ हरिजन कार्य में ही लगाने की घोषणा कर देश का दौरा आरम्भ किया। वे दौरे में अजमेर भी आये। हरिजनोद्धार की लहर तब राजस्थान में भी आयी। रामनारायण चौधरी आदि ने वहाँ हरिजन-सेवा-संघ स्थापित किया। अजमेर के पास थोली गाँव में हरिजन-सेवा-आश्रम बना। वे और उनके साथी राजस्थान की विभिन्न रियासतों में दलितों और भील आदि जातियों में शिक्षा-प्रचार और सामाजिक सेवा आदि के कार्यों में जुट गये। वीरसिंह महता ने अर्जुनलाल सेठी से प्रेरणा पाकर अजमेर के पास कल्याणीपुरा गाँव को अपना केन्द्र बना मेर, मेहरात, गूजर आदि योद्धा जातियों तथा चमार, बलाई आदि दलित वर्गों में जागृति फैलाने और उनकी पंचायतें बनाने का काम जारी रक्खा।

महात्मा गांधी का व्यक्तिगत सत्याग्रह उस बीच ठंडा पड़ चुका था। ६ अप्रैल १९३४ को उन्होंने स्वराज्य के लिए सत्याग्रह की लड़ाई बिल्कुल बंद कर कांग्रेस को आगामी चुनावों में भाग लेने की तैयारी का आदेश दिया। तब अंगरेज सरकार ने भी सत्याग्रह के राजबन्दियों को धीरे-धीरे छोड़ दिया। राजस्थान के सार्वजनिक जीवन में क्रान्तिमार्ग और गांधीवाद का पुराना संघर्ष जेलों में गांधीवादी नेताओं द्वारा अपने को साथी कार्यकर्त्ताओं से अलग कर अधिकारियों से विशेष बरताव प्राप्त करने के प्रयत्नों के कारण परस्पर खाई चौड़ी हो जाने से अधिक प्रकट और कटुतर रूप में फिर शुरू हुआ। स्थानीय जनता में क्रान्तिवादियों का प्रभाव, १९३२ के संघर्ष को चलाने में मुख्य रूप से उन्हीं का भाग

होने के कारण अधिक था। अतः अजमेर प्रान्तीय कांग्रेस के चुनावों में क्रान्तिमार्गियों की जीत होने पर लगातार एक के बाद एक तीन-तीन बार हुए चुनावों को ऊपर से हर बार अनियमित ठहरा क्रान्तिवादियों को शक्ति में आने से बराबर रोकने का प्रयत्न किया गया।

उधर अंगरेजी पार्लिमेंट में विचारार्थ पेश होने के लिए नये प्रस्तावित विधान मसविदे का खर्रा (श्वेत पत्र) प्रकट हो गया। कांग्रेस कार्यसमिति ने विधान को तो असन्तोषजनक और अस्वीकार्य कहा, पर साम्प्रदायिक निर्णय को, जिसमें दस बरस के लिए साम्प्रदायिक पृथक् निर्वाचन और विशेष प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था, मुस्लिम साम्प्रदायिकों की प्रसन्नता का ख्याल रखके न स्वीकार्य और न अस्वीकार्य घोषित किया। राष्ट्रीय मुस्लिम भी तब राष्ट्रीयता के लिए अत्यन्त विघातक उस निर्णय का, जिसमें मुस्लिमों को राष्ट्रीय दल से फोड़ रखने के लिए रियायतें दी गई थीं, १९३१ की तरह स्पष्ट और दृढतापूर्वक विरोध करने को आगे आने का साहस न कर सके। पण्डित मदनमोहन मालवीय आदि नेताओं ने कांग्रेस महासमिति के बम्बई अधिवेशन में उसका खुलकर विरोध किया, पर कांग्रेस का उच्च नेतृत्व अपने को सब दलों का प्रतिनिधि कह अपनी उस उपहासास्पद नीति का पोषण करता रहा। कांग्रेस का साधारण अधिवेशन अक्तूबर १९३४ में बम्बई में हुआ। वहाँ राजस्थान प्रान्तीय कांग्रेस के झगड़े ने विकट रूप धारण किया। बम्बई और महाराष्ट्र के मजदूर तथा दूसरे क्रान्तिकारी दलों ने भी अजमेर के युवकदल के साथ मिल कांग्रेस-पण्डाल के सम्मुख उन्हें प्रतिनिधियों के रूप में अन्दर न जाने देने पर धरना दिया। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में भी मालवीय, अणे, अर्जुनलाल सेठी आदि ने साम्प्रदायिक निर्णय के प्रस्ताव के संबंध में कांग्रेस के उच्च नेतृत्व की

नीति का जोरदार विरोध किया। मालवीय और अणे ने स्वाधीन प्रजातंत्र-दल नाम से अपना एक स्वतंत्र दल संघटित कर नये विधान और साम्प्रदायिक निर्णय दोनों का विरोध करने का भी निश्चय किया।

बंगाल में क्रान्तिकारियों का १९३१ में सरकार से समझौता न हो सकने से त्रासवादी कार्यों का सिलसिला इस बीच बराबर जारी था। उत्तर भारत में भी भगतसिंह आदि के बाद चन्द्रशेखर आजाद के प्रयत्नों से त्रासमार्गी दल पुनः संघटित हो गया था, जिसका बड़ा केन्द्र इस समय राजस्थान में भी था। उनका संपर्क यहाँ सेठी, पथिक आदि पुराने क्रान्तिवादियों से हुआ, जो १९१४–१५ के बाद से मुख्यतः अपनी शक्ति जनसंघटन और खुले जनसंघर्ष के कार्यों में ही लगाते रहे और त्रासमार्ग के पक्षपाती न थे। चन्द्रशेखर आजाद भी उनके सम्पर्क के कारण अन्तिम दिनों में त्रासमार्ग की निरर्थकता को समझ गये थे, जिससे १९३१ में गांधी इर्विन समझौते की बातचीत के समय वे अजमेर से प्रयाग जा कांग्रेस के तात्कालिक सभापति जवाहरलाल नेहरू से भी मिले और उनसे कहा कि समझौते के समय क्रान्तिकारी कैदियों और कष्टभोगियों के सम्बन्ध में भी वे कुछ करें। पर जवाहरलाल ने कुछ भी बोलने या मदद करने से इनकार कर दिया। इसके बाद इलाहाबाद में पुलिसदल से हुई मुठभेड़ में आजाद का वीरता-पूर्वक लड़ते हुए देहान्त हो जाने तथा महात्मा गांधी द्वारा इरविन से समझौता करने तथा भगतसिंह आदि की प्राणरक्षा के लिए प्रयत्न न करने से गांधीवादी नेतृत्व में युवकों का विश्वास प्रायः न रहा और दूसरा भी कोई उचित नेतृत्व उन्हें ठीक से न मिला अतः वे त्रासवाद की ही तरफ फिर आकर्षित होते गये। अजमेर में गवर्नमेंट कालिज के बापट-नामक एक विद्यार्थी ने चीफ कमिश्नर को १९३१ में गोली मारने का जतन किया। वह गिरफ्तार कर लिया गया।

१९३२ में कांग्रेस आन्दोलन की गति अंगरेजी दमन और त्रास के

कारण जब कुण्ठित हो गयी, तब इन्हीं युवकों ने प्रतित्रास और पुलिस को छकाने आदि में अपनी दक्षता प्रकट कर जनता की संघर्ष-भावना और नैतिकता को नीचे गिरने से रोका। शुरू १९३३ में मेरठ षड्यन्त्र के मुकदमे का फैसला हुआ जिसमें शौकत उस्मानी आदि को लम्बी सजाएँ दी गयीं। भगतसिंह वाले प्रथम लाहौर षड्यन्त्र के बाद १९३२–३४ में लाहौर और दिल्ली में षड्यन्त्रों के मुकदमे चले, जिनमें रुद्रदत्त आदि अजमेर के भी कुछ युवक फँसे। कुछ जोशीले पंजाबी युवकों ने १९३५ की गर्मियों में अजमेर में राजस्थान पुलिस के उप-प्रधान एक डोगरा अधिकारी को, अपना बदला चुकाने के लिए गोली मार दी। राजस्थान के क्रान्तिदल के, जो मुख्यतः किसी बड़े कार्य के लिए अवसर की प्रतीक्षा में चुपचाप तैयारी में लगा था, मुख्यों के इस काण्ड के विरुद्ध रहने पर भी कुछ मनचले स्थानीय लोगों ने इस कार्य में उनकी सहायता की थी। अंगरेजी सरकार ने जो इस बीच बंगाल, पंजाब आदि में त्रास-कार्यों को अपनी पूरी शक्ति से दबा देने का जतन कर रही थी, इस मौके का लाभ उठा अजमेर में कार्य करनेवाले गुप्त या प्रकट सब युवक कार्यकर्त्ताओं को फाँस एक बड़ा राजनीतिक षड्यंत्र का मुकदमा चलाने की कोशिश की। उस मामले में तो क्रान्तिकारी दल की पहले से कर ली गई सावधानी के कारण उसे अधिक सफलता न मिली, पर उस बहाने अजमेर में १९१४–१५ से पनपते हुए अखिल राजस्थानीय कार्य-प्रवृत्तियों के केन्द्र को पूर्णतः बिखेर देने में उसने सफलता पा ली। १९३०–३१ से राजस्थान के विभिन्न प्रदेशों से आनेवाले उत्साही युवक कार्यकर्त्ताओं की जो पौध अजमेर में तैयार हो रही थी वह इसके बाद बिखर कर शीघ्र ही अपने-अपने प्रदेशों और रियासतों में सार्वजनिक जीवन का विकास करने को चली गयी।

जयपुर में प्रजामण्डल की स्थापना १९३१ में ही हो चुकी थी। हीरालाल शास्त्री और जमनालाल बजाज के प्रयत्नों से १९३६ में उसका

पुनः संघटन आरम्भ हुआ। सीकर में १९३५-३६ में किसानों का आन्दोलन उठा। १९३७ में सीकर के राजकुमार को महाराजा द्वारा जबरदस्ती विलायत पढ़ने भेजने के मामले को लेकर जनता और ठिकानेदार का रियासत जयपुर से झगड़ा चला, जिसमें जनता द्वारा युद्ध की सी परिस्थिति पैदा कर दी गयी। तब प्रजामण्डल ने जयपुर से सफलतापूर्वक बीच-बिचाव किया। इस प्रकार जयपुर राज-प्रजामंडल का प्रभाव बहुत बढ़ा।

जोधपुर में प्रजामण्डल की स्थापना १९३४ में हुई थी। १९३६ में मानमल और अभयमल महता तथा छगनलाल चौपासनीवाला उसके प्रमुख कार्यकर्ता थे। मई १९३६ में रणछोड़दास गट्टाणी की अध्यक्षता में नागरिक स्वतंत्रता-संघ नामक एक दूसरी संस्था भी प्रजामण्डल के ही नेतृत्व में स्थापित हुई। सितम्बर १९३६ तक कृषकों और विद्यार्थियों में जागृति फैलाने के प्रयत्न करने के कारण मानमल, अभयमल आदि साल भर के लिए पकड़कर नजर बन्द कर दिये गये। तब अचलेश्वरप्रसाद शर्मा ने अजमेर से जाकर प्रजामण्डल का काम करना शुरू किया। नवम्बर १९३७ में उन्हें भी गिरफ्तार कर प्रजामण्डल और स्वतन्त्रतासंघ को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

राजस्थान में राजपूत रियासतों की अपेक्षा इन्दौर, गवालियर आदि मराठा रियासतों में नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक जीवन आरम्भ से ज्यादह था सो हम पीछे भी कई बार देख चुके हैं। इन्दौर में प्रजा-परिषद् नाम की एक संस्था १९२१ से ही थी। १९३४ में वहाँ राज्य-कांग्रेस-समिति स्थापित हुई और १९३५ में प्रजा-परिषद् का पुनः संघटन कर प्रजामण्डल स्थापित हुआ, जिसने उसी साल इन्दौर नगर-सभा (म्युनिसिपैलिटी) के चुनावों में भी सफलता प्राप्त की। अलवर में कांग्रेस-समिति १९३३ में स्थापित हुई।

अंगरेजी पार्लिमेंट ने भारत के नये संविधान का मसविदा १६३५ में स्वीकृत कर लिया। लार्ड विलिंग्डन १६३६ के अप्रैल में भारत से चला गया और लार्ड लिनलिथगो, जिसने उक्त संविधान तैयार करने वाली समिति में मुख्य भाग लिया था, नये शासन-संविधान को लागू करने के लिए भारत का वायसराय बनाकर भेजा गया। तभी ८ अप्रैल को सुभाषचन्द्र वसु निर्वासन की आज्ञा की अवहेलना कर भारत वापिस आये; उन्हें फिर जेल में बन्द कर दिया गया। शुरू १९३७ में नये संविधान के आधार पर प्रान्तीय विधान-सभाओं के नये चुनाव हुए। कांग्रेस दल ६ प्रान्तों में बहुत बड़े बहुमत से चुनाव में जीत कर आया। बाकी पाँच प्रान्तों में से दो—सीमाप्रान्त और आसाम—में भी सबसे बड़ा दल उन्हीं का था।

देश के सामने अब यह प्रश्न आया कि कांग्रेस प्रान्तीय स्वशासन की नयी योजना के अनुसार पदग्रहण करे या नहीं, क्योंकि वह १६२० से ही अपनी नीति बराबर सरकार से असहयोग रखने की बर्तती आई थी। अंगरेजों ने सुभाषचन्द्र वसु को, जो पदग्रहण के पहले भी पक्षपाती थे, १७ मार्च को दिल्ली में इस विषय की चर्चा छिड़ने से पहले छोड़ दिया। कांग्रेस ने पदग्रहण के पूर्व अंगरेजों से यह आश्वासन लेना चाहा कि उनके गवर्नर मन्त्रिमण्डलों के कामों में हस्तक्षेप तब तक न करेंगे, जब तक कि वे संविधान का कोई स्पष्ट उल्लंघन न करें। सरकार ने पहले तो उनके बिना ही दूसरे अल्पमत वालों को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए कहा, पर जब ११ में से ६ प्रान्तों में बने अन्तःकालीन मंत्रिमण्डल स्थिरता से टिक सकने में असमर्थ प्रतीत हुए तब उसे कांग्रेसियों को वैसा आश्वासन देना पड़ा। इस प्रकार ७ जुलाई १६३७ को युक्तप्रान्त, बिहार, उड़ीसा, बम्बई और मद्रास में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बन गए। यों १६२० में गांधी ने टिळक की जिस प्रतिसहयोग (रिसपौंसिव कोआ-

परेशन) नीति का विरोध किया था, १७ साल बाद घूमघाम कर वे उसी पर लौट आये।

बम्बई और युक्तप्रांत में मुसलमानों के जो पृथक् प्रतिनिधि चुने गये, उनमें कांग्रेसियों की अपेक्षा लीगी अधिक थे, यद्यपि युक्तप्रांत के कुल मुसलिम स्थानों में से ४० फी सदी ही मुसलिम-लीगियों के हाथ में आये थे। मुसलिम लीग ने चाहा कि उन प्रान्तों में मन्त्रिमण्डलों में जो मुसलमान लिये जायँ वे मुसलिम-लीगी ही हों, वह अपने को मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि कहती थी। कांग्रेस-नेताओं ने इसे स्वीकार न किया। तब से मुसलिम-लीग अधिकाधिक कांग्रेस-विरोधी होती गयी।

नये शासन-संविधान को लागू करने के लिए अगला कदम था—केन्द्र में प्रान्तों और रियासतों को एक में मिला संघराज्य स्थापित करना। इसमें रियासतों के भीतर प्रजासत्ता स्थापना की संविधान में कोई शर्त नहीं थी। संघ विधानसभा में उन्हें जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया था, तो भी भारतीय राजा संघ में शामिल होने से कतरा रहे थे, क्योंकि उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध इस प्रकार अंगरेजों का हथियार बनने में कोई मजा न था। उधर राष्ट्रीय दल को भी रियासतों के राजसंस्था रूप में पिछड़े अभिजात कुलीन शासनों का अपने जनसामान्य के मत पर अवलम्बित होनेवाले जन-सत्तात्मक शासन के साथ इस तरह के बेमेल यान्त्रिक मिश्रण का बेढंगापन अखर रहा था। अतः उसने रियासतों में प्रजा के प्रति उत्तर-दायी शासन स्थापित करने के आन्दोलन को सहायता पहुँचाने का आदेश कांग्रेसियों को दिया।

फरवरी १९३८ में गुजरात के बारडोली तालुके के हरिपुरा गाँव में कांग्रेस का अधिवेशन सुभाष वसु की अध्यक्षता में हुआ। उससे पहले तक रियासतों के आन्दोलनों की देख-रेख और नियन्त्रण का कार्य विभिन्न प्रान्तों की कांग्रेस-समितियों द्वारा होता था, इससे रियासतों की स्थानीय जनता अपने

पाँवों पर खड़ी हो रियासतों के भीतर आन्दोलन को न जमा पाती थी। हरिपुरा कांग्रेस पर यह निर्णय हुआ कि अब से कांग्रेस-समितियाँ बाहर से रियासतों के मामलों की देख-रेख छोड़ें, कांग्रेस-जन रियासतों के भीतर जाकर स्थानीय जनता के सहयोग से प्रजा-आन्दोलनों को उठाने का उद्योग करें; कांग्रेस बाहर से उनके कार्यों का समर्थन करेगी। तदनुसार राजस्थान-कांग्रेस-समिति टूटी और विभिन्न रियासतों में जा कांग्रेसियों ने अपना आन्दोलन भीतर से खड़ा करने का जतन आरम्भ किया। रियासतों की शाखा-कांग्रेस-समितियाँ टूटीं और प्रजामण्डल संघटित कर उत्तरदायी शासन की माँग उठाने का उद्योग किया जाने लगा। मेवाड़ में माणिक लाल वर्मा ने जो अबतक डूंगरपुर में भील सेवाकार्य में लगे थे, लौट कर वीरसिंह महता की सहायता से अप्रैल १६३८ में मेवाड़ प्रजामण्डल की स्थापना की। मई १६३८ में जयपुर-राज-प्रजामंडल का खुला अधिवेशन जमनालाल बजाज की अध्यक्षता में हुआ। तभी जोधपुर में मारवाड़-लोक-परिषद् की स्थापना हुई और अलवर में राज्य-कांग्रेस टूट प्रजामंडल बना।

मेवाड़ में प्रजामंडल को वहाँ के तात्कालिक दीवान धर्मनारायण काक ने आरम्भ होते ही गैरकानूनी करार दिया। अक्टूबर १९३८ में वहाँ सत्याग्रह आरम्भ किया गया। भूरेलाल बया जो १६३० के आन्दोलन में अजमेर में जेल जा चुके थे, आन्दोलन आरम्भ होने से पहले ही पकड़ कर सराड़े के किले में बन्द कर दिये गये। आन्दोलन का आरम्भ डोगरा कांड में एक साल की सजा काटे मांगीलाल उर्फ रमेशचन्द्र व्यास द्वारा प्रथम सत्याग्रही के रूप में अजमेर से भीलवाड़ा आकर प्रारम्भ किया गया। उन्हें और मेवाड़-प्रजामंडल के प्रथम सभापति बलवन्त सिंह महता को भी पकड़ कर उसी किले में रक्खा गया। आन्दोलन का जोर भीलवाड़े और नाथद्वारे में अधिक रहा। भीलवाड़े में ४ अक्टूबर को पुलिस ने लाठी चलाई। महिलाएँ भी प्रदर्शनों में भाग ले

रही थीं जिन्हें पकड़ कर पुलिस जंगलों में दूर अकेला छोड़ आती रही। भीलवाड़े और नाथद्वारे में करीब २१३ सत्याग्रही गिरफ्तार हुए। आन्दोलन का संचालन माणिकलाल वर्मा अजमेर-मेरवाड़े की सरहद में रहकर कर रहे थे। फरवरी १९३९ में मेवाड़ पुलिस उन्हें देवली के इलाके से जबरदस्ती उड़ा ले गयी और उन्हें खूब पीटा और सताया, तब जेल में बन्द कर दिया गया।

इन्दौर प्रजामण्डल का उल्लेख पीछे हो चुका है। १९३८ से उसने अपना संघटन व्यापक कर देहातों तक फैलाना आरम्भ कर दिया। गवालियर में भी १९३७ के बाद प्रजामण्डल की स्थापना की कोशिशें की गयीं। १९१६ में शाजापुर का किसान-संघ स्थापित करने वाले लीलाधर जोशी ने उन कोशिशों में विशेष भाग लिया। प्रजामण्डल स्थापना की आज्ञा राजा ने न दी, इसपर ३० अप्रेल १९३८ को वहाँ उज्जैन में एक "सार्वजनिक सभा" की स्थापना की गयी, जिसका संघटन शीघ्र ही सारे मालवे में फैल गया। उसका प्रथम अधिवेशन नवम्बर १९३८ में भेलसा में गोपीकृष्ण विजयवर्गीय की, जो १९३०-३२ में अजमेर में सत्याग्रह में जेल काट आये थे, अध्यक्षता में हुआ। इस संस्था का नाम बदलकर बाद में स्टेट कांग्रेस कर दिया गया। १९३८ में भोपाल में भी एक राज्य-प्रजामण्डल (स्टेट्स पीपल्स कान्फरेन्स) बना।

रियासतों की बढ़ती हुई जागृति को देख राजा लोग और उनके मंत्री तथा अंग्रेजी राजनीतिक विभाग के संचालक-गण चौंके। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी एक नीति निर्धारित करने के लिए बम्बई में महाराजा बीकानेर के नेतृत्व में एक सम्मेलन बुलाया। उसमें निश्चय हुआ कि रियासतों में बाहरी आन्दोलनकारियों को न घुसने दिया जाय और स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की शिकायतों की जहाँ तक हो जाँच पड़ताल कर उन्हें मिटाने तथा उनकी शक्तियों को हरिजन सेवा, ग्रामसुधार आदि में

लगाने का जतन किया जाय, पर प्रजा-मण्डलों जैसी सार्वजनिक राजनीतिक संस्थाओं को उठते ही दृढ़तापूर्वक कुचल दिया जाय।

फलतः १९३८ साल का अन्त होते होते रियासतों में शमन दमन और भेद की यह एक सी नीति चलने लगी। सब जगह जन-सुरक्षा कानून और सार्वजनिक सभाओं के निबन्धन (रजिस्ट्रेशन) के कानून जारी किये गये, जिनके विरुद्ध प्रजामण्डलों को सत्याग्रह आन्दोलन जारी करने पड़े।

१९३८–३९ में लगातार दो-तीन साल से वर्षा ठीक न होने से राजस्थान में अकाल था। प्रजामण्डलों के कार्यकर्ताओं ने अकाल-पीड़ितों को सहायता पहुँचाने का काम हाथ में लिया। जमनालाल बजाज दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में इसके लिए जयपुर आ रहे थे, उन पर रियासत में प्रवेश-निषेध आज्ञा जारी की गई। तब जयपुर में भी सत्याग्रह आरम्भ हुआ। जमनालाल बार-बार जयपुर जाने और पुलिस द्वारा पकड़ कर रियासत के बाहर छोड़ दिये जाने लगे। अन्त में १२ फरवरी १९३९ को उन्हें पकड़ कर नजरबन्द कर दिया गया। तभी राजकोट और हैदराबाद में भी जनता के मौलिक अधिकारों के लिए सत्याग्रह आरम्भ हुए। हैदराबाद में आर्य्यसमाज ने धार्मिक स्वातंत्र्य के लिए सत्याग्रह किया, जिसमें सारे उत्तर भारत का ध्यान उस समस्या की तरफ खिंचा। राजस्थान में से चाँदकरण सारडा आदि आर्यसमाजी नेताओं ने उसमें काफी प्रमुख भाग लिया। राजकोट के मामले में महात्मा गान्धी और वल्लभभाई पटेल ने दखल दिया, ३ मार्च को उन्होंने इसके लिए अनशन भी किया, पर उन्हें अन्ततो गत्वा विफलता मिली।

दूसरी रियासतों में भी सत्याग्रह आन्दोलन प्रायः विफल गये। तब हारकर गान्धी ने रियासतों में सत्याग्रह बन्द कर दिये (मार्च १९३९)। जयपुर और मेवाड़ में भी उनकी सलाह मानकर सत्याग्रह बन्द हुए।

तब अगस्त में जमनालाल बजाज रिहा किये गये। मेवाड़ में भी कार्यकर्ता छोड़े गये। जयपुर से अंग्रेज प्रधानमंत्री विदा हुआ, पर जमनालाल बजाज के प्रयत्न करने से प्रजामण्डल पर से प्रतिबन्ध भी शीघ्र हटा लिया गया। मेवाड़ में प्रजामण्डल पर प्रतिबन्ध जारी रहा, पर दूसरे सार्वजनिक रचनात्मक कार्यों से जनता में जागृति बढ़ती गई।

जोधपुर में लोक परिषद् का संघटन जयनारायण व्यास आदि के प्रयत्नों से १६३६ भर खूब बढ़ा। मारवाड़ में अकाल होने से सहायता कार्यों में लगे हुए प्रजा कार्यकर्ताओं की मजदूरी के प्रश्नों को लेकर रियासत के अधिकारियों से टक्कर होने लगी। परिषद की शाखाएँ १९४० के आरम्भ तक मारवाड़ भर में लगभग ३८ स्थानों में खुलीं। परिषद को गैर-कानूनी करार दिया गया। तब वहाँ आन्दोलन आरम्भ हुआ। जून १६४० तक समझौता हुआ। कार्यकर्ता छोड़े गये। १६४१ में वहाँ राज्य की एक सलाहकार समिति का संघटन किया गया जिसमें राज्य ने प्रजा-कार्यकर्ताओं को भी लेने का जतन किया। पर परिषद् ने इस सुधार को अपर्याप्त कह ठुकराया। तभी मेवाड़ के दीवान धर्मनारायण काक के विदा होने और विजयराघवाचार्य के नये दीवान बनकर नियत होने पर वहाँ भी प्रजामण्डल पर से प्रतिबन्ध हटाया गया। तब नवम्बर १६४१ में मेवाड़ प्रजामण्डल का पहला खुला अधिवेशन उदयपुर में बुलाया गया जिसमें राजपूताने के समस्त प्रजा-कार्यकर्ता एकत्र हुए। उन्होंने अपना एक प्रान्तीय संघटन भी स्थापित किया। उसके बाद फरवरी १९४२ में मारवाड़ लोक-परिषद् ने भी अपना खुला अधिवेशन लाडनू में बुलाया। राजपूताना प्रान्तीय प्रजा-कर्मी संघटन को उसमें और बड़ा रूप दिया गया। जयपुर प्रजामण्डल का अधिवेशन श्रीमाधोपुर में किया गया। उसमें प्रान्तीय संघटन को और पक्का किया गया। उसकी बाकायदा स्थापना के लिए उसके बाद ही जयपुर में राजपूताना की लगभग सब रियासतों के कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन हुआ।

§ २०. दूसरा विश्वयुद्ध और अंगरेजों का भारत छोड़ना

(१६३६–४७)

सितम्बर १९३९ में यूरप में अंगरेजों का जर्मनी से फिर युद्ध ठन गया। जर्मन राष्ट्र पिछले महायुद्ध के बाद अपने नेता आडोल्फ हिटलर के अधीन राष्ट्रीय समाजवादी दल के नेतृत्व में १६३३–३४ तक फिर उठ खड़ा हुआ था और अपने खोये हुए प्रदेशों पर एक-एक कर फिर से दखल करने का जतन कर रहा था। इङ्गलैण्ड फ्रान्स ने पहले उसे रूस से भिड़ा देना चाहा। उसके लिए उन्होंने जर्मनों के विरुद्ध रूस से सन्धि की चेष्टा की, पर असफल रहे। उलटा, युद्ध छिड़ने से ठीक पहले रूस और जर्मनी में परस्पर मैत्री और अनाक्रमण की सन्धि हो गयी। जर्मनी ने पूरब और रूस ने पच्छिम बढ़ पोलैंड में अपनी सीमाएँ मिला दीं। अँगरेजों ने रूस के खिलाफ़ फिनलैण्ड को उभारा। १९३९–४० की सर्दियों भर फिनलैण्ड पर रूसियों ने चढ़ाई किये रक्खी।

अँगरेजों ने युद्ध आरम्भ होते ही भारत को भी युद्ध में घसीटा। भारतीय सेनायें मिसर, ईराक, सिंगापुर आदि में भेज दी गयीं। अंगरेज गवर्नरों ने देसी मन्त्रिमण्डलों की अवहेलना कर सीधे ही यह कार्रवाई की। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने उसके प्रतिवाद में इस्तीफे दिये, जो तुरत स्वीकार किये गये। पर वे नेता संघर्ष के लिए तैयार नहीं थे अतः सिर्फ इस्तीफे देकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। उन्होंने इस्तीफे इस आधार पर दिये थे कि अंगरेजों के साम्राजिक युद्ध में भारत सहायता नहीं दे सकता। पर भारत से सेना, मजदूरों और युद्ध-सामग्री की सहायता अंगरेज बराबर उठा रहे थे, और जिन भरती-क्षेत्रों या कारखानों द्वारा वह मदद जा रही थी उनमें जाकर उसे रोकने की हिम्मत कांग्रेसी नेताओं को न थी। यों उनके इस्तीफे देकर बैठ जाने का अर्थ केवल यह था कि युद्ध में सहायता देने का पाप उन्हें न लगे!

मार्च १९४० में कांग्रेस का अधिवेशन रामगढ़ (छोटा नागपुर) में हुआ। उसमें अंगरेजों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए भी कहा गया कि भारत खुद गुलाम रहते युद्ध में अंगरेजों के साथ शामिल नहीं हो सकता, तो भी वह उनके युद्धोद्योग में बाधा नहीं पहुँचायगा। वहीं भारतीय क्रान्तिकारियों—बंगाल के अनुशीलन-समिति और उत्तर भारत के हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र-मंडल † वालों—ने अपना सम्मेलन कर भारत में समाजवादी क्रान्ति को अपना ध्येय मान अपना नाम क्रान्तिकारी समाजवादी दल रक्खा। ये लोग अंगरेजों के युद्धोद्योग में बाधा न दें इसलिए पंजाब और बंगाल में क्रान्तिकारियों तथा भारत में सर्वत्र समूहवादियों की आम गिरफ्तारियाँ की गयीं, और उनके मुख्य नेताओं को राजस्थान में लाकर देवली शिविर जेल में बन्द किया गया।

१६४० की गर्मियों में जर्मनों ने पच्छिम ओर मुँह फेरा और तेजी से आगे बढ़ हालैंड, बेलजियम और फ्रान्स दखल कर लिये। अंगरेजों की जो फौजें फ्रान्स और बेलजियम में मदद करने गयी थीं वे डङ्कर्क बन्दरगाह से उलटे पाँव मुश्किल से बच कर निकल भागीं। जापान और जर्मनी में मित्रता थी। जापान ने अब पूरबी एशिया में भारत और चीन के बीच के फ्रान्स और हालैंड के अधीन देशों में अपने लिए विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये। चीन में उसकी सैनिक कार्रवाई १६३७ से ही जारी थी और उसका एक बड़ा हिस्सा वह दखल कर चुका था। यूरप में जर्मनों से मिले पराजय और पूरब में जापान के इस बढ़ाव से अंगरेजों और उनके साथी पच्छिमी यूरप वालों की सैनिक साख बहुत गिर गयी।

फ्रान्स के जर्मनी द्वारा कुचल दिये जाने पर इताली ने भी अंगरेजों

---

† हिन्दुस्तान प्रजातंत्र-मण्डल का नाम भगतसिंह आदि ने पीछे हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र मण्डल (हिन्दुस्तान सोशिलिस्ट रिपब्लिकन एसोसियेशन) रख लिया था।

के खिलाफ युद्ध-घोषणा कर दी। उसने उत्तरी अफरीका के अपने साम्राज्य से बरतानवी साम्राज्य के मिस्र देश पर, जो यूरप से भारत आने के मुख्य रास्ते पर है, धावा बोल दिया। तभी जर्मनों की मध्यस्थता से रूस और जापान में भी परस्पर मित्रता और अनाक्रमण की सन्धि हो गयी। जापान के प्रचार से यह प्रकट था कि वह भी शीघ्र बरतानवी साम्राज्य पर चोट करेगा। उस साम्राज्य का अन्त आता दिखायी देने लगा। भारत में इससे बड़ी बेचैनी और घबराहट फैली। जनता भीतर-भीतर बहुत खुश थी, पर इस कारण बेचैन थी कि चारों तरफ इतनी बड़ी-बड़ी घटनाओं के होते और अनुकूल परिस्थिति के रहते भी वह अपनी आज़ादी के लिए स्वयं कुछ न कर पा रही थी। अंगरेजी पढ़े लिखे हैसियतवाले निहित-स्वार्थी वर्ग में इसलिए बेचैनी और घबराहट थी कि कहीं अंगरेज सचमुच देश से चले गये और जर्मन या रूसी आ गये तो अंगरेजों के राज और अंगरेजी भाषा के ज्ञान के कारण मिली उनकी सुख-सुविधाओं और ऊँची हैसियतों का क्या होगा। जून १९४० तक कांग्रेस कार्य-समिति के भीतर भी इन दोनों प्रवृत्तियों के बीच मतभेद स्पष्ट होने लगा। महात्मा गांधी और उनके अनुयायी, जिनके मन की अन्तरंग भूमि में भारतीय राष्ट्रीयता की अनुभूति थी, अंगरेजी साम्राज्य के सम्भावित पतन से चिन्तित न थे, और जर्मनों के भारत पर चढ़ आने की दशा में भी अंगरेजों को युद्ध में सहायता देने को तैयार न थे। इसके लिए उनके पास अहिंसावाद की आड़ थी ही। पर राजगोपालाचार्य, जवाहरलाल नेहरू आदि अब गान्धी का साथ छोड़ और अहिंसा को तिलांजलि दे जर्मनों से लड़ने को तैयार थे। नेहरू फिर भी कांग्रेस के साथ रहे, क्योंकि अंगरेजों ने उनकी बात न मानी। राजगोपालाचार्य ने गान्धी और कांग्रेस का साथ छोड़ दिया।

अंगरेज दिखाने को यह कहते थे कि वे भारतवासियों को केन्द्रीय शासन का पूरा अधिकार देने को तैयार हैं, यदि हिन्दू मुसलमान अछूत

सिक्ख ईसाई आदि सम्प्रदाय परस्पर कोई समझौता कर लें। मुस्लिम लीग ने अब अपने आप को मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि बताना आरम्भ किया। अछूतों के प्रतिनिधि रूप में अंगरेजों ने डा० अम्बेडकर को खड़ा कर तथा दूसरे अल्पमत सम्प्रदायों के भी ऐसे ही प्रतिनिधियों को स्वीकार कर कांग्रेस को सिर्फ सवर्ण हिन्दुओं का प्रतिनिधि बना देने की नीति अपनायी। उन्होंने अब कहना शुरू किया कि हिन्दुस्तान के दोनों प्रमुख सम्प्रदायों की प्रतिनिधि संस्थाओं के रूपमें कांग्रेस और मुस्लिम-लीग परस्पर समझौता करें। पर मुस्लिम-लीग तो अंगरेजों की ही खड़ी की हुई थी और कांग्रेस से समझौता करने को कभी भी तैयार न थी। यह बात अब बिलकुल स्पष्ट हो चुकी थी। इसीलिए गान्धी और उनके साथियों ने जो १९३१ में तथा १९३७-३८ में मुस्लिम-लीग को रिझाने की हर तरह कोशिश करते रहे थे, अब उससे बात करना बन्द कर दिया था। पर राजगोपालाचार्य इस स्पष्ट बात से भी आँखें मूँद कर अब भी लीग के नेता मुहम्मद अली जिना * से बातचीत चलाते, और इस प्रकार एक तो लीग की हैसियत खाहमखा बढ़ाते तथा दूसरे अंगरेजों के ढोंग को सच बनाकर दिखाते रहे। राजगोपालाचार्य १९२२-२३ में गान्धी के कट्टर "अपरिवर्तनवादी" अनुयायी बन विधान-सभाओं में जाने के स्वराजी कार्यक्रम के भी विरुद्ध रहे थे, पर १९३७-३९ में एक वार मन्त्रिपद का स्वाद चख लेने के बाद अब फिर किसी भी तरह अधिकारारूढ होने के

---

* 'जिना' काठियावाड़ी 'झीणा' का बिगाड़ा हुआ रूप है। झीणा काठियावाड़ में नीची श्रेणी के नौमुस्लिमों की एक जात है। मुहम्मद अली का जन्म इन्हीं झीणों के एक कुल में हुआ था, पर उसने अपने आपको प्रतिष्ठित जताने के लिए अपने कुल के वाचक रूप में झीणा से बिगाड़कर जिना शब्द अपने नाम के आगे लगाना शुरू किया था।

लिए प्रकटतः इतने लालायित थे कि कांग्रेस के राष्ट्रीय रूप को बेच देने को भी तैयार हो गये* !

उधर जनता आतुर थी कि अंगरेजों के खिलाफ संघर्ष छेड़ा जाय। पर कांग्रेस को कोई रास्ता दिखाई न देता था। तब महात्मा गान्धी ने अंगरेजों के युद्धोद्योग से अपना सांकेतिक असहयोग प्रकट करने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह छेड़ा, जिसमें भाग लेने वाले कहीं सड़क पर अकेले यह नारा लगा कर कि युद्ध में मदद देना हराम है, गिरफ्तार हो जाते थे।

सुभाषचन्द्र वसु युद्ध आरम्भ होने से पहले ही अपनी उग्र नीति के कारण कांग्रेस से निकाल बाहर किये गये थे और देश को अपनी आजादी के संघर्ष के लिए बराबर कह रहे थे। उन्होंने सोचा कि देश को यदि आजाद करना है तो वह बिना खुले सैनिक विद्रोह द्वारा अंगरेजों की सैनिक शक्ति को देश में समाप्त किये नहीं हो सकता और इसके लिए उन्हें अंगरेजों की शत्रु किसी विदेशी शक्ति से सहयोग प्राप्त करना होगा। अतः २६ जनवरी १६४१ के दिन वे एकाएक गायब होकर अंगरेजी जासूसों की नजर बचाते भारत से निकल गये और अफगानिस्तान के जर्मन राजदूत से मिल जर्मनी जा पहुँचे। तभी अर्जुनलाल सेठी भी अपने घर से एकाएक गायब हो गये। उनके विषय में तब से आज तक प्रामाणिक तौर पर कुछ भी पता न लगा। मालूम होता है कि भारतीय सीमान्त पार करने के प्रयत्न में उनका कहीं देहान्त हो गया।

---

* १९४४ की सर्दियों में उदयपुर विद्याभवन के वार्षिकोत्सव पर राजगोपालाचार्य आये थे। वहाँ उन्होंने स्पष्ट ही कहा कि 'हर देश की अपनी-अपनी परिस्थिति और आदत होती है। हमें इस बात को मानने में संकोच न करना चाहिए कि हम साम्प्रदायिक हैं, अतः हमें सांप्रदायिक पृथक् प्रतिनिधित्व और पृथक् निर्वाचन को स्वीकार कर उसी के आधार पर भारतीय राष्ट्र का संविधान बनाना चाहिए।'

उधर फ्रान्स ले लेने के बाद १९४०-४१ की सर्दियों और ४१ के वसंत में जर्मनों ने पूर्वी यूरप के तमाम राज्यों को बिना लड़े अपने अधिकार में कर लिया। उनके साथी इतालवियों ने यूनान और मिसर पर धावा किया था, पर वे दोनों जगह पिट रहे थे। तब जर्मनों ने मैदान में उतर उन्हें मदद दी और अंगरेज दोनों जगह से पीछे हटे। मई १९४१ तक यूरप लगभग सारा जर्मनों या रूसियों के कब्जे में चला गया। जर्मन सेनापति रोमेल उत्तरी अफरीका में बढ़ता हुआ मिसर के भीतर तक जा पहुँचा। जर्मनों ने यूनान लेने के बाद यूनानी-तुर्की सागर (ईजियन समुद्र) के तमाम टापू और क्रीट का द्वीप भी छीन अंग्रेजों को यूरप की मुख्य धरती से सर्वथा निकाल बाहर किया। यह अफवाह जोरों से उड़ी कि अब रूस और जर्मनी दोनों मिल बरतावनी साम्राज्य पर धावा करेंगे। रूस, ईरान और अफगानिस्तान के रास्ते बढ़ कर भारत से अंगरेजों को ठेलेगा और जर्मनी-इतालो पच्छिमी एशिया, मिसर और स्वेज ले अफरीका में बढ़ेंगे। उधर अंगरेज रूस को किसी तरह जर्मनी से भिड़ाने की कोशिश में थे। पर रूस ने अंगरेज दूत स्टैफर्ड क्रिप्स को अपने यहाँ से निकाल दिया। जर्मनों के क्रीट लेने के बाद दुनियाँ यह आशा कर रही थी कि वे सिप्रुस द्वीप ले एक तरफ सीरिया पर आक्रमण करेंगे और दूसरी तरफ रोमेल को अफरीका में मदद भेज स्वेज पर धावा करायेंगे। भारत की जनता में इससे बड़ा उत्साह फैला, अंगरेजी सिक्के की साख गिरने लगी।

पर जर्मनों ने अंगरेजी साम्राज्य पर चढ़ने के बजाय २२ जून १९४१ को ऐन मौके पर अपना रुख फेर रूस पर आक्रमण कर दिया, जिससे भारत में गहरी निराशता फैली। अंगरेजों की अब रूस से जर्मनी के दोनों का समान शत्रु होने के कारण सन्धि हुई और सहयोग स्थापित हुआ। भारतीय समूहवादी दल ने जो अब तक युद्ध को साम्राज्यवादी कह भारत में अंगरेजों के युद्ध-प्रयत्नों के विरुद्ध आन्दोलन कर रहा था, रूस और

जर्मनी में युद्ध छिड़ने पर उसे जनता का युद्ध कह उसका एकाएक समर्थन आरम्भ कर दिया। अमरीका जो अब तक बरतानवी साम्राज्य के डूब जाने का खतरा समझ अंगरेजों को नकद दाम लेकर युद्ध-सामग्री देता था, उस खतरे को टलता देख अंगरेजों को अधिक अधिक सामग्री शस्त्रास्त्र आदि उधार देने और जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में खुल्लमखुल्ला उतर आने की भी तैयारी करने लगा। इधर पूरब में जर्मनी का मित्र जापान अभी तक युद्ध से अलग था। जर्मनी के रूस पर हमला कर देने पर भी उसकी और रूस की सुलह में कोई फरक न पड़ा था। अमरीका के युद्ध में पड़ने की सम्भावना देख, इससे पहले कि अमरीका अपनी सेना जुटा यूरप के मोर्चे पर कोई सैनिक कार्रवाई करे, जापान ने ७ दिसम्बर १९४१ को एकाएक अमरीका के खिलाफ युद्ध छेड़ प्रशान्त महासागर में स्थित उसके नौसैनिक शक्ति के अड्डे हवाई द्वीप के पर्ल बन्दरगाह पर आक्रमण कर वहाँ उसकी नौशक्ति को भारी नुकसान पहुँचाया। साथ ही उसने अंगरेजों के विरुद्ध युद्धघोषणा कर पच्छिमी प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया में यूरपी शक्ति को कुचल दिया। शुरू १९४२ तक वह बरमा आ पहुँचा।

भारत के लोग जो अभी तक भी अंगरेजों की सैनिक शक्ति काफी समझे थे, पूरब में जापानियों के सामने उनका इतनी तेजी से भागना देख चकित रह गये। अंगरेजों ने अब भारतीय नेताओं से सुलह की बातचीत आरम्भ की। मार्च १९४२ में रूस का भूतपूर्व अंगरेज राजदूत स्टैफर्ड क्रिप्स जो समाजवादी होने से समझा जाता था कि जवाहरलाल जैसे शौकिया समाजवाद बतियाने वाले भारतीय नेताओं को अपनी बातों में फँसा सकेगा, भारत भेजा गया। उसने युद्ध बाद भारत को उपराज्य पद और केन्द्रीय शासन में तुरत "राष्ट्रीय सरकार" बनाने का आश्वासन दिया। पर भारतीय जनता अब देख रही थी कि जापान के आगे टिकने की सामर्थ्य अंगरेजों में न थी, और भारत अब अंगरेजों से यह सुलह न कर थोड़ा सा जोर लगा अपनी गुलामी की बेड़ियाँ एक बार झटक

सके, तो जापान से बराबरी की शर्तों पर इससे कहीं अधिक प्राप्त कर सकेगा। अतः महात्मा गान्धी तो क्रिप्स के प्रस्तावों को एक दिवालिया साहूकार की बाद की तारीख की हुंडी कहकर बातचीत में सम्मिलित होने से इन्कार कर लौट आये। पर भारतीय पूँजीपतियों और जवाहरलाल जैसे अंगरेजी ढंग से सोचने वाले हैसियतदार लोगों का दल जो जनता से वाहवाही लेने को ऊपर से यों ही पूर्ण स्वाधीनता की बातें किया करता था, पर अंगरेजी साम्राज्य को देश से एकाएक उखड़ते देख भीतर से घबरा रहा था, क्रिप्स से काफी देर तक बातें चलाता रहा। वह यदि कुछ अधिकार मिल जायँ तो, देश की आजादी और अपने लाखों युवकों की जान का सौदा करने को तैयार था।

अंगरेजी सरकार ने देखा कि भारतीय जनता और उसके असल नेता तो क्रिप्स की बातों में आये नहीं, और जो लोग उससे बात कर रहे हैं, उन्हें अधिकार देने पर भी भारतीय जनता युद्ध में उससे ज्यादा सहयोग देने को तैयार नहीं होगी जितना कि अंगरेज अब भारत पर अधिकार रखने की दशा में उससे जबरदस्ती ले पा रहे हैं, तो उसने भी क्रिप्स से रुख बदलवा दिया। वह वार्ता असफल रही। जनता ने इसपर संतोष की एक सांस ली। अंगरेजी ढंग से सोचने वाले नेता लोग गांधी से खीझे। प्रयाग में कांग्रेस महासमिति की बैठक में महात्मा गांधी ने प्रस्ताव रक्खा कि भारत की जापानी आक्रमण से सुरक्षा का सर्वोत्तम तरीका यह है कि अंगरेज भारत से तुरत चले जायँ। गान्धी का कहना था कि जर्मनी और जापान की भारत से कोई लड़ाई नहीं, उनकी लड़ाई अंगरेजों से है। अंगरेज यदि यहाँ रहेंगे और युद्धप्रयत्न चलायेंगे तो भारत पर आक्रमण का खतरा है। अंगरेजों के यहाँ से चले जाने पर भारत उन देशों से सीधी बातचीत करेगा। यदि तब भी वे भारत पर आक्रमण करेंगे तो भारत अपने अहिंसात्मक उपायों से ही उनका सामना करेगा। पर भारत किसी भी दशा में अपनी अहिंसा नीति को त्याग उस हिंसात्मक संग्राम में

शामिल होने को तैयार नहीं। जवाहरलाल, राजगोपालाचार्य, गोविन्दवल्लभ पंत, अब्दुल कलाम आजाद आदि नेता इस समय गान्धी के विरोधी थे। उनके पूरा जतन करने पर भी कांग्रेस महासमिति में महात्मा गान्धी का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। जवाहरलाल नेहरू ने उस प्रस्ताव के विरोध में जो भाषण दिया उसमें उन्होंने इस प्रस्ताव का अर्थ साफ-साफ जापानियों-जर्मनों की मदद करना कहा। अंगरेजी सरकार ने बाद में प्रयाग के अखिल भारतीय कांग्रेस दफ्तर पर छापा मार उस अधिवेशन की कार्रवाई के तमाम कागजात जब्त कर जवाहरलाल के भाषण का हवाला देते हुए कांग्रेस पर जापानी पंचम अंग होने का आरोप लगा उस कार्रवाई को प्रकाशित कराया। जवाहरलाल का वह भाषण कांग्रेस के अगले आन्दोलन के समय बराबर कांग्रेस के खिलाफ उद्धृत किया जाता रहा। उनके इस तरह के अन्य भाषणों को अंगरेज भारतीय सिपाहियों में जापान-विरोधी प्रचार के लिए काम में लाते रहे।

किन्तु गांधी और उनके साथी नेताओं के पास भी इस शाब्दिक प्रतिवाद के सिवाय भारत में अंगरेजों के युद्धोद्योग को रोकने के लिए कोई योजना नहीं थी। युक्तप्रान्त में कांग्रेस के एक बड़े नेता ने इस समय क्रान्तिकारी समाजवादी दल के प्रमुख नेता योगेश चटर्जी से कहा कि वे ही कोई संघर्ष आरम्भ करें। जनता में भारी बेचैनी थी, जापानी बरमा ले चुके थे, भारतीय सेनाओं ने सिंगापुर मलाया बरमा में जापानियों के सामने बड़ी संख्या में आत्मसमर्पण किया था।

भारतीय क्रान्तिकारी नेता रासबिहारी वसु आदि भारत की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करने को जापान में १९३० से ही एक संस्था स्थापित किये हुए थे। जापान के युद्ध में कूदते ही उन्होंने जापानियों से मिल अपने देशवासियों को उनके सहयोग से अपने देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करने की प्रेरणा दी। जापान के हिन्दचीन, स्याम, सिंगापुर, मलाया आदि ले लेने पर उन्होंने आजाद हिन्द सरकार की स्थापना के

लिए 'भारत स्वाधीनता संघ' (इण्डिया इण्डिपेंडेन्स लीग) नाम से एक कामचलाऊ समिति बना भारतीय सेनाओं और पूरबी देशों में बसे ३० लाख भारतवासियों को उससे सहयोग करने को कहा। जून १९४२ तक कप्तान मोहनसिंह ने रासविहारी वसु की प्रेरणा से एक आजाद हिन्द फौज की नींव डाली। आशा थी कि बरसात समाप्त होते ही आजाद हिन्द फौज जापानियों के सहयोग से भारत पर आक्रमण करेगी। महात्मा गान्धी ने कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों के सम्मुख अब अपनी भावी संघर्ष-योजना और अंगरेजों को भारत छोड़ो कहने के प्रस्ताव के मसविदे रक्खे (जुलाई १९४२)। स्पष्ट था कि नेता अपने इलाकों में जाकर संघटन कार्य करते। पर सिवाय बिहार के, जहाँ राजेन्द्रप्रसाद ने अपने प्रान्त का विस्तृत दौरा किया, और कहीं किसी ने कुछ न किया।

८ अगस्त को इसी दशा में कांग्रेस ने बंबई में "भारत छोड़ो" प्रस्ताव स्वीकार किया। अंगरेजों ने उसके दमन की तैयारी पहले से कर ली थी। इससे पहले कि वह प्रस्ताव और भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में कोई समाचार देश में फैल पाता, उन्होंने कांग्रेस महासमिति के तमाम सदस्यों और देश भर में प्रमुख कांग्रेसी नेताओं और कार्यकर्ताओं की आम गिरफ्तारी कर आन्दोलन को शुरू में ही कुचल देना चाहा। जवाहरलाल नेहरू और उनके विचार के जो नेता अंगरेजों का साथ देने के पक्ष में थे, उनकी मांग भी अंगरेजी सरकार ने पूरी न की थी, अतः वे भी, एक राजगोपालाचार्य के सिवाय, कांग्रेस के बाहर न गये थे और अपने पुराने साथियों के साथ ही गिरफ्तार हो गये।

पर जनता संघर्ष के लिए स्वयं तैयार थी। उसने अपनी सहज बुद्धि से अंगरेजों के युद्धोद्योग में बाधा पहुँचाने यातायात डाक तार आदि के उनके साधनों को नष्ट-भ्रष्ट करने का मार्ग पकड़ा। आन्दोलन का जोर उत्तरी बिहार में जहाँ राजेन्द्रप्रसाद ने दौरा किया था, तथा युक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों में जहाँ योगेश चटर्जी के क्रान्तिकारी समाजवादी दल का

विशेष संघटन था, सब से अधिक रहा। आसाम और पूर्बी बंगाल में भी क्रान्तिकारियों का पुराना जोर होने से आन्दोलन ने जोर पकड़ा। वहाँ अग्निवाहिनी और मृत्युवाहिनी नामक दलों ने अंगरेजी साम्राज्य के साधनों को नष्ट-भ्रष्ट करने में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। अवध तिरहुत रेलपथ का, जो लखनऊ और बनारस से गंगा के उत्तर-उत्तर आसाम के पूर्बी सीमान्त तक सीधा चला गया है, अंगरेजों के युद्धोद्योग में इस समय विशेष सामरिक महत्व था। उसका पूर्वी युक्तप्रान्त और उत्तरी बिहार वाला मुख्य अंश प्रायः सारा नष्ट-भ्रष्ट और ध्वस्त कर दिया गया। पुलिस के स्थानीय सिपाहियों ने प्रायः सब जगह आन्दोलन कारियों से सहानुभूति रक्खी, जब कि ऊपर के अधिकारी और गुप्तचर विभाग के लोग सबसे अधिक धोखेबाज और देशद्रोही साबित हुए। सेना प्रायः सब जगह संघर्ष में भाग लेने को तैयार थी, पर उसे रास्ता बताने वाला कोई न था।

राजस्थान में अजमेर का सार्वजनिक जीवन तो प्रायः १६३५-३६ तक नष्ट हो चुका था जब कि सब रियासती कार्यकर्ता वहाँ से बिखर चुके थे। अर्जुनलाल सेठी १९४१ से ही गायब थे। जो थोड़े से इने-गिने कार्यकर्ता वहाँ थे उनका सार्वजनिक जीवन में जनता पर विशेष प्रभाव न था। आन्दोलन आरम्भ होते ही वे या तो प्रायः गिरफ्तार कर लिये गये या अजमेर से बाहर रियासतों और दूसरे प्रान्तों में चले गये। अजमेर में आन्दोलन का कोई स्पष्ट प्रभाव जनता पर नजर न आया। रियासतों में मेवाड़, कोटा, डूंगरपुर, गवालियर, इन्दौर आदि में प्रजामंडलों के कार्यकर्ताओं ने बम्बई से लौट कर अगस्त प्रस्ताव के अनुसार अपने अपने राजाओं को विज्ञप्तिपत्र भेजे कि अंगरेजी राज से वे अपनी रियासतों का संबन्ध तुरन्त तोड़ लें और रियासतों की अपनी प्रजा के साथ मिल शासनसुधार करें और पूर्णतः उत्तरदायी शासन की स्थापना करें, अन्यथा उनके विरुद्ध सत्याग्रह किया जायगा। इसपर कार्यकर्ता

सब पकड़े गये और प्रजामण्डल गैरकानूनी संस्थाएँ करार दी गयीं। जगह जगह हड़ताल और प्रदर्शन हुए जिनमें विद्यार्थियों ने विशेष रूप से भाग लिया। अधिकांश रियासतों के राजा सरदार और पुराना मुत्सद्दी वर्ग आन्दोलन से भीतर ही भीतर सहानुभूति रखता रहा, पर अंगरेजों के भेजे दीवान और नये पढ़े-लिखे अंगरेजीदां उच्च राज्याधिकारी वर्ग के लोग, जो पहले प्रगतिशील जान पड़ते थे, सब जगह जनता-विरोधी और आन्दोलन का दमन करने में अग्रसर नज़र आये।

कोटा में नेताओं की गिरफ्तारी होने पर जनता ने उठकर नगर को अपने अधिकार में कर लिया, पुलिस को बारकों में बन्द कर चौकियों और थानों पर कब्जा किया और नगर के द्वार बन्द कर अन्दर बाहर सब जगह अपना पहरा चौकी बिठा दिया। रियासत की अंगरेजी फौज और अंगरेजों के राजनीतिक विभाग का भेजा दीवान तीन दिन तक नगर के फाटक के बाहर पड़े रहे, उन्हें अन्दर आने की इजाजत न दी गयी। दीवान ने चाहा कि फौज फाटक तोड़कर नगर में घुस जाय और जनता पर गोली चलाये। पर महाराव ने वैसा न होने दिया। अंगरेजों का राजनीतिक कामदार (पोलिटिकल एजेंट) भी वहाँ पहुँचा। महाराव द्वारा अपने विश्वस्त भूतपूर्व दीवान की मार्फत प्रजा को समझाने-बुझाने और बीच में पड़ने पर प्रजा और शासन के बीच समझौता हुआ कि नगर का दरवाजा खुले और पुलिस फौज आदि को भीतर आने दिया जाय; किसी को इसके लिए सजा या जनता पर जोर-जुल्म न होने दिया जायगा, राजनीतिक कैदी सब छूटेंगे, और महाराव जनता को शीघ्र उत्तरदायी शासन सौंप देगा। राजनीतिक विभाग द्वारा नियुक्त दीवान को, जो प्रजा पर गोली चलवाने को तैयार हो गया था, महाराव ने प्रजा के माँग करने पर अपनी रियासत की नौकरी से बरखास्त कर दिया।

जयपुर जोधपुर और अलवर में, जहाँ बड़े अरसे से अंगरेज दीवान थे, जो राजपूत जागीरदारों को सर्वसाधारण जनता की उत्तरदायी शासन

की माँग के विरुद्ध भड़काते रहे थे, प्रजामण्डलों के कार्यकर्ता १९४२ के आरम्भ से ही रियासतों के शासकों द्वारा अपने विश्वास में थोड़ा सा लिये जाकर जागीरदारों से झगड़े में फँसा दिये गये थे। वे उपस्थित स्थिति को ठीक से न समझ वहाँ उन्हीं झगड़ों में फँसे रहे। जागीरदार किसान के संघर्ष ने वहाँ प्रजामण्डलों के कार्यकर्ताओं की गलतियों से राजपूत अराजपूत के प्रश्न का विकट रूप धारण कर लिया था। महात्मा गान्धी ने आन्दोलन से ठीक पहले श्रीप्रकाश और द्वारकादास कचरू को जोधपुर प्रजामण्डल और जागीरदारों के इस आपसी झगड़े को निपटाने के लिए भेजा भी, पर समझौता न कराया जा सका। अतः १९४२ के आन्दोलन में इन रियासतों के कार्यकर्ताओं ने संघटित रूप से कोई विशेष भाग न लिया। कुछ ने व्यक्तिगत रूप में कार्य किया और गिरफ्तार हुए। जयपुर में हीरालाल शास्त्री रियासत से सहयोग कर चलने के पक्षपाती थे, एक उग्र दल उनका विरोध करता रहा। कुछ कार्यकर्ता बाहर जाकर आन्दोलन में सम्मिलित हुए और गिरफ्तार किये गये।

आन्दोलन का जोर जापान और आजाद हिन्द सेना के बरसात बाद आक्रमण आरम्भ हो जाने की प्रतीक्षा में अक्तूबर नवम्बर १९४२ तक पूर पर रहा, पर जब दिसम्बर भी बीत चला तो लोगों की हिम्मत पस्त पड़ने लगी। इस आन्दोलन में मदद और योग देने को इस बार रियासतों के राजा उच्च कर्मचारी तथा पुलिस फौज आदि के सभी लोग उत्सुकता और बेचैनी दिखा रहे थे, पर १९१४-१५ की तरह उन सब को बुलाकर संघटित करने या उनसे किसी योजनानुसार काम ले सकने वाला नेतृत्व इस बार उपलब्ध न हो सका। देश में किसी व्यापक क्रान्तिकारी संघटन का पहले से न होना इस समय सबको अखरा, पर यह तो देश की गत २० वर्षों की राजनीति का परिणाम था, जिसमें इस तरह के संघटन के लिए न सिर्फ प्रयत्न न किया गया था, बल्कि जो लोग संघटन खड़े करने के जतन करते रहे उन्हें भी बुरा-भला कहा जाता रहा था।

किन्तु इसके लिए हम सिर्फ गान्धी के अहिंसावादी नेतृत्व को ही दोष नहीं दे सकते। स्वयं क्रान्तिमार्गी भी इसके लिए उतने ही जिम्मेवार थे, जिन्होंने क्रान्ति के इस दूरवर्त्ती ध्येय को स्पष्ट रूप से सामने न रख छोटे और तुच्छ मामलों, पटाकेबाजी और त्रासकार्यों में बिना सोचे-समझे अपनी शक्ति का अपव्यय कर अपने संघटन को कमजोर बनाने, नष्ट भ्रष्ट और बरबाद करने का अवसर दुश्मन को स्वयं दिया था। खास कर काकोरी जैसे मामले यदि न होते और हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र मण्डल अपने सामरिक क्रान्ति वाले ध्येय पर चुपचाप लगा रहता, तो १९१४–१५ के बलिदानों के बाद १९२०–२१ में देश में क्रान्तिवादियों के प्रति जैसी सम्मान और प्रतिष्ठा की भावना थी, और विदेशों में उनके जैसे सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित थे, उनसे २० साल बाद जब उनकी अभीष्ट सिद्धि का यह दुर्लभ अवसर आया था तब देश को उनका यह अभाव अनुभव करने की नौबत न आयी होती।

आजाद हिन्द फौज का संघटन कार्य जनरल मोहनसिंह द्वारा मई १९४२ तक ही पूरा हो गया था। किन्तु उनके और जापानियों के बीच परस्पर विश्वास पैदा करने और एक दूसरे को समझने में साल भर बीत गया। यह काम वास्तव में क्रान्तिकारियों के लिए १९२०–२१ से करने का था। यदि देश में कोई क्रान्तिकारी संघटन पहले से रहता जिसने भारतीय सेना के अन्दर भी अपनी शाखायें फैला रक्खी होतीं, एवं जापान सरकार से भी रासबिहारी वसु आदि द्वारा अपना नियमित सम्बन्ध पहले से बना रक्खा होता, तो ठीक क्रिया के इस अवसर पर यह अमूल्य समय का अतिपात इस प्रकार न हुआ होता। किन्तु देश और विदेश में परस्पर सम्बन्ध रखने की कोई कड़ी पहले से तैय्यार न की गयी होने से भीतर और बाहर के संघर्षों में कोई सामंजस्य न किया जा सका। इस बीच अंगरेजों को अमरीका की मदद आ पहुँची। जर्मनी रूस में फँस चुका था।

रासबिहारी वसु जब भारतीय फौजों का विश्वास प्राप्त कर उनमें और जापानियों में परस्पर समझौता और सहयोग ठीक से न करा सके, क्योंकि २७ बरस से वे भारत मे सीधे सम्पर्क में न थे, तो उन्होंने जापानियों से कह कर भारतीय सैनिकों की इच्छानुसार सुभाषचन्द्र वसु को जर्मनी से, जहाँ वे १९४२ के आरम्भ से मौजूद थे, पूर्वी एशिया में बुलवा मँगाया। सुभाष ने जर्मनी से मदगस्कर तक एक जर्मन पनडुब्बी में यात्रा की और वहाँ से एक जापानी पनडुब्बी ने उन्हें मई १९४३ में पेनांग पहुँचा दिया। वहाँ से तोकियो होकर जून १९४३ तक वे सिंगापुर लौटे। ४ जुलाई को रासबिहारी वसु ने पूरबी एशिया के भारतीयों का नेतृत्व और आजाद हिन्द फौज की बागडोर उनके हाथ में सौंप दी। उनके प्रभाव ने पूर्वी एशिया के भारतीय प्रवासियों में नई जान फूँक दी। सुभाष के व्यक्तित्व से उनके प्रति देशवासियों के मन में असाधारण विश्वास था। भारत और यूरप की भीतरी और नाना राष्ट्रीय राजनीति से उनकी गहरी अभिज्ञता का असर जापानियों पर भी पड़ा। उनके प्रयत्न से आजाद हिन्द फौज का नया संघटन शीघ्र ही सम्पूर्ण हो गया। २१ अक्तूबर १९४३ को एक अस्थायी आजाद हिन्द सरकार की भी स्थापना हुई जिसको जापान, जर्मनी, इताली तथा उनके साथ के सभी राष्ट्रों ने स्वीकार किया।

शुरू जनवरी १९४४ में आजाद हिन्द सरकार का अधिष्ठान रंगून चला आया और फरवरी १९४४ में आजाद हिन्द फौज जापानियों के सहयोग से भारत के पूर्वी सीमान्त पर आक्रमण के लिए बढ़ी। तभी २२ फरवरी को यरवदा जेल में महात्मा गांधी की धर्मपत्नी कस्तूरबा का देहान्त हुआ, बाद में महात्मा गांधी की तबियत खराब हो गयी, तब लार्ड वेवल ने, जो अंगरेजों का अनुभवी सेनापति था और भारत पर जापानी आक्रमण की सम्भावना होने से १९४३ में लिनलिथगो के स्थान पर भारत का वायसराय बना कर भेजा गया था, ६ मई को महात्मा गांधी

को छोड़ दिया। जून १९४४ तक आजाद हिन्द फौज और जापानियों के आक्रमण का जोर भारतीय पूर्वी सीमान्त पर पूरे वेग में रहा। उन्होंने अराकान और मणिपुर के मोर्चों पर आक्रमण किया और मई-जून तक पलेल कोहिमा आदि ले मणिपुर की राजधानी इम्फाल को आ घेरा। अंगरेजी फौजें उनके सामने जिस तरह हारती और पीछे हटती गयीं उससे उन्हें आशा थी कि बरसात आरम्भ होने तक वे मणिपुर की राजधानी इम्फाल दखल कर सकेंगे और बरसात इम्फाल में बितायँगे, उनके एक बार भारत में इस प्रकार प्रविष्ट होते ही भारत की जनता उठ खड़ी होगी जिससे सम्पर्क बना वे बरसात में आसाम और पूर्वी बंगाल में घुस जायँगे जिससे बरसात के बाद भारत में अंगरेजी साम्राज्य के पाँव आसानी से उखाड़े जा सकेंगे। पर अब भारत में आन्दोलन दब चुका था। बंगाल की कमर १९४३ के भीषण अकाल के कारण टूट चुकी थी। १९४२ के अंत में जापानियों के बंगाल पर चढ़ने की संभावना देख अंगरेज़ों ने उन्हें कठिनाई में डालने के लिए वहाँ का सारा अनाज खींच लिया था, जिससे वह अकाल पड़ा, जिसमें कम से कम ३०-३५ लाख आदमी भूखों तड़प-तड़प कर मर गये थे। १९४२ में जो रेल-पथ जनता ने तोड़ दिये थे उनकी मरम्मत करने तथा अपने यातायात साधन उन्नत करने और अमरीका अफ्रीका आस्ट्रेलिया आदि से शस्त्रास्त्र और सेनाएँ बड़ी मात्रा में वहाँ पहुँचाने का समय अंगरेज़ों को मिल गया था जिससे बरसात शुरू होने पर भी वे अपनी लड़ाई जारी रख सके। बरसात सिर पर आ पहुँची पर इम्फाल न लिया जा सका। उधर बरमा से जापानियों और आजाद फौज के रसद शस्त्रास्त्र आदि लाने के मार्ग बरसात में सब रुक गये। फलतः २२ जून के बाद उन्हें कोहिमा से लौटना पड़ा।

यूरप में जर्मनी का पराजय भी तब स्पष्ट और निश्चित दिखायी देने लगा था। गान्धी ने अब २८ जुलाई को एक वक्तव्य निकाल १९४२ की तोड़फोड़ तथा छिपे संघटन और प्रचार आदि के कार्यों को अहिंसा विरुद्ध

कह कर उनकी निन्दा की। अंगरेज उन्हें यदि कांग्रेस कार्यसमिति से मिलने देते तो वे अब उसे अंगरेजों के साथ मिल उनके युद्धोद्योग में सहायता देने की सलाह देने को तैयार थे, बशर्त्ते कि सरकार प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को फिर अधिकार ग्रहण करने दे और केन्द्रों में सिर्फ दीवानी शासन के पूरे अधिकार प्राप्त राष्ट्रीय सरकार बनाने का आश्वासन मिल जाय। किन्तु अंगरेज अब उतना भी देने को तैयार न थे। १९३० की गोलमेज-सम्मिलनी के समय से अंगरेजों ने अपनी स्थिति यह बना रक्खी थी कि हम स्वराज्य देने को तैयार हैं लेकिन कुछ बचाव प्रतिबन्धों (सेफ गार्ड्स) के साथ। उन्हें अपनी दृष्टि से जो प्रतिबन्ध लगाने थे वे थे सामरिक, वैदेशिक और अर्थ-नीति के सम्बन्ध में, तथा शासन के ढाँचे को चलाने वाले अमलों की सेवाओं के सम्बन्ध में। उन्हें अपने हाथ में रखकर वे भारतीय स्वराज्य को बिलकुल निरर्थक अपने हाथ की कठपुतली बना सकते थे। टट्टी की ओट में शिकार खेलना अंग्रेजों की सदा की नीति थी। इस सिलसिले में उन्होंने अपने बचाव प्रतिबन्धों के आगे अल्पपक्ष बचाव प्रतिबन्धों की टट्टी लगाई। १९३० से वे यह खेल खेलते आये थे, इसे उन्होंने अब भी जारी रखा। महात्मा गांधी को जब इस प्रकार कोई चारा न दीखा तो १९३८ के बाद से यह बात अच्छी तरह समझते हुए भी कि मुस्लिम लीग अंगरेजों द्वारा खड़े किये गये देश-द्रोहियों की एक संस्था है जो कांग्रेस से कभी समझौता न करने के लिए प्रणबद्ध है, उसके नेता मुहम्मद अली झीणा से फिर एक बार समझौते की बातचीत चला कर उसका महत्त्व मुसलमानों और संसार के सामने खाहमखाह बढ़ाया (सितम्बर १९४४)।

छोटी रियासतों को अंगरेजों ने भारत में जान-बूझ कर खड़ा किया हुआ था। भारत के सीमान्त पर जब तक कोई बाहरी आक्रमण का खतरा न था तब तक भारत की जनता के उठते हुए राष्ट्रवाद के उफान

को ढके दबाये रखने और उसका ताप खींच लेने के लिए वे उनका अच्छा उपकरण थी। किन्तु जापान के पूर्वी एशिया में इस प्रकार एकाएक उठ खड़े होने और बरमा तक का प्रदेश एक ही बार झपट लेने पर उन रियासतों का अस्तित्व अब अंगरेजों के लिए खतरे का कारण बन गया था। १९४२-४४ में रीवाँ, इन्दौर, बीकानेर आदि के राजाओं का रुख संशयात्मक होने के पक्के प्रमाण उन्हें मिले थे। रीवाँ के राजा को इसके लिए गद्दी से उतारा गया और इन्दौर को अपनी रियासत का सारा इन्तजाम पड़ोस की देवास रियासत के शासक के हाथ में दे कुछ समय के लिए जबरदस्ती अमरीका यात्रा के लिए रवाना होना पड़ा था। बीकानेर के महाराजा गंगासिंह की, जो भारतीय राजाओं में इस समय सबसे चतुर और प्रभावशाली था, मृत्यु जनवरी १९४३ में हो गयी। उस समय रियासतों के प्रामाणिक क्षेत्रों में यह बात सुनी गयी कि यदि वह जीवित रहा होता तो धुरी-राष्ट्रों (जर्मनी इताली और जापान) से सम्बन्ध होने का आरोप उस पर लगाये जाने की पूरी संभावना थी। अंगरेजों को १९४३ में ही दिखाई दे गया था कि यदि जापानी उड़ीसा बंगाल बिहार पर चढ़ आते तो उन रियासतों के राजा, जो सिर्फ अंगरेजों की सैनिक शक्ति की वरिष्ठता के कारण उनके प्रति भक्ति दिखाते थे तथा अपनी अपनी रियासतों में जिनके पास कुछ सेना, बना-बनाया शासन का ढाँचा तथा सैकड़ों बरसों से चली आती प्रजा की परम्परागत राजभक्ति थी, सबसे पहले उनका जुआ उतार उस नयी शक्ति से हाथ मिलाने वाले होंगे। अतः रियासतों के सम्बन्ध में उन्होंने अब अपनी नीति बदली। छोटी छोटी रियासतों का एकीकरण कर उनके संघ बनाने और उनके पुलिस सेना शासन और न्याय के सब अधिकार शासनसुधार के नाम पर उनसे ले संघ के अधीन कर देने या उन्हें पड़ौस की बड़ी रियासतों में मिला देने की नयी नीति पकड़ी। बड़ी रियासतों

या संघों में शासनाधिकार अंगरेजों के राजनीतिक विभाग के कारिन्दों दीवानों आदि के हाथों में रख कर उन्हें अपेक्षया अधिक आसानी से काबू रखा जा सकता था। राजाओं के विरोध के बावजूद भी अब अंगरेज पार्लिमेंट ने इस के लिए काठियावाड़ आदि रियासतों को वैसे समूहों में संघटित करने के कानून बनाये (नवम्बर १९४४)। राजस्थान में भी शाहपुरा आदि छोटी रियासतों के मेवाड़ में मिलाये जाने की बातचीत आरम्भ हुई। तब नरेन्द्रमंडल की राजाओं की स्थायी समिति ने वायसराय से इस संबन्ध में विरोध होने पर इस्तीफे दिये (३ दिसंबर १९४४)। फिर भी शिक्षा स्वास्थ्य और पुनर्निर्माण के प्रश्नों पर सम्मिलित होकर बात करने और समूह बनाने की समस्याओं पर उन्होंने विचार किया। राजस्थान में शिक्षा के प्रश्न पर एकमत हो सब राज्यों ने प्रान्त भर के लिए जयपुर में एक यूनिवर्सिटी बनाने में सहयोग करना स्वीकार किया।

बरमा में भी अंगरेज १९४४ की बरसात बाद बराबर बढ़ते ही गये। अप्रैल १९४५ तक उन्होंने प्राय: समूचा बरमा जापानियों से वापिस ले लिया। जापानी फौजें वहाँ से स्याम और मलाया की तरफ़ हट गईं, आजाद हिन्द फौज का एक बड़ा अंश तो लड़ता हुआ बरमा में गिरफ्तार हुआ, पर शेष अंश को सुभाष वसु जापानियों के साथ साथ बरमा से निकाल ले गये। शुरू मई में जर्मनी का पतन हुआ और यूरप का युद्ध समाप्त हो गया। जनता के असहयोग से भारत में बराबर काम नहीं चलाया जा सकता था, अत: अंगरेजों के लिये कुछ न कुछ समझौते का उपाय करना अब आवश्यक था। कांग्रेस के नेताओं से बातचीत द्वारा यह देखने के लिये कि वे अब कहाँ तक अपने साथ लिये जा सकेंगे, लार्ड वेवल ने १४ जून १९४५ को कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों को जेलों से छोड़ दिया। २६ जून को वायसराय की कार्यसमिति का पुनः संघटन सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों के समान प्रतिनिधित्व के आधार

पर करने के लिए लार्ड वेवल की अध्यक्षता में शिमले में नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया गया। कांग्रेस को सिर्फ सवर्ण हिन्दुओं की बैठकों के लिए नामजद करने का अधिकार मिला जो एक तरह उसके राष्ट्रीय रूप के लिए बट्टा था। फिर भी वह कुछ थोड़ा बहुत बहाना करने के बाद उस बातचीत में शामिल हुई। पर तमाम मुस्लिम आसनों पर मुस्लिम लीग अपने ही नामजद व्यक्तियों को रखने के लिए अड़ गई। समझौता न हो सका, पर अंगरेज दुनियाँ के सामने फिर यह सिद्ध करने में सफल हो गये कि वास्तव में वे हिन्दुस्तानियों को अधिकार देना चाहते हैं पर हिन्दुस्तानी ही आपस में एक मत नहीं हैं।

जुलाई में इंगलैण्ड में नये चुनावों के परिणाम निकले। वहाँ के मजदूर दल ने भारत के प्रश्न को निपटाने के नाम पर चुनाव लड़ा था, जिसमें वह पूरी तरह जीता। इंगलैंड की जनता छः बरस के लगातार युद्ध से थकी थी। उसके कारखाने आदि सब जर्मन युद्ध में ध्वस्त हो चुके थे और पूरब का व्यापार सब चौपट था, फिर जर्मनी पर कब्जा रखने के लिए भी बहुत बड़ी सेना की आवश्यकता उसे यूरप में ही थी। जापान का युद्ध अभी काफी लम्बा चलता नजर आरहा था, जिसके भार से वह घबरा रही थी और चाहती थी कि किसी तरह भारत के नेताओं को पटाकर उस युद्ध का बोझा भारत की जनता की गर्दन पर डाल सके जिससे वह अपने शिल्प व्यवसायों को पुनः संघटित कर युद्धोत्तर विश्व में अपनी आर्थिक स्थिति को फिर से सँभाल खड़े होने के लिए विराम पासके। युद्ध में सैनिक विजय प्राप्त कराने वाला अनुदार दल जब उसकी इस इच्छा को पूरा न कर सका तो अब मजदूर दल सामने आया। वह समाजवाद और समूहवाद के आदर्शों की बातें करता था। अतः भारत के उन नेताओं ने जो समाजवाद बतियाने के शौकीन थे, समझा कि मजदूर दल समाजवादी होने से उनका मित्र और हितैषी होगा और आसानी से उनके हाथ में अधिकार सौंप

देगा। पर अंगरेज मजदूर समाजवादी था तो अपने अंगरेज समाज के लिए, इंगलैंड का पूँजीपति वर्ग जो दूसरे देशों की लूट का माल अकेले ज्यादा हड़पता था उसमें मजदूरों को बराबरी का हिस्सा बटाने के लिए। भारत या अपने साम्राज्य की दूसरी जातियों के लिए भी जिनके कि कर्षण शोषण पर उनकी जाति की वृत्ति निर्भर थी, यदि वह उदार या समाजवादी आदर्शवादी बनता तो अपना ही पेट काटता। वास्तव में अपने साम्राज्य के मामले में अंगरेजों का यह मजदूरदल भी वैसा ही निर्घृण साम्राज्यवादी और कर्षण-पक्षपाती था जैसा वहाँ के पूँजीपतियों और अभिजातवर्गों का पोषक अनुदारदल; और यह सिर्फ अपने असामर्थ्य को देख समय निकालने और अपना बोझा भारत की जनता के कन्धों पर डालने के ही लिए लम्बी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़े आदर्श की बातें बना रहा था। सांप्रदायिक अल्पमतों को उभारने और भारतीय देसी राजाओं को भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध खड़ा करने का खेल उसके द्वारा भी जारी रखा गया।

फिलिपाइन द्वीपपुंज और ओकीनावा टापू की लड़ाई में जापानियों ने अमरीकियों को जो कड़ी लड़ाई दी, उससे प्रकट हुआ कि जापान का युद्ध लम्बा और विकट होगा। आंगल-अमरीकी नेता सर्वराष्ट्रीय अभिसमय के विरुद्ध अब जापान पर विषैली गैसों का उपयोग करने की बात कर रहे थे। ८ अगस्त १९४५ को रूस भी जापान के विरुद्ध लड़ाई में सम्मिलित हुआ। आंगल-अमरीकियों ने देखा कि यदि रूस जर्मनी की तरह यहां भी पहल कर गया तो जापान के साम्राज्य में भी हिस्सा बँटावेगा, अतः उन्होंने जापान को आतंकित कर जल्दी आत्म-समर्पण करने को मजबूर करने के लिए उसके दो नगरों हिरोशिमा और नागासाकी पर दो अत्यन्त घातक अणुबमों का प्रयोग किया जिससे लाखों निरीह-जनता, स्त्री-पुरुष,

बच्चे तथा पशु-पक्षी भी या तो तुरत मर गये या इस तरह विकलांग और रोगग्रस्त हो गये कि उनका जीना न जीने के बराबर हो गया। अमरीकियों की उस अमानुषिक क्रूरता को देख सारी दुनिया की मानवता काँप उठी, पर हमारे देश के अहिंसा के उपासकों के मुख से, जो जापान जर्मनी की अंगरेज अमरीकियों की फैलाई झूठी-सच्ची छोटी-छोटी क्रूरता की बातों पर लंबे-लंबे व्याख्यान देते न थकते थे, अमरीकियों की इस निघृ॔ण हिंसावृत्ति पर एक शब्द न निकला। जापानियों ने इस तरह के अमानुषिक नरसंहार से बचने के लिए ११ अगस्त को आत्म-समर्पण कर दिया।

आजाद हिन्द सरकार और उसकी फौज की स्थिति अब क्या होगी, इस विषय पर विचार करने के लिए सुभाष वसु सैगों से तोकियो रवाना हुए। जापानी रेडियो ने २० अगस्त को घोषित किया कि १८ अगस्त को तैवान (फार्मोसा) द्वीप से तोकियो के लिए हवाई जहाज से रवाना होने पर उनका जहाज अचानक आग लग जाने से गिर पड़ा, जिससे भारत की स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले महान् नेता सुभाषचन्द्र वसु का देहान्त हो गया।

इसके बाद ३ सितम्बर १९४५ को जापान के विराम संधि पर हस्ताक्षर कर देने पर उसकी सेना के साथ आजाद हिन्द सरकार और फौज ने भी अंगरेजों के सामने आत्मसमर्पण किया। जापान से युद्ध समाप्त होने पर सुभाष के बड़े भाई शरतचन्द्र वसु आदि उग्र नेता भी भारत की जेलों से छोड़े गये। अंगरेजों ने आजाद हिन्द फौज वालों पर राजद्रोह और सम्राट के खिलाफ युद्ध करने का मुकदमा चलाकर उन्हें सजा देने का निश्चय किया। भारत की जनता में इससे भारी क्षोभ फैला, किन्तु कांग्रेस के जवाहरलाल नेहरू सरीखे नेता आज़ाद हिन्द सेना और उसके नेताओं को युद्ध-काल में जापानियों के पिट्ठू कहते थे, और अब भी उन्हें पथभ्रष्ट कह उनके लिए क्षमायाचन के स्वर से अधिक बात कहने का

साहस न कर पाये थे। शरत् चन्द्र वसु ने जेल से छूटते ही दिये अपने वक्तव्यों में कहा कि इस साम्राज्यवादी युद्ध में सच्चे अर्थों में आजादी के उच्च आदर्श को लेकर यदि कोई लड़ा था तो वह थी आजाद हिन्द फौज। उन्हें पथ-भ्रष्ट भ्रान्त कहने वालों को उन्होंने सिर्फ फैशन देखकर बने हुए सार्वदेशिकतावादी गाल बजानेवाले कह कर ललकारा और आड़े हाथों लिया। भीतर भीतर उमड़ती हुई जनता की भावना और बेचैनी की मनोदशा इससे एकाएक उभड़ आई। देश की हवा एकाएक बदली, सब जगह आजाद हिन्द फौज वालों की सहानुभूति में बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए, कलकत्ता की सड़कों पर गोलियाँ चला कर भी पुलिस उन्हें दबा न सकी। इन प्रदर्शनों में हिन्दू और मुसलमान सभी ने एक सा भाग लिया क्योंकि आजाद हिन्द फौज में सभी संप्रदायों के लोग बिना किसी भेद-विचार के कन्धे से कन्धा भिड़ा अपने देश की आजादी और अपनी समूची जनता की मुक्ति के उच्च आदर्शों को लेकर लड़े थे और उनमें परस्पर खान-पान रहन-सहन या भावना-सम्बन्धी कोई भेद या परहेज न बचा था। मुस्लिम लीग जैसी साम्प्रदायिक विष फैलाने वाली संस्था जिसकी हैसियत कांग्रेस वालों ने व्यर्थ बढ़ाई थी, उन प्रदर्शनों के कारण फीकी पड़ने लगी। जवाहरलाल नेहरू आदि अंगरेजी घुट्टी पिये तथाकथित सार्वदेशिकता-वादियों को भी अब अपना सुर बदलना पड़ा। आजाद हिन्द नेताओं के मुकदमों की पैरवी की तैयारी की गई, जिसमें जवाहरलाल नेहरू और भुलाभाई देसाई आदि ने प्रमुख भाग लिया। देश में एक नया उफान उठ आने का खतरा पैदा हो गया। अंगरेजों ने दिल्ली के लाल किले में आजाद हिन्द फौज के नेताओं पर मुकदमा चलाया, पर नाममात्र की सजायें देकर उन्हें छोड़ दिया।

दिसम्बर १९४५ के अन्त में देशी राज्य लोक परिषद् का बृहद् अधिवेशन जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में उदयपुर में हुआ, जिसमें देशी राज्यों की प्रजा की कम से कम मांग, १९३५ के संविधान के

अनुसार निर्वाचनाधिकार के आधार पर रियासतों में भी तुरन्त उत्तरदायी शासन की स्थापना और भावी भारतीय संघ शासन में प्रजा प्रतिनिधियों को भेजने पर बल दिया गया। राजस्थान में या किसी भी भारतीय रियासत में जनता का संघटित रूप से विशाल परिमाण में होने वाला यह पहला प्रदर्शन था। अंगरेजों के कारिन्दे, दीवान तथा मंत्रियों और अन्य उच्च राजपदाधिकारियों ने उसके होने में गुपचुप अनेक अड़ंगे लगाने के विफल प्रयत्न किये। अंगरेज ने महाराणा और जागीरदारों आदि को उसमें किसी तरह का सहयोग न देने के लिये दबाया, पर अंगरेज सरकार उधर कांग्रेस के नेताओं से बातचीत भी चला रही थी। ऐसी दशा में जागीरदारों आदि ने अंगरेजों की टट्टी बनना स्वीकार न किया। मेवाड़ के कुछ बड़े जागीरदारों ने तो साफ ही जवाब दे दिया। ऐन अधिवेशन के अवसर पर जनता में इतना उत्साह उमड़ पड़ा कि रियासत के दीवान आदि कोई खुला विरोध करने की हिम्मत न कर सके और सबके सब कोई बहाना बना रियासत से बाहर टल गये। रियासतों में इस अधिवेशन का असर बहुत हुआ। उनमें १९४६ के आरम्भ से जन-आन्दोलन जोर पकड़ने लगा।

राजस्थानी सेनाएँ युद्ध-काल में अधिकतर पच्छिमी एशिया और मिसर के मोरचों पर लड़ती रही थीं। मिसर लिबिया आदि में जर्मनों और इतालवियों को हराने तथा सिसली इताली और यूनान पर अंगरेजों अमरीकियों का पुनः दखल करानेवाली ८ वीं हिन्दुस्तानी सेना में भी राजस्थानी सैनिकों की बड़ी संख्या थी। उन मोर्चों पर अंगरेज अमरीकियों, के साथ उन्हें कन्धे से कन्धा भिड़ाकर लड़ने तथा यूरपी लोगों को निकट से देखने का अवसर मिला था। इताली, यूनान आदि में जनता उनके साहस और शौर्य पर अंगरेजों, अमरीकियों आदि से भी कहीं अधिक विश्वास करती थी। इससे उनमें आत्मविश्वास जागा था। आजाद हिन्द फौज के मामले ने उनके भी आत्म-सम्मान को अब जगा

दिया था और वे यूरप के मोरचों से लौट कर अपने घरों को आते समय कुछ दृढ़ निश्चय सा करके राजस्थान के देहातों में लौट रहे थे। राजस्थान के जन-साधारण में भी इससे अब उत्साह उमड़ने के लक्षण प्रकट होने लगे।

कांग्रेस के नेता चाह रहे थे कि प्रान्तों के मंत्रित्व उन्हें अब किसी तरह वापिस मिल जायँ, पर अंगरेजों ने नये चुनाव, जो १६३७ के बाद युद्धजन्य परिस्थिति के बहाने उन्होंने अबतक स्थगित कर रक्खे थे, कराये बिना उन्हें अधिकार सौंपने से इनकार कर दिया। युद्धकाल में कांग्रेस का नेतृत्व पूर्णतः असफल सिद्ध हो चुका था और जनता में भीषण दमन के कारण आतंक होने से अंगरेजों को विश्वास था कि कांग्रेस को शायद वे उतने मत प्राप्त करने से रोक सकें। मुस्लिम लीग ज़मींदार सभा आदि साम्प्रदायिक और निहित-स्वार्थी वर्गों के संघटनों का जोर बढ़ा था। शुरू १९४६ में प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव हुए। अंगरेजों ने मुस्लिम लीग तथा जमींदार आदि को आगे बढ़ाने का भरपूर जतन किया। किन्तु आजाद हिन्द फौज के मामले से जो हवा बदली थी उससे राष्ट्रीयता की लहर फिर उमड़ी। कांग्रेस ने गैर-मुस्लिम स्थानों पर प्रायः सब जगह कब्जा कर लिया। मुस्लिम स्थानों पर सरकार और जमींदारों आदि की सहायता से मुस्लिम लीग को काफी सफलता मिली तो भी पंजाब सिन्ध और सीमाप्रान्त जैसे मुस्लिम-बहुल प्रान्तों में मुस्लिम लीग अधिक मत प्राप्त न कर सकी। इसके बाद अधिकांश प्रान्तों में फिर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुए।

गत डेढ़ सौ सालों में अंगरेजों के भारत तथा विश्व का बड़ा अंश जीतकर अपना साम्राज्य फैलाने और उसे बराबर बनाये रखने का मुख्य आधार जैसा कि हम पीछे कई बार देख चुके हैं, भारत की भाड़ैत सेना थी। अंगरेज नेता भारतीय राष्ट्रवादियों और कांग्रेसियों का मुँह

सा चिढ़ाते हुए १९४४-४५ तक भी प्रायः यह कहते रहते थे कि भारत की फौज और पुलिस पर, जो मुख्यतः भारत के जनसाधारण कृषक वर्ग में से आई होने के कारण भारतीय लोकमत का ठीक प्रतिनिधित्व करती है, कांग्रेस या राष्ट्रवादियों का कुछ भी असर नहीं। किन्तु आजाद हिन्द फौज की छूत अब भारत के सैनिक वर्ग में भी फैली।

पूर्वी एशिया में जापानी अन्त को स्वयं हार गये थे, पर यूरपी शक्ति की धाक उन्होंने वहाँ से पूरी तरह उखाड़ फेंकी थी। बरमा मलाया हिन्द-चीन तथा हिन्दी द्वीपपुंज से जाते-जाते वे वहाँ की जनता को सुसंघटित और शस्त्रास्त्रों से सज्जित कर अपनी आजादी के लिए लड़ने को उद्यत कर गये थे। वहाँ के शासक फ्रांसीसी, ओलंदेज (डच) आदि युद्ध-काल में स्वयं पददलित हो गये थे, अतः उनमें शक्ति न थी कि इन देशों के इन आजाद दलों को जीतकर उन पर अपना साम्राज्य फिर से स्थापित करते। पर अंगरेजों के समाजवादी मजदूर दल की सरकार ने भारतीय भाड़ैत सेना की मदद से उन देशों के देशभक्त निवासियों का दमन कर उन्हें उनके गोरे मालिकों के लिए सुरक्षित रखने का जतन किया। उन देशों के नेताओं ने तब भारतीय नेताओं से पुकार की कि अपने देश की सेना वे वहाँ से हटवावें। कांग्रेस के वैधानिकतावादी नेता तो उस सम्बन्ध में कुछ न कर सके, पर आजाद हिन्द फौज की छूत के कारण भारतीय सैनिकों की अनेक टुकड़ियाँ स्वयं उन देशों के स्वाधीनता-सैनिकों से जा मिलीं और जो नहीं मिलीं उन्होंने भी कई बार ऐसा किया कि उन्हें उन सैनिकों पर गोली चलाने को कहा गया तो आसमान में चलादी। इधर भारत में १८-१९ फरवरी १९४६ को बम्बई में राजकीय नौसेना के सैनिकों ने हड़ताल और खुला विद्रोह किया, जो कांग्रेस-नेताओं के हस्तक्षेप और बीच बचाव करने और किसी को उसके लिए दण्ड न मिलने देने के आश्वासन देने पर शान्त हुआ। बिहार और जबलपुर

में पुलिस ने हड़तालें कीं। इन सब घटनाओं से सूचित था कि आजाद हिन्द फौज की छूत तेजी से फैल रही थी। अंगरेज़ों ने देखा उनके साम्राज्य का आधार ही अब इस प्रकार कमजोर हो गया है, तो उन्होंने इससे पहले कि वह भड़भड़ा कर उन्हीं पर आन गिरे, उसे छोड़ देने में अपनी कुशल समझ अपनी नयी नीति बनाई। उनकी नयी नीति अब यह थी कि भारत को छोड़ने से पहले उसे अधिक से अधिक नुकसान पहुँचाना और कमजोर बनाकर जाना जिससे कि वह एक शक्तिशाली राष्ट्र बनकर अपने पाँवों पर खड़ा न हो सके, और उनके भारत महासागर के दोनों तरफ स्थित अफरीका और आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों के लिए खतरा पैदा न कर सके*।

---

* समकालिक घटनाचक्र की यह व्याख्या पहलेपहल जयचन्द्र विद्यालंकार ने १६ जून १९४६ को अपने रावलपिंडी के एक भाषण में की थी। १३-४-४७ को पटना में और मई और जुलाई १९४७ में अजमेर और उदयपुर के अपने भाषणों में उन्होंने इसे स्पष्ट रूप से दोहराया। १९३९ में उनका इतिहास-प्रवेश नामक भारतीय दृष्टि से समूचे भारतीय इतिहास की पहली बार पूरी पर्यवेक्षा करने वाला प्रसिद्ध ग्रन्थ पूरा हुआ था। उसके बाद से वे भारतीय इतिहास परिषद् द्वारा भारत का एक प्रामाणिक इतिहास तैयार करने के उद्देश्य से बनारस बैठे थे। १९४२का आन्दोलन छिड़ने पर उनसे उसमें पड़े बिना न रहा गया। उस प्रदेश में उस आन्दोलन को सुसंघटित करने में उन्होंने विशेष भाग लिया। आन्दोलन की अन्तर्निहित विचारधारा को स्पष्ट कर जनता के सम्मुख रखने के लिए उस समय उन्होंने 'हमारी आज की लड़ाई' नामक एक पुस्तिका लिखी जो बिहार, युक्तप्रान्त, राजस्थान, पंजाब और नेपाल तक गुप्त रूप से प्रचारित होती और कार्यकर्ताओं का मार्ग-दर्शन कराती रही थी। १९४३ के अप्रैल में जयचन्द्र इसके लिए पंजाब

१९४६ के वसन्त में बरतानवी मंत्रिमण्डल का एक दल, जिसका कि नेता फिर वही स्टैफर्ड क्रिप्स था नये सुधार प्रस्ताव लेकर भारत आया और कांगरेस तथा लीग के नेताओं से बातचीत चलाने लगा। साथ ही अंगरेजों ने मुसलिम लीग और देशी राजाओं को भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध उभाड़ना भी जारी रक्खा। कांग्रेस नेताओं का कहना था कि भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता को मान कर अपना संविधान आप बनाने के लिए प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान-सभाओं के सदस्यों द्वारा निर्वाचित एक संविधान-परिषद् बुलाई जाय, उस परिषद् का कार्य होने तक के लिए कांग्रेस विद्यमान सरकार में भाग लेने को तैयार थी। मुस्लिम लीग साम्प्रदायिक आधार पर भारत के पूर्ण विभाजन का सिद्धान्त जब तक स्वीकृत न हो तब तक सहयोग देने को तैयार न थी। कांग्रेस वाले संविधान परिषद् द्वारा विभिन्न सम्प्रदायों के लिए देश की राजनीति में जो

पुलिस के खरीते (वारंट) पर बनारस से पकड़ कर पहले लाहौर किले में और बाद में अटक जिले की कैम्बलपुर जेल में नजरबन्द रखे गये, और वहाँ से सबसे पीछे छूटनेवाले कैदियों के दल के साथ फरवरी १९४६ में ही जेल से छूटकर आये थे। अपनी उस पुस्तक में उन्होंने १९४२ में ही स्पष्ट रूप से लिखा था कि अंगरेज-अमरीकी इस युद्ध में जीत ही गये और हमारी आजादी की लड़ाई असफल रही तो भी आज़ाद हिन्द फ़ौज एक बार संघटित हो जाने से देश में राष्ट्रीय सैनिक नेतृत्व की एक ऐसी परंपरा जारी हो जायगी कि जिसकी छूत अंगरेजों की भाड़ैत सेना में लगे बिना न रहेगी, अतः अंगरेजों को भारत छोड़ना होगा ; पर उस समय भी वे देश में गुंडागिरी को भड़काये रख हमारे देश को सदा कमज़ोर बनाये रखने का जतन करेंगे, ताकि वे अपने अफरीका, आस्ट्रेलिया आदि के उपनिवेशों को अपनी ख्याति के लिए सुरक्षित बनाये रख सकें।

स्थिति तय हो जाती उसे मानने को तैयार होते । पर मुसलिम लीग का कहना था कि मुस्लिम-बहुपक्ष वाले प्रान्तों की संविधान परिषद् अलग हो। झगड़ती बिल्लियों के बीच बन्दरबाँट करने का जिम्मा १९३० की तरह अब भी अंगरेज नेताओं के हाथ में था। उन्होंने संविधान-परिषद् और राष्ट्रीय सरकार की बात मान ली, पर साथ ही मुसलिम लीग की मांग को भी अंशतः स्वीकार कर निश्चय किया कि भारत के केन्द्रिक शासन के हाथ में सेना और वैदेशिक नीति जैसे विषय ही होंगे, बाकी सब कार्यों में प्रान्त स्वायत्त होंगे, तथा प्रान्तीय संविधान बनने के लिए पच्छिमी मुस्लिम बहुल प्रान्त (पंजाब, सिन्ध, सीमाप्रान्त), पूरबी मुसलिम बहुल प्रान्त (बंगाल, आसाम) तथा शेष भारत ये तीन हिस्से करके प्रत्येक हिस्से की अलग अलग संविधान-परिषद् अपने अपने देश का संविधान बनायगी, तथा इनमें से कोई प्रान्त चाहे तो अपने वर्ग से हट कर दूसरे में मिल सकेगा। साथ ही उन्होंने घोषणा की कि अंगरेजों के जाने पर भारत के प्रान्तों और केन्द्र का शासन तो संविधान परिषदों के निर्वाचित नेताओं को सौंप दिया जायगा, पर साढ़े पाँचसौ से ऊपर देशी राजाओं में से भी प्रत्येक स्वतन्त्र कर दिया जायगा। राजा लोग चाहें तो तीनों संविधान-परिषदों में से किसी एक में सम्मिलित हो सकते हैं, अपना कोई संघ बना सकते हैं या अलग रह सकते हैं। कांग्रेस नेता कुछ हीला-हवाला करने के बाद इस आधार पर भी केन्द्रीय शासन में आने को तैयार होने लगे तब मुसलिम लीग ने १६ अगस्त से अपनी सीधी कार्रवाई आरम्भ कर दी। कलकत्ते में जहाँ मन्त्रिमण्डल मुस्लिम लीगी था पूर्व योजनानुसार जनता का कतले-आम लूटपाट और आगजनी शुरू हुई, जो पाँच दिन लगातार जारी रही। शुरू में हिन्दुओं का नुक्सान ज्यादा हुआ, पर अन्त में जब हिन्दुओं ने भी पलट कर भीषण बदला लेना प्रारम्भ किया तब फौज और पुलिस ने हस्तक्षेप कर दंगा शान्त कराया।

कांग्रेस ने इसके बावजूद २ सितम्बर को जवहारलाल नेहरू की नायकता में मंत्रिसमिति बना केन्द्र में अन्त:कालिक सरकार स्थापित की और मुस्लिम लीग की मिन्नतें करने लगी कि वह भी उसमें शामिल हो। कलकत्ते के नरमेध का असर सारे भारत पर पड़ा। मुसलमानों का जानी नुकसान कलकत्ते में ज्यादा होना कहा जाता था, उसका बदला लेने के नाम पर मुस्लिम लीगी गुण्डों ने पूरबी बंगाल के नोआखाली जिले में हिन्दू जनता की खुली मारकाट प्रारम्भ की। फिर नोआखाली का नाम लेकर बिहार में हिन्दुओं को मुसलमानों के खिलाफ उभारा गया। उसकी प्रतिक्रिया सीमाप्रान्त के हजारा और पंजाब के रावलपिण्डी जिले में हुई।

उधर अंगरेजों ने भारतीय राजा-रईसों को भी भड़का कर राजस्थान से उड़ीसा तक की रियासती मेखला को भारत से काट कर स्वतंत्र रूप देने का षडयन्त्र रचना प्रारम्भ किया। नवम्बर १९४६ में इसके लिए राजाओं का एक सम्मेलन उदयपुर में महाराणा भोपालसिंह की अध्यक्षता में बुलाया गया, जिसमें महाराणा पर दबाव डाला गया कि वे भारतीय राजाओं का नेतृत्व स्वीकार करें। पर महाराणा ने इस षडयन्त्र का नेतृत्व स्वीकार न किया।

नवम्बर में मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि केन्द्रीय मंत्रिमंडल में भी शामिल हो गये और सरकारी शासन-यन्त्र के संचालन में भीतर से भी रेड़ मारने लगे।

९ दिसम्बर १९४६ से प्रान्तीय विधान-सभाओं द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों और केन्द्रीय विधान सभा के सदस्यों द्वारा बनी संविधान परिषद् का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। किन्तु मुस्लिम लीग, जिसकी तरफ से लार्ड वेवल ने उसके प्रतिनिधियों को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में शामिल करते समय कांग्रेस को यह आश्वासन दिलाया था कि वह उसमें अवश्य शामिल होगी,

शामिल न हुई और मुस्लिमबहुल प्रान्तों की अलग संविधान-परिषद् की अपनी माँग करती रही।

राजस्थान के उत्तर-पूरबी अंचल—अलवर राज्य और उसके चौगिर्द के इलाके—की आबादी में मेवों की प्रधानता होने से वह समूचा प्रदेश मध्यकाल के आरम्भ से मेवात कहा जाता था। किन्तु १६वीं सदी के आरम्भ में अंगरेजी राज की बदौलत मेवों का प्रदेश शासन की अनेक इकाइयों—अलवर और भरतपुर के राज्यों तथा मथुरा, गुड़गाँवाँ और रोहतक जिलों—में विभक्त हो गया था। मेव लोग पुराने शकों की एक शाखा में से थे, और मध्य काल के अन्त तथा आधुनिक काल के आरम्भ में नाममात्र को मुसलमान बन गये थे। वे बहुत अच्छे कृषक और योद्धा हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में, जैसा कि पीछे कह चुके हैं, माचेड़ी के राजपूत जागीरदार ने मराठों के विरुद्ध अंगरेजों को जो सहायता दी, उसके पुरस्कार-स्वरूप अंगरेजों ने उस जागीरदार को अलवर के राजा रूप में स्थापित किया था। १९२१ और बाद के जन-आन्दोलन से फैली जागृति के फलस्वरूप मेव कृषकों में समूचे मेवात को एक राजनीतिक इकाई के अन्तर्गत करने और राजपूत शासकों और जागीरदारों के मुकाबले में अपने मानव-स्वत्वों को पुनः प्राप्त करने की माँग इस शताब्दी के तीसों में ही उठ चुकी थी। उन दिनों अलवर रियासत का दीवान अंगरेजों के राजनीतिक विभाग द्वारा नवाब गजनफर अली खाँ नियुक्त किया गया, जिसके षड्यन्त्रों से मेवों के भाषा-जनपद-स्थापना के उस स्वाभाविक और विशुद्ध राजनीतिक तथा कृषकों के आर्थिक आन्दोलन को, जैसा कि हम पीछे देख आये हैं, १९३२-३३ से हिन्दू और राजपूत-विरोधी आन्दोलन का रूप मिलना शुरू हो गया था। उस समय के अलवर महाराजा को उसी चक्कर में फँस कर अपनी गद्दी से हाथ धोने पड़े थे। वही गजनफर अली अब मुस्लिम लीग की तरफ से भारत के केन्द्रीय शासन में मन्त्रि-मण्डल का सदस्य था। मेव-समस्या ने अब हिन्दु-मुस्लिम

समस्या का रूप धारण किया। पंजाब के अंगरेजी सूबे में स्थित गुड़गांवाँ, रोहतक आदि जिलों के मेवाती अंशों में मेवों और वहाँ की अन्य जाट आदि अमुस्लिम जनता के बीच तो एक तरह बाकायदा गृहयुद्ध सा आरम्भ हो गया। दिल्ली में बैठे मन्त्रिमण्डल के मुस्लिम लीगी सदस्य वहाँ जा जाकर मेवों को खुल्लमखुल्ला अपने पड़ोसी हिन्दू जाटों आदि के खिलाफ उभारते और शासन-तन्त्र की सेवा में स्थित अनेक स्थानीय अंगरेज अधिकारी तथा फौज और पुलिस के उच्चपदस्थ उनकी शस्त्रास्त्रों और सैनिक सलाह-मशविरों द्वारा गुप्त अर्धप्रकट या प्रकट रूप में मदद करते। तो भी मेवों और जाटों के विषय में यह कहना होगा कि उनका आचरण परस्पर लड़ते समय पुराने क्षत्रिय आदर्शों के अनुसार ही रहा; एक दूसरे पर हमला करते समय स्त्री-बच्चों को खतरे के स्थान से हटा देने की सूचना प्रतिपक्षी को वे पहले से दे देते रहे। इसके विपरीत आचरण यदि कहीं हुआ तो अंगरेजी पुलिस, फौज और शासन के कमीने अधिकारियों की हरकतों की बदौलत ही हुआ।

बाकी राजस्थान में भी गवर्नर जनरल का अंगरेज कामदार (एजेंट) और रियासतों के अंगरेज शासन-निरीक्षक (रेजीडेण्ट) राजाओं तथा राजपूतों आदि कुलीन शासक-वर्गों को भीतर ही भीतर उभारते रहे कि वे या तो मुस्लिम लीग द्वारा परिचालित संविधान-परिषद् में सम्मिलि। हों, जहाँ उनके व्यक्तिगत सामन्ती विशेषाधिकार और निरंकुश एकसत्ता सुरक्षित बनी रह सकेंगी, और या अपनी ज्ञातियों बिरादरियों के आधार पर संघबद्ध हो दोनों तीनों संविधान-परिषदों का बहिष्कार कर बरतानवी ताज के नीचे अपने उपराज्यों को स्वीकृत कराने की माँग रक्खें।

कांग्रेस के मन्त्री मुस्लिम लीगी गुण्डों को रोकने या दण्ड देने में सर्वथा असमर्थ रहे। वे पदग्रहण से पूर्व समाजवाद की और जमीदारी-उन्मूलन की लम्बी-चौड़ी बातें किया करते थे। ठेठ हिन्दुस्तान (युक्तप्रान्त) के जमींदारों में मुस्लिम लीगी बहुत थे। उनका कहना

था कि भूमि का राष्ट्रीयकरण या कृषकों को देना आवश्यक है तो साथ-साथ उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण या उन्हें उत्पादक श्रमिकों की पञ्चायतों के हाथ में सौंपना और पूँजी को राष्ट्र के नियन्त्रण में लेना भी उतना ही आवश्यक है। केन्द्रीय सरकार में मुस्लिम लीग के पदग्रहण करने पर ठेठ हिन्दुस्तान के बड़े ज़मींदार और भारतीय मुस्लिम लीग के मन्त्री लियाकतअलीखाँ ने अर्थ-विभाग अपने हाथ में लिया। फरवरी १९४७ में उसने राष्ट्रीय संघ सरकार की जो नयी आय-व्यय की कूत (बजट) बनायी, उसमें कर-व्यवस्था ऐसी की कि भारतीय पूँजीपति वर्ग, जिसमें प्रधानतः हिन्दू और कांग्रेस-समर्थक मारवाड़ी व्यापारी और उद्योगपति थे, त्राहि-त्राहि कर उठा। कलकत्ते के बड़े मारवाड़ी व्यापारी जो कांग्रेस को सहायता पहुँचाने वालों में प्रमुख थे, युद्धकाल में मुस्लिम लीगी मन्त्रिमण्डल के समय सरकारी ठेके आदि मुस्लिम लीगियों को आगेकर के उनके नाम पर लिया करते थे। मुस्लिम लीगी अब उनसे अपना अधिकाधिक हिस्सा माँगते थे, जिससे वे तंग आगये और चाहने लगे कि किसी भी कीमत पर मुस्लिम लीग से अपना पिंड छुड़ायें। बंगाल के पूरवी इलाकों में मुस्लिम आबादी अधिक है, पर पच्छिम में हिन्दू ज्यादा हैं। मारवाड़ी व्यापारियों और उनके पिछलग्गुओं ने माँग उठायी कि बंगाल का विभाजन कर दिया जाय। पच्छिमी बंगाल के हिन्दू आबादी वाले इलाकों में वे अपनी पसंद का मन्त्रिमण्डल बनवा वहाँ की अर्थनीति पर अपना सीधा नियन्त्रण कर लेना चाहते थे। पूर्वी पंजाब में कुछ बहके हुए सिक्खों तथा हिन्दू-सभाइयों द्वारा भी इसी तरह की माँग पंजाब के विभाजन के लिए उठायी गयी।

सारे देश में इस समय गहरी उत्कण्ठा और आकुलता थी कि आगे क्या होगा। मुस्लिम-बहुल प्रान्तों और देसी राज्यों में अनेक तरह की आशंकाएँ फैल रही थीं। अंगरेज एक तरफ़ जाने की बातें कर रहे थे, दूसरी तरफ गुण्डा-कार्यों को उभारने और भारतीय राजा-रईसों

तथा दूसरी सब तरह की प्रतिगामी शक्तियों को भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध खड़ा करने में भी कोई कसर न छोड़ रहे थे। मुस्लिम लीग जिसकी कि हैसियत १९३० के बाद स्वयं कांग्रेस के नेताओं ने बढ़ायी थी, अन्तःकालवर्ती सरकार में उनके साथ शामिल होने पर भी उनसे किसी तरह का सहयोग न कर भीतर ही भीतर अड़ंगे लगा रही और गुण्डा कार्यों को खुल्लमखुल्ला उभाड़ रही थी। कांग्रेस के नेता अब तक देश के साम्प्रदायिक बँटवारे का विरोध करते और यह कहते आये थे कि पाकिस्तान उनकी लाशों पर ही बन सकेगा। पर अंगरेज़ों की इस दुरंगी नीति और नौ मास की इस गुण्डई ने उन्हें किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया। उस विषम परिस्थिति से निकलने का उन्हें अब कोई रास्ता न सूझ रहा था। अंगरेज़ सचमुच चले जायँगे इसमें भी उन्हें सन्देह था। उनमें से अनेक यह सोचते थे कि अंगरेज मुँह से तो जाने की बात कर रहे हैं,पर उन्होंने यह मारकाट इसीलिए जारी करवाई है कि इस बहाने वे यहाँ बने रहें। जो अंगरेज़ अधिकारी मारकाट को उभार रहे थे उनपर स्वयं लार्ड वेवल की कृपा प्रतीत हो रही थी। अंगरेज स्वयं भी न जानते थे कि उनके इस खेल का अन्त कहाँ होगा। उन्होंने अब २० फरवरी १९४७ की एक घोषणा द्वारा यह प्रकट कर दिया कि भारतवासी देश के भविष्य के विषय में आपस में चाहे सहमत हों या नहीं, वे जून १९४८ तक भारत अवश्य छोड़ जायँगे, और तब जहाँ जिसकी शक्ति देखेंगे या जिसे उचित या इस लायक समझेंगे कि उनके बाद वहां की शान्ति व्यवस्था और विदेशी साख की जिम्मेवारी उठा सकता है, वहाँ सत्ता उसी के हाथ सौंप जायँगे। दूसरे शब्दों में यह उनका राजाओं और मुसलिम लीग आदि प्रतिगामिनी शक्तियों को संकेत था कि वे कांग्रेस से कोई समझौता न कर कुछ दिन और अपनी ज़िद पर डटे रहें तो जिन हिस्सों पर उनका प्राबल्य है उनका शासन उन्हें मिल

जायगा। देश को इस प्रकार टुकड़ों में विभाजित कर भारतीय राष्ट्रवाद की संघटित शक्ति को छितरा देने की यह धमकी भी थी।

कांग्रेस नेताओं का देश-विभाजन का विरोध इस प्रकार मार्च १९४७ तक ठंढा पड़ने लगा। उन्हें यों ढीला पड़ता देख अंगरेजी मंत्रिमंडल ने लार्ड वेवल को भारत से बुला लिया और बरतानवी सम्राट् के चचा लार्ड माउण्टबाटन को हिन्दुस्तान का नया वायसराय बना कर भेजा कि नेताओं को पुचकार, फुसला कर अब वह पूरी तरह आत्मसमर्पण करने को तैयार कर दे। माउण्टबाटन युद्धकाल में बरमा, मलाया आदि को पुनः जीतने वाली अंगरेज-अमरीकी सेना का मुख्य सेनापति था। उस नाते उसने आज़ाद हिन्द फौज के खिलाफ़ लड़ाई का नेतृत्व किया था और सिंगापुर पहुँचने पर सुभाष वसु द्वारा खड़ा किया गया आजाद हिन्द के शहीदों का स्मारक गोलों से उड़वा दिया था। अब एक तरफ़ उसने भारत आकर अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों से कांग्रेस के नेताओं को रिझाने के साथ-साथ ऊपर ऊपर से मुस्लिम लीग तथा राजाओं का कांग्रेस के साथ समझौता कराने का नाटक रचा, दूसरी तरफ अंगरेज़ अधिकारी और उनके देशद्रोही हिन्दुस्तानी कारिन्दे मुस्लिम लीगी गुण्डों को शह देते और राजाओं, जमींदार-जागीरदारों आदि को भड़का कर देश में गड़बड़ मचाये रखने का प्रयत्न भी पहले की तरह बराबर करते रहे। अंगरेज सैनिक अधिकारी सैनिक भण्डारों, शस्त्रागारों आदि से उपद्रवकारियों को शस्त्रास्त्र और सामान बराबर पहुँचाते रहे।

माउण्टबाटन ने नेताओं को समझाया कि विभाजन स्वीकार करना ही अब एकमात्र रास्ता है। भारत के नेता यह न समझ सके कि सेना पुलिस आदि में जो नयी जागृति के लक्षण आज़ाद हिन्द फौज की छूत के कारण प्रकट हो गये थे, अंगरेज़ उन्हींके कारण भारत से जाने को लाचार थे। सैनिक प्रश्नों को उन्होंने कभी सोचा ही न था। सैनिक

नेतृत्व करने या उसके द्वारा उठी परिस्थितियों की जिम्मेवारी उठाने के लिये जिस साहस और योग्यता की आवश्यकता होती है उसका अभाव वे अपने में सदा से अनुभव करते, अतः अहिंसा की आड़ में उन प्रश्नों की ओर से अपनी आँख वे हमेशा से मूँदते आए थे। खुले जन-संघर्ष का मार्ग, जिसका कि आसरा लेने के कारण वे जनता में प्रमुखता पा गये थे, १९४२ में ऐसी मंजिल तक आ पहुँचा था कि जिसके बाद अब वह खुले सैनिक विद्रोह के रूप में ही परिणत होता, जिसे चलाने की योग्यता या हिम्मत नेताओं ने अपने में १९४२ में ही न पाई थी। ऐसी दशा में कोई जन-आन्दोलन चलता तो जनता का नया नेतृत्व सामने आता और पुराने नेताओं को नेतृत्व से हाथ धोना पड़ता। अतः वे अब किसी भी शर्त पर अंगरेजों से समझौता कर अपना नेतृत्व बचाने को उत्सुक थे। माउण्टबाटन की बातों से अपने आप को रीझने देकर वे अब स्वयं को यह मान कर धोखा देने लगे कि ऊँची श्रेणी के अंगरेजों का हृदय-परिवर्तन सचमुच ही उनकी अहिंसानीति के कारण हो गया है, बरतानवी मजदूर-दल समाजवादी होने से उनका हितू है और अपने उदार समाजवादी सिद्धान्तों के कारण ही भारत छोड़ कर जाना चाहता है, शरारत करने वाला और भारत की आजादी में रोड़े अटकाने वाला तो केवल भारत सरकार का निचला अंगरेज़ नौकर-दल है जो पुरानी अनुदारपंथी दल की सरकार का अनुयायी होने से समाजवादी मजदूर-सरकार की नीति का पालन नहीं होने देता। उन्होंने यह भी नजरन्दाज कर दिया कि मुस्लिम लीग के पीछे उसके गुण्डों को भड़काने वाली शक्ति अंगरेजों के सिवाय कोई न थी।

कांग्रेस के नेता यदि परिस्थिति को ठीक से देखते और इस संकट से उद्धार पाने में देश का नेतृत्व सच्चे दिल से करना चाहते तो उसके लिए ठीक रास्ता, जैसा कि जयचन्द्र विद्यालंकार ने १३ अप्रैल १९४७

के अपने पटना के और मई के अजमेर और गुरुकुल-कांगड़ी के भाषणों में सुझाया था, सुसंघटित ऊँचे दर्जे की राष्ट्रीय सैनिक शक्ति का विकास ही था, जिसकी कि बुनियाद आजाद हिन्द सेना के रूप में देश में उपस्थित थी। नेता यदि उसे अपने साथ लेते और २ सितम्बर १९४६ को पदग्रहण से पहले चलने वाली अंगरेजों के साथ की अपनी बातचीत में ही यह स्पष्ट माँग दृढ़तापूर्वक रखते कि आजाद हिन्द सेना के आधार पर ही वे नये स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रीय सेना खड़ी करेंगे, और आजाद हिन्द सेना के मेजर-जनरल शाहनवाज जैसे किसी नायक को अपना सेना-सचिव बनाते तो सारे देश ने बड़े उत्साह से उनका साथ दिया होता और देश में ऐसा वायुमण्डल बना रहता कि मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता उसके सामने फीकी पड़ जाती और उसका गुण्डादल या दूसरा कोई भी वैसा दल उस वायुमण्डल में अपना कार्य न कर पाता। अंगरेज भारतीय सेना में जो साम्प्रदायिक विष फैलाने का जतन कर रहे थे और जिसके द्वारा ही उन्होंने देश का विभाजन किया, उसे सर्वथा रोका जा सकता। किन्तु नेताओं ने यह रास्ता जानबूझ कर न देखा, क्योंकि किसी भी क्रान्तिकारी संघटन का साथ देने में ही खतरा है यह धारणा उनके अन्तस्तल में सदा से जमी हुई थी, और यदि कहीं क्रान्तिकारियों के हाथ में अपना हाथ दिये हुए उन्हें देश में अंगरेजों से एक और संघर्ष लेना पड़ जाता तो नेतृत्व उनके हाथ से निकल कर क्रान्तिकारी दल के हाथ में चला जाता। वे स्वयं देश का नेतृत्व करने में १९४२ में ही पूरी तरह विफल हो चुके थे, और उसके बाद उस नमूने के नेतृत्व के लिए देश में कोई स्थान न रहा था।

महात्मा गान्धी को भी इस समय कोई स्पष्ट रास्ता न दिखायी देता था, तो भी उनकी चारित्रिक उच्चता उन्हें अपनी टेक पर बनाये रही, और वे भारत की अखण्ड्य एकता के आदर्श को और प्रस्तावित पाकिस्तान के अपने पुराने विश्वस्त साथियों को छोड़ने को तय्यार न हुए। जो

मारकाट चल रही थी उसके पीछे अंगरेज हैं इस बात से आँख मूँदकर उन्होंने अपने को धोखा न दिया। देश का विभाजन स्वीकार करने की अपेक्षा वे अँधेरे में छलाँग लगाने और अंगरेजी सरकार से असहयोग कर कुछ दिन अंगरेजों के हाथ में ही शक्ति रहने देकर या जिस किसी के हाथ में वे उसे देकर जाना चाहें दे जाने देकर जो कुछ भी परिणाम हो उसे झेलने को तय्यार थे। कांग्रेस नेताओं को उन्होंने मन्त्रित्व छोड़ देने की सलाह दी। उन्होंने सोचा कि १९१९ के फौजी कानून के अत्याचारों से बुरा और अधिक से अधिक क्या होगा। पर गान्धीजी के साथी अब उनका कहना मानने या उनका साथ देने को तय्यार न थे। वे पदों पर चिपके रहना चाहते थे। नेहरू, राजगोपालाचार्य आदि ने तो गान्धी का मार्ग १९४० से ही छोड़ दिया था, दूसरे जो उस समय उनके साथ थे उन्होंने भी अब उनका साथ छोड़ दिया।

शुरू जून १९४७ में इस प्रकार समस्त राष्ट्रवादी तत्वों और आज़ाद हिन्द सेना का साथ छोड़, प्रस्तावित पाकिस्तान की हिन्दू जनता तथा राष्ट्रवादी मुसलमानों के साथ, खास कर सीमाप्रान्त के पठान खुदाई-खिदमतगारों के साथ जिन्होंने कि १९३० के बाद से सदा सच्चाई और बहादुरी से कांग्रेस का साथ दिया था, घोर विश्वासघात करके कांग्रेस के मुख्य नेताओं ने कांग्रेस के सर्वसाधारण सदस्यों तथा महात्मा-गांधी से कोई सलाह लिए बिना देश के विभाजन की स्वीकृति माउण्ट-बाटन को दे दी।

कहा जा चुका है कि राजस्थान तथा अन्य देसी रियासतों में इस बीच गहरी उत्कंठा, आकुलता और आशंका फैली थी। मई में जयचन्द्र विद्यालंकार के तात्कालिक परिस्थिति के विश्लेषण वाले भाषण को सुन अजमेर के लोगों ने उनसे राजाओं की स्थिति और राजस्थान के भविष्य के विषय में भी प्रश्न किये थे। उनका उत्तर उन्होंने यह दिया था कि

राजाओं के पीछे कोई शक्ति नहीं है, जिस अंगरेजी सेना के बल पर वे अभी तक खड़े थे उसके भारत से हट जाने पर यदि वे अपनी जनता या राष्ट्र से संघर्ष में आने की चेष्टा करेंगे तो स्वयं नष्ट हो जायँगे। उनके लिए उचित यही है कि अपनी प्रजा को अधिकार देकर वे भारतीय राष्ट्र-वाद के सहयोग से देशोन्नति में साथ दें। राजस्थान के भविष्य के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि समस्त राजस्थानी-भाषाभाषी जनपद को एक सुश्लिष्ट प्रान्त बनाना होगा।

जागीरदारों की समस्या पर उन्होंने कहा कि राजस्थान के जागीरदारों में से अधिकांश विदेशी आक्रान्ताओं के खिलाफ होने वाले राष्ट्रीय संघर्षों के फलस्वरूप अस्तित्व में आये थे, उनका पद स्थानीय शासकों और सैनिक नेताओं का रहा है। उनकी जागीरें उनकी उन सार्वजनिक सेवाओं के वेतन रूप में ही थी, अब के युग में स्थानीय शासन जनता की पंचायतों के हाथ में रहेगा और सेना का संचालन केन्द्रीय शक्ति के हाथ में। अतः जागीरों का अस्तित्व निरर्थक हो जायगा। राजस्थान के अधिकांश जागीरदारों को जिस देशभक्ति और बलिदानों के लिए अब तक यह पुरस्कार और उच्च सम्मान समाज में प्राप्त था उसका तकाजा है कि वे अब नये शक्तिशाली राष्ट्र को संघटित करने के लिए जागीरें छोड़ें। उन्हें अपनी जनता से संघर्ष में आने और अपने किसानों से तुच्छ झगड़ों में पड़ने के बजाय अपनी जनता को संघटित कर अपने पाँवों पर स्वयं खड़ा होने में सहायता देने को उसका नेतृत्व करना चाहिए। देश को उनकी वीरता और नेतृत्व शक्ति की आवश्यकता जीवन के हर पहलू और हर क्षेत्र में होगी, जहाँ कि वे अपनी उन शक्तियों के प्रयोग और विकास का भरपूर अवसर पायँगे।

राजस्थान के अनेक जागीरदार उस समय ठेठ हिन्दुस्तान (युक्तप्रान्त) के अनेक जमींदारों से मिल धौलपुर के राणा के नेतृत्व में कांग्रेस के खिलाफ संघटित मोर्चा बना रहे थे। उन्हें सम्बोधित कर जयचन्द्र ने

कहा कि वे अंगरेजी भारत के जमींदारों और धौलपुर के राणा के साथ मिलकर अपने को गिरायें नहीं, क्योंकि धौलपुर की रियासत तथा अंगरेजी इलाकों के अधिकांश जमींदारों की जमींदारियाँ अंगरेजों द्वारा १८५७ या उसके पहले के राष्ट्रीय संघर्षों में देश के साथ गद्दारी करने के लिए पुरस्कार रूप में दी गयी हैं, जब कि राजस्थान के अधिकांश जागीरदारों की जागीरें पुराने राष्ट्रीय राजाओं द्वारा उनके देशभक्तिपूर्ण कार्यों के पुरस्कार रूप में मिली हैं। यदि उन्होंने अपने को उन देश-द्रोहियों के साथ मिला एक पंक्ति में खड़ा किया तो वे अपने यशस्वी पुरखों के नाम को भी कलंकित करेंगे।

राजाओं को अंगरेज तथा उनके गुर्गे मुस्लिम लीगी आदि बराबर उभार रहे थे कि वे भारतीय संविधान-परिषद् में सम्मिलित न हो अपने प्रादेशिक संघटन अलग बना बरतानवी राजसत्ता से अपना सीधा स्वतन्त्र गठबन्धन करलें। राजस्थान के राजाओं के नवम्बर १९४६ के उदयपुर सम्मेलन के बाद उनके दीवानों का एक सम्मेलन जयपुर में हुआ। उसमें भी राजस्थानी राज्यों का एक संघ बनाने की समस्या पर विचार हुआ और जनता से छिपाकर बहुत से गुपचुप निश्चय किये गये। शुरू अप्रैल १९४७ में राजाओं और उनके दीवानों का वैसा ही एक सम्मेलन बम्बई में नवाब भोपाल की अध्यक्षता में बुलाया गया। किन्तु महाराज बीकानेर की सामयिक और देशभक्ति-पूर्ण स्पष्टो-क्तियों के कारण, जिनमें कि राजाओं को भारतीय संघ-संविधान-परिषद् में सम्मिलित हो जाने की जोरदार सलाह दी गयी थी, वे साजिशें सफल न हो सकीं। भोपाल के नवाब ने नवानगर के जाम से मिल राजस्थान—अर्थात् राजपूताना और मालवा दोनों—तथा गुजरात काठियावाड़ के समस्त राज्यों को मिलाकर एक पृथक् संघ-उपराज्य स्थापित करने की योजना बनाई, जो जाम-संघ-योजना के नाम से प्रसिद्ध हुई। गवालियर, इन्दौर, जयपुर, जोधपुर आदि के राजाओं

। साथ ले मेवाड़ के महाराणा पर दबाव डाला गया कि उनका तृत्व करना माने तो मालवे समेत समूचे राजस्थान और गुजरात-ाठियावाड़ के राज्यों को एकत्र संघबद्ध कर पाकिस्तान की तरह इस भाग पर भी एक स्वतंत्र उपराज्य हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों पृथक् स्थापित किया जाय। किन्तु मेवाड़ अपनी सारी पुरानी तिहासिक परम्पराओं के विरुद्ध इस प्रकार के देशद्रोहपूर्ण षड्यंत्रों में म्मिलित होने का साहस कैसे करता ?

महाराणा ने बीकानेर महाराजा की सलाह मान अपना प्रतिनिधि ारतीय संघ-संविधान-परिषद् में भेजना तय किया, और कन्हैयालाल ाणिकलाल मुंशी को, जो कांग्रेस की तरफ से भारत के गृह-विभाग के मन्त्री ल्लभभाई पटेल के विश्वस्त आदमी समझे जाते थे, अपने पास बुला ेवाड़ के लिए एक संविधान बनवाया। समूचे राजस्थान की रियासतों के प्रस्तावित संघ के संविधान का भी एक मसविदा तैयार कराया। ुंशी के ये मसौदे तुच्छ वकीली दिमागों के चिन्तन और कल्पना के अत्यन्त उपहासास्पद नमूने थे। ये दिमाग मानो यह सोचते थे कि इस राज्य परिवर्तन के समय केवल अपने कानूनी दाव-पेंच के जोर पर राज्य की सब शक्ति वे हथिया सकेंगे! उन संविधान मसौदों को देखने से यह भी मालूम होता है कि कांग्रेस नेता भारतीय राजाओं की उस समय तक बड़ी शक्ति माने हुए थे। किन्तु राजाओं के पीछे, जैसा कि पहले दर्शाया जा चुका है, कोई शक्ति न थी। राजा लोग स्वयं भीतर ही भीतर घबड़ा रहे थे कि अंगरेज चले गये तो उनकी स्थिति कैसी होगी, क्योंकि अपनी रियासतों की जनता से उनके सम्बन्ध इस बीच अच्छे न रहे थे और जिस अंगरेजी फौज की संगीनों के आसरे वे अभी तक अपने को सुरक्षित समझे थे। वह अब उन्हें छोड़कर जाने को तैयार थी।

प्रजा को विश्वास में लिये बिना बनाया गया मुंशी-संविधान २२ मई १९४७ को प्रतापजयन्ती के दिन महाराणा द्वारा सूरज गोखड़े से, जहाँ पुरातन काल से राजाज्ञाएँ घोषित होती आयीं थीं, उद्घोषित किया गया। मेवाड़ प्रजामण्डल के नेता माणिकलाल वर्मा ने कहा कि उस बेहूदा संविधान को वे उदयपुर के राजमहलों के पीछे वाले पीछोला तालाब में फेंक देंगे। कुछ दिन पीछे उसकी सचमुच वही गति हुई।

राजस्थानी रियासतों में अंगरेजों का खेल भी इस बीच जारी था। जयपुर के अंगरेज रेजिडेण्ट विलियम्स ने जयपुर राजपूत-सभा के एक प्रमुख कार्यकर्त्ता को इसी समय महाराजा की मारफत कहलाया, यदि बीस हजार राजपूत वह तैयार कर दे तो वह राजस्थान को हिन्दुस्तान से अलग एक स्वतंत्र उपराज्य बनवा देने का जिम्मा लेने को तैयार है। राजपूत जागीरदारों को सर्वत्र भड़काया जा रहा था कि वे अपनी राजपूत-सभाएँ या क्षत्रिय-परिषदें आदि बना प्रजा-आन्दोलनों और कांग्रेस का विरोध जम कर करें। दूसरी तरफ अंगरेजों के कारिन्दों, रियासती दीवानों व अन्य गैर-राजपूत उच्च राज्याधिकारियों के बहकावे में आकर* प्रजामण्डलों के

---

* मारवाड़ के राजपूत-विरोधी कृषक-जाट-आन्दोलन का सूत्रधार बलदेवराम मिडधा, १९४३–४४ तक मारवाड़ पुलिस में सुपरिंटेंडेण्ट और रियासत के तात्कालिक अंगरेज दीवान सर डोनाल्ड फील्ड के अतिविश्वस्त आदमियों में से था। उसे पुलिस से इस्तीफा दे उक्त आन्दोलन चलाने की प्रेरणा उसीने दी कही जाती है।

मेवाड़ दरबार में राजपूत-अराजपूत चेतना का जन्मदाता भी इसी प्रकार बीजोल्या बेगूं आन्दोलनों का बदनाम अंगरेज माल-हाकिम ट्रेंच ही था। मेवाड़ के राजपूत-आन्दोलन के सब मुख्य कर्णधार ट्रेंच के ही उकसाये हुए लोग थे, और प्रजामंडल के जन-आन्दोलन को राजपूत-विरोधी रंग दिलाने में भी उसी ट्रेंच द्वारा उकसाये गये मेवाड़

कुछ कार्यकर्ताओं ने राजस्थान के जन-जागृति-आन्दोलन को राजपूत-विरोधी रंग दे राजपूतों को व्यर्थ चिढ़ाने का मूर्खतापूर्ण कार्य भी जारी कर रक्खा था, जिससे यहाँ राजपूत-अराजपूत का भीषण गृहकलह आरम्भ होने का खतरा होने लगा।

वीरसिंह महता आदि क्रान्तिकारी युवकों ने, जो १९३५ में डोगरा गोलीकांड के बाद अजमेर से एक तरह निर्वासित होकर उदयपुर आ रहे थे और अपने गुरु अर्जुनलाल सेठी की प्रेरणा से वहाँ रहकर १९४२-४३ से राजपूतों तथा अन्य सैनिक क्षेत्रों में देशभक्ति और क्रान्ति की भावनाएँ जगाने का जतन कर रहे थे, राजस्थान में इस विष को फैलने से रोकने तथा राजपूतों और प्रजामण्डलों के कार्यकर्ताओं के उद्बोधन के लिए मई १९४७ में जयचन्द्र विद्यालंकार को उदयपुर बुलाया। वे वहाँ आकर अढ़ाई महीना ठहरे। मेवाड़ क्षत्रिय-परिषद् के अनेकों कार्यकर्ता और बनेड़ा ठिकाने के राजकुमार मानसिंह आदि उसके प्रमुख नेता वहाँ उनके सम्पर्क में आये। इन लोगों के हृदयों में देशभक्ति थी, पर परिस्थितियों को ठीक न समझने और अंगरेजों के मिथ्या प्रचार, कुछ प्रजामंडली कार्यकर्ताओं की संकुचित नीति और इतिहास की मिथ्या दृष्टि के कारण वे लोग कुछ बहके हुए थे। जयचन्द्र विद्यालंकार के व्यक्तिगत संपर्क में

के अनेक गैर-राजपूत उच्च पदाधिकारियों का छिपा हाथ था। ट्रेंच मेवाड़ की नौकरी से निवृत्त हो इंगलैण्ड जाने के बाद भी मेवाड़ के प्रमुख राजपूतों और महाजनों को एक दूसरे के खिलाफ भड़कानेवाली चिट्ठियाँ लिखकर उनमें आग सुलगाता रहा था। प्रजामण्डलों के अनेक कर्मठ कार्यकर्ताओं की पीठ पर इन राज्यकर्मचारियों का हाथ था और उनमें से अनेक कार्यकर्ता रियासती गृह-विभाग और रेजिडेन्सी के वेतन-भोगी गुप्तचर बन सच्चे प्रजाकर्मियों पर नजर रखने और दोनों पक्षों में आग सुलगाकर अपना मतलब गाँठने का जतन करते थे।

आने तथा शुरू जुलाई १९४७ में उदयपुर में दिये गये उनके भाषणों से, जिनमें कि अजमेर ही की तरह देश की तात्कालिक परिस्थिति का ऐतिहासिक विवेचन और अधिक विस्तार से उन्होंने किया और राजपूतों की देशभक्ति की भावनाओं को मार्मिक रूप से उकसाया, उद्भावित होकर उनमें से अनेक ने मेवाड़ क्षत्रिय-परिषद् का, जो सारे राजस्थान के राजपूत आन्दोलन का बौद्धिक नेतृत्व करती थी, साथ सक्रिय रूप से छोड़ दिया। इससे वह आन्दोलन धीरे-धीरे शिथिल और क्षीण पड़ गया और राजस्थान एक बड़े आशंकित गृहकलह और रक्तपात से बचा। नवाब भोपाल और नवानगर के जाम की राजस्थान, गुजरात की सभी रियासतों को एक खत्ते में पृथक् रूप से संघटित कर ब्रिटिश ताज के नीचे एक स्वतंत्र उपराज्य, राजपूतिस्तान, बनाने पाकिस्तान में मिल जाने या हिन्द-संघ से संघटित रूप में अपने लिए खास शर्तें प्राप्त करने की सारी योजनाएँ और साजिशें भी राजपूतों के संघटित सहयोग के इस प्रकार ढीला पड़ जाने के कारण शीघ्र ही विफल हो गयीं *।

* इस संबंध में एक मनोरंजक घटना मारवाड़ में इसके शीघ्र बाद ही घटी। महाराणा उदयपुर और बीकानेर द्वारा साथ देने से इनकार कर देने पर जाम ने गुजरात, मालवा और मेवाड़ के दक्खिन के कुछ छोटे राजपूत राज्यों को अपने साथ मिला एक छोटे परिमाण पर ही राजपूतिस्तान बनाने का भी प्रयत्न किया। मारवाड़ को भी उसमें शामिल करने के लिए उसने महाराजा जोधपुर को भी तैयार करने का जतन किया पर मारवाड़ के राजपूतों का संघटित अनुमोदन इसमें उसे न मिल सका। मारवाड़ राजपूत-सभा के अध्यक्ष और वर्तमान महाराजा के छोटे मामा कप्तान मोहनसिंह भाटी ने, जो कि एक देशभक्त राष्ट्रवादी युवक थे, जाम को जो कि अपनी प्रजा का धन अपने शान-शौकत विलायती कुत्ते पालने आदि में उड़ाने के लिए बदनाम था, उसके राजपूत-एकता

जयचन्द्र उदयपुर में थे जब शुरू जून में देश का विभाजन साम्प्रदायिक आधार पर मान लिया जाने का समाचार आया। उन्होंने उसकी आलोचना करते हुए अपने भाषणों में उसी समय कहा कि जो लोग यह समझते हैं कि विभाजन स्वीकार करने और विवादग्रस्त इलाकों में निर्णय के लिए अंगरेज पंच और शान्तिरक्षा के लिए अंगरेज सैनिक उच्चपदाधिकारियों को नियत कर देने से देश में चलनेवाला वह गुण्डा कार्य —मार-काट आदि— रुक जायगा, वे भारी भ्रम में हैं; इससे उलटा जहाँ-जहाँ अंगरेजी फौजी व नेता रक्खे जायँगे, वहीं गुण्डाशाही सबसे अधिक चलेगी, और पाकिस्तान बन जाने पर अंगरेज़ों को भारत के खिलाफ़ गुंडई जारी रखने का पक्का आधार मिल जायगा। ठीक वैसा ही हुआ। विभाजन घोषित होते ही पंजाब, सीमाप्रान्त और सिन्ध में मारकाट और जनता में भगदड़ व्यापक रूप से आरम्भ हो गयी। अंगरेज सैनिक या दीवानी शासनाधिकारी जहाँ-जहाँ थे, उन्होंने जहाँ हिन्दू आबादी अधिक थी वहाँ हिन्दू गुण्डों को और जहाँ मुस्लिम-जनता की प्रधानता थी वहाँ मुस्लिम लीगी गुण्डों को खुले आम सहायता देनी प्रारम्भ कर दी। जनता पर सब तरह के क्रूर और निर्घृण अत्याचार आरम्भ हो गये। पर कांग्रेस के नेता जिनके कि हाथ में इस समय देश का शासनदण्ड था, अन्तिम समय तक जनता को झूठा दिलासा देते रहे कि सब ठीक हो

की दुहाई देने पर मारवाड़ के राजपूतों की तरफ से उत्तर दिया कि जब हम गरीब राजपूत मारवाड़ में जेठ-आषाढ़ की दुपहरी में अपने खेतों में पसीना बहाकर हल चलाते थे, आप अपने कुत्तों को गरमी न लगे इसके लिए हवाई जहाजों द्वारा शिमला शैल की सैर के लिए भेजते थे। आप अब उन्हीं कुत्तों का सहयोग खोजिये! मारवाड़ का राजपूत देशद्रोही कार्यों में हाथ बंटा कर मेवाड़ियों के सम्मुख अपनी नाक अब और नीची न होने देगा।

जायगा, वह अपने स्थानों से हटे नहीं। पर उधर उन्होंने उसकी सुरक्षा का कोई विचार किये बिना अपने सगे सम्बन्धियों तथा पाकिस्तान के पैदा हुए उन हिन्दू सरकारी कर्मचारियों को भी, जिन्होंने अपनी सेवायें हिन्दुस्तान को अर्पित करने की अभिलाषा प्रकट की, पाकिस्तान से चुपचाप हटा लिया।

१५ अगस्त १६४७ भारत के विभाजन और अंगरेजों द्वारा दोनों भारतीय उपराज्यों में अपने मनोनीत नेताओं के हाथ में शक्ति थमाकर भारत से विदा लेने की तिथि निश्चित हुई थी। पंजाब में ११ अगस्त से ही विकट और व्यापक उपद्रव शुरू हो गये। अंगरेज सेनाधिकारियों ने, जो विभाजन को शान्तिपूर्वक सम्पन्न कराने को जगह-जगह तैनात किये गये थे, उपद्रवों को उलटा खूब भड़काया। भारत और पाकिस्तान के नेता सब जानते-बूझते भी अपनी आँखें उस तरफ से मूँदे रहे। गाँव के गाँव और शहरों में मुहल्ले के मुहल्ले लूटे जलाये और बरबाद किये जाने आरम्भ हुए, स्त्रियों बूढ़ों और बच्चों पर घृणित से घृणित अमानुषिक रोमहर्षण बीभत्स और अश्लीलतम अत्याचार होने लगे। एक-एक शहर में पन्द्रह-पन्द्रह बीस-बीस हजार की समूची आबादी का कत्ल और मुहल्लों को घेर कर उन्हें हजारों नर-नारियों को जीवित चिताओं में बदल देना आरम्भ हुआ।

१५ अगस्त को, जब कांग्रेस के नेता दिल्ली में आजादी का उत्सव बड़ी धूमधाम से मना रहे और अपनी कायरता को बहादुरी तथा जनता और अपने तमाम पुराने विश्वस्त साथियों के साथ किये गये लज्जा-जनक विश्वासघात को अपनी योग्यता और अहिंसानीति की विजय कह कर आपस में अपनी प्रशंसा के पुल बाँधते नहीं अघा रहे थे तब पंजाब सारा जल रहा था और लाखों नर-नारी, जो अपने इन "महान नेताओं" के वचनों और आश्वासनों पर भरोसा कर अपने स्थानों पर आखिर तक

वीरतापूर्वक डटे रहे थे, अपने जीवन स्त्री-पुत्रों और परिवार का विनाश और बेइज्जती तथा पुरखों के घर-द्वार और पीढ़ियों द्वारा संचित संपत्ति और संस्कृति का निर्मम ध्वंस अपनी आँखों के सम्मुख देखने की घड़ियाँ आकुलतापूर्वक गिन रहे थे। महात्मा गांधी ने वह दिन उपवास और प्रार्थना में बिताया।

§ २१. बीसवीं सदी में राजस्थान की सांस्कृतिक चेष्टा

बीसवीं सदी के जागरण का प्रभाव साहित्य और संस्कृति पर भी पड़ा। अपने अतीत और इतिहास के प्रति उत्सुकता और गौरव-भावना, जो किसी भी राष्ट्र के जीवित-जाग्रत होने की पहली निशानी होती है, राजस्थान में, जैसा कि कह चुके हैं, आरम्भ से भारत के अनेक प्रान्त की अपेक्षा अधिक थी।

अपने इतिहास और संस्कृति को लोक आख्यायिकाओं और भाटों की ख्यातों के स्तर से उठा नवीन तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा वैज्ञानिक स्तर पर ले आने के कार्य का आरम्भ तो १९ वीं शताब्दी के अन्त में ही यहाँ कैसे आरम्भ हुआ था सो हम देख चुके हैं। उसी सिलसिले में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और उनकी 'भारतीय प्राचीन-लिपिमाला' के १८९४ में निकले प्रथम संस्करण का भी उल्लेख किया जा चुका है। ओझा को इनके लिए प्रथम प्रेरणा सम्भवतः श्यामजी कृष्णवर्मा से मिली थी, जिनके सहायक रूप में वे १८९२-९३ में उदयपुर में काम करते थे।

ओझा १८९४ के बाद भारत और विशेषतः अपने प्रान्त राजस्थान के इतिहास के मनन पुनः शोधन और संकलन में बराबर लगे रहे। उनकी विद्या और प्रामाणिकता की धाक इस शताब्दी के आरम्भ से ही मानी जाने लगी थी। प्रसिद्ध भारतीय-विद्याविशारद जर्मन विद्वान

कीलहार्न ने उनका मत उद्धृत करते हुए इस शताब्दी के आरम्भ में ही लिखा था—"पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जिनसे अधिक अपने देश के इतिहास को दूसरा कोई नहीं जानता"।

१९०२ में लार्ड कर्जन उदयपुर आया तो ओझा जैसी योग्यता और प्रतिभा वाले विद्वान को वहाँ देख बड़ा चकित और प्रसन्न हुआ। उसने चाहा कि ओझा भारत सरकार के पुरातत्व विभाग में, जिसका कि संघटन तब स्वयं कर्जन के प्रस्ताव और उत्साह से ही किया जाने वाला था, ऊँचे पद पर आ जायँ। किन्तु ओझा अपना जीवन राजस्थान के इतिहास के उद्धार में लगाने का संकल्प कर चुके थे, अतः राजस्थान से बाहर जाने को तैयार न हुए। १९०३ के दिल्ली-दरबार में राजस्थान के राजा-महाराजाओं तथा दूसरे धनिक और राजसम्मान-प्राप्त व्यक्तियों के अतिरिक्त ओझा को भी सम्मिलित होने का मिमन्त्रण दिया गया। कर्जन चाहता था कि राजस्थान के तमाम राज्यों को सम्मिलित कर प्रान्त भर का एक पुरातत्व विभाग अजमेर में संघटित हो और ओझा को उसके अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाय। पर उसे इसके शीघ्र बाद ही भारत छोड़ देना पड़ा।

बंगलाभाषी प्रदेश को दो भागों में विभक्त करने के कर्जन के प्रयत्नों के कारण देश में १९०५ से जो जबरदस्त आन्दोलन उठा उसके कारण भारत की विभिन्न जीवित भाषाओं और बोलियों के सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक जानकारी हासिल करने की जिज्ञासा दुनिया भर के भाषा-शास्त्रियों में बढ़ गयी। भारत सरकार को भी भाषा-प्रान्तों के सवाल को लेकर उठी राष्ट्रीय आन्दोलन की इस नवीन लहर के कारण भारतीय भाषाओं और उनकी सीमाओं की पर्यवेक्षा-परिमाप करा उस सम्बन्ध में पूरी अभिज्ञता प्राप्त कर लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई। राजस्थान की भाषा-पर्यवेक्षा, मनुष्यगणना और भारतीय साम्राजिक भुवनकोश (*इम्पीरियल गजैटियर आफ़ इण्डिया*) के लिए प्राचीन इतिहास,

पुरातत्व, संस्कृति और जनतत्व (एथ्नोलोजी) सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने को ओझा की सेवाएँ भारत सरकार ने मेवाड़ से उधार लीं।

ओझा ने उदयपुर के महता जोधसिंह के सहयोग से कर्नल टॉड के ग्रन्थ का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद कराने का जतन किया। उनका राजस्थानी दन्तकथाओं का संग्रह पटना से निकलने वाले एक मासिक पत्र में उन्हीं दिनों निकला। खड्गविलास प्रेस पटना द्वारा प्रकाशित टॉड के राजस्थान के हिन्दी अनुवाद में ओझा की लिखी टिप्पणियों में राजस्थान के प्राचीन इतिहास और जनतत्व की बहुत सी नयी और प्रामाणिक सामग्री पहले-पहल प्रकाश में आई। टॉड के अंगरेजी ग्रन्थ के क्रुक्स कृत द्वितीय संस्करण की टिप्पणियों की सामग्री ओझा की इन टिप्पणियों से ही ली गई थी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी केसरीसिंह बारहट ने कविराजा सूर्यमल मिश्रण के वंशभास्कर का संस्करण ओझा के सहयोग से निकाला। तभी ओझा ने प्राचीन भारतीय राजवंशों का प्रामाणिक विवरण देनेवाली एक पुस्तिका भी तैयार की। उसमें दक्खिन के प्रतापी राष्ट्रकूट सम्राटों का प्रामाणिक वर्णन भी था। जोधपुर के कर्नल प्रताप तथा दूसरे राठौड़ सरदारों में अपना वंश-गौरव जगाने और १६११-१५ में क्रान्तिकारियों से मिल अपना राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा जगाने में ओझा के इस ग्रन्थ का भी प्रभाव था। कर्नल प्रताप ने कविराजा मुरारदान की मारफ़त ओझा को बड़े आदर के साथ जोधपुर बुला वह ग्रन्थ आद्योपान्त सुना और उसकी पाण्डुलिपि मारवाड़ के राजकीय पुस्तकालय में सम्मानपूर्वक रखवायी। जोधपुर राज्य के बाद में होनेवाले दीवान सर सुखदेवप्रसाद काक ने उसी के आधार पर राठौड़ों का एक इतिहास, अंगरेजी में लिख प्रकाशित कराया था।

१६०७ में ओझा का "सोलंकियों का प्राचीन इतिहास" भी निकला जिसमें भारत के मध्यकालीन इस दूसरे महत्वपूर्ण राजवंश का इतिहास

भी पहले पहल पूरा दिया गया। इसी तरह उनके अपनी जन्मभूमि सिरोही राज्य के इतिहास द्वारा दक्खिन-पच्छिमी और उत्तरी गुजरात के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ा।

१९०८ में लार्ड मिण्टो की सरकार द्वारा कर्जन की योजनानुसार किन्तु उससे बहुत छोटे पैमाने पर अजमेर में 'राजपूताना आर्कियालौजिकल म्यूजियम' (राजपूताना पुरातत्व संग्रहालय) स्थापित किया गया। ओझा को उदयपुर से बुलाकर इस संग्रहालय का पालक (क्यूरेटर) नियुक्त किया गया। ओझा मेवाड़ न छोड़ते, पर मेवाड़ में तब महाराणा फतहसिंह का शासन था, जो देशभक्त और सच्चरित्र होने पर भी बौद्धिक दृष्टि से अत्यधिक पश्चाद्गामी था। विद्या-ज्ञान या सांस्कृतिक जागरण की बातों में उसे या उसकी सरकार को कोई सहानुभूति या रस न था। फलतः महाराणा सज्जनसिंह जैसे विद्या-प्रेमी शासक के समय उदयपुर में नवचेतना सम्पन्न विद्वानों और गुणीजनों की जो मण्डली जुट गयी थी, वह अब धीरे-धीरे मेवाड़ से विदा हो रही थी। ओझा को भी महाराणा की उदासीनता के कारण मेवाड़ छोड़कर अजमेर आना पड़ा। यहाँ ३० वर्ष तक राजपूताना संग्रहालय के पालक रूप में रहकर बहुत कम साधन-सुविधायें रहने पर भी वे अकेले ही राजस्थान के सुदूरस्थ कोनों और भीतरी भागों में घूम-घूम कर प्राचीन इतिहास की बहुत-सी सामग्री संकलन कर प्रकाश में लाये। १९३८ में उनके राजपूताना म्यूजियम से अवकाश ग्रहण करने के समय तक उत्तर भारत की तब तक प्रकाशित कुल ऐतिहासिक अभिलेख सामग्री का एक तिहाई से भी ज्यादा अंश ऐसा था जिसे पहलेपहल ओझा ने ही खोजा और प्रकाश दिखाया था।

१९१८ में ओझा ने अपनी "भारतीय प्राचीन-लिपिमाला" का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। बुइलर ने अपनी "इण्डिशे पालियोग्राफी" में स्थापना की थी कि प्राचीन भारत में लिखने की कला पहले-

पहल ईसा पूर्व की पाँचवीं सदी के आस-पास आई थी और प्राचीनतम भारतीय लिपि पच्छिमी एशिया, पूरबी अफरीका और मध्यसागर-अञ्चल में रहनेवाली प्राचीन इब्रानी (हिब्रू) हब्शियानी और फिनिक जातियों की लिपियों की नकल कर बनी थी। प्रायः सभी यूरपी और भारतीय विद्वान् बुइलर के ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद इस कल्पना में बह गये। परन्तु ओझा ने उस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही बुइलर को पत्र लिख कर इसकी गलतियाँ बताईं। "भारतीय प्राचीन-लिपिमाला" के दूसरे संस्करण के भूमिका भाग में उन्होंने इस विषय की पूरी विवेचना कर बुइलर की उस स्थापना को सर्वथा निर्मूल सिद्ध किया। कुछ वर्ष बाद दुनिया के विद्वानों को अपना मत ओझा के अनुसार करना पड़ा।

इसी समय (सन् १९११-१२ से) बिहार के काशीप्रसाद जायसवाल के प्राचीन भारतीय कानून और राजसंस्था पर अत्यन्त मौलिक लेख निकल रहे थे जो भारतीय इतिहास-सम्बन्धी विचारधारा को जड़ से बदल रहे थे। ओझा की तरह काशीप्रसाद जायसवाल में भी स्वतंत्र राष्ट्रीय चिन्तन के लिए प्रथम प्रेरणा का अंकुर श्यामजी कृष्णवर्मा और उनके सहयोगी सरदारसिंह राणा, हरदयाल, विनायक सावरकर आदि के संसर्ग से पैदा हुआ था। श्यामजी के इन्डिया हाउस के १९०७-८ के वातावरण में उस अंकुर को पनपने का अनुकूल अवसर मिला था।

१९१८ के बाद राजनीतिक चेतना की जो नयी लहर देश में उठी उसने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रवृत्तियों को जीवन के हर क्षेत्र में जगाया। राजस्थान में उस साल इन्दौर में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन महात्मा गांधी के सभापतित्व में हुआ। हिन्दी को सारे भारत में प्रचारित कर राष्ट्र-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के लिए दक्खिन भारत राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति की स्थापना वहीं हुई।

१९२२ से काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का नवीन संस्करण

ओझा और उनके शिष्य और सहयोगी चन्द्रधर गुलेरी की सम्पादकता में निकलना आरम्भ हुआ, जो उन दिनों भारतविषयक अध्ययन के एक मुख्य पत्र के रूप में दुनिया भर के विद्वानों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचता रहा।

सन् १९२६ में गौरीशंकर ओझा के उस राजपूताने के इतिहास का पहला गुच्छक (फैसीक्युलस) निकला जिसके लिए वे अठतीस बरस से साधना में लगे थे। वह इतिहास २० जिल्दों में पूरा होने वाला था। उसका पहला गुच्छक निकलने पर हालैण्ड के लइदन शहर से निकलने वाले भारतीय पुरातत्व के वार्षिक ग्रन्थनिर्देश (एन्युअल बिब्लियोग्राफ़ी आफ़ इण्डियन आर्कियालौजी) में उसका स्वागत करते हुए, उसके सम्पादक ओलन्देज विद्वान डा० फोखल ने बड़े आदर के साथ लिखा था कि 'वह राजस्थान का एक दूसरा कीर्त्ति-स्तम्भ' खड़ा हो रहा है।

और सचमुच ही ओझा करीब आधी शताब्दी तक राजस्थान में ज्ञान के प्रकाशस्तम्भ के समान खड़े थे, जिनसे कि तब भारत और विदेश के अनेक विद्वान् भारत के अतीत का मार्ग टटोलने में निरन्तर आलोक पाते रहे थे *। उनके सम्पर्क से टोंक के मुंशी देवीप्रसाद, जोधपुर के

* सन् १९१४ में ओझा कलकत्ते के भारतीय संग्रहालय में पुरातत्व-संग्रह देखने गये और वहाँ रक्खी हुई पटना की प्रसिद्ध यक्ष या शैशुनाक मूर्तियों पर के पुराने घिसे लेखों को पढ़कर अपने साथी को बता रहे थे। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता स्वर्गीय राखालदास बनर्जी उन दिनों वहाँ के संग्रहपाल थे। एक "मारवाड़ी" को प्राचीन लिपियों और मूर्तियों के सम्बन्ध में इतने अधिकारपूर्ण ढंग से विवेचना करते देख वे चकित हुए और उसका परिचय पूछने और सुनने पर वे एकाएक उनके चरणों पर झुके। ओझा ने असमञ्जस से पूछा आप कौन हैं, तो राखालदास ने कहा—मैं आपके शिष्य का शिष्य हूँ; डा० ब्लोख ने भारतीय प्राचीन लिपियाँ आपके ग्रन्थ से सीखी थीं और मैंने डा० ब्लोख से सीखीं।

रामकरण आसोपा, कविराजा मुदारदान अजमेर के हरविलास सारडा और मेयो कालेज अजमेर के अध्यापक चन्द्रधर गुलेरी, जयपुर के पुरोहित हरिनारायण, बीकानेर जयपुर के रामलाल रत्न, मेवाड़ के महता जोधसिंह रामनारायण दूगड़ और मुनि जिनविजय तथा कलकत्ते के पूरणचन्द नाहर आदि उनके मित्रों, सहयोगियों और शिष्यों की एक मण्डली खड़ी हो गई थी, जिसने ओझा के साथ राजस्थान पंजाब सिन्ध गुजरात महाराष्ट्र बुन्देलखंड बघेलखंड ठेठ हिन्दुस्तान बिहार और नेपाल तक के इतिहास-पुरातत्व के विवेचन-संशोधन में बड़ा महत्वपूर्ण काम किया।

१९१८ में स्वामी श्रद्धानन्द ओझा से मिले और उनसे कहा कि वे अपने एक शिष्य को उनके पास भेजेंगे। इस संकल्प के अनुसार १९२२ में आज के प्रसिद्ध ऐतिहासिक जयचन्द्र विद्यालंकार भारतीय इतिहास के मूल उपादानों का ज्ञान पाने और प्रयोग की विधि सीखने को ओझा के शिष्य बन अजमेर में आकर रहे। ओझा के ग्रन्थों से प्रेरणा और प्रकाश तो हजारों विद्यार्थियों को मिलता रहा।

इतिहास-पुरातत्व के अतिरिक्त काव्य नाटक आख्यान आदि के क्षेत्रों में भी १९२२ के बाद एक नये युग के लक्षण प्रकट होने लगे। माखन-लाल चतुर्वेदी ने इसी समय खण्डवे में अपना आसन जमा 'कर्मवीर' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला। वे हिन्दी के ऊँची कोटि के भावुक कवि और विचारशील लेखक हैं, जिनके कार्य से पूर्वी राजस्थान में अच्छी जागृति हुई। इन्दौर से तभी हरिभाऊ उपाध्याय मालव-मयूर नामक एक साहित्यिक मासिक पत्र निकालते रहे। वे महात्मा गांधी के चुम्बक से खिंचनेवाले पहले राजस्थानियों में से थे। १९२५ में उन्हें जमनालाल बजाज ने अजमेर में कार्य करने को भेजा। यहाँ से उन्होंने त्यागभूमि नाम का मासिक पत्र निकाला, जिसने राजस्थान में सांस्कृतिक रुचि को जगाने में काफी काम किया।

१६२७-२८ में देश में जो नये राजनीतिक ज्वार के लक्षण प्रकट हुए उनका भी प्रभाव राजस्थान पर हुआ। लोग पहले की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रतापूर्वक जीवन और विचार के पुराने रास्तों को छोड़ कार्य करने और सोचने का साहस करने लगे, जिससे नवीन सांस्कृतिक चेष्टाओं का उदय हुआ। महाराष्ट्र में टिळक के चलाये शिवाजी महोत्सव के नमूने पर प्रताप, दुर्गादास आदि की जयन्तियाँ मनाने की लहर राजस्थान में चली। मेवाड़ में प्रतिवर्ष हल्दीघाटी और चावंड जैसे ऐतिहासिक स्थानों की सामूहिक यात्रायें की जाने लगीं। जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद का "प्रताप-प्रतिज्ञा" और माखनलाल के शिष्य हरिकृष्ण प्रेमी के 'स्वर्ण विहान' 'रक्षा बन्धन' आदि नाटक इस समय की रचनाएँ हैं। ये दोनों व्यक्ति उस समय 'त्यागभूमि' के सम्पादक-मण्डल में थे।

तभी उदयपुर राजवंश से सम्बद्ध महाराज चतरसिंह की राजस्थानी कविताएँ भी प्रकाशित होने लगीं, जिनकी भावों की गहराई और भाषा-सौष्ठव ने सारे राजस्थानियों का ध्यान अपनी मातृभाषा की तरफ खींचा। राजस्थानी में नयी रचनाएँ यों इससे पहले भी बीजोल्यां आन्दोलन के सिलसिले में ही होने लग गई थीं। मेवाड़ के माणिकलाल वर्मा और सोजत के हरिभाई किंकर ने मेवाड़ी ग्राम-गीतों की तर्ज पर अनेक नये जोरदार गीत लिखे थे। हरिभाई किंकर के सामाजिक और राजनीतिक गीत तो अब राजस्थान के घर-घर में प्रविष्ट हो रहे थे।

इस तरह के साहित्य का एक सुन्दर नमूना जोधपुर के गणेशलाल व्यास का एक मार्मिक गीत "म्हारो हेलो सुणै नी मीठी माय" है, जिसमें मारवाड़ी किसान अपनी मरुधरा माता को सम्बोधित कर कहता है कि "हम तो अपना शरीर सुखाकर अन्न उपजाते हैं, तो भी पेट भर खाना नहीं पाते, और ये सेठ-सेठानी, राजे-महाराजे जिन्होंने कभी हल को भूल कर भी हाथ नहीं लगाया, गाड़ियों में लदे मौज से सैर करते फिरते हैं।"

ऐसे गीत १९३०-३२ के राजनीतिक आन्दोलन के समय बहुत बने, जिन्होंने राजस्थान के किसानों तक नये आर्थिक राजनीतिक विचार फैलाने का जतन किया। इनका साहित्यिक मूल्य भी कम नहीं है।

इसी समय १९३१-३३ में जयचन्द्र विद्यालंकार के ग्रन्थ 'भारतभूमि और उसके निवासी' और 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' प्रकाशित होने पर अपने देश और अपने इतिहास का सच्चा स्वरूप एक नयी दृष्टि के साथ जनसाधारण के सामने आया, जिससे लोगों में अपने जनपद की चेतना को एक नयी जागृति मिली। डोगरा गोलीकांड के बाद १९३६ में विभिन्न रियासतों के सार्वजनिक कार्यकर्ता जब अजमेर से बिखर कर अपने-अपने क्षेत्र में आन्दोलन आरम्भ करने और सर्वसाधारण जनता और किसानों से सीधे सम्पर्क में आने लगे तब राजस्थानी भाषा के विकास के लिए उन्हें एक और प्रेरणा मिली।

बीकानेर के सूर्यकरण पारीक, नरोत्तम स्वामी, ठाकुर रामसिंह आदि ने इसी समय राजस्थानी साहित्य के पुनरुद्धार का कार्य हाथ में लिया। इन्होंने राजस्थानी के दो सर्वश्रेष्ठ काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' और 'बेली कृष्णरुकमणी री' तथा राजस्थानी लोकोक्तियों, गीतों और दोहों के कई सुन्दर संग्रह प्रकाशित किये। राजस्थानी भाषा के आन्दोलन को इन सभी कृतियों से बल मिला और शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी के साथ राजस्थानी का अध्ययन भी आरम्भ करने की माँग जनता द्वारा उठायी जाने लगी। उदयपुर के मोतीलाल मेनारिया ने तभी 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' लिखी।

बीकानेर तो राजस्थानी आन्दोलन का केन्द्र ही हो चला था। वहाँ के महाराजा गंगासिंह और महाराजकुमार शार्दूल सिंह भी इस आन्दोलन के समर्थकों में थे। वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर गीत—

'मरुधर म्हारो देश म्हने वाल्हो लागे जी'

बीकानेर की 'जंगलधरा' या मरुधरा को लक्ष्य कर इसी समय लिखा गया, जिसमें कवि ने बीकानेर की जनता में प्रचलित एक अत्यन्त मधुर राग में अपनी जन्मभूमि के स्वरूप पर मानो अपना सारा ममत्व उडेलते हुए वहाँ की रेत की टीबों (धोरों), वहाँ की गरमी-सरदी की अतितीक्ष्ण ऋतुओं, लुओं और वहाँ के वृक्ष-वनस्पति और कृषिजन्य खाद्यों तथा जनता के सभी वर्गों के जीवन का एक अत्यन्त नैसर्गिक और मार्मिक वर्णन कर चित्र सा खींच कर रख दिया है, जो गाने और सुनने वालों को लीन और विभोर-सा कर देता है। राजस्थान की समूची जनता को इस गीत ने मुग्ध कर लिया और १९३७ के बाद प्रजामण्डल-आन्दोलनों के जोर पकड़ने पर दूसरी रियासतों और प्रदेशों में भी उसकी नकल पर अपने-अपने प्रदेशों के सम्बन्ध में गीत जोड़ने के प्रयत्न हुए। इसी तरह बीकानेर के चन्द्रसिंह राजली (राजवंशी) द्वारा लिखे बादळी और लू नामक दो खंड काव्य भी इस युग की राजस्थानी भाषा की अपने ढंग की दो अनूठी रचनाएँ हैं।

राजस्थान की हिन्दी रचनाओं में उदयपुर की कुमारी दिनेशनन्दिनी चोर्डया के गद्यगीत जो १९३२-३३ से ही निकलने लगे, उल्लेखयोग्य हैं।

विज्ञान के क्षेत्र में उदयपुर के डा० दौलतसिंह कोठारी का नाम उल्लेखनीय है। भारत के गिने हुए चोटी के वैज्ञानिकों में आज उनकी गिनती है। उनका भी कार्यकाल १९३३–३४ से ही प्रारंभ होता है। डा० दौलतसिंह प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डा० मेघनाद साहा के मुख्य शिष्यों में से हैं। साहा को अपने जीवन की प्रेरणा १९०७–८ के स्वदेशी और क्रान्तिकारी आन्दोलन से मिली थी। वे युवावस्था में बंगाल के क्रान्तिकारी दल 'अनुशीलन-समिति' के सदस्य थे और उसी प्रेरणा से विज्ञान के ऊँचे अध्ययन की तरफ प्रवृत्त हुए थे। वे भारत के

प्रथम दो बड़े वैज्ञानिकों में से एक, आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय, के प्रधान शिष्यों में हैं।

संगीत, नृत्य और चित्रकला के क्षेत्रों में भी १९२७-२८ से नयी प्रवृत्तियों का उदय होने लगा। इन कलाओं में यों तो राजस्थान भारतीय इतिहास के बहुत पुराने जमाने से विशिष्टता रखता आया था। राजस्थान की सभी राजधानियों में अच्छे नर्तकों संगीतज्ञों चितेरों और कलामर्मज्ञों को आश्रय मिलता था, साधारण जनता के जीवन में भी इन कलाओं का स्थान यहाँ काफी था। पर नये विचारों या नयी भावनाओं का समावेश न होने से इस शताब्दी के आरम्भ से इन में एक तरह की जड़ता आगयी थी, जिससे जनता का जीवन शुष्क और नीरस होता जा रहा था। नृत्य की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य उदयपुर के देवीलाल सांभर ने आरम्भ किया। उन्हें इस दिशा में कार्य करने का प्रोत्साहन उदयपुर के डा० मोहनसिंह महता द्वारा मिला था। मोहनसिंह महता ने मेवाड़ में लग० १९२२-२३ के बालचर आन्दोलन का सूत्रपात किया था। १९२७ में वे इंगलैण्ड से लौटे और १९२८-३० उदयपुर में 'विद्याभवन' की स्थापना की, जहाँ मेवाड़ के अनेक सार्वजनिक और सांस्कृतिक कार्यकर्त्ता तैयार हुए। उसके बाद की मेवाड़ की जागृति का मोहनसिंह महता को बहुत कुछ श्रेय है। देवीलाल सांभर ने महाराणा कुम्भा के, जो कि स्वयं बड़ा संगीत-शास्त्री और नृत्यकला-विशारद था, बनवाये पुराने मंदिरों के बाहर की विभिन्न भंगियों वाली आलंकारिक नृत्य-मूर्तियों की मुद्राओं का अध्ययन कर प्राचीन नृत्यों को पुनरुज्जीवित करने का कार्य उठाया तथा राजस्थानी लोक-नृत्यों का भी अध्ययन आरम्भ किया। इस कार्य में उनके दूसरे सहायक नाथद्वारा की परम्परा के चित्रकार गोवर्धनलाल जोशी हैं, जिन्होंने नृत्य के साथ राजस्थानी चित्र-कला में भी एक नया मार्ग बनाने का सफल जतन किया है।

चित्रकला में एक पुरानी शैली मध्यकाल से चली आती थी, जो गुप्तकालीन नागर शैली * का अपभ्रंश थी। राजस्थान उसका एक प्रमुख केन्द्र था। मुगल-युग में अकबर ने उसी शैली को आधार बना ईरानी या चीन-प्रभावित ईरानी चितेरों की सहायता से एक नवीन दरबारी मुगल चित्र-शैली का विकास करने का जतन किया था। मुगलों के पतन के बाद राजस्थानी शैली १७वीं-१८वीं सदी में फिर कुछ अपने रंग पर स्वतंत्रतापूर्वक विकसित होती रही थी, जिसे आजकल के विद्वानों ने राजस्थानी या राजपूत-शैली नाम दिया है। इस शैली की भी फिर कई अवांतर शाखा-प्रशाखाएँ राजस्थान की हर राजधानी में अलग-अलग १९वीं सदी के मध्य तक थीं। १९वीं सदी के बीच भारतीय कलाकारों की भी प्रतिभा यूरप की शैली के सामने पराभूत सी थी। उस सदी के अन्तिम चरण में दक्खिन भारत में केरल चित्रकार रविवर्मा ने यूरपी शैली की कुछ बाहरी बातों को पकड़ भारतीय कल्पनाओं को उस शैली में प्रकट करने के लिए अपनी एक भद्दी-सी नयी शैली विकसित करने का जतन किया। उसका असर सारे भारत पर पड़ा। महाराणा सज्जनसिंह ने रविवर्मा को भी उदयपुर बुलाया था, और

---

* चित्रकला संबन्धी उसी युग के वाङ्मय में एक खास शैली के चित्रों को जिनमें अलंकरणों की प्रधानता नहीं रहती थी 'नागरक चित्र' कहा गया है। भारतीय चित्रकला के सबसे बड़े मर्मज्ञ और इतिहास-विवेचक बनारस के 'कलाभवन' के संस्थापक राय कृष्णदास महाराष्ट्र की अजिण्ठा तथा राजस्थान की मात्र उदयगिरि आदि गुफाओं में पाये जाने वाले गुप्तकालीन चित्रों को इस नागरक-शैली का ही मानते हैं। राजस्थान गुजरात में मुगलों के आने से पूर्व जो जैन-ग्रन्थों आदि में चित्रों की एक शैली प्रचलित थी, राय कृष्णदास ने उसे इस नागर शैली का ही अपभ्रंश माना है।

अपने राजकीय संग्रहालय के कुछ पुराने चित्रों की नकलें उससे करवाई थीं।

बीसवीं सदी के शुरू में भारत में जो नव-जागरण की लहर उठी उसी में बंगाल के अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की नयी चित्र-शैली पैदा हुई। राजस्थान में उस शैली के सबसे सफल चित्रकार जयपुर के रामगोपाल विजयवर्गीय हुए, जो अवनीन्द्रनाथ के प्रशिष्य—उनके प्रमुख शिष्य शैलेन्द्रनाथ दे के शिष्य—हैं। उनका कृतिकाल भी लग० १६२८ से शुरू होता है। अवनीन्द्र की नयी शैली के साथ उन्होंने राजस्थानी शैली का भी सुन्दर सामञ्जस्य किया।

मेवाड़ की अपनी पुरानी शैली नष्ट होने के बाद नाथद्वारा में यूरपी शैली के सस्ते बाजारू चित्रों की नकल पर एक शैली चलती रही थी। गोवर्धनलाल जोशी ने उसमें राजस्थान की वन्य जातियों और कृषकों के जीवन तथा प्राचीन मूर्तियों आदि का सीधा अध्ययन कर एक नयी जान लाने का जतन किया है जिससे उनके चित्रों में काफी जीवन आ जाता है। कल्याणसिंह शेखावत, जो अवनीन्द्र के प्रमुख शिष्य नन्दलाल वसु के शिष्य हैं, एक उठते हुए चित्रकार हैं। उनकी रचनाओं में अवनीन्द्र-शैली का राजस्थानी शैली से और भी अच्छा सामञ्जस्य हुआ है। विजयवर्गीय की रचनाएँ जहाँ राजस्थानी तत्व लिये हुए अवनीन्द्रनाथ ठाकुर शैली की ही होती हैं, शेखावत की रचनाएँ वहाँ ठाकुर शैली से अनुप्राणित होने पर भी मूलतः राजस्थानी हैं।

राजस्थानी शैली के सर्वोत्तम आधुनिक उन्नायकों में एक ब्रज के चित्रकार जगन्नाथ अहिवासी हैं। उनके पिता वल्लभकुल सम्प्रदाय में कीर्तनकार थे। इस प्रकार कृष्णलीला में उनकी रुचि जन्मजात है और उसके चित्रण का प्रेम भी शिशुकाल से है। उनकी शिक्षा बम्बई के कला-विद्यालय में हुई जहाँ की शैली मुख्यतः यूरपी है। उन्होंने

राजस्थानी में उसका पुट देकर कृष्णलीला, शृङ्गारिक और मीरा-चरित आदि के कई बहुत ही कोमल चित्र अंकित किये हैं और अभी भी अंकित करते हैं। वे एक अन्तर्मुखी वृत्ति के बहुत बड़े कलाकार हैं जिन्होंने ख्याति की कभी कामना नहीं की। उनका कृतिकाल १६२५ से ही शुरू हो जाता है।

राजस्थान में जयपुर में अपना एक कला-विद्यालय भी इस सदी के आरम्भ से ही है, किन्तु वहाँ अभी तक कोई नई शैली का विकास नहीं हुआ है।

गौरीशंकर ओझा अपना कार्य १६४१ तक अनथक भाव से बराबर करते रहे। उनका आशीर्वाद और मार्ग-दर्शन इस बीच राजस्थान की हर सांस्कृतिक चेष्टा को प्राप्त होता रहा। १६४१ में उन्होंने अपने काम से विश्राम लिया। उनका राजपूताने का इतिहास तब तक आधे रास्ते पर पहुँचा था। उनके और काशीप्रसाद जायसवाल के शिष्य जयचन्द्र विद्यालंकार ने इस बीच भारतीय इतिहास-परिषद् नामक संस्था खड़ी की थी। इसका उद्देश्य भारतीय दृष्टि से समस्त अध्ययन को आयोजित करना और भारत की सब भाषाओं में उसके द्वारा ऊँचे साहित्य का विकास करना था। राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श श्यामजी कृष्णवर्मा और श्रद्धानन्द के समय से देश के सामने थे, उन सबकी पूर्ति इसके द्वारा होने की आशा राष्ट्रीय दृष्टि से सोचने वाले विद्वानों में होने लगी थी। कांग्रेस के नेता बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने उसका आर्थिक भार उठाया था। अक्तूबर १६४१ में ओझा ने जयचन्द्र को अजमेर बुलाकर कहा कि उनके शेष कार्य का भार भी अब वे उठा लें और उसके लिए राजस्थान में भारतीय इतिहास-परिषद् की एक शाखा स्थापित कर दें। इस विचार का उत्साह से स्वागत किया गया। किन्तु उसके शीघ्र बाद जापान-युद्ध और १६४२ का राजनीतिक संघर्ष

आ गया। उसी संघर्ष में जयचन्द्र जेल चले गये। १९४६ में जब वे जेल से छूट कर आये तब तक बाबू राजेन्द्रप्रसाद का राष्ट्रीय शिक्षा और भारतीय इतिहास-परिषद् के आदर्शों के लिए उत्साह ठंढा पड़ चुका था और वे उनसे पीछा छुड़ाने की चेष्टा में लगे थे।

२० अप्रैल १९४७ को गौरीशंकर ओझा ने ८४ वर्ष की आयु में अपनी जीवनयात्रा समाप्त की।

आठवाँ अध्याय

राजस्थान भारत के स्वतंत्र गणराज्य संघ में

(१५ अगस्त १९४७ से)

§ १. महात्मा गान्धी की बलि

साम्प्रदायिक मारकाट और गुण्डई भारत का विभाजन हो जाने पर भी रुकी नहीं; उसने उलटा अब दोनों भारतीय उपराज्यों में और भी विकट और व्यापक—एक अश्रुतपूर्व नरसंहार और जनोच्छेदी काण्ड—का रूप धारण किया। पच्छिमी पंजाब, सीमाप्रान्त और तथाकथित बलोचिस्तान की समूची हिन्दू आबादी को, जो पिछली डेढ़ सहस्राब्दी में अरबों, तुर्कों आदि के आक्रमणों और शासनों के बीच उन इलाकों में बराबर बनी रही थी, अपने पुरखों के पीढ़ियों से बने घरद्वार से बेदखल और जेरबार होकर लाखों की संख्या में प्रवास करके हिन्दुस्तान आने को विवश होना पड़ा। उसी प्रकार पूरबी पंजाब की कुल मुस्लिम जनता को अपने घरबार छोड़ मरते-कटते पाकिस्तान चले जाना पड़ा। इधर लीगी गुण्डे हिन्दुस्तान में जगह-जगह अपने अड्डे बना जनता में आतंक और असुरक्षा का भाव पैदा करने का जतन कर रहे थे। उनके पास शस्त्रास्त्रों के गुप्त जखीरे होने की खबरें आये दिन प्रकट होने लगीं। पर कांग्रेस के नेता देश की राजनीतिक शक्ति और शासनदण्ड हाथ में रहने पर भी उसका प्रयोग सीधा उनके खिलाफ करने से कतराते रहे। इससे मुस्लिम गुण्डों के मुकाबले के नाम पर उस तरह के दूसरे गुण्डा-दलों को भी

मजहब जात-बिरादरी आदि के नाम पर अपने संघटन बनाने का अवसर और बढ़ावा मिला।

पच्छिमी पाकिस्तान की संत्रस्त जनता के हिन्दुस्तान पहुँचने पर दोआब, व्रज और राजस्थान के उत्तरी अंचलों—मेवात आदि—में भारी उत्तेजना और सम्मर्द पैदा हुआ।

गुड़गावाँ में, कह चुके हैं, मुस्लिम लीगी गुण्डों ने मेव मुस्लिम कृषकों के असंतोष की आड़ लेकर १९४६ के अन्त से ही उपद्रव और उत्पात मचा रक्खा था। उनके उत्पातों से चिढ़ी हुई मेवात की अहीर जाट गूजर राजपूत आदि अमुस्लिम कृषक और सैनिक बिरादरियों का एक संघटन 'अजगर' नाम से उनके विरुद्ध अब उठ खड़ा हुआ। दिल्ली और उसके चौगिर्द के इलाकों में मुस्लिम विरोधी उपद्रव १५ अगस्त से कुछ ही दिन बाद व्यापक रूप से आरम्भ हो गये। समूचे मेवात में अब मेवों का भारी संहार हुआ, जिससे राजस्थान की एक प्राचीन बलिष्ठ स्वाधीनताप्रिय और प्रक्रमी मानव नस्ल का, जिसने कि मध्यकाल में सदियों तक तुर्क आक्रान्ताओं को राजस्थान की तरफ बढ़ने से रोके रक्खा था और जो स्वतन्त्र भारत में कदाचित् राजस्थान का एक सर्वोत्कृष्ट सैनिक कृषक और श्रमिक वर्ग बनाती, उन्मूलन हो गया। ध्यान रहे कि अंगरेजों ने राजस्थान व्रज और पंजाब के पुराने राष्ट्रीय राजाओं के मुकाबले में अपने बहुत से पिट्ठू देशद्रोहियों को अपने राज्य के आरम्भ के दिन से ही इस इलाके में जमीनें जागीरें आदि देकर यहाँ की स्वाधीनताप्रिय वीर जातियों को दबाये रखने और अंगरेजी फौजों में रंगरूटों की भरती नियमित रूप से कराने के लिये खड़ा किया था। अंगरेजी साम्राज्य के समूचे दौरान में ये लोग इस इलाके में यही काम करते रहे थे। इन उपद्रवों को भड़काने और इतना उग्ररूप देने में इनका हाथ विशेष रूप से था। अलवर, भरतपुर, पटियाला जींद आदि के शासकों ने अपनी निरंकुश सत्ता को बचाते और बढ़ाते हुए प्रजा-आन्दोलन और कृषक-असंतोष

को गुमराह करने के लिए धर्म और बिरादरियों के नाम पर नारे बुलंद करवा, हिन्दू धर्म के संरक्षक बन इन उपद्रवों से खूब लोकप्रियता हासिल करने का जतन किया। भारत सरकार का गृह-विभाग भी, जिसके कि अध्यक्ष सितम्बर १९४६ से कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता वल्लभभाई पटेल थे, उन्हें अब बढ़ावा दे रहा था। वह मुस्लिम लीगी गुण्डों के विरुद्ध, जिनके कि अनेक अड्डे इस समय तक खुल्लमखुल्ला कार्य कर रहे थे, सीधी कार्रवाई करने का साहस न करके हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों को आम मुस्लिम जनता के विरुद्ध उभरने का अवसर दे टट्टी की ओट शिकार खेलता रहा। फलतः शरारत फैलानेवाले गुण्डों और उनकी पीठ पर शह देने वाले हैसियतदार मुस्लिम लीगियों का तो कुछ न बिगड़ा, पर निर्दोष गरीब मुस्लिम जनता को इन उपद्रवों में अकथनीय अत्याचारों का सामना करना पड़ा।

आश्चर्य की बात यह थी कि इतने हथियार देश में लोगों के पास तब एकाएक आये कहाँ से? इन दंगों में लुईगनें ब्रेनगन और तोपों तक का प्रयोग खुला किया जाता रहा। राजस्थान, पूर्वी पंजाब और पच्छिमी ठेठ हिन्दुस्तान (युक्तप्रान्त) आदि के गुप्त बाजारों में हथियारों की खरीद-फरोख्त खुले रूप में पर्याप्त मात्रा में १९४६-४७ में होती रही थी। और यह स्पष्ट था कि शस्त्रास्त्रों की यह आमद सरकारी फौजी भंडारों से उच्च अंगरेज अधिकारियों की मारफत की गई थी, पर विभाजन से पहले कांग्रेसी शासक या तो इनकी शरारत को देख न सके या सब जानते-बूझते भी उसे रोकने या ऐसे अधिकारियों के विरुद्ध कोई प्रभावकारी कदम उठाने से कतराते रहे थे।

विभाजन के बाद अंगरेज तो प्रायः गये—दो-चार बड़ों, गवर्नर जनरल माउण्टबाटन और प्रधान स्थल जल और वायु सेनापतियों को छोड़ कर, जिन्हें कि कांग्रेस नेताओं ने स्वयं ही कुछ दिन और

रख लिया था—पर अंगरेजों के देसी कारिन्दे, ऊँची नौकरियों वाले मुल्की, पुलिस और गुप्तचर-विभागों के अधिकारी ज्यों के त्यों बने रहे। कांग्रेस के नेताओं ने अंगरेजों को जाते समय यह वचन दे दिया था कि उन्हें वे ज्यों का त्यों बनाये रक्खेंगे; पर जनता से यह बात तब छिपाय-गयी। भारत के ये छुँटे हुए देशद्रोही थे, जिन्हें सदा अपनी जेबें भरने से ही मतलब रहा था और जो उसके लिए देश के साथ बड़ी से बड़ी गद्दारी करने और विदेशी के हथियार बन बिना हिचकिचाहट जनता और देशभक्तों का दमन करने को सदा तत्पर रहे थे। कांग्रेस नेताओं ने १६४५-४६ के निर्वाचन में इन्हें दण्ड देने का वचन जनता को दिया था। पर वे अब अपने उस वचन से साफ़ पलट गये। यह उनका जनता के साथ किया हुआ तीसरा बड़ा विश्वासघात था जिसकी बदौलत कि उन्होंने अंगरेजों से अधिकार पाया था। पहले दो बुनियादी विश्वासी घातों का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं—एक तो आज़ाद हिन्द सेना की उपेक्षा कर अंगरेजों की पुरानी भाड़ैत सेना को ज्यों का त्यों बनाये रखना और दूसरा देश का विभाजन स्वीकार कर पाकिस्तान की समूची जनता, विशेष कर वहाँ के हिन्दुओं और मुस्लिम देशभक्तों, सीमाप्रान्त के पठानों और खुदाई-खिदमतगारों तथा बलोचिस्तान के खान अब्दुल समद खाँ जैसे व्यक्तियों के साथ किया गया विश्वासघात। अस्तु। कांग्रेस के नेताओं ने यों अंगरेजों की पुरानी भाड़ैत फ़ौज और इस पुराने भ्रष्ट नौकरतंत्र के आधार पर देश में स्वराज्य का जो ढाँचा खड़ा करने का जतन किया है, वह भीतर से एकदम बोदा है, और बोदा रहेगा, जब तक कि इन विश्वासघातों का प्रतिकार ठीक से न होगा।

अंगरेजी नौकरतन्त्र को उसकी तनखाहों आदि के साथ ज्यों का त्यों बनाये रखने का वचन दे देने के कारण कांग्रेसी नेताओं को अपने एक और घोषित आदर्श से गिरना पड़ा। कांग्रेस ने कराची अधिवेशन

में निश्चय किया था कि पाँच सौ रुपयों से ऊँची तनखाह वे स्वतंत्र भारत में न रक्खेंगे। पर अब जब वे बड़े सरकारी नौकरों पर इस बात को लागू न कर सके, तब अपने को भी इससे छुड़ा लिया। अधिकार हाथ में आते ही नेताओं ने तीन-तीन हजार की तनखाहों और अनेक किस्म के भत्तों की व्यवस्था अपने लिए कर ली। रुपये का मूल्य बहुत घट चुका था, पर मध्यवर्ग के लोगों की आमदनियाँ उस हिसाब से न बढ़ी थीं। आमदनियाँ तो चोरबाजार करनेवाले बड़े व्यापारियों, बड़े कारखानों के मालिक पूँजीपतियों या ऊँचे सरकारी नौकरों की बढ़ी थीं। मन्त्रियों ने अपने को उनकी सतह में रखकर जनता से अलग कर लिया। फलतः मुद्रास्फीति बनी रही और वस्तुओं के दाम जो युद्ध में बढ़े थे, अब घटने के बजाय और बढ़ते ही गये। और चोरबाजारी तथा रिश्वतखोरी बढ़ जाने का असर कांग्रेस के निचले स्तरों तक में नैतिक भ्रष्टाचार फैलाने का कारण बना।

महात्मा गान्धी ने इसका खुला विरोध किया पर नेताओं ने उसे नहीं सुना।

उधर कश्मीर जूनागढ आदि को लेकर हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच तभी नये विवाद उठ खड़े हुए। अंगरेजों ने देसी राज्यों को, जैसा कि कहा जा चुका है, जून १९४७ में ही बिलकुल स्वतंत्र घोषित कर दिया था। उनका अभिप्राय वैसा करने में यह था कि इन राज्यों को कुछ प्रादेशिक इकाइयों में संबद्ध कर जितनों को भारत से अलग किया जा सके कर दिया जाय, और उनमें भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध वे अपने कई अड्डे इस देश में बनाये रह सकें। यह न हो सके तो कम से कम राज्यों के अलग हो जाने की विभीषिका दिखा कर उसका उपयोग कांग्रेसी नेताओं को अति-मार्गी राष्ट्रवादियों और क्रान्तिकारियों के रहे-सहे प्रभाव से मुक्त कराने में ही किया जाय। किन्तु भारतीय राजाओं को उन्होंने अब तक जतनपूर्वक

जैसा पंगु और कूपमण्डूक बनाकर रक्खा था, उससे भारतीय राजन्य-वर्ग में उस थोड़े से साहस और चरित्रबल की भी आशा करना व्यर्थ था जो कि अंगरेजों के पहले उद्देश्य की सफलता के लिए आवश्यक था। महाराज बीकानेर और मेवाड़ के महाराणा के भोपाल-नवाब और नवानगर-जाम द्वारा प्रस्तावित गुट्ट का साथ न दे भारतीय संघ में शामिल हो जाने से जब उन्हें अपने पहले उद्देश्य में सफलता की आशा न रही, तब माउण्टबाटन ने बीच में पड़कर कांग्रेसी नेताओं से राजाओं का स्वयम् समझौता करा दिया था। यह सिद्धान्त स्थिर हुआ था कि राजा अपनी रियासत के भौमिक सातत्य और यातायात की सुविधाओं का ध्यान रख के ही भारत या पाकिस्तान में से किसी एक में शामिल हो सकेंगे। तदनुसार जूनागढ़ और हैदराबाद छोड़ प्रायः सभी बड़े देशी राज्यों ने १५ अगस्त से पहले यथावस्थ समझौते कर भारत या पाकिस्तान में सम्मिलित होने के प्रवेशपत्रों पर हस्ताक्षर कर दिये थे।

कश्मीर और हैदराबाद का प्रदेश-विस्तार और आर्थिक साधन ऐसे और इतने थे कि वे दोनों उपराज्यों से अलग रह कर भी अपना काम चला सकते थे। अतः उन्हें अन्त तक अपनी सत्ता पृथक बनाये रखने के लिए बहकाया जाता रहा। कश्मीर से हिन्दुस्तान पाकिस्तान के अतिरिक्त अफ़गानिस्तान रूस चीन और तिब्बत की भी सीमाएँ लगती हैं। दूसरे महायुद्ध के बाद की विश्व परिस्थिति में रूस के आंगल-अमरीकी गुट्ट के एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी हो उठने के कारण कश्मीर का महत्व नानाराष्ट्रीय सैनिक दृष्टि से भी बहुत था। अंगरेज नहीं चाहते थे कि हिन्दुस्तान का नया राष्ट्रवादी राज्य कोई ऐसा खुला मार्ग पा सके कि जिससे वह उनके हस्तक्षेप के बिना भी विश्व के किसी बड़े शक्ति-शाली राष्ट्र से अपना सम्बन्ध सीधा जोड़ सके; और रूस से तो हर्गिज नहीं। पाकिस्तान को भारत के दोनों सीमान्तों पर अपने खरीदे हुए मुस्लिम लीगी नेताओं के

अधीन अन्तर्वर्ती राज्य के रूप में खड़ा करने का उनका एक मकसद यह भी था।

कश्मीर का विद्यमान राजवंश केवल सौ बरस पुराना है। उसका संस्थापक गुलाबसिंह जम्मू के पुराने राजा रणजीतदेव के भाई की एक पासवान (उपपत्नी) का पोता था। जम्मू के उस राजवंश को पंजाब के महाराज रणजीतसिंह ने उखाड़ दिया था। गुलाबसिंह महाराजा रणजीतसिंह की सेवा में एक साधारण सिपाही रूप में प्रविष्ट होकर सेनापति-पद तक पहुँचा और रणजीतसिंह ने उसे जम्मू की जागीर दी थी। १८४६ में जब सिक्खों का अंगरेजों से युद्ध चल रहा था तभी वह सिक्ख-राज्य का वजीर बनाया गया था। उस हैसियत में भीतर-भीतर अंगरेजों से मिलकर सिक्ख-राज्य के साथ गद्दारी करने के पुरस्कार रूप में ७५ लाख रुपया नजराना देकर उसने कश्मीर का राज्य अंगरेजों से पाया था। १९४६ के शुरू में 'कश्मीर राष्ट्रीय सभा' के नेता शेख अब्दुल्ला ने जो कि उन्नीस सौ तीसों से वहाँ प्रजा-आन्दोलन चला रहे थे, यह पुकार उठाई कि महाराजा कश्मीर छोड़े। इस पर महाराजा ने शेख अब्दुल्ला को कैद कर लिया। १९४६-४७ में जब अंगरेजों और भारतीय नेताओं में शक्ति हस्तान्तरित करने के लिए बातें चल रही थीं, तब अधिकांश भारतवासियों की तरह कश्मीर का महाराजा भी यह समझता रहा कि अंगरेज वास्तव में जायँगे नहीं, ये बातें सब ऊपरी दिखावा मात्र हैं।

जून १९४७ में अंगरेजों का जाना तय हो जाने पर भी उसकी आँखें नहीं खुलीं, वह उनके बहकावे में आकर सोचता रहा कि स्वतंत्र राजा बना रह सकूँगा। उसने एक अंगरेज को ही अपना सेनाध्यक्ष बनाया। कश्मीर के उत्तर-पच्छिमी छोर पर गिल्गित प्रदेश, जो अफ़गानिस्तान और रूस की सीमा पर होने से अत्यधिक सामरिक महत्व का है, अंगरेजों ने कश्मीर रियासत से पट्टे पर ले रक्खा था। अंगरेजों ने जाते

थ उसे कश्मीर को वापिस दिया। महाराजा ने फिर से वहाँ एक रेज को ही अपना फौजदार बना कर भेजने की मूर्खता की। पाकि- न ने कश्मीर को मुस्लिम-बहुल होने से अपने साथ मिलने को मजबूर के लिए १५ अगस्त के तुरत बाद वहाँ सब तरह का सामान जाना कर दिया। कश्मीर से जो लारियाँ यात्री और सामान लेकर रावल- जातीं, उन्हें भी वहीं रोक लिया जाता। कश्मीर का दीवान रामचन्द्र , जिसने एक अंगरेज बीबी से शादी कर रक्खी थी, भीतर ही भीतर स्तान वालों से मिल कश्मीर को उनके हवाले करने के षड्यन्त्र कर था। गिल्गित के अंगरेज फौजदार ने विद्रोह भड़का कर वहाँ महा- के मुल्की अधिकारी को कैद कर लिया। तब जाकर महाराजा की खें खुलीं और उसने देखा कि बिना अपनी प्रजा का सहयोग पाये अपना अधिकार कश्मीर पर नहीं रख सकता। २९ सितम्बर को शेख दुल्ला को जेल से छोड़ा गया। २२ अक्तूबर को मोटरों पर चढ़े हुए स्तानी हमलावर दक्खिनी और पच्छिमी सरहदों पर से एकाएक रि राज्य में घुस आये और वहाँ अकथनीय नृशंसता के साथ लूट- आगनती और बलात्कार करते हुए आगे बढ़े। कई अंगरेज और रीकी अनुभवी नायक उनका संचालन कर रहे थे। ठेठ कश्मीर दून रार बारामूला तक वे बे-रोक-टोक पहुँच गये और यदि वहाँ प्रत्येक को पूरा लूटने-फूंकने और प्रत्येक युवती और किशोरी का धर्षण में न लग जाते तो राजधानी श्रीनगर तक भी शीघ्र ही पहुँच गये । उस दशा में महाराजा और शेख अब्दुल्ला दोनों ने भारत सर- से सहायता माँगी और अपनी रियासत को हिन्दुस्तान-संघ में शामिल ा स्वीकार किया। महात्मा गांधी ने भी कश्मीर की जनता को पाकि- नी गुण्डों के अत्याचारों से बचाने के लिए भारत से तुरत सेना ने का समर्थन किया और उसे अपना आशीर्वाद दिया।

अंगरेजों को आशा न थी कि भारतीय सेना जिसके कि स्थल से कश्मीर पहुँचने का कोई रेल या मोटर-मार्ग न था वहाँ समय पर पहुँच पाकिस्तानी हमलावरों का मुकाबला स्वयम् कर सकेगी। किन्तु भारतीय सैनिकों और नायकों में आजाद हिन्द फौज के उदाहरण और देश को नयी मिली आजादी की भावना ने काफ़ी आत्मविश्वास और साहस जगा दिया था। उन्होंने हवाई जहाजों के रास्ते ऐन मौके पर कश्मीर पहुँच राजधानी श्रीनगर और पास-पड़ोस के महत्वपूर्ण स्थानों को हमलावरों के अधिकार में जाने से बचा लिया, और कश्मीर राष्ट्रीय सभा वालों के प्रभाव से कश्मीर की आम जनता का अप्रत्याशित सहयोग प्राप्त कर पाकिस्तानी हमलावरों को मुख्य कश्मीर दून से भी शीघ्र ही निकाल बाहर किया। यदि उन्हें खुला बढ़ने दिया जाता तो सारे कश्मीर राज्य से पाकिस्तानी हमलावर शीघ्र निकाल दिये गये होते। इस दशा में लार्ड माउन्टबाटन ने भारतीय नेताओं को सुझाया कि कश्मीर का मामला वे संयुक्तराष्ट्र-संघ की विश्व-सुरक्षा-परिषद् में पेश कर सुलझवावें। वहाँ अंगरेज-अमरीकी गुट्ट के राष्ट्रों का ही जोर है, जिनके इशारे पर कि यह सारा झगड़ा उठा था। महात्मा गांधी ने कांग्रेसी शासकों को साव-धान किया कि पाकिस्तान-हिन्दुस्तान के झगड़े में वे इस प्रकार किन्हीं तीसरी शक्तियों को बीच में पड़ भांजघड़ करने का और अवसर न दें, पर प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने माउंटबाटन की सलाह को अधिक पसंद किया।

गान्धी का नेताओं से मतभेद अब बराबर बढ़ता जा रहा था। देश का साम्प्रदायिक बँटवारा गान्धी की इच्छा के विरुद्ध था, पर जब वह कर दिया गया, तब २७ बरस के साथियों के खिलाफ़ वे एकाएक कैसे खड़े हों यह वे न सोच सके। उत्तरी राजस्थान से मेवों का और पच्छिमी पंजाब से हिन्दुओं का उखाड़ा जाना भी उन्हें नापसंद था। कांग्रेस

नेताओं द्वारा अंगरेजों के पुराने नौकर-तंत्र को ज्यों का त्यों बनाये रखने और बड़ी-बड़ी तनखाहें स्वीकार करने के भी वे विरोधी थे।

यह ठीक है कि गान्धी का अहिंसावाद १९४६-४७ की दुर्गति से देश को न बचा सका और न बचा सकता था। पर हिन्दू सभा की गुण्डापन के जवाब में गुण्डापन की नीति भी, आफत के सिर पर आ जाने पर किसी समय चाहे एकमात्र चारा दिखाई दे, तो भी गुण्डापन की जड़ को न निकाल सकती थी, क्यों कि शरारत फैलानेवाले असली गुण्डों और उन्हें उभाड़ने वाले नेताओं को न पकड़ कर वह उनके सहधर्मी गरीब और निरीह जनसाधारण पर ही हाथ चलाती थी। वल्लभभाई पटेल की इस समय की सारी नीति, जिसके अनुसार कि उत्तरी राजस्थान में मेवों का उत्सादन हुआ, बहुत कुछ इसी साँचे में ढली हुई थी। इसके अतिरिक्त उनका अंगरेजों के बनाये सेना और शासन को ढाँचे पर भरोसा करना तथा जवाहरलाल के पीछे लग कर अंगरेजों को अपना मित्र मान बैठना और भी गलत था। देश को यदि १९४६ वाली दुर्गति से बचाया जा सकता था तो एक मात्र सुसंघटित राष्ट्रीय सैनिक शक्ति द्वारा ही, जो आजाद हिन्द सेना के आधार पर खड़ी की जा सकती थी। गांधी ने सैनिक शक्ति की बात कभी न सोची थी, पर उनकी दृष्टि राष्ट्रीय तो थी, जब कि कांग्रेस के वकीलवर्गी नेताओं की दृष्टि पुरानी नरम-दलियों वाली ही थी; वे गान्धी के साथ १९२१ में पुरानी अधिकारार्थिनी नीति के चलने की गुंजाइश न देख कर ही आये थे और अब अधिकार मिलते ही गान्धी को छोड़ उसी नीति पर लौट गये थे।

भारत की जनता के अपकर्षण में अंगरेजों के अच्छे उपकरण सिद्ध होने के फलस्वरूप अंगरेजों द्वारा दी गयी बड़ी हैसियतों वाले ये लोग १९२१ में जब महात्मा गान्धी के साथ आगये थे, तब गान्धी ने अपनी बड़ी सफलता मानी थी। किन्तु इन लोगों के सम्बन्ध में गान्धी की आँखें

अब खुलने लगीं और वे पुराने देशभक्त क्रान्तिकारियों की तरफ, जिनका कि उन्होंने पिछले २७ वर्षों में स्वयं काफी विरोध किया था, खिंचने लगे कि शायद अब वे उन्हें अपने साथ ले कोई नया रास्ता निकाल सकें।

१९४७ पूर्वार्ध में गान्धी की दैनिक प्रार्थना में कुरान की आयत पढ़ी जाने पर लोग आपत्ति किया करते थे। उस प्रसंग में जून १९४७ में जयचन्द्र विद्यालंकार ने उदयपुर से उन्हें पत्र भेजा था जिसमें लिखा था—'हिन्दू मुस्लिम एकता की···चेष्टा तब तक सफल नहीं हो सकेगी जब तक···देश के इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान देश के बालकों को न दिया जायगा। यह हमारी राष्ट्रीय शिक्षा के रचनात्मक कार्यक्रम का मुख्य अंग होना चाहिये था। पर आश्चर्य की बात है कि आप २० वर्ष से रचनात्मक कार्य पर और राष्ट्रीय शिक्षा पर इतना बल देते रहे हैं तो भी इतिहास की शिक्षा को ठीक करने के लिये कुछ नहीं किया गया। यहाँ तक कि जिन प्रान्तों में गत सवा साल से कांग्रेसी मंत्रियों के हाथ में शिक्षा की बागडोर है, वहाँ भी उन्हें कोई सुधार करने की अभी तक नहीं सूझी।···इसके बिना···आपकी बहुत सी चेष्टा बालू को सींचने की तरह होती रहेगी।"

महात्मा गान्धी का इस पत्र से बहुत अधिक समाधान हुआ और इसे उन्होंने अपनी प्रार्थना सभा में पढ़कर सुनाया और कई बार इसके बारे में चर्चा की *। सितम्बर में जब दिल्ली प्रदेश में उपद्रवों के कारण गान्धी बहुत अधिक परेशान थे, तब जयचन्द्र भी वहीं थे। गान्धी ने उन्हें उस समस्या पर परामर्श देने को बुलवाया था। जयचन्द्र ने उन्हें याद दिलाया कि १९२१ में गुजरात विद्यापीठ में अध्यापक रहते समय भी उन्होंने इतिहास की शिक्षा को ठीक करने की बात उठाई थी, तब उन्हें जवाब मिला था—"स्वराज्य मळ्या पछी" (स्वराज्य मिलने के बाद)।

* प्रार्थना-प्रवचन (दिल्ली १९४८), ९-६-४७ और २२-६-४७।

किन्तु अब स्वराज्य मिलने पर भी क्यों इस ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है ? इसी समय वल्लभभाई पटेल भी वहाँ आ पहुँचे और जयचन्द्र विद्यालंकार के पीछे आ खड़े हुए थे। गान्धी ने उत्तेजित होकर जयचन्द्र से कहा—"कहाँ मिला है स्वराज्य ? पूछो वल्लभभाई से, स्वराज्य मिला है क्या ?" अपने २७ बरस पुराने साथी को एक ऐसे व्यक्ति के सामने जो उसकी दृष्टि में सर्वथा अपरिचित था *, गान्धी के यों चुनौती देने में कितना गहरा अर्थ था !

* किन्तु जयचन्द्र गान्धी के लिए अपरिचित न थे। १९१३ में जब गान्धी ने दक्खिन अफरीका में सत्याग्रह चलाया था, तब जयचन्द्र ने जो गुरुकुल काङ्गड़ी में विद्यार्थियों की एक सभा के मन्त्री थे, अपनी सभा में यह प्रस्ताव रखता था कि हम लोग मजदूरी कर सत्याग्रह की सहायता के लिए चन्दा भेजें, और उसके अनुसार गुरुकुल के विद्यार्थियों ने हरिद्वार के "दूधिया बाँध" पर पत्थर ढोने की मजदूरी कर भारत से सबसे पहला चन्दा गोपालकृष्ण गोखले द्वारा गान्धी के पास भेजा था। गान्धी ने इसकी खबर पाकर भारत आने से पहले अपने "फीनिक्स" आश्रम के बालकों को गुरुकुल काङ्गड़ी भेज दिया था। महात्मा गान्धी के चचेरे भाई मगनलाल गान्धी उन बालकों के अभिभावक थे। गुरुकुल रहते हुए उनकी जयचन्द्र के साथ देश के प्रश्नों पर प्रायः रोज ही चर्चा होती थी। १९१५ में महात्मा गान्धी के गुरुकुल आने पर उनका उन विद्यार्थियों से परिचय कराया गया था जिन्होंने मजदूरी कर चन्दा भेजा था। १९१९ में जयचन्द्र ने "सत्याग्रह सिद्धान्त की समीक्षा" लेख लिखकर दिखाया था कि वे गान्धी के सिद्धान्त से किस अंश में असहमत हैं। वह लेख बनारस के मासिक "स्वार्थ" में छपा था। मगनलाल गान्धी तो उन मतभेदों से पहले ही परिचित थे। १९२१ में साबरमती आश्रम जाने पर जयचन्द्र मगनलाल गान्धी के ही अतिथि हुए थे, जिन्होंने उनके मतभेदों

इसके कुछ समय बाद विजयसिंह पथिक भी इसी प्रकार गान्धी से मिले तो गान्धी ने उन्हें फिर राजस्थान जाकर कार्य करने की प्रेरणा दी और साथ ही कहा कि १६२१-२१ में तो मैंने तुम्हारा साथ न देकर उलटा विरोध किया था, लेकिन अब तुम राजस्थान चलो तो मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आऊँगा।

शुरू जनवरी १६४८ में लुधियाने के मौलाना हबीबुर्रहमान गान्धी से आकर मिले। वे पंजाब के अहरार दल के नेता थे, जो कि कट्टर मुसलमान होने पर भी अंगरेजों और मुस्लिम लीग का प्रबल विरोधी होने के नाते हमेशा कांग्रेस का साथ देता रहा था। उन्हें सही-सलामत आया देख गांधी का दिल उमड़ सा आया। मौलाना ने गान्धी से पूछा 'अब कितने हिन्दू सिक्ख आपके साथ हैं!' गान्धी ने एक गहरी साँस ले कहा—'आज तो मेरे जो साथी थे वे भी मेरे साथ नहीं, मैं अकेला हूँ।' भारत के सांप्रदायिक विभाजन को लक्ष्य कर मौलाना ने महात्मा गान्धी से कहा—'हम तो खीर पकाने चले थे लेकिन यह तो कुछ दलिया सा बन गया।' गान्धी ने बड़ी निराशा प्रकट करते हुए उत्तर दिया—'मौलाना! दलिया तो परोस कर खाया जाता है, यह तो गन्दगी हो गयी गन्दगी।' और तीन बार इसी वाक्य को दोहराने के बाद एक गहरी वेदना का अनुभव कर वे कुछ समय के लिए चुप रह गये।

आजाद हिन्द फ़ौज के मेजर जनरल शाहनवाज़ गांधी की नोआखाली यात्रा के समय (१६४६ के अन्त) से प्रायः बराबर उनके साथ

के विषय में महात्मा गान्धी से खुला विचार-विमर्श किया था। इसके बाद जयचन्द्र विद्यालंकार के ग्रन्थ "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" और 'इतिहास प्रवेश' प्रकाशित होने पर तथा उनके भारतीय इतिहास-परिषद् का कार्य उठाने पर महात्मा गान्धी का ध्यान कई बार उनकी ओर खिंचा तथा कई बार मिलना हुआ था।

थे। शाहनवाज रावलपिंडी जिले के मणक्याला के पास के मटोर गाँव के रहने वाले जुंजुआ राजपूत हैं। रावलपिंडी के दंगों के समय आस-पास के तमाम हिन्दू जुंजुओं के परिवारों को उन्होंने अपने गाँव में शरण दी थी, और मुसलमान जुंजुआ युवकों ने तीन हजार राइफ़लों के साथ उनकी रक्षा की और किसी का बाल भी बाँका न होने दिया था।

शाहनवाज़ से गांधी अब पच्छिमी पाकिस्तान के उखड़े हुए कांदिशीकों * को वापिस वहीं लेजाकर बसाने के लिये परामर्श कर रहे थे। गांधी कलकत्ते से, जहाँ कि विभाजन से ठीक पूर्व होने वाले दंगे को शान्त करने के लिये वे गये थे ९ सितम्बर को सीधे पंजाब जाने के लिए ही दिल्ली आये थे, पर दिल्ली में उपद्रव शुरू हो जाने से उन्हें वहाँ रुकना पड़ गया था। उनके सामने पहला कार्य अब पंजाब का ही था और दिल्ली का झगड़ा शान्त होते ही वे उस कार्य के लिये पंजाब जाना चाहते थे।

इन घटनाओं से प्रकट है कि १५ अगस्त १९४७ के बाद गांधी अपना नया रास्ता किस दिशा में बना रहे थे और उस पर चलने के लिए वे अब किस तरह के साथी चुन रहे थे।

विभाजन के समय हुए आर्थिक निपटारे के अनुसार हिन्दुस्तान को पचपन करोड़ रुपया इस समय पाकिस्तान को देना था। किन्तु भारत सरकार ने अब संयुक्तराष्ट्र-संघ में कश्मीर के प्रश्न का फैसला होने तक उक्त रकम की अदायगी रोक दी क्योंकि पाकिस्तान उसका उपयोग

---

* कांदिशीक शब्द महाभारत और राज-तरंगिणी में राजविप्लवों के प्रसंग में ठीक उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिस अर्थ में आज शरणार्थी शब्द प्रयुक्त हो रहा है। कां दिशं गच्छामि—किस दिशा में जाऊँ, यह जिसकी मनःस्थिति हो जाय वह कान्दिशीक। शरणार्थी शब्द में जो अपमान का भाव है वह इसमें नहीं है।

कश्मीर में भारत के विरुद्ध युद्ध चलाने को हथियार और सैनिक सम्मान खरीदने में करता। भारत सरकार का खयाल शायद यह था कि संयुक्त-राष्ट्रसंघ की न्यायमूर्तियाँ दो एक मास में ही उस विवाद का फैसला कर देंगी। पर गांधी ने शायद यह सोचा कि जो अंगरेज-अमरीकी कश्मीर के झगड़े के पीछे हैं वे चाहेंगे तो पाकिस्तान को एक नहीं कई पचपन करोड़ की युद्ध-सामग्री दे देंगे, और भारत सरकार के इस रकम को रोकने से वे और उनके मुस्लिम लीगी गुर्गे पाकिस्तानी जनता को उभारने का एक और हथियार पा जायँगे, जिससे कि गांधी के पाकिस्तान में कांदिशीकों को वापिस ले जाने के कार्य में बाधा ही पड़ती। भारत सरकार यदि संयुक्तराष्ट्र-संघ न जाकर कश्मीर में सैनिक कर्रवाई दृढ़ता से जारी रक्खे होती, तब दूसरी बात होती। उस दशा में उसके पचपन करोड़ रोकने में कुछ सार्थकता होती।

गान्धी के पश्चिमी पंजाब वाले अभीष्ट कार्यक्रम को पूरा करने के लिए यह भी आवश्यक था कि भारत में मुसलमान बिना खतरे के रह सकें। दिल्ली प्रदेश में तब मुसलमान बिना खतरे के नहीं घूम सकते थे। अतः गान्धी ने इन प्रश्नों को लेकर १३ जनवरी १९४८ से आमरण उपवास आरम्भ कर दिया, जो ६ दिन चला। वह उपवास स्पष्टतः उनके अपने पुराने साथियों की नीति के विरुद्ध था। इस बीच हिन्द सरकार ने पाकिस्तान को पचपन करोड़ रुपया दे दिया और जनता के प्रतिनिधियों ने मुसलमानों को सुरक्षित रखने और स्वतंत्रतापूर्वक अपना धर्मपालन करने देने का आश्वासन दिया, तब १८ जनवरी को गान्धी ने उपवास छोड़ दिया।

२० जनवरी को गान्धी की प्रार्थना-सभा में एकाएक एक बम फूटा और उसे फेंकने वालों में से एक आदमी गिरफ्तार किया गया। बम्बई के एक प्रतिष्ठित राष्ट्रकर्मी ने वहाँ के प्रधान और गृह-विभाग के मंत्रियों

को तथा उच्च पुलिस अधिकारी को सूचना दी कि बम फेंकने वाला व्यक्ति उवका परिचित है, वह उस प्रान्त की एक कट्टर हिन्दुओं की मण्डली का सदस्य है, जो गांधी की हत्या के लिए षड्यंत्र कर रही है। किन्तु अधिकारियों ने उनका बयान तक दर्ज नहीं किया, उलटा उन्हें धमकाया कि ऐसी बातें कीं तो वे जेल में डाल दिये जायँगे। षड्यन्त्रकारी इसके बाद शस्त्र आदि ले बम्बई गवालियर कानपुर दिल्ली आते जाते रहे, पर उनका किसी ने कहीं पीछा या रोक थाम न की। भारत की अंगरेजी जमाने की पुलिस और मुल्की अधिकारी सम्प्रदायवादियों की करतूतों पर चश्मपोशी करने और उन्हें उभारने तथा करतूत हो जाने पर उसके बहाने निरपराधों पर अपना आतंक जमाने के आदी थे। नौकरतन्त्र की वही परम्परा अब भी जारी थी। गान्धी, जो इस नौकरतन्त्र की बड़ी तनखाहों और उनके रंगढंग को बदलने के सबसे बड़े प्रतिपादक थे। उसकी आँखों में सबसे बड़े काँटे थे।

कांग्रेस नेताओं का भी गान्धी से अब प्रत्येक बात पर मतभेद बढ़ता जा रहा था। २५ जनवरी को कांग्रेस की कार्य-समिति की बैठक हुई। गान्धी ने उस रोज शाम को अपने प्रार्थना प्रवचन में कहा—"आज कार्य-समिति की दूसरी बैठक हुई और उसमें काफी बातें हुईं। सब बातों में तो आपकी दिलचस्पी भी नहीं होगी, लेकिन एक बात तो आपको बता देने लायक है। कांग्रेस ने २० साल से यह तय कर लिया था कि देश में जितनी बड़ी-बड़ी भाषाएँ हैं उतने प्रान्त होने चाहिएँ। कांग्रेस ने यह भी कहा था कि हकूमत हमारे हाथ में आते ही ऐसे प्रान्त बनाए जायँगे।...अगर भाषा प्रान्त बन जाते हैं तो प्रान्तीय भाषाओं की तरक्की होती है। वहाँ के लोगों को हिन्दुस्तानी में तालीम देना तो वाहियात है और अंगरेजी में देना तो और भी वाहियात है।" इस प्रकार कांग्रेस के नेता २० साल पुराने कांग्रेस के माने हुए सिद्धान्तों की ओर जो स्थिति

लेना चाहते थे*, गान्धी का उसे यों सार्वजनिक रूप में 'वाहियात' कहना सूचित करता है कि उनमें और नेताओं में अब कितना अन्तर पड़ चुका था, और गान्धी अब नेताओं को भी अपने मार्ग में आगे बढ़ने के लिए किस प्रकार रोड़े से नजर आ रहे थे।

दिल्ली में गान्धी के उपवास के बाद शान्ति हो गयी थी और मुसलमान वहाँ फिर सुविधापूर्वक रहने और अपने उत्सव आदि भी स्वाधीनतापूर्वक मनाने लगे थे। इसलिए गान्धी अब पाकिस्तान जाने की तैयारी करने लगे। ३० जनवरी को प्रात: उन्होंने मेजर जनरल शाहनवाज को अपनी हरावल में पाकिस्तान रवाना किया कि वे अपने इलाके के हिन्दू जुञ्जुओं को ले जाकर फिर से वहाँ बसाने का उपाय करें। उनके पीछे गांधी वैसे ही और हिन्दू कांदिशीकों के जत्थों को लेकर स्वयं भी पाकिस्तान जाते और पाकिस्तान भागे हुए मुस्लिम कांदिशीकों को वहाँ से वापिस भारत में लाकर पुन: अपने-अपने स्थानों पर ले जाकर बसाने का एक प्रबल आन्दोलन देश में आरम्भ हो जाता।

पर, उसी सन्ध्या को एक हत्यारे की तीन गोलियों ने गान्धी का काम तमाम कर दिया।

§ २. संयुक्त राजस्थान का उदय

देसी राज्यों में से अधिकांश, जैसा कि कह चुके हैं, १५ अगस्त १९४७ के पूर्व ही भारतीय संघ में सम्मिलित होने को प्रवेश-पत्रों पर हस्ताक्षर कर चुके थे; तो भी प्रतिगामिनी शक्तियों के षड्यन्त्र अभी वहाँ चल रहे थे। पाकिस्तानी दूत और अंगरेजी कारिन्दे कश्मीर और जूनागढ़ की तरह राजस्थान में भी छिपे रूप में जोधपुर जयसलमेर बीकानेर आदि

* गान्धी की हत्या के बाद कांग्रेसी नेता और ढिठाई के साथ उसी "वाहियात" स्थिति को पकड़े हुए हैं।

रियासतों को अपने में शामिल करने के लिए वहाँ के राजाओं और शासकों को सिखाने-पढ़ाने का जतन कर रहे थे। जोधपुर के महाराजा ने उन्हीं दिनों एक अंगरेज लड़की से शादी की और महाराजा बीकानेर ने एक मुसलमान नवाबजादी को अपने महल में पासवान (उपपत्नी) रूप में रक्खा, जो अब निश्चित रूप से पाकिस्तानी गुप्तचर साबित हो चुकी हैं। महाराजा जोधपुर और वहाँ के प्रमुख सरदारों को प्रलोभन दिया गया कि वे यदि पाकिस्तान में मिलना मान जायँ तो थर-पारकर और उमरकोट का राजस्थानी-भाषी प्रदेश जो मारवाड़ का ही अंग है और जिसपर जोधपुर राज्य का दावा सदा से चला आता था, भेंट स्वरूप पाकिस्तान उन्हें देगा और मारवाड़-सिन्ध रेलपथ का तीन सौ मील का टुकड़ा भी, जिसपर कि पाकिस्तान बनने से जोधपुर राज्य का अधिकार उठ रहा था, वापिस जोधपुर को मिल जायगा ; महाराजा का मारवाड़ की धरती पर और जागीरदारों का अपनी जागीरों पर अधिकार अक्षुण्ण बना रहेगा, उन पर किसी भाँति की कोई आँच न आ पायगी। किन्तु मेवाड़ क्षत्रिय-परिषद् के नेताओं में जो नई दृष्टि और नई भावानायें उद्‌बोधित हो चुकी थीं, उनका प्रभाव मारवाड़ के राजपूत-युवकों के एक बड़े वर्ग पर भी पड़ चुका था, अतः सामान्य राजपूत जनता का समर्थन न मिल सकने से इन षड्यन्त्रों को सफलता न मिली। मारवाड़ राजपूत-सभा के मंत्री मोहनसिंह भाटी ने, कहते हैं कि, महाराजा को सामान्य राजपूतों की तरफ से उसमें किसी तरह का सहयोग देने से साफ इन्कार कर दिया।

रियासती जनान्दोलनों का वेग इस बीच उत्कट रूप धारण कर रहा था। कश्मीर और जूनागढ़ के बाद ही उड़ीसा छत्तीसगढ़ और टिहरी गढ़वाल की जनता भी निरंकुश राजाओं के विरुद्ध विद्रोह कर उठ खड़ी हुई; उसे दबाने वाली शक्ति कोई नहीं थी। वल्लभभाई पटेल ने उन रियासतों को प्रान्तों में या बड़े संघों में मिलाने का काम हाथ में लिया।

कुछ राजा देश के विभाजन के बाद उठी साम्प्रदायिकता की लहर के आसरे लोकप्रियता हासिल कर अपनी अधिकार-रक्षा करने की फिराक में थे। किन्तु महात्मा गान्धी की हत्या के बाद देश में उठी जनता के विक्षोभ की तीव्र लहर के सम्मुख उस तरह की राजनीति को औंधे मुँह गिरना पड़ा। उसके साथ खेलने वाले राजाओं को अब जनता की संघटित शक्ति के सम्मुख झुकना पड़ा।

उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की अधिकांश रियासतों का विलय तो दिसम्बर १९४७ तक ही हो चुका था, शेष जो कुछ बची-खुची थीं उनका भी विलय उड़ीसा या मध्यप्रदेश में फरवरी १९४८ तक हो गया। तभी दक्खिन में महाराष्ट्र-कर्णाटक की अनेक छोटी-छोटी मराठा रियासतें और बड़ोदा को छोड़ गुजरात खास की तमाम रियासतें भी बम्बई प्रान्त में मिल गयीं (मार्च १९४८)।

काठियावाड़ स्वयं महात्मा गान्धी की जन्मभूमि थी। वहाँ की सब रियासतों को मिला कर एक सौराष्ट्र राज्यसंघ बनाने की योजना गान्धी और वल्लभभाई के प्रयत्न से गान्धी की मृत्यु से एक सप्ताह पूर्व ही सम्पूर्ण हो चुकी थी। १५ फरवरी १९४८ को वह संघ अस्तित्व में आ गया। तभी उत्तरी राजस्थान और ब्रज में अलवर और भरतपुर रियासतों को, जिनके शासकों ने साम्प्रदायिकता की आड़ में देश में खूब उपद्रव मचवाये थे, महात्मा गान्धी की हत्या के षड्यंत्र में भी उनका हाथ होने के सन्देह पर वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में भारत सरकार के रियासती विभाग ने अपने अधिकार में ले लिया और उनके साथ धौलपुर और करौली को भी मिला कर मत्स्य राजसंघ बना दिया।

राजस्थान के राज्यों को संश्लिष्ट कर शासन की एक इकाई में लाने का प्रयत्न, जैसा कि कहा जा चुका है, अनेक दिशाओं में विभिन्न आधारों पर चल रहा था। किन्तु शासक-कुलों की जात बिरादरी के आधार पर

एक राजपूत-संघ बनाने के प्रस्तावों में जनता को कोई रुचि न थी। मई-अगस्त १९४८ की जयचन्द्र विद्यालंकार की राजस्थान यात्रा के बाद से समस्त राजस्थानी-भाषी प्रांत को एक करने का आन्दोलन भी जोर पकड़ रहा था। वीरसिंह महता ने इस दिशा में उद्योग करने को शुरू नवम्बर में राजस्थान राष्ट्रीय दल की स्थापना का प्रस्ताव राजस्थान के सभी पक्षों और वर्गों के विचारशील लोगों के पास भेजा। साधारण जनता और राजपूत जागीरदार वर्ग तक ने उस प्रस्ताव का स्वागत किया, पर कांग्रेसी और प्रजामण्डली नेता जो अपनी-अपनी रियासत में अधिकार पाने के जतन में लगे थे, इस आन्दोलन को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते और इसे प्रतिक्रियावादी तक कहते रहे। वे लोग पहले की तरह अब भी जनान्दोलन को अधिकाधिक राजपूत-विरोधी रंग देते रहे। फलतः समूचा राजस्थान अब फिर राजाओं के अधिकारों के हस्तान्तरण के प्रश्न पर राजपूत अराजपूत इन दो परस्पर विरोधी शिविरों में बँटता नजर आने लगा। विजयसिंह पथिक ने महात्मा गान्धी की प्रेरणानुसार दिसम्बर बाद राजस्थान पहुँच जनता और राजपूत वर्ग का ध्यान इस विवाद से दूसरे प्रश्नों की ओर खींचा तथा वीरसिंह महता आदि से मिल शुरू फरवरी में संयुक्तराजस्थान-संघ नाम से एक नये राजनीतिक पक्ष को अजमेर में जन्म दे समूचे राजस्थान को एक भाषा इकाई के आधार पर पंचायती राज्य बनाने के आन्दोलन को बल दिया। संयुक्तराजस्थान-संघ का मंतव्यपत्र प्रकाशित होने पर जनता में इसका सर्वत्र बड़ा आदर हुआ।

इसके बाद भारत सरकार ने दक्खिनी राजपूताने की कुछ छोटी रियासतों को संयुक्त कर एक संयुक्त राजस्थान संघ की स्थापना की (२५ मार्च), जिसमें डूंगरपुर बाँसवाड़ा प्रतापगढ़ कुशलगढ़ झालावाड़ कोटा बूंदी टोंक किशनगढ़ और शाहपुरा ये दस रियासतें शामिल थीं। उदयपुर जयपुर जोधपुर बीकानेर और जयसलमेर के शासकों ने उसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था। पर बाद में जनमत

के दबाव से महाराणा उदयपुर भी इस संघ में सम्मिलित होना मान गये। तब १८ अप्रैल १९४८ को रामनवमी के दिन जवाहरलाल नेहरू ने आकर संयुक्तराजस्थान-संघ की नये रूप में स्थापना की, जिसमें महाराणा उदयपुर को आजीवन राजप्रमुख और कोटा और डूंगरपुर के महारावों को क्रमशः उपराजप्रमुख नियत किया गया, और वल्लभभाई पटेल ने प्रजामंडलों में से चुनकर अपनी पसंद के कुछ आदमियों का एक मंत्रिमण्डल बना दिया। मालवे में तभी इन्दौर और गवालियर को तथा अन्य छोटी-मोटी रियासतों को मिलाकर उसी नमूने पर एक मध्यभारत-संघ की नींव पड़ी। किन्तु जयपुर जोधपुर बीकानेर जयसलमेर के राजा तथा मालवे में भोपाल का नवाब अपनी रियासतें अलग ही बनाये रहे। वहाँ के प्रजामण्डलों के नेता भी, जिन्हें कि राजाओं ने 'प्रजाप्रिय' मन्त्रिमंडलों में जगह देकर अपने साथ कर लिया था, अपनी रियासतों को अलग रखने के पक्ष में राजाओं का समर्थन करते रहे।

कश्मीर के मामले में संयुक्त-राष्ट्र-संघ में जाकर भारत अंगरेज-अमरीकी गुट के फंदे में इस बीच बुरी तरह फँसा था। हैदराबाद के निजाम ने भी परिस्थिति को विषम बना रक्खा था। मुस्लिम लीगी गुण्डों ने वहाँ एकत्र हो रजाकार नाम से एक दल संघटित कर पूरा गुण्डाराज फैला रक्खा था। कांग्रेस के नेताओं ने लार्ड माउण्टबाटन को अपना हितैषी जान, जैसा कि कह चुके हैं, १५ अगस्त १९४८ के बाद भी एक साल के लिए भारत का गवर्नर जनरल बनाकर इसलिए रक्खा था कि राजाओं-नवाबों को जिनकी शक्ति को उन्होंने बहुत माना हुआ था, वश में करने को अंगरेजी राजवंश के एक व्यक्ति के सिर पर रहने से उन्हें सुविधा होगी। हैदराबाद में की जाती हुई उक्त सारी शरारत के बावजूद भी वह उसके प्रति कोई कदम न उठने देकर बातचीत

को लम्बा करवाता रहा। उधर अनेक अंगरेज निजाम को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान से हवाई जहाजों और दूसरे तरीकों से शस्त्रास्त्र और सैनिक सामान पहुँचा चुपचाप सैनिक तैयारी कराते रहे। भारत सरकार निजाम के गुण्डादल के त्रास से जनता को न बचा सकी तो भारतीय समूहवादी (कम्यूनिस्ट) पक्ष ने वहाँ की जनता का नेतृत्व कर तेलंगाना में करीब दो हजार से भी ऊपर गाँवों पर कब्जा कर समूहवादी तरीके पर क्रान्ति आरम्भ कर दी। वे भारत सरकार को निजाम के विरुद्ध कदम उठाने के लिए भी बराबर पुकारते रहे, पर कांग्रेस के नेताओं ने जिनपर कि अब पूँजीपतियों का प्रभाव पूरी तरह छा गया था, उनकी कोई न सुनी, उलटा निजाम को उनका दमन करने के लिए कहते रहे।

१५ अगस्त १९४८ को माउण्टबाटन भारत से चला गया, और राजगोपालाचार्य भारत के नये गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। हैदराबाद में समूहवादियों का प्रभाव बढ़ता और निजाम को उनके दमन करने में असमर्थ देख भारत स रकार ने उन्हें दबाने के नाम पर हैदराबाद को भारत में मिलाने का निश्चय किया। निजाम ने अपनी स्वतंत्रता की दुहाई दे २५ अगस्त को संयुक्त-राष्ट्र-संघ में भारत की शिकायत करनी चाही, पर भारत ने इसे अपना भीतरी मामला कह विरोध किया और सैनिक तैयारी कर १३ सितंबर को पाँच तरफ से अपनी सेना हैदराबाद में घुसेड़ पुलिस कार्रवाई आरम्भ कर दी।

अंगरेज अमरीकी पाकिस्तानी और भारत के अनेक राजा रईस जिनका कि राज्याधिकार छिन गया था या छिनने की आशंका हो रही थी, खास कर राजस्थान में मारवाड़ जयपुर बीकानेर आदि के कई बड़े जागीरदार आदि यह आस लगाये थे कि भारत कश्मीर की तरह हैदराबाद में भी फँस जायगा और वे तब अपने प्रदेशों में विद्रोह खड़ा

कर सत्ता अपने हाथ में ले सकेंगे, इसके लिए वे काफी शस्त्रास्त्र आदि इकट्ठे किये बैठे थे। निजाम की सैनिक तैयारियों का बड़ा ढिंढोरा पीटा जा रहा था और रजाकारों की बड़ी शक्ति बतायी जा रही थी। किन्तु भारतीय सेना हैदराबाद में इतनी तेजी से आगे बढ़ी और निजाम के सैनिकों ने ऐसी बुज़दिली और पस्तहिम्मती दिखाई कि सात ही दिन के भीतर सारी हैदराबाद रियासत पर भारतीय सेना का कब्जा हो गया और निजाम ने भी उसके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया।

भारत की सैनिक शक्ति की धाक इससे जम गयी और जो राजा रईस यह सोचते थे कि वे अपने शस्त्र-बल पर गुण्डई भड़का या विद्रोह कर भारतीय जनशक्ति की अवहेलना अब भी कर सकेंगे, उन्होंने भी अब अपने हथियार भारतीय लोकमत के सम्मुख डाल दिये। संयुक्त-राजस्थान-संघ का आन्दोलन इस बीच बराबर जोर पकड़ रहा था। जो प्रजामंडली नेता अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के कारण उसका अब तक विरोध कर रहे थे, अब उन्हें भी अपनी सम्मति उसके पक्ष में देनी पड़ी।

उधर भारतीय संविधान-परिषद् द्वारा संविधान का प्रथम मसविदा इस बीच तैयार हो गया था। कांग्रेस कहने को १९३० से भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए प्रतिज्ञाबद्ध थी, और १९४७ में जब भारत के लिए उपराज्य पद स्वीकार किया गया तब भी उसके नेताओं ने जनता को यही कह कर संतुष्ट किया था कि वह स्थिति अस्थायी तौर पर सिर्फ एक साल के लिए स्वीकार की गयी है और कि भारत भविष्य में बरतानिया से अपना क्या सम्बन्ध रक्खेगा इसका फैसला संविधान-परिषद् ही करेगी। संविधान का पहला मसविदा तैयार होने पर उसे अन्तिम रूप देने से पहले अब यह निर्णय करना अनिवार्य था कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत की स्थिति क्या होगी। किन्तु कांग्रेस का नेतृत्व, जैसा

कि हम पहले भी कई बार कह चुके हैं, आरम्भ से मैकाले के बनाये अंगरेजी साँचे में ढले हुए वकील वर्ग के हाथ में रहा था। देश की पूर्ण स्वाधीनता या राष्ट्रीय आत्मसम्मान जैसी किसी चीज पर उन्हें कभी भी विश्वास न था। वे सिर्फ अधिकार-लिप्सा और मान-सम्मान प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ आये थे और उस आन्दोलन को पूर्ण स्वतन्त्रता का आदर्श घोषित करने से जब वे न रोक सके तब वाहवाही प्राप्त करने को वे भी पूर्ण स्वाधीनता की बातें करने लगे थे। अधिकार हाथ में आने के बाद पूर्ण स्वाधीनता-प्राप्ति के प्रति उनका सारा जोश ठंडा पड़ चुका था। जो शिक्षा-दीक्षा उन्हें बचपन से मिली थी, उसमें अंगरेजों के बिना भारत की वे कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। पूर्ण स्वाधीनता की बात जब वे करते थे तो उनका अभिप्राय होता था अपने व्यक्ति, अपने कुटुम्ब और अपने वर्ग के लिए ऊँचे अधिकार पाना।

अंगरेज भी उनकी इस परिभाषा को खूब समझते थे। इसलिए भारतीय जनता की पूर्ण स्वाधीनता की माँग को जब उन्होंने अप्रतिवार्य होता देखा तब अपने इन मानस-पुत्रों को शिखंडी बना इनके हाथ में शक्ति दे कर वे निश्चिन्ततापूर्वक पीछे हट गये थे। कांग्रेस-नेताओं ने अब जनता को समझाना शुरू किया कि पूर्ण स्वतंत्र तो अब हम हैं ही, किन्तु बरतानवी साम्राज्य में बने रहने से हमें अनेक फायदे हैं। विश्व में हम अकेले तो रह नहीं सकते, फिर क्यों न हम बरतानवी साम्राज्य के राज्यों के समूह के साथ ही रहें।

अक्टूबर १९४८ में बरतानिया के तमाम उपराज्यों के प्रधानमंत्रियों का सम्मेलन लंदन में बुलाया गया। भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू भी उसमें गये। वहाँ उनका खूब स्वागत कर इस बात के लिए

उन्हें मना लिया गया कि भारत बरतानवी साम्राज्य के बाहर न जायगा, पर बरतानवी साम्राज्य का नाम अब से बरतानवी साम्राज्य न होकर "साझी-सम्पत्" होगा। जवाहरलाल के बरतानिया से लौट आने पर संविधान-परिषद् ने उनके इच्छानुसार भारत को पूर्ण प्रभुतासम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य कहने के बावजूद अंगरेज राजा के नीचे बरतानवी राष्ट्र-मण्डल ("साझी सम्पत्") में रखने का प्रस्ताव पास कर दिया। दिसम्बर में कांग्रेस का खुला अधिवेशन जयपुर में हुआ। उसमें कांग्रेस ने भी अपना पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय छोड़ कर फिर वही बरतानवी राष्ट्र-मंडल के भीतर रहना और अंगरेज राजा को अपना मुखिया मानना तय कर लिया।

राजस्थान के समस्त राजाओं ने हैदराबाद के पतन के बाद ही जनता की एक राजस्थान की माँग के सम्मुख झुककर अपनी-अपनी रियासत को राजस्थान-संघ में सम्मिलित करना मान लिया था, यह कहा जा चुका है। किन्तु अब प्रश्न यह था कि समूचे राजस्थान-संघ का राजप्रमुख कौन हो? राजधानी कहाँ रहे? और प्रधानमंत्री किसे बनाया जाय?

राजस्थान की अपनी परम्परा के अनुसार तो समूचे राजस्थान के राजा महाराणा उदयपुर को ही अपना मुखिया मानते आये थे, क्योंकि वास्तविक अर्थों में राजस्थान के पुराने राष्ट्रीय राज्य की गद्दी वही थी, और जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, राजस्थान की अन्य रियासतें तुर्कों के विरुद्ध किये गये स्वाधीनता युद्ध में महाराणा द्वारा खड़े किये गये मेवाड़ के सामन्तों के रूप में ही अस्तित्व में आई थीं। उन्होंने बाद में मुगल साम्राज्य की स्थापना के समय मुगलों से मिल और महाराणा से विश्वासघात करके ही अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मुगल साम्राज्य के सामन्त रूप में बनाया था। मुगल साम्राज्य की क्षीणता के समय उसका साथ छोड़

और अंगरेजों का साथ देकर वे अपनी वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुए थे। राजस्थान की जनता सदा महाराणा को ही अपना मुखिया मानती और 'हिन्दुआ सूरज' कह कर याद करती रही है, अतः यदि महाराणा राजप्रमुख और उदयपुर या चित्तौड़ राजधानी बनती तो वह समस्त राजस्थानियों की भावना के अनुकूल होने से किसी को भी न अखरती। किन्तु जो राजस्थान अब बन रहा था, उदयपुर या चित्तौड़ उसमें एक किनारे होने से शायद सुविधाजनक न था; दूसरे वह आधुनिक युग की आवश्यकताओं सड़कों, रेलमार्ग-सम्बन्ध और मकानों आदि की दृष्टि से भी राजस्थान के राज्यों की दूसरी राजधानियों की अपेक्षा कम विकसित और पिछड़ा हुआ था।

इन सभी दृष्टियों से देखा जाय तो अजमेर राजस्थान की राजधानी बनने के लिए सबसे उपयुक्त केन्द्रीय स्थान था। वह शेरशाह और मुगल-साम्राज्य के दिनों से राजस्थान में साम्राज्य का आसन होने और राजस्थान की चार मुख्य बोलियों और ऐतिहासिक क्षेत्रों के बीचोंबीच पड़ने से तथा रेल या सड़क द्वारा सम्बद्ध होने के कारण भी सबकी भावनाओं और सुविधा के अनकूल था। पर जयपुर के नेताओं ने गरीब राजस्थानी जनता की कमाई का ६०–७० लाख रुपया कांग्रेस के नाम पर विभिन्न राजाओं और रियासतों की सरकारों से चंदे में उगाह और कांग्रेस नेताओं के स्वागत सम्मान में खर्च कर अपने राजा को राजप्रमुख, अपने नगर जयपुर को राजधानी तथा अपने नेता हीरालाल शास्त्री को राजस्थान का प्रधानमंत्री बनाना मनवा लिया।

किन्तु पुराने संयुक्तराजस्थान-संघ में महाराणा को आजन्म राजप्रमुख बना दिया गया था, अतः उनका दावा समाप्त करने को वल्लभभाई पटेल ने महाराजप्रमुख का एक आलंकारिक पद महाराणा के लिए ईजाद किया, और गरीब राजस्थानी करदाता की गाढ़ी कमाई में से १२

लाख का वेतन जो पहले राजप्रमुख-पद के लिए महाराणा को मिलता था वही इस नये पद के लिए महाराणा को मिलते रहने की व्यवस्था कर उनका मुँह बन्द कर दिया * ।

इस प्रकार ३० मई १९४९ को जयपुर में नये राजस्थान-संघ की स्थापना का ऐलान हुआ, जिसमें पुराने संयुक्त-राजस्थान के अतिरिक्त जयपुर जोधपुर जयसलमेर और बीकानेर रियासतों का भी विलय हो गया। १० मई १९४९ तक मत्स्य संघ भी राजस्थान में सम्मिलित कर लिया गया, पर अजमेर-मेरवाड़ा और सिरोही अब भी राजस्थान से बाहर रक्खे गये। अजमेर-मेरवाड़ा को तो इसलिए कि वल्लभभाई जयपुर के सेठों तथा महाराजा के सेवा-सत्कार से रीझ कर, समस्त राजस्थान की जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं के बावजूद अजमेर की बजाय जयपुर को ही राजधानी बनाना चाहते थे, और सिरोही को इसलिए कि गुजराती पूँजीपतियों की नजर वहाँ की अविकसित-अनुपभुक्त वन्य और खनिज संपत्ति पर तथा आबू पहाड़ जैसी ठंढी और रमणीक बस्ती पर लगी थी, और गुजराती नेता वल्लभभाई पटेल को, जो कि भाग्य से इस समय भारतीय संघ के उपप्रधानमंत्री और रियासती विभाग के कर्ताधर्ता थे, गुजराती पूँजीपतियों को संतुष्ट करना था।

जून १९४९ तक भोपाल के नवाब ने भी अपना राज्याधिकार छोड़ रियासत भारत सरकार को सौंप दी। उसका बड़ा अंश, जैसा कि कह चुके हैं, मालवी-भाषी होने से राजस्थान या मध्यभारत संघ का ही

---

* भारत का जो नया संविधान २६ जनवरी १९५० को लागू हुआ है उसमें राज्यों के राजप्रमुखों का ही उल्लेख है, राजस्थान के महाराज-प्रमुख का कहीं नाम नहीं है। अतः महाराजप्रमुख की कानूनी सत्ता अब कुछ भी नहीं।

अंग है, परन्तु भारत सरकार ने उसे भी एक स्वतंत्र प्रधान आयुक्तक (चीफ कमिश्नर) का प्रान्त बना अभी अपने अधीन ही रक्खा है। राजस्थान में भी अभी न कोई निर्वाचित विधान-सभा बनी है और न कोई निर्वाचित मंत्री। प्रजामण्डलों के नेताओं में से भारत सरकार द्वारा कांग्रेस की सलाह से पसन्द किये व्यक्ति ही मंत्री नियुक्त किये गये हैं। डेढ़ सहस्राब्दी पूर्व उदित हुई सामतन्तन्त्री शासन-प्रणाली का तो अन्त अब हो गया, पर लोकतन्त्र की स्थापना अभी नहीं हो पायी। राजस्थानी भाषाक्षेत्र भी अभी एक नहीं हुआ। कांग्रेसी शासन अभी राष्ट्रीय आदर्श को पूरा नहीं कर पाया। इसके विपरीत भारत के नेताओं के देश का विभाजन स्वीकार करने से थर-पारकर और उमरकोट का राजस्थानी प्रदेश तथा बहावलपुर रियासत वाला हाकड़ा के सूखे थाले तक का समूचा राजस्थानी प्रदेश भी आज पाकिस्तान में चला गया है। उत्तरी राजस्थान का सिरसा रोहतक और गुड़गावाँ प्रदेश अब भी पंजाब के साथ जुड़ा है, और भरतपुर करौली धौलपुर का व्रजभाषी प्रदेश आज भी खाम-खाह राजस्थान से टाँक रक्खा गया है। मालवा समूचा राजस्थान से अलग कर गवालियर-इन्दौर के बुन्देली-भाषी प्रदेश के साथ टाँक दिया गया है या भोपाल के आयुक्तक प्रान्त, मध्यप्रदेश और बंबई के कुछ तालुकों में बटा है। अजमेर-मेरवाड़ा राजस्थान के हृदय में भारत सरकार ने अपने कब्जे में रक्खा है, यानी वहाँ के निवासियों को अपने शासन में भाग लेने या अपनी समस्याओं को सुलझाने के अयोग्य ठहरा समस्त भारत के सम्मिलित प्रतिनिधियों के शासन के नीचे भारत के दूसरे नागरिकों से नीचे स्तर पर रक्खा गया है। सिरोही को जो गुजरात राजस्थान के सीमान्त पर रहने से कुछ गुजराती प्रभावित होते हुए भी समस्त भाषा-वैज्ञानिकों की दृष्टि में राजस्थानी-भाषी ही है, जिसकी सारी ऐतिहासिक परम्परा और सामाजिक संबन्ध राजस्थान और राजस्थानियों

के साथ है, बिना वहाँ के निवासियों के पूछे, उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती आज बंबई प्रान्त में मिला दिया गया है।

यही नहीं, नवम्बर १९४९ में भारत संविधान का पूरा मसविदा स्वीकृत हुआ, जिसमें समस्त भारत के नागरिकों को समानता का अधिकार दिये जाने की प्रतिज्ञा करके भी कश्मीर के सिवाय भारत के उन सब प्रदेशों के निवासियों को जो अंगरेजी जमाने में अंगरेजों के सीधे शासन के नीचे न रह अपने पुराने देशवासी शासकों की अधीनता में थे, अंगरेजी प्रान्तों के लोगों से एक दर्जे नीचा रक्खा गया है और उनमें वयःस्थ मताधिकार के आधार पर चुनी हुई विधान-सभाओं की सरकारें बन जाने के बाद भी आगे दस साल या कुछ दिन और अधिक या कम तक उनपर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण रक्खा गया है, जो लोकतंत्रीय आत्मनिर्णय के किसी भी सिद्धान्त के अनुकूल नहीं। इन सब बातों पर भारतीय संविधान परिषद् ने अब अपनी स्वीकृति की मुहर लगा कर इन्हें अपनी ओर से स्थायी सा बना दिया है। देश में शासन और शिक्षा की भाषा आज भी अंगरेजी बनी है, और राजस्थान में जहाँ के शासन में वह नहीं थी, वहाँ भी जनता की इच्छा के विरुद्ध वह लाई जा रही है। भारत शासन में अंगरेजी नौकरतंत्र ज्यों का त्यों बना है और राजस्थान के शासन को प्रान्तो के नमूने पर बनाने के नाम पर वह नौकरतंत्र का ढाँचा जनता की इच्छा के विरुद्ध लादा जा रहा है। शासन का व्यय अंगरेजी युग के समान ही बढ़ा हुआ है और युद्ध के साढ़े चार बरस बीतने के बाद भी महँगी न केवल ज्यों की त्यों बनी है, बल्कि उलटा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।

२६ जनवरी १९५० को भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया है। पर वह गणराज्य अंगरेजी राजमुकुट की छाया में है। और १५ अगस्त १९४७ की स्वतंत्रता-घोषणा

के साथ उस छाया ने पंजाब में जैसी मारकाट जगाई थी, गणराज्य की घोषणा के साथ पूरबी बंगाल में वैसी ही मारकाट जगाई है। राजस्थान के पच्छिमी सीमान्त पर भी वह छाया पड़ रही है भारतीय नेता उसके सामने किंकर्तव्यविमूढ़ और निरुपाय होकर खड़े हैं। भारत और राजस्थान के हृदय को आज गहरी अशान्ति असंतोष और निराशिता-भावनाएँ मथ रही हैं।

पर, अंगरेजों का भारत से प्रकट रूप में चले जाना और राजस्थान का बहुत कुछ एक हो जाना तो हमारे नव जागरण की सफलता के चिह्न हैं ही। और उस सफलता के बीच भी भारतीय जनता यदि आज अपने को प्रवञ्चित अनुभव कर रही है तो उसका मूल कारण यह है कि उसने अपनी ऐतिहासिक परिस्थिति को ठीक समझ कर उसपर काबू नहीं रक्खा। उस ऐतिहासिक परिस्थिति को स्पष्ट करने की दिशा में मैं राजस्थान और भारत की जनता को अपनी यह विनम्र कृति इस विश्वास के साथ भेंट करता हूँ कि वह दिन अब निकट है जब वे अपने पूरे गौरव को फिर प्राप्त करेंगे।

भूल-चूक

ग्रंथ पढ़ने से पूर्व निम्नलिखित सुधार करने की कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध पाठ
२४	१४	gneis	gneiss
२४	१७	garnete	garnet
२७	१४	(ढूँढाड)	ढूँढाड़
२८	१३	मरुस्थन्व	मरुधन्व
३२	२४	उत्तरी, दक्खिनी और	उत्तरी और
३४	१५	वस्तु	वास्तु
३४ ३५	२६ २	८०	८४
४०	२५	पल्इव	पल्हव
४१	५	करूड़	करोड़
४१	१६	ऋषिकों को	ऋषिकों का
४२	२२	उत्तर पच्छिम	उत्तर-पूरब
४२	२४	२०० ई० पू०	२०० ई०
४९	१०	२६३	३६३
५६	२२	१०२५	१०२३
६२	१३	पच्छिमी	पूरबी
६६	४	नर्मदा	नागदा
६७	१६	जालौन	जालौर
७३	२	१५४३	१४५३
७६	१४	प्रालभट्ट	प्राज्यभट्ट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध पाठ
७९	२७	तयारीशे	तवारीखों
८६	२२	१५	१७
१११	३	१७४९	१७९४
११४	२४	राज्य	बड़ोदा राज्य
११७	२०	१८३४	१७३४
१२०	२५	१७३८	१७३९
१२२	७	१८४१	१७४१
१२८	२५	(१८५१ ई०)	(१७५१ ई०)
१३१ १३४	७ २	१८५२	१७५२
१३३	४	अंग्रेजों	आंग्रे
१३४	२१, २३	इमदाद	इमाद
१३६	४	मेवाड़	मेड़तों
१३७ (तथा आगे)	१९	नज़ीर	नजीव
१४२	१६	सताये	न सताये
१५२	२	१८६९	१७६९
१६८	१७	पूरबी	यूरपी
१७०	१४	काठियावाड़ियों	मारवाड़ियों
१७२	२२	ट्रांसफॉर्मेशन आफ़ सिखिज़्म	हिस्टरी आफ़ सिक्ख्स
१८५	२२	के आदि	आदि के
१८७	१३	स्वार्थों	स्वार्थों की
१८९	२६	तरकाफ़	भीतर काफ़ी
१९२	१२	किस	कि
१९२	२०	Diheomacy	Diplomacy

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध पाठ
११३	१८	भागों	भावों
२२७	१२	की	को
२३४	२६	शास्त्रों	शस्त्रों
२४३	२१	बीच	विचार
२४७	६	राजदरबार की	राजदरबारी
२४८	६	मुलाकात	मुकाबला
२४९	५	छोड़ने	छेड़ने
२५०	२४	रावसाहब को	रावसाहब
२५४	२३	दुजान	दुजाना
२६५	७	जातीय भाव	जातीय कार्पण्य भाव
२६५	१३	अंगरेजों के	अंगरेजों ने
२६५	२०	आपसी	अपनी
२६६	१०,११,१८	आर्य, अनार्य	आर्ष, अनार्ष
२६९	११	पुराण	पुराण आदि
२७०	२५	दान	ज्ञान
२७१	११	दो आँख	दोआब
२७१	१२	पंचायत	पञ्जाल
२७१	१८	हुए निरे	एक निरे
२७३	१६	वहाँ	यहाँ
२७३	२४	होने में	होने से
२७५	१२	ज्ञान	अज्ञान
२७६	१४	नाइट	नाइट कमांडिंग
२७६	१६	महाराणी के	महाराणी के सम्मुख
२७७	१७	माँग सम्मुख रखने	माँग रखने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध पाठ
२८०	१०	जिससे	जिसे
२८१	२१	अंगरेज का कामदार	अंगरेज कामदार
२८३	२१	स्मारक	स्नातक
२८३	२६	व्यापार	ब्यावर
२८४	२५	नियन्त्रण	निमन्त्रण
२८५	१८	सामन्तों	सीमान्तों
२८६	२२	में ही	में ही हुआ
२८८	१३	प्रतीत	प्रतीक
२८८	२४	बारहट ने	बारहट के बेटे केसरीसिंह ने
२९१	२१	स्वाधीन दल के	स्वाधीनता के
२९७	२	अधिक	धनिक
३०१	१	सभाओं	सेनाओं
३१२	२०	अपने जहाज	अपना जहाज
३१५	१४	बनाने	बताने
३१६	१५	जाने वाले	किये जाने वाले
३२२	१९	ऊपर	उन पर
३२७	२२	कृष-दक्खिनी	दक्खिनी
३३२	२१	शान्जापुर	शाजापुर
३४१	१	मसविदा	मसविदे ने
३४३	२१	चौधरी ने	चौधरी
३४९	१५	परसेंट	पचीस प्रतिशत
३५१	६	यह पुरानी	पुरानी

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार

की नवीन कृति

भारतीय इतिहास की मीमांसा

पटना युनिवर्सिटी में सन् १९४१ में रामदीन आसन से दिये व्याख्यान जिनमें भारतीय इतिहास की व्याख्या-सम्बन्धी समस्याओं का सीधा विवेचन विद्वान व्याख्याता ने किया था। ये व्याख्यान १९४१ में लिख कर ही पढ़े गये थे किन्तु अनेक कारणों से इनका छपे रूप में प्रकाशित होना अभी तक टलता रहा। अब लेखक इन्हें समयानुगत कर रहे हैं और आगामी अक्तूबर तक ये छप कर प्रकाशित हो जायँगे। भारतीय इतिहास के विषय में ऐसे विचारोत्तेजक ग्रंथ बहुत ही कम निकले हैं। जयचन्द्र विद्यालंकार का नाम सुनते ही जिस विशद दृष्टि, सुलझी विचारधारा, तलस्पर्शी चिन्तन, ओजस्वी भाषा और सजीव शैली का चित्र आपकी आँखों के सामने आ जाता है उन सबसे इस ग्रंथ को आप सराबोर पायँगे।